Chapter एक

समदर्शी भगवान्

इस अध्याय में महाराज परीक्षित के एक प्रश्न के उत्तर में शुकदेव गोस्वामी अपना निर्णय देते हैं कि किस तरह भगवान् ने परमात्मा, सखा तथा हरेक के रक्षक होते हुए भी, स्वर्ग के राजा इन्द्र के निमित्त दैत्यों का वध किया। वे अपने कथनों में उन लोगों के तर्कों का पूरी तरह खंडन करते हैं, जो भगवान् पर पक्षपात करने का दोषारोपण करते हैं। शुकदेव गोस्वामी सिद्ध करते हैं कि चूँकि बद्धजीव का शरीर प्रकृति के तीन गुणों से संदूषित है, अतएव उसमें शत्रुता तथा मित्रता, आसक्ति तथा विरक्ति जैसे द्वैत भावों का उदय होना स्वाभाविक है। किन्तु परमेश्वर में इस प्रकार के द्वैत भाव नहीं होते। यहाँ तक कि शाश्वत काल भी भगवान् के कार्यकलापों को नियंत्रित नहीं कर सकता। शाश्वत काल भगवान् द्वारा ही सृजित है, अतएव वह उन्हीं के वशीभूत होकर कार्य करता रहता है। भगवान् सदैव प्रकृति के गुणों के प्रभाव अर्थात् अपनी उस बहिरंगा शक्ति माया के प्रभाव से परे रहते हैं, जो सृष्टि तथा प्रलय का कार्य करती है। इस तरह परमेश्वर द्वारा मारे गये सारे दैत्य या असुर तुरन्त ही *मोक्ष-लाभ* करते हैं।

परीक्षित महाराज द्वारा पूछा गया दूसरा प्रश्न शिशुपाल के विषय में है कि यद्यपि वह कृष्ण के बचपन से ही उनके प्रति शत्रु-भाव रखता था तथा कृष्ण की निन्दा किया करता था फिर भी जब कृष्ण ने उसका वध किया तो वह कृष्ण में लीन होकर मोक्ष पा गया। शुकदेव गोस्वामी बताते हैं कि भक्तों के चरणों पर अपराध करने के कारण वैकुण्ठ में भगवान् के दो द्वारपाल, जिनके नाम जय तथा विजय थे, सत-युग में हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष बने। फिर अगले युग—त्रेतायुग—में वे ही रावण तथा कुम्भकर्ण बने और द्वापर युग के अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र बने। अपने सकाम कर्मों से जय तथा विजय ने भगवान् के शत्रु बने रहना स्वीकार किया और जब उसी मनोवृत्ति में उनका वध हुआ तो उन्हें सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ। इस तरह यदि कोई ईर्ष्यावश भी भगवान् का चिन्तन करता है, तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है। तो फिर उन भक्तों के विषय में क्या कहा जाये जो प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं ?

श्रीराजोवाच

समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन्भूतानां भगवान्स्वयम् ।
इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद्विषमो यथा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—महाराज परीक्षित ने कहा; समः—समान; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—मित्र; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); भूतानाम्—समस्त जीवों के; भगवान्—परमेश्वर, विष्णु; स्वयम्—स्वयं; इन्द्रस्य—इन्द्र के; अर्थे—लाभ के लिए; कथम्—कैसे; दैत्यान्—असुरों को; अवधीत्—मारा; विषमः—पक्षपात; यथा—मानो।

राजा परीक्षित ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् विष्णु सबों के शुभचिन्तक होने के कारण हर एक को समान रूप से अत्यधिक प्रिय हैं, तो फिर उन्होंने किस तरह एक साधारण मनुष्य की भांति इन्द्र का पक्षपात किया और उसके शत्रुओं को मारा? सबों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कुछ लोगों के तरह किसी के प्रति पक्षपात करेगा और अन्यों के प्रति शत्रु-भाव रखेगा?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—"मैं सबों पर समभाव रखता हूँ; न तो कोई मुझे प्रिय है, न कोई मेरा शत्रु है" किन्तु पिछले स्कन्ध में यह देखा गया है कि भगवान् ने इन्द्र के लिए असुरों का वध करके उसका पक्षपात किया (*हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना*)। अतएव भगवान् स्पष्टतः इन्द्र के पक्षधर थे यद्यपि वे सबों के हृदय में स्थित परमात्मा हैं। जिस तरह सबों को आत्मा अत्यन्त प्रिय है उसी प्रकार सबों को परमात्मा भी प्रिय हैं। अतएव परमात्मा से कोई त्रुटि नहीं हो सकती। रूप तथा स्थिति का विचार किये बिना भगवान् सभी जीवों के प्रति सदैव दयालु रहते हैं फिर भी उन्होंने एक सामान्य मित्र की भाँति इन्द्र का पक्ष-समर्थन किया। यही परीक्षित महाराज की जिज्ञासा का विषय था। कृष्ण-भक्त के रूप में वे यह भली-भाँति जानते थे कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने दैत्यों के साथ शत्रु की भाँति आचरण किया तो उन्हें कुछ सन्देह होने लगा। अतएव उन्होंने स्पष्ट उत्तर जानने के लिए शुकदेव गोस्वामी से यह प्रश्न पूछा।

भक्त यह कभी स्वीकार नहीं करेगा कि भगवान् विष्णु में भौतिक गुण होते हैं। महाराज परीक्षित भली-भाँति जानते थे कि दिव्य होने के कारण भगवान् विष्णु को भौतिक गुणों से कुछ लेना-देना नहीं है किन्तु अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे प्रामाणिक पुरुष शुकदेव गोस्वामी से सुनना चाहते थे। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*समस्य कथं वैषम्यम्*—चूँकि भगवान् समदर्शी हैं, अतएव वे किसी का पक्ष ग्रहण क्यों करेंगे? *प्रियस्य कथम् असुरेषु प्रीत्यभावः।* परमात्मा होने के कारण भगवान्

प्रत्येक को अत्यन्त प्रिय हैं। तो फिर भगवान् असुरों के प्रति निष्ठुरता क्यों बरतने लगें? यह पक्षपात किसलिए? *सुहृदश्च कथं तेष्वसौहार्दम्।* चूँकि भगवान् कहते हैं कि वे *सुहृदं सर्वभूतानाम्* अर्थात् समस्त जीवों के शुभचिन्तक हैं, तो फिर उन्होंने दैत्यों का वध करके पक्षपात क्यों करते हैं? ये प्रश्न परीक्षित महाराज के मन में उठे अतएव उन्होंने शुकदेव गोस्वामी से प्रश्न किया।

न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः ।
नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥ २॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; अस्य—उनके; अर्थः—लाभ, हित; सुर-गणैः—देवताओं के साथ; साक्षात्—स्वयं; निःश्रेयस—सर्वोच्च वरदान का; आत्मनः—जिसका स्वभाव; न—नहीं; एव—निश्चय ही; असुरेभ्यः—असुरों के लिए; विद्वेषः—ईर्ष्या, द्वेष; न—नहीं; उद्वेगः—भय; च—तथा; अगुणस्य—भौतिक गुणों से रहित; हि—निश्चय ही।

भगवान् विष्णु साक्षात् भगवान् तथा समस्त आनन्द के आगार हैं; अतएव उन्हें देवताओं का पक्ष-ग्रहण करने से क्या लाभ मिलेगा? इस प्रकार उनका कौन सा स्वार्थ सधेगा? जब भगवान् दिव्य हैं, तो फिर उन्हें असुरों से भय कैसा? और उनसे ईर्ष्या कैसी?

तात्पर्य : हमें आध्यात्मिक तथा भौतिक के अन्तर को सदैव स्मरण रखना चाहिए। जो भौतिक है, वह भौतिक गुणों द्वारा संदूषित रहता है किन्तु जो आध्यात्मिक या दिव्य है उसे ये गुण छू तक नहीं पाते। कृष्ण चाहे भौतिक जगत में रहें या आध्यात्मिक जगत में, वे रहते हैं परम ही। जब हमें कृष्ण में पक्षपात दिखता है, तो यह दृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति के कारण होती है। अन्यथा उनके शत्रु उनके द्वारा वध किये जाने पर किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके? प्रत्येक व्यक्ति जो भगवान् से आदान-प्रदान करता है धीरे-धीरे भगवान् के गुण अर्जित कर लेता है। जो आध्यात्मिक चेतना में जितनी अधिक प्रगति कर लेता है, वह भौतिक गुणों के द्वन्द्व (द्वैत) से उतना ही कम प्रभावित होता है। अतएव परमेश्वर निश्चित रूप से इन गुणों से मुक्त होते हैं। उनकी शत्रुता तथा मित्रता भौतिक शक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये बाह्यगुण हैं। भगवान् तो नित्य दिव्य हैं, वे परम निरपेक्ष हैं, चाहे वे मारें या वर दें।

ईर्ष्या तथा मैत्री-भाव का उदय उसी में होता है, जो अपूर्ण है। हम अपने शत्रुओं से भयभीत रहते हैं क्योंकि इस भौतिक जगत में हमें सदैव सहायता की आवश्यकता बनी रहती है। किन्तु भगवान् को किसी की भी सहायता नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्माराम हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

"यदि कोई भक्त मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, एक फूल, फल या जल प्रदान करता है, तो उसे मैं स्वीकार करता हूँ।" भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं? क्या वे भक्त की भेंट पर आश्रित हैं? वास्तव में वे आश्रित नहीं हैं किन्तु वे अपने भक्त पर आश्रित रहना पसन्द करते हैं। यह उनकी कृपा है। इसी प्रकार वे असुरों से डरते नहीं। अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान्प्रति ।
संशयः सुमहाञ्जातस्तद्भवांश्छेत्तुमर्हति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; नः—हमारा; सु-महा-भाग—हे भाग्यवान्; नारायण-गुणान्—नारायण के गुणों के; प्रति—प्रति; संशयः—सन्देह; सु-महान्—अत्यन्त महान्; जातः—उत्पन्न; तत्—वह; भवान्—आप; छेत्तुम् अर्हति—कृपया दूर कर दें।

हे सौभाग्यशाली तथा विद्वान ब्राह्मण, यह अत्यन्त सन्देहास्पद विषय बन गया है कि नारायण पक्षपातपूर्ण हैं या निष्पक्ष हैं? कृपया निश्चित साक्ष्य द्वारा मेरे इस सन्देह को दूर करें कि नारायण सर्वदा उदासीन तथा सबों के प्रति सम हैं।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् नारायण परम हैं, अतएव उनके दिव्य गुणों का वर्णन एक-सा है। इस तरह उनके द्वारा दिये गये दण्ड तथा वरदान दोनों का एक-सा महत्त्व है। मूलतः उनके शत्रुतापूर्ण कार्य उनके तथाकथित शत्रुओं के प्रति शत्रुता के प्रदर्शन नहीं होते, किन्तु भौतिक जगत में लोग सोचते हैं कि कृष्ण भक्तों के प्रति अनुकूल हैं और अभक्तों के प्रतिकूल हैं। जब *भगवद्गीता* में कृष्ण अन्तिम रूप से *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज* का उपदेश देते हैं, तो यह केवल अर्जुन के लिए ही नहीं है अपितु इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के लिए है।

श्रीऋषिरुवाच
साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम् ।
यद्भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥ ४॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः ।
नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; साधु—सर्वश्रेष्ठ; पृष्टम्—प्रश्न; महा-राज—हे महान् राजा; हरेः—परमेश्वर, हरि के; चरितम्—कार्यकलाप; अद्भुतम्—अद्भुत; यत्—जिससे; भागवत—भगवान् के भक्त (प्रह्लाद) का; माहात्म्यम्—यश; भगवत्-भक्ति—भगवान् की भक्ति को; वर्धनम्—बढ़ाने वाली; गीयते—गाई जाती है; परमम्—अग्रणी; पुण्यम्—पवित्र; ऋषिभिः—ऋषियों के द्वारा; नारद-आदिभिः—नारद आदि द्वारा; नत्वा—नमस्कार करके; कृष्णाय—कृष्णद्वैपायन व्यास को; मुनये—मुनि; कथयिष्ये—मैं कह सुनाऊँगा; हरेः—हरि की; कथाम्—कथाएँ।

महामुनि शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजा, आपने मुझसे अतीव श्रेष्ठ प्रश्न किया है। भगवान् के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाएँ, जिनमें उनके भक्तों के भी यशों का वर्णन रहता है, भक्तों को अत्यन्त भाने वाली हैं। ऐसी अद्भुत कथाएँ सदैव भौतिकतावादी जीवनशैली के कष्टों का निवारण करने वाली होती हैं। अतएव नारद-जैसे मुनि *श्रीमद्भागवत* के विषय में सदैव उपदेश देते रहते हैं, क्योंकि इससे मनुष्य को भगवान् के अद्भुत कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन की सुविधा प्राप्त होती है। अब मैं श्रील व्यासदेव को सादर प्रणाम करके भगवान् हरि के कार्यकलापों से सम्बन्धित कथाओं का वर्णन प्रारम्भ करता हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी सादर नमस्कार करते हैं *कृष्णाय मुनये* को जिसका अर्थ है कि वे कृष्ण द्वैपायन व्यास को नमस्कार करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह सर्वप्रथम अपने गुरु को सादर नमस्कार करे। शुकदेव गोस्वामी के गुरु उनके पिता व्यासदेव हैं, अतएव वे सर्वप्रथम कृष्ण द्वैपायन व्यास को सादर नमस्कार करते हैं; तब वे भगवान् हरि की कथा का वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं।

जब भी हमें भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो हमें चाहिए कि उसका लाभ उठाएँ। श्री चैतन्य महाप्रभु ने *कीर्तनीयः सदा हरिः* की संस्तुति की अर्थात् मनुष्य को सदैव भगवान् कृष्ण के विषय में कीर्तन करके, उनके विषय में बातें करके तथा उनके विषय में सुन करके कृष्ण कथा में लगे रहना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का एकमात्र धर्म यही है।

निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान्प्रकृतेः परः ।
स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निर्गुणः—भौतिक गुणों से रहित; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; अजः—अजन्मा; अव्यक्तः—अप्रकट; भगवान्—परमेश्वर; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति से; परः—दिव्य; स्व-माया—अपनी शक्ति के; गुणम्—भौतिक गुण में; आविश्य—प्रवेश करके; बाध्य—बाध्य; बाधकताम्—बाध्य होने की स्थिति; गतः—स्वीकार करता है।

भगवान् विष्णु सदा भौतिक गुणों से परे रहने वाले हैं अतएव वे निर्गुण कहलाते हैं। अजन्मा

होने के कारण उनका शरीर राग तथा द्वेष से प्रभावित नहीं होता। यद्यपि भगवान् सदैव भौतिक जगत से ऊपर हैं, किन्तु अपनी आध्यात्मिक (परा) शक्ति से वे प्रकट हुए और बद्धजीव की भाँति कर्तव्यों तथा दायित्वों (बाध्यताओं) को ऊपर से स्वीकार करके उन्होंने सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य किया।

तात्पर्य : तथाकथित आसक्ति, विरक्ति तथा दायित्व (बाध्यताएँ) भौतिक प्रकृति से सम्बन्धित हैं, जो भगवान् से उद्भूत है, किन्तु जब भगवान् इस भौतिक जगत में अवतरित होकर कर्म करते हैं, तो वे अपने आध्यात्मिक पद पर स्थित होकर ऐसा करते हैं। यद्यपि भौतिक दृष्टि से उनके कार्यकलाप भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वे परम तथा अभिन्न होते हैं। अतएव यह कहना कि वे किसी से ईर्ष्या करते हैं या मित्रता बरतते हैं परमेश्वर पर दोषारोपण करना है।

भगवद्गीता (९.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख लोग मेरा उपहास करते हैं। इस धरा पर या इस ब्रह्माण्ड के भीतर कृष्ण अपने आध्यात्मिक शरीर या आध्यात्मिक गुणों में किसी परिवर्तन के बिना प्रकट होते हैं। नि:सन्देह, वे कभी भी भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते। वे ऐसे गुणों से सदा मुक्त रहते हैं, किन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वे भौतिक गुणों से प्रभावित हैं। यह समझ आरोपित है। अतएव कृष्ण कहते हैं *जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—वे जो भी करते हैं सदैव दिव्य होने के कारण उसे भौतिक गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। *एवं यो वेत्ति तत्त्वत:*—वे जिस तरह के कर्म करते हैं उसे केवल भक्तगण ही समझ सकते हैं। तथ्य तो यह है कि कृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते। वे सबों के लिए समभाव रखते हैं, लेकिन भौतिक गुणों से प्रभावित अपूर्ण दृष्टि के कारण लोग कृष्ण पर भौतिक गुणों का आरोप करते हैं और जब कोई ऐसा करता है, तो वह मूढ या मूर्ख बन जाता है। जब कोई ठीक से सत्य को समझ लेता है, तो वह भक्त तथा भौतिक गुणों से मुक्त अर्थात् *निर्गुण* बन जाता है। मात्र कृष्ण के कार्यकलापों को समझ कर कोई दिव्य बन सकता है और ज्योंही वह दिव्य बन जाता है, तो वह दिव्य जगत में जाने के योग्य बन जाता है। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*—जो भगवान् के कार्यकलापों को ठीक से समझता है, वह शरीर त्यागने के बाद दिव्य जगत (वैकुण्ठ) को चला जाता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
न तेषां युगपद्राजन्ह्रास उल्लास एव वा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतोगुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; गुणाः—गुण; न—नहीं; तेषाम्—उनके; युगपत्—एकसाथ; राजन्—हे राजा; ह्रासः—कमी; उल्लासः—प्रधानता; एव—निश्चय ही; वा—अथवा।

हे राजा परीक्षित, सत्व, रज, तम—ये तीनों भौतिक गुण भौतिक जगत से सम्बद्ध हैं, अतः ये भगवान् को छू तक नहीं पाते। ये तीनों गुण एकसाथ बढ़ या घट कर कार्य नहीं कर सकते।

तात्पर्य : भगवान् की मूल स्थिति समभाव (समानता) की है। वे सतो, रजो वा तमोगुण से तनिक भी प्रभावित नहीं होते क्योंकि ये भौतिक गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। अतएव भगवान् को परम ईश्वर कहा जाता है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*—वे परम नियन्ता हैं। वे भौतिक गुणों का नियंत्रण करते हैं (*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया*)। *मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते*—प्रकृति अर्थात् भगवान् के आदेश पर कार्य करती है। तो फिर वे प्रकृति के गुणों के अधीन कैसे हो सकते हैं? वे प्राकृतिक गुणों से प्रभावित कैसे हो सकते है? अतएव भगवान् द्वारा पक्षपात किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन्रजसोऽसुरान् ।
तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

जय-काले—प्रसिद्धि के समय में; तु—निस्मन्देह; सत्त्वस्य—सतोगुण का; देव—देवताओं; ऋषीन्—तथा ऋषियों को; रजसः—रजोगुण का; असुरान्—असुरों को; तमसः—तमोगुण का; यक्ष-रक्षांसि—यक्षों तथा राक्षसों को; तत्-काल-अनुगुणः—विशेष अवसर के अनुकूल; अभजत्—अपनाया।

जब सतोगुण प्रधान होता है, तो ऋषि तथा देवता उस गुण के बल पर समुन्नति करते हैं जिससे वे परमेश्वर द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रेरित किये जाते हैं। इसी प्रकार जब रजोगुण प्रधान होता है, तो असुरगण फूलते-फलते हैं और जब तमोगुण प्रधान होता है, तो यक्ष तथा राक्षस समृद्धि पाते हैं। भगवान् प्रत्येक के हृदय में स्थित रह कर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के फलों को पुष्ट करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् किसी का पक्ष नहीं लेते। बद्धजीव प्रकृति के विभिन्न गुणों के वशीभूत रहता है और प्रकृति के पीछे भगवान् का हाथ रहता है, किन्तु किसी की विजय तथा हानि सतोगुण, रजोगुण

तथा तमोगुण के फल हैं। भगवान् के पक्षपात के नहीं बरतते। श्रील जीवगोस्वामी *भागवत-सन्दर्भ* में स्पष्ट करते हैं :

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।

स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

भागवत सन्दर्भ के इस कथन के अनुसार भगवान् सदैव भौतिक गुणों से परे रहते हैं और इन गुणों से कभी प्रभावित नहीं होते। यही गुण जीव में भी पाया जाता है, लेकिन चूँकि वह प्रकृति द्वारा बद्ध है, अतएव भगवान् की ह्लादिनी शक्ति भी बद्धजीव के लिए कष्टकारक होती है। भौतिक जगत में बद्धजीव द्वारा भोगे गये सुख के साथ-साथ अनेक कष्ट आते हैं। उदाहरणार्थ, हमने दो महायुद्ध देखे हैं, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा संचालित थे और इसमें दोनों ही पक्ष वास्तव में विनष्ट हो गए। जर्मनी ने अंग्रजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा था जिससे वे विनष्ट हो जाँए, किन्तु परिणाम यह हुआ कि दोनों ही पक्ष विनष्ट हो गये। भले ही कागज पर सही, मित्र राष्ट्र विजयी तो हुए किन्तु वस्तुतः उनमें से कोई विजयी नहीं हुआ। अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। हर व्यक्ति प्रकृति के विविध गुणों के प्रभाव के अन्तर्गत कर्म करता है और जब विविध गुण प्रधान हो जाते हैं, तो देवता या असुर विविध गुणों के प्रभाव से विजयी प्रतीत होते हैं।

हर व्यक्ति अपने-अपने सगुण कर्मों का फल भोगता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.११-१३) में भी हुई है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

"सतोगुण के प्रकाट्यों का अनुभव तब होता है जब शरीर के सभी द्वार ज्ञान द्वारा आलोकित हो जाते है।"

हे भारतश्रेष्ठ! जब रजोगुण में वृद्धि होती है, तो अत्यधिक आसक्ति, अदम्य इच्छा, लालसा तथा अतीव उद्योग के लक्षण उत्पन्न होते हैं।"

हे कुरुनन्दन! जब तमोगुण में वृद्धि होती है, तो अज्ञान उन्मत्तता, मोह, जड़ता तथा अंधकार प्रकट होते हैं।"

प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् विभिन्न गुणों की वृद्धि से होने वाले फलों को ही देते हैं; वे निष्पक्ष हैं। वे लाभ तथा हानि का निरीक्षण करते हैं, किन्तु उसमें हाथ नहीं लगाते।

प्रकृति के गुण एकसाथ कार्यशील नहीं होते। इन गुणों की अन्योन्य क्रियाएँ ऋतु-परिवर्तनों की भाँति हैं। कभी रजोगुण में वृद्धि होती है, तो कभी तमोगुण में और कभी-कभी सतोगुण में। सामान्य रूप से देवताओं में सत्त्वगुण पाया जाता है, अतएव जब असुर तथा देवता युद्ध करते हैं, तो देवताओं की विजय होती है, क्योंकि उनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य रहता है। किन्तु यह भगवान् का पक्षपात नहीं है।

ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते ।
विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ज्योतिः—अग्नि; आदिः—तथा अन्य तत्त्व; इव—सदृश; आभाति—प्रतीत होती हैं; सङ्घातात्—देवताओं तथा अन्यों के शरीरों से; न—नहीं; विविच्यते—पहचाने जाते हैं; विदन्ति—अनुभव करते हैं; आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय में स्थित; मथित्वा—विलग करके; कवयः—दक्ष चिन्तक; अन्ततः—भीतर।

सर्वव्यापी भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं और एक कुशल चिन्तक ही अनुभव कर सकता है कि वे अधिक या न्यून मात्रा में कैसे वहाँ उपस्थित हैं। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि, जलपात्र में जल या घड़े के भीतर आकाश को समझा जा सकता है उसी प्रकार जीव की भक्तिमयी क्रियाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि वह जीव असुर है या देवता। विचारशील व्यक्ति किसी मनुष्य के कर्मों को देखकर यह समझ सकता है कि उस मनुष्य पर भगवान् की कितनी कृपा है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.४१) में भगवान् कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितमेव वा।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

"यह जान लो कि सारी सुन्दर, यशस्वी तथा बलशाली सृष्टियाँ मेरे तेज के केवल एक स्फुलिंग से उत्पन्न होती हैं।" हमें यह व्यावहारिक अनुभव है कि एक व्यक्ति अद्‌भुत से अद्‌भुत कार्य कर लेता है, किन्तु दूसरा व्यक्ति उन्हीं कार्यों को और यहाँ तक कि ऐसे कार्यों को जिसमें थोड़े से सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है नहीं कर पाता। अतएव भगवान् ने किसी भक्त का कितना पक्ष-समर्थन किया है, वह भक्त द्वारा सम्पन्न कार्यों से ही आँका जा सकता हैं। *भगवद्‌गीता* (१०.१०) में भगवान् यह भी कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।" यह अत्यन्त व्यावहारिक है। शिक्षक द्वारा शिष्य को शिक्षा देना तभी सार्थक है जब वह उन शिक्षाओं को अधिकाधिक ग्रहण कर सके। अन्यथा शिक्षक द्वारा शिक्षा दिये जाने पर भी वह अपनी विद्या में कोई प्रगति नहीं कर पाता। इससे पक्षपात का प्रश्न ही नहीं उठता। जब कृष्ण कहते हैं—*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्* तब यह सूचित होता है कि कृष्ण हर एक को भक्तियोग प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं लेकिन मनुष्य को उसे ग्रहण करने में समर्थ होना चाहिए। यही रहस्य है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति अद्‌भुत भक्तिमय कार्यकलाप करता है, तो विचारवान व्यक्ति समझते हैं कि भगवान् कृष्ण इस भक्त पर अधिक अनुकूल हैं।

इसे समझ पाना कठिन नहीं है, लेकिन ईर्ष्यालु लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि भगवान् ने भक्त की उन्नत स्थिति के कारण ही उस पर कृपा की है। ऐसे मूर्ख ईर्ष्या करने लगते हैं और प्रगत भक्त के कार्यों का अवमूल्यन करने का प्रयास करते हैं। यह वैष्णवता नहीं है। वैष्णव को चाहिए कि अन्य वैष्णव द्वारा की गई *भगवत्सेवा* की प्रशंसा करे। इसीलिए *श्रीमद्‌भागवत* में वैष्णव को *निर्मत्सर* कहा गया है। वैष्णवजन न तो अन्य वैष्णवों से कभी ईर्ष्या करते हैं, न अन्य किसी से भी।

इसीलिए वे *निर्मत्सराणां सताम्* कहलाते हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* से सूचित होता है, मनुष्य यह समझ सकता है कि वह किस तरह सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण से संतृप्त होता है। यहाँ पर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें से अग्नि सत्त्वगुण की द्योतक है। हम अग्नि के परिमाण से काष्ठ, पेट्रोल या अन्य ज्वलनशील पदार्थों की संरचना समझ सकते हैं। इसी प्रकार जल रजोगुण का द्योतक है। हमारी क्षुद्र त्वचा में तथा विशाल अटलांटिक सागर दोनों ही में जल है और किसी पात्र में जल की मात्रा देखकर पात्र के आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। आकाश तमोगुण का द्योतक है। आकाश एक छोटे से घड़े में भी है और अन्तरिक्ष में भी। इस प्रकार उचित न्याय द्वारा सत्त्व, रजो तथा तमोगुण की मात्रा के अनुसार यह देखा जा सकता है कि कौन *देवता* है और कौन *असुर* और कौन यक्ष या राक्षस है। केवल देखकर कोई व्यक्ति देवता, असुर या राक्षस को नहीं पहचान सकता, अपितु एक विवेकशील व्यक्ति ऐसे व्यक्ति द्वारा सम्पन्न कार्यकलापों से ही उसे समझ पाता है। *पद्मपुराण* में सामान्य वर्णन मिलता है—*विष्णुभक्त: स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्यय: ।* विष्णु का भक्त देवता होता है, जबकि असुर या यक्ष इसका ठीक उल्टा होता है। असुर भगवान् विष्णु का भक्त नहीं होता, अपितु अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वह देवताओं, भूतों, प्रेतों इत्यादि का भक्त होता है। इस प्रकार देवता, राक्षस तथा असुर का निर्णय उनके कार्यकलापों से किया जा सकता है।

इस श्लोक में *आत्मानम्* शब्द का अर्थ *परमात्मानम्* है। परमात्मा सबों के अन्त:करण में स्थित हैं (*अन्तत:*)। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में हुई है। *ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित होने के कारण *ईश्वर* हर एक को उसके द्वारा उपदेश ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार निर्देशन करते हैं। *भगवद्गीता* के उपदेश सबों के लिए खुले हुए हैं, किन्तु कुछ लोग उन्हें ठीक से समझते हैं जब कि कुछ लोग इतने बेढंगेपन से समझते हैं कि वे कृष्ण के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं कर पाते, यद्यपि वे कृष्ण की पुस्तक पढ़ते होते हैं। यद्यपि *गीता* कहती है *श्रीभगवान् उवाच* अर्थात् ''कृष्ण ने कहा'' किन्तु वे कृष्ण को नहीं समझ पाते। यह उनका दुर्भाग्य या उनकी अक्षमता है, जो रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा उत्पन्न होती है। इन्ही गुणों के कारण वे कृष्ण को समझ तक नहीं पाते जबकि अर्जुन जैसा प्रगत भक्त उन्हें समझता है और यह कहकर उनका गुणगान करता

है— *परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—आप परब्रह्म हैं, परम धाम तथा परम पवित्र करने वाले हैं। कृष्ण सबों के लिए प्रकट हैं, किन्तु उन्हें समझने की क्षमता होना आवश्यक है।

बाह्य लक्षणों के आधार पर कोई यह नहीं समझ सकता कि भगवान् की कृपा किस पर है और किस पर नहीं। मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुसार ही कृष्ण उसके प्रत्यक्ष उपदेशक बनते हैं, अथवा उसके लिए अज्ञात रहते हैं। यह कृष्ण का पक्षपात नहीं है, अपितु उन्हें समझ पाने की क्षमता के प्रति उनकी अनुक्रिया है। मनुष्य की ग्राहकता के अनुसार, चाहे वह देवता हो, असुर हो अथवा यक्ष या राक्षस, कृष्ण के गुण उसी अनुपात से प्रकट होते हैं। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे कृष्ण की शक्ति के इस आनुपातिक प्रदर्शन (प्राकट्य) को कृष्ण का पक्षपात समझते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात ऐसी नहीं है। कृष्ण सबों पर समभाव रखते हैं और कृष्ण-कृपा को ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार ही मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति करता है। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आकाश में अनेक तारे होते हैं। रात्रि में, यहाँ तक कि अँधेरे में भी, चन्द्रमा अत्यधिक प्रकाशमान रहता है और प्रत्यक्ष दिखता है। सूर्य भी अत्यधिक प्रकाशमान है। किन्तु बादल से आच्छादित होने पर ये ज्योतिपिंड नहीं दिखते। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों *सत्तवगुण* में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों भक्ति के कारण उसका तेज अधिकाधिक दिखता है, किन्तु जो जितना ही रजो तथा तमो गुणों से आच्छादित होता है, उसका तेज उतना ही कम दृष्टिगोचर होता है। किसी के गुणों का प्राकट्य भगवान् के पक्षपात पर नहीं निर्भर करता, अपितु विभिन्न आवरणों की मात्रा पर निर्भर करता है। इस तरह यह पता चल सकता है कि कोई *सत्त्वगुण* में कितना अग्रसर है और कितना रजो तथा तमो गुणों से आवृत है।

यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो
रजः सृजत्येष पृथक्स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः
शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; **सिसृक्षुः**—सृष्टि करने को इच्छुक; **पुरः**—भौतिक शरीर; **आत्मनः**—जीवों के लिए; **परः**—भगवान्; **रजः**—रजोगुण; **सृजति**—प्रकट करता है; **एषः**—वह; **पृथक्**—अलग, मुख्यतया; **स्व-मायया**—अपनी सृजन शक्ति के द्वारा; **सत्त्वम्**—सतोगुण; **विचित्रासु**—विभिन्न प्रकार के शरीरों में; **रिरंसुः**—कर्म करने का इच्छुक; **ईश्वरः**—भगवान्; **शयिष्यमाणः**—समाप्त करने के निकट; **तमः**—तमोगुण; **ईरयति**—प्रकट करता है; **असौ**—वह परमेश्वर।

जब भगवान् विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न करते हैं और प्रत्येक जीव को उसके चरित्र तथा सकाम कर्मों के अनुसार विशिष्ट प्रकार का शरीर प्रदान करते हैं, तो वे प्रकृति के सारे गुणों—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण—को पुनरुज्जीवित करते हैं। तब परमात्मा के रूप में वे प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होकर सृजन, पालन तथा संहार के गुणों को प्रभावित करते हैं जिनमें से सतोगुण का उपयोग पालन के लिए, रजोगुण का उपयोग सृजन के लिए तथा तमोगुण का उपयोग संहार के लिए किया जाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भौतिक प्रकृति का संचालन सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा होता है, लेकिन प्रकृति स्वतंत्र नहीं है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१०) में कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन के अन्तर्गत कार्य कर रही है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न कर रही है। इसके नियमानुसार इस जगत का बारम्बार सृजन तथा विनाश होता रहता है।" भौतिक जगत में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन तीनों गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं, किन्तु इन तीनों गुणों से भी ऊपर उनका अध्यक्ष परमेश्वर होता है। प्रकृति (*यन्त्रारूढानि मायया*) द्वारा जीवों को प्रदत्त विभिन्न प्रकार के शरीरों में या तो सत्त्वगुण प्रधान होता है, अथवा रजोगुण या तमोगुण। शरीर की उत्पत्ति प्रकृति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार होती है। इसलिए यहाँ पर कहा गया है—*यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परः* जो सूचित करता है कि यह शरीर निश्चित रूप से भगवान् द्वारा सृजित है। *कर्मणा दैवनेत्रेण*—जीव के कर्मानुसार भगवान् के निर्देशन में शरीर निर्मित किया जाता है। यह शरीर सतोगुणी है, या रजोगुणी अथवा तमोगुणी, यह सब बहिरंगा शक्ति के द्वारा (*पृथक् स्वमायया*) भगवान् के निर्देशन में सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार भगवान् (*ईश्वर*) विभिन्न प्रकार के शरीरों में परमात्मा रूप में निर्देश देते हैं और पुनः शरीर को विनष्ट करने के लिए। वे तमोगुण का उपयोग करते हैं। इस तरह से जीवों को विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं।

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं ।

प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कालम्—समय; चरन्तम्—गतिशील; सृजति—उत्पन्न करता है; ईशः—भगवान्; आश्रयम्—शरण; प्रधान—भौतिक शक्ति के लिए; पुम्भ्याम्—तथा जीव के द्वारा; नर-देव—हे मनुष्यों के शासक; सत्य—असली; कृत्—स्रष्टा।

हे महान् राजा, भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के नियंता भगवान्, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, काल की सृष्टि करते हैं जिससे भौतिक शक्ति तथा जीव काल की सीमा के भीतर परस्पर क्रिया कर सकें। इस प्रकार परम पुरुष न तो कभी काल के अधीन होता है, न ही भौतिक शक्ति (माया) के अधीन होता है।

तात्पर्य : किसी को कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल पर आश्रित हैं। वे वास्तव में ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिससे प्रकृति कार्य करती है और जिससे बद्धजीव प्रकृति के अधीन रहता है। बद्धजीव तथा प्रकृति दोनों ही काल के अधीन कर्म करते हैं, किन्तु भगवान् काल की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के अधीन नहीं हैं, क्योंकि काल की सृष्टि भगवान् ने ही की है। अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सृजन, पालन तथा संहार ये तीनों भगवान् की परम इच्छा के अधीन हैं।

भगवद्गीता (४.७) में भगवान् कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

''हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य होता है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।'' चूँकि भगवान् कृष्ण सबों के नियंत्रक हैं, अतएव वे जब-जब प्रकट होते हैं, तो काल की सीमाओं में बँधे नहीं होते (*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*)। इस श्लोक में *कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं* पद सूचित करता है कि चाहे सत्त्वगुण का प्राधान्य हो या रजोगुण अथवा तमोगुण का, यद्यपि भगवान् काल के भीतर कार्य करते हैं, किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् काल के अधीन हैं। काल उनके अधीन है, क्योंकि वे इसका सृजन एक निश्चित विधि से कर्म करने के लिए करते हैं, वे कर्म को काल के नियंत्रण में नहीं करते। भौतिक जगत की सृष्टि तो भगवान् की एक लीला मात्र है। हर वस्तु उनके पूर्ण नियंत्रण में रहती है। चूँकि सृष्टि का जन्म तब होता है जब रजोगुण प्रधान होता है, अतएव भगवान् रजोगुण को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए आवश्यक काल की सृष्टि करते हैं। इसी

प्रकार वे पालन तथा संहार के लिए आवश्यक कालों का सृजन करते हैं। इस प्रकार यह श्लोक प्रतिपादित करता है कि भगवान् काल की सीमाओं के भीतर नहीं हैं।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*ईश्वर: परम: कृष्ण:*—कृष्ण परम नियामक हैं। *सच्चिदानन्द विग्रह:*—उनका शरीर आनन्दपूर्ण तथा आध्यात्मिक है। *अनादि:*—वे किसी के भी अधीन नहीं हैं। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.७) में पुष्टि की है—*मत्त: परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—"हे धन के विजेता (अर्जुन)! कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नहीं।" कोई भी वस्तु कृष्ण से बढ़कर नहीं हो सकती, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के नियंत्रक तथा स्रष्टा हैं।

मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि यह जगत *मिथ्या* है, अतएव हमें इस *मिथ्या* सृष्टि की परवाह नहीं करनी चाहिए (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। किन्तु यह सही नहीं है। यहाँ पर *सत्यकृत्* कहा गया है अर्थात् *सत्यं परम्* द्वारा जो भी उत्पन्न किया जाता है, वह *मिथ्या* नहीं कहा जा सकता। सृष्टि का कारण *सत्य* है, अतएव कारण का प्रकार्य किस तरह *मिथ्या* हो सकता है? *सत्यकृत्* शब्द का व्यवहार ही यह प्रतिपादित करने के लिए किया गया है कि भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रत्येक वस्तु वास्तविक है, मिथ्या नहीं। भले ही सृष्टि क्षणिक हो, किन्तु मिथ्या नहीं है।

य एष राजन्नपि काल ईशिता
सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यत: ।
तत्प्रत्यनीकानसुरान्सुरप्रियो
रजस्तमस्कान्प्रमिणोत्युरुश्रवा: ॥ १२॥

शब्दार्थ

य:—जो; एष:—यह; राजन्—हे राजा; अपि—भी; काल:—काल, समय; ईशिता—परमेश्वर; सत्त्वम्—सतोगुण; सुर-अनीकम्—अनेक देवताओं को; इव—निश्चय ही; एधयति—बढ़ाता है; अत:—अतएव; तत्-प्रत्यनीकान्—उनके प्रति वैर भाव; असुरान्—असुरों को; सुर-प्रिय:—देवताओं का मित्र होने से; रज:-तमस्कान्—रजो तथा तमों गुणों से आच्छादित; प्रमिणोति—नष्ट करता है; उरु-श्रवा:—जिसका यश दूर-दूर तक फैला है।.

हे राजन् यह काल सत्त्वगुण को बढ़ाता है। इस तरह यद्यपि परमेश्वर नियन्ता हैं, किन्तु वे देवताओं पर कृपालु होते हैं, जो अधिकांशत: सतोगुणी होते हैं। तभी तमोगुणी असुरों का विनाश होता है। परमेश्वर काल को विभिन्न प्रकार से कार्य करने के लिए प्रभावित करते हैं, किन्तु वे कभी पक्षपात नहीं करते। उनके कार्यकलाप यशस्वी हैं, अतएव वे उरुश्रवा कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:*—न तो मैं किसी से ईर्ष्या करता हूँ, न मैं किसी का पक्षपात करता हूँ, मैं सबों के प्रति समभाव रखता हूँ। भगवान् पक्षपात नहीं कर सकते; वे सबों के प्रति सदैव समभाव रखते हैं। अतएव जब देवताओं पर कृपा की जाती है और असुरों का वध होता है, तो यह पक्षपात नहीं होता, अपितु काल का प्रभाव होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण यह है कि बिजली का मिस्त्री एक ही विद्युत् शक्ति से हीटर तथा कूलर को जोड़ता है। गरम करने तथा ठंडा करने का कारण मिस्त्री द्वारा इच्छानुसार विद्युतशक्ति का समायोजन होता है। परन्तु वस्तुत: मिस्त्री को न तो गरम अथवा ठंडा करने से, न ही उससे उत्पन्न सुख या दुख से कोई प्रयोजन रहता है।

ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिसमें भगवान् ने किसी असुर का वध किया, किन्तु भगवान् की कृपा से उसे उच्चतर पद मिल गया। पूतना इसका एक उदाहरण है। पूतना का उद्देश्य कृष्ण को मार डालना था। *अहो बकी यं स्तनकालकूटम्।* वह अपने स्तनों में विष लगाकर कृष्ण को मारने के उद्देश्य से नन्द महाराज के घर गई, किन्तु जब वह मार डाली गई तो उसे वैसा ही उच्चतम पद प्राप्त हुआ जैसाकि कृष्ण की माता को। कृष्ण इतने दयालु तथा निष्पक्ष हैं कि चूँकि उन्होंने पूतना का स्तनपान किया था, अतएव उन्होंने तुरन्त उसे अपनी माता के रूप में स्वीकार कर लिया। पूतना का इस प्रकार वध करने से भगवान् की निष्पक्षता में कोई कमी नहीं आई। वे सबों के मित्र हैं—*सुहृदं सर्वभूतानाम्।* अतएव भगवान् के चरित्र पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि परम नियंता के अपने पद को वे सदा बनाए रखते हैं। भगवान् ने पूतना का वध शत्रु के रूप में किया, किन्तु उनके परम नियन्ता होने के कारण उसे उनकी माता जैसे उच्च पद की प्राप्ति हुई। अतएव श्रील मध्व मुनि कहते हैं—*काले कालविषयेऽपीशिता देहादि कारणत्वात् सुरानीकम् इव स्थितं सत्त्वम्।* सामान्यतया हत्यारे को फाँसी दी जाती है और *मनु-संहिता* में तो कहा गया है कि राजा हत्यारे का वध करके उस पर कृपा करता है और इस प्रकार उसे विविध प्रकार के कष्टों से बचा लेता है। अपने पापमय कर्मों के कारण ऐसा हत्यारा राजा की कृपा से मार दिया जाता है। कृष्ण परम न्यायकर्ता के रूप में इसी प्रकार से आचरण करते हैं, क्योंकि वे परम नियन्ता हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् सदैव निष्पक्ष रहते हैं और सभी जीवों पर अत्यधिक दयालु हैं।

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा ।
प्रीत्या महाक्रतौ राजन्पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस प्रसंग में; एव—निश्चय; उदाहृतः—सुनाया गया; पूर्वम्—पहले; इतिहासः—पुरानी कथा; सुर-ऋषिणा—देवर्षि नारद द्वारा; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; महा-क्रतौ—महान् राजसूय यज्ञ के अवसर पर; राजन्—हे राजा; पृच्छते—जिज्ञासा करने वाले; अजात-शत्रवे—महाराज युधिष्ठिर को, जिनका कोई शत्रु न था।.

हे राजन्, पूर्वकाल में जब महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे थे तो महर्षि नारद ने उनके पूछे जाने पर कुछ ऐतिहासिक तथ्य कह सुनाये जिससे पता चलता है कि भगवान् असुरों का वध करते समय भी कितने निष्पक्ष रहते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से महाराज युधिष्ठिर द्वारा किए जा रहे राजसूय यज्ञ की स्थली पर जब भगवान् ने शिशुपाल का वध किया तब भी वे कितने निष्पक्ष थे, इसका पता चलता है।

दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ ।
वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥ १४॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ ।
पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त अद्भुत; राजा—राजा; राजसूये—राजसूय नामक; महा-क्रतौ—महान् यज्ञ के अवसर पर; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान् में; सायुज्यम्—लीन हुआ; चेदिभू-भुजः—चेदि के राजा शिशुपाल का; तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठा हुआ; सुर-ऋषिम्—नारदमुनि से; राजा—राजा; पाण्डु-सुतः—पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर ने; क्रतौ—यज्ञ में; पप्रच्छ—पूछा; विस्मित-मनाः—आश्चर्यचकित होकर; मुनीनाम्—मुनियों की उपस्थिति में; शृण्वताम्—सुनते हुए; इदम्—यह।.

हे राजन्, महाराज पाण्डु के पुत्र महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के समय शिशुपाल को भगवान् कृष्ण के शरीर में विलीन होते हुए स्वयं देखा। अतएव आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वहीं पर बैठे महर्षि नारद से इसका कारण पूछा। जब उन्होंने यह प्रश्न पूछा तो वहाँ पर उपस्थित सारे ऋषियों ने भी इस प्रश्न को पूछे जाते सुना।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतदुर्लभैकान्तिनामपि ।
वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अहो—ओह; अति-अद्भुतम्—अत्यन्त आश्चर्यजनक; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; दुर्लभ—प्राप्त करने में कठिन; एकान्तिनाम्—अध्यात्मवादियों के लिए; अपि—भी; वासुदेवे—वासुदेव में; परे—परम; तत्त्वे—परम सत्य; प्राप्तिः—प्राप्ति; चैद्यस्य—शिशुपाल की; विद्विषः—ईर्ष्यालु।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि असुर शिशुपाल अत्यन्त ईर्ष्यालु होते हुए भी भगवान् के शरीर में लीन हो गया। यह सायुज्य मुक्ति बड़े-बड़े अध्यात्मवादियों के लिए भी दुष्प्राप्य है, तो फिर भगवान् के शत्रु को यह कैसे प्राप्त हुई?

तात्पर्य : अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं—*ज्ञानी* तथा *भक्त*। भक्तगण भगवान् के शरीर में लीन होने की कोई इच्छा नहीं रखते लेकिन ज्ञानी जन ऐसा चाहते हैं। किन्तु शिशुपाल न तो ज्ञानी था, न ही भक्त। फिर भी मात्र भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण उसे भगवान् के शरीर में लीन होने जैसी सद्गति प्राप्त हुई। निश्चय ही यह आश्चर्यजनक था, अतएव महाराज युधिष्ठिर ने शिशुपाल के ऊपर भगवान् की इस रहस्यमयी कृपा का कारण पूछा।

एतद्वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने ।
भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वेदितुम्—जानना; इच्छामः—चाहते हैं; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; वयम्—हम सब; मुने—हे मुनि; भगवत्-निन्दया—भगवान् की निन्दा करने के कारण; वेनः—वेन, पृथु महाराज का पुत्र; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा; तमसि—नरक में; पातितः—गिरा दिया गया।

हे मुनि, हम सभी भगवान् की इस कृपा का कारण जानने के लिए उत्सुक हैं। मैंने सुना है कि प्राचीन काल में वेन नामक राजा ने भगवान् की निन्दा की। फलस्वरूप सारे ब्राह्मणों ने उसे बाध्य किया कि वह नरक में जाये। शिशुपाल को भी नरक जाना चाहिए था। तो फिर वह भगवान् के शरीर में किस तरह लीन हो गया?

दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् ।
सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्मतिः ॥ १८॥

शब्दार्थ

दमघोष-सुतः—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल; पापः—पापी; आरभ्य—प्रारम्भ करके; कल-भाषणात्—बालक जैसी तोतली बोली से; सम्प्रति—आज भी; अमर्षी—ईर्ष्यालु; गोविन्दे—श्रीकृष्ण के प्रति; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—भी; दुर्मतिः—दुर्बुद्धि।

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही, जब वह ठीक से बोल नहीं पाता था, दमघोष के

महापापी पुत्र शिशुपाल ने भगवान् की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी थी और वह मृत्यु काल तक श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता रहा। इसी प्रकार उसका भाई दन्तवक्र भी ऐसी आदतें पाले रहा।

शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।
श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शपतोः—निन्दा करने वाले शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही का; असकृत्—बारम्बार; विष्णुम्—भगवान् कृष्ण को; यत्—जो; ब्रह्म परम्—परब्रह्म; अव्ययम्—बिना किसी कमी के; श्वित्रः—श्वेत कुष्ठ; न—नहीं; जातः—प्रकट; जिह्वायाम्—जीभ पर; न—नहीं; अन्धम्—अँधेरा; विविशतुः—वे घुसे; तमः—नरक में।

यद्यपि शिशुपाल तथा दन्तवक्र दोनों ही भगवान् विष्णु (कृष्ण) की बारम्बार निन्दा करते रहे तो भी वे पूर्ण स्वस्थ रहे। न तो उनकी जीभों में ही श्वेत कुष्ठ रोग हुआ, न वे नारकीय जीवन के गहन अंधकार में प्रविष्ट हुए। हम सचमुच इससे अत्यधिक चकित हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने कृष्ण का वर्णन इस प्रकार किया है—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्*—आप परब्रह्म, परम धाम तथा पवित्र करने वाले हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है। *विष्णुं यद् ब्रह्म परमव्ययम्।* विष्णु ही कृष्ण हैं। कृष्ण विष्णु के कारण हैं, इसके विपरीत नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म कृष्ण के कारण नहीं हैं, अपितु कृष्ण ब्रह्म के कारण हैं। अतएव कृष्ण परब्रह्म हैं (*यद् ब्रह्म परमव्ययम्*)।

कथं तस्मिन्भगवति दुरवग्राह्यधामनि ।
पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तस्मिन्—उसमें; भगवति—भगवान् में; दुरवग्राह्य—प्राप्त करने में कठिन; धामनि—जिसका स्वभाव; पश्यताम्—देखते-देखते; सर्व-लोकानाम्—सारे लोगों के; लयम् ईयतुः—लीन हो गये; अञ्जसा—सरलता से।

यह कैसे सम्भव हो पाया कि शिशुपाल तथा दन्तवक्र अनेक महापुरुषों की उपस्थिति में उन कृष्ण के शरीर में सरलता से प्रविष्ट हो सके, जिन भगवान् की प्रकृति को प्राप्त कर पाना इतना कठिन है?

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र पूर्वजन्म में वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय थे। उनका अन्तिम लक्ष्य कृष्ण के शरीर में लीन होना नहीं था। वे कुछ काल तक लीन रहे, किन्तु बाद में उन्हें प्रभु के लोक में रहने तथा उन्हीं के समान शरीर प्राप्त करने, *सारूप्य* तथा *सालोक्य* मुक्ति प्राप्त करने,

का अवसर मिला। शास्त्र साक्षी है कि यदि कोई परमेश्वर की निन्दा करता है, तो उसको अनेक ब्राह्मणों का वध करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा लाखों वर्षों तक नारकीय जीवन बिताने का दण्ड दिया जाता है। किन्तु शिशुपाल को नारकीय जीवन में प्रवेश नहीं करना पड़ा; वह तो तुरन्त ही सरलता से *सायुज्य मुक्ति* को प्राप्त हुआ। शिशुपाल को ऐसा सुअवसर दिया जाना कोरी कथा नहीं है। वहाँ पर उपस्थित सभी लोगों ने इसे देखा, अतएव साक्ष्य की कमी नहीं है। लेकिन यह हुआ कैसे? महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त चकित थे।

एतद्भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना ।
ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवान्ह्यत्र कारणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इसे लेकर; भ्राम्यति—डगमगा रही है; मे—मेरी; बुद्धिः—बुद्धि; दीप-अर्चिः—दीपक की लौ; इव—सदृश; वायुना—वायु से; ब्रूहि—कृपा करके कहें; एतत्—यह; अद्भुततमम्—सर्वाधिक अद्भुत; भगवान्—समस्त ज्ञान से युक्त; हि—निश्चय ही; अत्र—यहाँ; कारणम्—कारण।

यह विषय निस्सन्देह अत्यन्त अद्भुत है। मेरी बुद्धि उसी तरह डगमगा रही है, जिस तरह बहती हुई वायु से दीपक की लौ विचलित हो जाती है। हे नारद मुनि, आप सब कुछ जानते हैं। कृपा करके मुझे इस अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

तात्पर्य : शास्त्रों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।* जब मनुष्य जीवन की कठिन समस्याओं से आक्रान्त हो जाये तो उनको हल करने के लिए उसे नारद अथवा परम्परागत किसी प्रतिनिधि तुल्य गुरु के पास जाना चाहिए। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने नारद से विनती की कि वे ऐसी अद्भुत घटना का कारण बताएँ।

श्रीबादरायणिरुवाच
राज्ञस्तद्वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः ।
तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-बादरायणिः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राज्ञः—राजा (युधिष्ठिर) के; तत्—वे; वचः—शब्द; आकर्ण्य—सुनकर; नारदः—नारद मुनि ने; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऋषिः—ऋषि; तुष्टः—प्रसन्न होकर; प्राह—कहा; तम्—उसको; आभाष्य—सम्बोधित करके; शृण्वत्याः तत्-सदः—सभासदों की उपस्थित में; कथाः—कथाएँ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : महाराज युधिष्ठिर की विनती सुनकर अत्यन्त शक्तिशाली गुरु नारद मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि वे हर बात को जानने वाले हैं। इस तरह उन्होंने यज्ञ में

भाग लेने वाले सभी व्यक्तियों के समक्ष उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् ।
प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; निन्दन—निन्दा; स्तव—स्तुति, प्रशंसा; सत्कार—सम्मान; न्यक्कार—अपमान; अर्थम्—के प्रयोजन से; कलेवरम्—शरीर; प्रधान-परयोः—प्रकृति तथा भगवान् का; राजन्—हे राजा; अविवेकेन—बिना भेदभाव के; कल्पितम्—उत्पन्न।

महर्षि नारद ने कहा : हे राजन्, निन्दा तथा स्तुति, अपमान तथा सम्मान का अनुभव अज्ञान के कारण होता है। बद्धजीव का शरीर भगवान् द्वारा अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से इस जगत में कष्ट भोगने के लिए बनाया गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और वह भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आसीन समस्त जीवों के चक्कर लगाने का निर्देशन कर रहा है।" भौतिक शरीर का निर्माण बहिरंगा शक्ति द्वारा भगवान् के निर्देशानुसार किया जाता है। बद्धजीव इस यंत्र में आरूढ़ होकर पूरे ब्रह्माण्ड में विचरण करता है और देहात्म-बुद्धि के कारण कष्ट ही कष्ट भोगता रहता है। वस्तुतः निन्दा का कष्ट और प्रशंसा का हर्ष, सत्कार की स्वीकृति या कठोर शब्दों द्वारा अपमान—ये सभी जीवन की भौतिक धारणा से ही अनुभव किये जाते हैं। किन्तु चूँकि भगवान् भौतिक नहीं, अपितु सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अतएव वे अपमान या सम्मान, निन्दा या स्तुति से अप्रभावित रहते हैं। सदा अप्रभावित रहने तथा पूर्ण होने के कारण वे भक्तों द्वारा सुन्दर प्रार्थनाएँ किये जाने पर अधिक हर्षित नहीं होते, यद्यपि भक्त को भगवान् की प्रार्थना करने से लाभ होता है। निस्सन्देह वे अपने तथाकथित शत्रु के प्रति अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि जो भगवान् को सतत अपना शत्रु मानता है उसे भी लाभ होता है यद्यपि वह भगवान् के प्रतिकूल सोचता रहता है। बद्धजीव, शत्रु या मित्र, चाहे किसी रूप में भगवान् पर अनुरक्त हो जाता है और लाभ ही प्राप्त करता है।

हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा ।
वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥ २४॥

शब्दार्थ

हिंसा—कष्ट; तत्—इसका; अभिमानेन—मिथ्या धारणा; दण्ड-पारुष्ययो:—दण्ड तथा अपमान की; यथा—जिस तरह; वैषम्यम्—भ्रान्ति; इह—यहाँ (इस शरीर में); भूतानाम्—जीवों का; मम-अहम्—मेरा और मैं; इति—इस प्रकार; पार्थिव—हे पृथ्वी के स्वामी।

हे राजन्, देहात्म-बुद्धि के कारण बद्धजीव अपने शरीर को ही आत्मा मान लेता है और अपने शरीर से सम्बद्ध हर वस्तु को अपनी मानता है। चूँकि उसे जीवन की यह मिथ्या धारणा रहती है, अतएव उसे प्रशंसा तथा अपमान जैसे द्वंद्वों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जब बद्धजीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तभी वह अपमान या प्रंशसा के प्रभावों का अनुभव करता है। तभी वह एक व्यक्ति को शत्रु और दूसरे को मित्र मान बैठता है और वह शत्रु का अपमान तथा मित्र का सत्कार करना चाहता है। मित्रों तथा शत्रुओं की यह सृष्टि उसकी देहात्म-बुद्धि का परिणाम होती है।

यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात्प्राणिनां वधः ।
तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥ २५॥

शब्दार्थ

यत्—जिसमें; निबद्धः—बँधा हुआ; अभिमानः—मिथ्या धारणा; अयम्—यह; तत्—उस (शरीर) के; वधात्—विनाश से; प्राणिनाम्—जीवों का; वधः—विनाश; तथा—उसी प्रकार से; न—नहीं; यस्य—जिसका; कैवल्यात्—अद्वितीय या परम होने के कारण; अभिमानः—भ्रान्त धारणा; अखिल-आत्मनः—समस्त जीवों के परमात्मा का; परस्य—भगवान् का; दम-कर्तुः—परम नियन्ता; हि—निश्चय ही; हिंसा—क्षति; केन—कैसे; अस्य—उसका; कल्प्यते—सम्पन्न की जाती है।

देहात्मा-बुद्धि के कारण बद्धजीव सोचता है कि जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव नष्ट हो जाता है। भगवान् विष्णु ही परम नियन्ता तथा समस्त जीवों के परमात्मा हैं। चूँकि उनका कोई भौतिक शरीर नहीं होता, अतएव उनमें ''मैं तथा मेरा'' जैसी भ्रान्त धारणा नहीं होती। अतएव यह सोचना सही नहीं है कि जब उनकी निन्दा की जाती है या उनकी स्तुति की जाती है, तो वे पीड़ा या हर्ष का अनुभव करते हैं। ऐसा कर पाना उनके लिए असम्भव है। इस प्रकार उनका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र। जब वे असुरों को दण्ड देते हैं, तो उनकी भलाई के लिए ऐसा करते हैं और जब भक्तों की स्तुतियाँ स्वीकार करते हैं, तो वह उनके कल्याण के लिए होता है।

वे न तो स्तुतियों से प्रभावित होते हैं न निन्दा से।

तात्पर्य : भौतिक शरीरों से आवृत होने के कारण बड़े से बड़े विद्वान तथा मिथ्या ढंग से शिक्षित प्राचार्य समेत सारे बद्धजीव यह सोचते हैं कि ज्योंही शरीर का अन्त हो जाता है त्योंही सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह उनकी देहात्म-बुद्धि के कारण है। कृष्ण के न तो ऐसी देहात्म-बुद्धि होती है, न ही उनका शरीर उनकी आत्मा से भिन्न है। अतएव जब कृष्ण में किसी प्रकार की देहात्म-बुद्धि है ही नहीं तो फिर वे भौतिक स्तुतियों तथ दोषारोपणों से किस प्रकार प्रभावित हो सकते हैं? यहाँ पर कृष्ण के शरीर को *कैवल्य* कहा गया है अर्थात् उनसे अभिन्न। चूँकि हर एक के देहात्म-बुद्धि होती है अतएव यदि कृष्ण भी ऐसे ही हों तो फिर उनमें तथा बद्धजीव में क्या अन्तर हुआ? *भगवद्गीता* में कृष्ण के उपदेशों को निर्णायक माना जाता है, क्योंकि उनका शरीर भौतिक नहीं होता। ज्योंही भौतिक शरीर मिला नहीं कि मनुष्य में चार अवगुण आ जाते हैं, लेकिन कृष्ण के भौतिक देह न होने से उनमें ये अवगुण नहीं पाये जाते। वे सदैव आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्मय तथा आनन्दमय रहते हैं। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:*—उनका स्वरूप शाश्वत, आनन्दपूर्ण तथा ज्ञानपूर्ण है। *सच्चिदानन्द-विग्रह:, आनन्द चिन्मय-रस* तथा *कैवल्य* एक ही हैं।

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमात्मा रूप में विस्तार कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी पुष्टि हुई है। *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—भगवान् परमात्मा हैं अर्थात् सभी जीवों की *आत्मा* हैं। अतएव यह स्वाभाविक रूप से निष्कर्ष निकलता है कि उनमें दोषपूर्ण देहात्म-बुद्धि नहीं पाई जाती। वे हर एक शरीर में स्थित होते हुए भी देहात्म-बुद्धि नहीं रखते। वे ऐसी धारणाओं से सदैव मुक्त रहते हैं, अतएव वे जीव के भौतिक शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु से प्रभावित नहीं हो सकते।

भगवद्गीता (१६.१९) में कृष्ण कहते हैं—

तानहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

''जो लोग ईर्ष्यालु तथा खल हैं, जो मनुष्यों में निम्नतम हैं, वे मेरे द्वारा इस भवसागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं।'' किन्तु जब भी भगवान् असुरों जैसे मनुष्यों को दण्ड

देते हैं, तो यह दण्ड इन बद्धजीवों के हित में होता है। भगवान् से ईर्ष्या करने के कारण बद्धजीव उन पर यह दोषारोपण कर सकता है कि ''कृष्ण बुरे हैं, वे चोर हैं।'' किन्तु कृष्ण समस्त जीवों पर दयालु होने के कारण ऐसे आरोपों पर ध्यान नहीं देते। उल्टे, वे बद्धजीवों के द्वारा अनेक बार ''कृष्ण-कृष्ण'' का कीर्तन करने को महत्त्व देते हैं। वे कभी-कभी ऐसे असुरों को एक जन्म में निम्नतर योनि में डालकर दण्डित करते हैं और फिर जब वे दोषारोपण करना छोड़ देते हैं, तो अगले जन्म में कृष्ण का निरन्तर कीर्तन करने के कारण उन्हें मुक्त कर दिया जाता है। परमेश्वर या उनके भक्त की निन्दा करना बद्धजीवों के लिए कभी कल्याणप्रद नहीं होता, किन्तु अत्यन्त दयालु होने के कारण कृष्ण बद्धजीवों के ऐसे पापकर्मों के लिए एक जन्म में दण्ड देते हैं और फिर उन्हें अपने धाम वापस बुला लेते हैं। इसका सजीव उदाहरण वृत्रासुर है, जो पूर्वजन्म में चित्रकेतु महाराज नामक महान् भक्त था। चूँकि उसने भक्तों के शिरोमणि शिवजी का उपहास किया, अतएव उसे वृत्र नामक असुर का शरीर धारण करना पड़ा। किन्तु बाद में उसे भगवद्धाम प्राप्त हुआ। इस तरह जब कृष्ण किसी असुर या बद्धजीव को दण्ड देते हैं, तो वे उसकी निन्दा करने की आदत छुड़ा देते हैं और जब वह पूरी तरह शुद्ध हो जाता है, तो भगवान् उसे अपने धाम बुला लेते हैं।

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा ।
स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यात्कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; निर्वैरेण—भक्ति से; भयेन—भय से; वा—अथवा; स्नेहात्—स्नेह से; कामेन—विषय वासनाओं से; वा—अथवा; युञ्ज्यात्—केन्द्रित करे; कथञ्चित्—किसी न किसी तरह; न—नहीं; ईक्षते—देखता है; पृथक्—अन्य कुछ।

अतएव यदि कोई बद्धजीव किसी तरह शत्रुता या भक्ति, भय, स्नेह या विषयवासना द्वारा—इनमें से सभी या किसी एक के द्वारा—अपने मन को भगवान् पर केन्द्रित करता है, तो परिणाम एक सा मिलता है, क्योंकि अपनी आनन्दमयी स्थिति के कारण भगवान् कभी भी शत्रुता या मित्रता द्वारा प्रभावित नहीं होते।

तात्पर्य : इस श्लोक से किसी को यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि चूँकि कृष्ण पर अनुकूल प्रार्थनाओं या प्रतिकूल निन्दा का कोई असर नहीं होता इसलिए परमेश्वर की निन्दा ही की जाये। यह विधि-विधान नहीं है। *भक्तियोग* का अर्थ है—*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*—मनुष्य को चाहिए कि

अत्यन्त अनुकूल होकर कृष्ण की सेवा करे। यही असली आदेश है। यहाँ यह कहा गया है कि यद्यपि शत्रु कृष्ण के प्रतिकूल सोचता है, किन्तु भगवान् ऐसी अभक्तिमयी सेवा से अप्रभावित रहते हैं। वे इस तरह शिशुपाल को तथा उसी भाव से शत्रुभाव रखने वाले अन्य बद्धजीवों को भी वर देते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रुभाव रखे। यहाँ पर अनुकूल होकर भक्ति करने पर बल दिया गया है, जानबूझ कर भगवान् की निन्दा करने पर नहीं। कहा गया है—

निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥

यदि कोई भगवान् या उनके भक्तों की निन्दा सुने तो उसे चाहिए कि या तो तुरन्त कार्यवाही करे या उस स्थान को छोड़ दे। अन्यथा उसे सतत नारकीय जीवन भोगना होगा। ऐसे अनेक आदेश हैं। अतएव विधान के अनुसार मनुष्य को भगवान् के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए, अपितु सदैव उनके अनुकूल रहना चाहिए।

शिशुपाल द्वारा परमेश्वर में लीन होने की घटना भिन्न प्रकार की थी, क्योंकि अपने भौतिक जीवन के प्रारम्भ से ही जय-विजय को तीन जन्मों तक परमेश्वर को शत्रु की भाँति मानने का श्राप मिला था। उसके बाद उन्हें भगवद्धाम लौटना था। जय तथा विजय भीतर-भीतर जानते थे कि कृष्ण भगवान् हैं, लेकिन अपने उद्धार हेतु वे जानबूझ कर उनके शत्रु बने रहे। वे अपने जीवन के प्रारम्भ से ही भगवान् कृष्ण को अपना शत्रु समझने लगे थे, लेकिन उनकी निन्दा करते हुए भी शत्रुवत् विचारों के साथ-साथ वे लगातार उनका कीर्तन भी करते रहते थे। इस प्रकार वे कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करने के कारण शुद्ध हो गये। यह जान लेना चाहिए कि निन्दक भी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से अपने पापपूर्ण कृत्यों से मुक्त हो सकता है। अतएव जो भक्त भगवान् के अनुकूल रह कर सेवा करता है उसकी मुक्ति सुनिश्चित है। अगले श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है। कृष्ण का एकाग्र ध्यान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और भौतिक जीवन से उसका उद्धार हो जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भयेन* शब्द की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। *भयेन* का अर्थ है "भय से"। जब गोपियाँ सुनसान रात्रि में कृष्ण के पास गईं तो उन्हें अपने सम्बन्धियों—अपने पतियों, भाइयों तथा पिताओं द्वारा—दण्डित होने का भय था, किन्तु उन सबकी परवाह न करती हुईं वे कृष्ण

के पास गईं। भय तो था ही, किन्तु यह भय कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति को रोक नहीं पाया।

मनुष्य को भूलकर भी यह नहीं सोचना चाहिए कि शिशुपाल की तरह शत्रु भाव से कृष्ण की पूजा की जानी चाहिए। आदेश यह है—*आनुकूल्यस्य ग्रहणं प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्*—मनुष्य को चाहिए कि में प्रतिकूल कर्म त्याग दे और अनुकूल स्थितियों को ही स्वीकार करे। सामान्यतया यदि कोई भगवान् की निन्दा करता है, तो वह दण्डित होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.१९) में भगवान् कहते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

ऐसे अनेक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिये कि प्रतिकूल होकर कृष्ण को न पूजे, अन्यथा उसे कम से कम एक जन्म में दण्डित होना पड़ेगा जिससे वह शुद्ध हो सके। जिस प्रकार मनुष्य को चाहिये कि वह शत्रु बाघ या सर्प का आलिंगन करके मरने का प्रयास न करे उसी तरह उसे चाहिये कि वह भगवान् की निन्दा न करे और नारकीय जीवन में जाने के लिए उनका शत्रु न बने।

इस श्लोक का उद्देश्य इस बात पर बल देना है कि भगवान् के शत्रु का भी उद्धार हो सकता है, उनके मित्र के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने भी कई प्रकार से कहा है कि मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् विष्णु की निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि निन्दक अपने पूर्वजों सहित नारकीय जीवन का भागी होगा।

कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम्।

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः॥

भगवद्गीता (१६.१९-२०) में भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

''जो लोग ईर्ष्यालु तथा दुर्जन हैं, जो मनुष्यों में सबसे नीच हैं, वे मेरे द्वारा इस संसार-सागर में जीवन की विविध आसुरी योनियों में डाल दिये जाते हैं। ऐसे लोग आसुरी योनियों में बारम्बार जन्म

लेने के कारण कभी भी मुझ तक नहीं पहुँच सकते। वे धीरे-धीरे अत्यन्त निकृष्ट जीवन में धँस जाते हैं।" जो भगवान् की निन्दा करता है उसे असुरों के परिवार में डाल दिया जाता है, जिसमें भगवान् की सेवा के विस्मरण होने की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (९.११-१२) में आगे और भी कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

जो मूढ़ अर्थात् धूर्त हैं, वे परमेश्वर की निन्दा करते हैं, क्योंकि वे मनुष्य की भाँति प्रकट होते हैं। वे भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य को नहीं जानते।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

शत्रु भाव से जो कुछ भी किया जाता है, वह विफल होता है (*मोघाशाः*)। यदि ये शत्रु मुक्त होना चाहते हैं, या ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, यदि वे *कर्मियों* की भाँति उच्च लोकों में पहुँचने के इच्छुक हैं, अथवा यदि वे भगवद्धाम को ही वापस जाना चाहते हैं, तो उन्हें निश्चित रूप से निराश होना पड़ेगा।

जहाँ तक हिरण्यकशिपु की बात है, यद्यपि वह भगवान् से अत्यधिक शत्रुता रखता था, किन्तु वह अपने पुत्र के विषय में सदैव सोचा करता था, जो एक महान् भक्त था। अतएव अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज की कृपा से हिरण्यकशिपु का भगवान् के द्वारा उद्धार हो गया।

हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः।

विवक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः॥

निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को शुद्ध भक्ति नहीं छोड़नी चाहिए। यहाँ तक कि निजी लाभ के लिए भी हिरण्यकशिपु या शिशुपाल का अनुकरण नहीं करना चाहिये। सफलता प्राप्त करने का यह तरीका नहीं है।

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वैर-अनुबन्धेन—निरन्तर शत्रुता से; मर्त्यः—व्यक्ति; तत्-मयताम्—उनमें तल्लीनता; इयात्—प्राप्त कर सकता है; न—नहीं; तथा—उसी तरह; भक्ति-योगेन—भक्ति से; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; निश्चिता—निश्चित; मतिः—मत, विचार।

नारद मुनि ने आगे बताया—मनुष्य को भक्ति द्वारा भगवान् के विचार में ऐसी गहन तल्लीनता प्राप्त नहीं हो सकती जितनी कि उनके प्रति शत्रुता के माध्यम से। ऐसा मेरा विचार है।

तात्पर्य : सर्वोच्च शुद्ध भक्त श्रीमान् नारद मुनि शिशुपाल जैसे कृष्ण के शत्रुओं की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उनके मन पूर्णतया सदा कृष्ण में लीन रहते हैं। निस्सन्देह, वह शत्रु अपने में कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन न रहने का अभाव पाता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कृष्ण के शत्रु कृष्ण के शुद्ध भक्तों से बढ़कर होते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.२०५) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी भी इसी विनीत भाव से अपने विषय में सोचते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।
पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥

"मैं जगाइ तथा माधाइ से भी निकृष्ट पापी हूँ और मैं मल के कीड़े से भी नीचे हूँ।" शुद्ध भक्त अपने को सदैव दूसरों से हीन समझता है। यदि कोई भक्त भगवान् की सेवा करने के निमित्त श्रीमती राधारानी के पास जाता है, तो वे भी यही सोचती हैं कि यह भक्त मुझसे बढ़कर है। इस तरह नारद मुनि कहते हैं कि उनके मतानुसार कृष्ण के शत्रु अच्छी स्थिति में होते हैं, क्योंकि वे इन विचारों में कि कृष्ण उनका वध करेंगे, पूर्णतया लीन रहते हैं जिस प्रकार अत्यन्त विषयी मनुष्य सदैव स्त्रियों तथा उनकी संगति के विषय में सोचता रहता है।

इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि मनुष्य को चौबीसों घण्टे कृष्ण के विचारों में लीन रहना चाहिये। वृन्दावन में दर्शित *राग-मार्ग* में अनेक भक्त हैं। चाहे *दास्य-रस* हो, *सख्य-रस* हो, *वात्सल्य-रस* हो या *माधुर्य-रस,* कृष्ण के भक्त सदैव कृष्ण के विचारों में अभिभूत रहते हैं। जब कृष्ण वृन्दावन से दूर जंगल में गौवें चराते तो गोपियाँ सदैव माधुर्य-रस में इन विचारों में मग्न रहती है कि कृष्ण जंगल में किस प्रकार विचरण करते होंगे। उनके पाँवों के तलवे इतने कोमल हैं कि गोपियाँ उनके चरणकमलों को अपने वक्षस्थलों पर रखने का साहस नहीं कर पातीं। निस्सन्देह, वे अपने वक्षःस्थलों को कृष्ण के चरणकमलों के लिए बहुत कठोर स्थान समझती है, फिर भी वे चरणकमल जंगल में भ्रमण करते हैं, जो कांटेदार पौंधो से भरा हुआ है। गोपियाँ अपने-अपने घरों में ऐसे विचारों में मग्न

रहती हैं, यद्यपि कृष्ण उनसे दूर होते हैं। इसी तरह कृष्ण अपने तरुण मित्रों के साथ खेलते हैं, तो माता यशोदा को यही विचार सताता रहता है कि कृष्ण लगातार खेलते रहने के कारण ठीक से भोजन नहीं कर पाते, अतएव वे कमजोर पड़ते जा रहे हैं। ये उन आनन्दानुभूतियों के उदाहरण हैं, जो कृष्ण की सेवा करते समय वृन्दावन में प्रकट होती थीं। नारद मुनि ने इस श्लोक में इस सेवा की अप्रत्यक्ष प्रशंसा की है। विशेष रूप से बद्धजीवों के लिए नारद मुनि बताते हैं कि उन्हें किसी ना किसी तरह कृष्ण के विचारों में मग्न रहना चाहिये, क्योंकि इससे मनुष्य इस संसार के सारे भय से बच जावेगा। कृष्ण के विचारों में पूरी तरह निमग्न रहना भक्ति योग की चरम स्थिति है।

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥ २८ ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कीटः—कीड़ा; पेशस्कृता—मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा; रुद्धः—बन्दी बनाया गया; कुड्यायाम्—दीवाल के छेद में; तम्—उस (मधुमक्खी) को; अनुस्मरन्—सोचते हुए; संरम्भ-भय-योगेन—अत्यधिक भय तथा शत्रुता के द्वारा; विन्दते—प्राप्त करता है; तत्—उस मक्खी का; स्व-रूपताम्—वही रूप; एवम्—इस प्रकार; कृष्णे—कृष्ण में; भगवति—भगवान्; माया-मनुजे—जो अपनी ही शक्ति से मनुष्य रूप में; ईश्वरे—परम; वैरेण—शत्रुता से; पूत-पाप्मानः—पापों से शुद्ध हुए; तम्—उसको; आपुः—प्राप्त किया; अनुचिन्तया—चिन्तन से।

एक मधुमक्खी (भृंगी) द्वारा दीवाल के छेद में बन्दी बनाया गया एक कीड़ा सदैव भय तथा शत्रुता के कारण उस मधुमक्खी के विषय में सोचता रहता है और बाद में मात्र चिन्तन से स्वयं मधुमक्खी बन जाता है। इसी प्रकार यदि सारे बद्धजीव किसी तरह सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण का चिन्तन करें, तो वे पापों से मुक्त हो जाएँगे। वे भगवान् को चाहे पूज्य रूप में मानें या शत्रु के रूप में, निरन्तर उनका चिन्तन करते रहने से उन सबों को आध्यात्मिक शरीर की पुनःप्राप्ति हो जाएगी।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.१०) में भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

"आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर मुझमें पूर्णतया लीन होकर तथा मेरी शरण ग्रहण करके

भूतकाल में अनेकानेक व्यक्ति मेरे ज्ञान से पवित्र बन गये हैं और इस तरह उन्होंने मेरे प्रति दिव्य प्रेम प्राप्त किया है।'' कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करते रहने के दो ढंग हैं—एक तो भक्त के रूप में और दूसरा शत्रु के रूप में। भक्त अपने ज्ञान तथा तपस्या से भय तथा क्रोध से मुक्त होकर शुद्ध भक्त बन जाता है। इसी तरह शत्रु यद्यपि कृष्ण के विषय में शत्रु भाव से सोचता है, किन्तु निरन्तर सोचते रहने से वह भी शुद्ध बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०) में अन्यत्र की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥

''यदि कोई अत्यन्त गर्हित कर्म भी करे किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो उसे साधु समझना चाहिये, क्योंकि वह उचित ठीक तरह से स्थित है।'' भक्त निस्सन्देह मनोयोग से भगवान् की पूजा करता है। इसी प्रकार यदि एक शत्रु (*सुदुराचारः*) सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, तो वह भी शुद्ध भक्त बन जाता है। यहाँ पर उस कीट का दृष्टान्त दिया गया है, जो उस मधुमक्खी (भृंगी) का निरन्तर चिन्तन करने के कारण जो उसे छेद में जबरदस्ती प्रविष्ट करा देती है, मधुमक्खी (भृंगी) बन जाता है। भयवश सदैव मधुमक्खी का चिन्तन करते रहने से कीड़ा मक्खी बनने लगता है। यह एक व्यावहारिक उदाहरण है। भगवान् कृष्ण इस भौतिक जगत में दो प्रयोजनों से प्रकट होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का संहार करने हेतु। साधुगण तथा भक्तगण सदैव भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं, लेकिन कंस तथा शिशुपाल जैसे असुर या *दुष्कृती* भी कृष्ण का चिन्तन उन्हें मारने के उद्देश्य से करते हैं। कृष्ण का चिन्तन करने से असुर तथा भक्त दोनों ही माया के पाश से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्लोक में *माया-मनुजे* शब्द आया है। जब भगवान् कृष्ण अपनी मूल आध्यात्मिक शक्ति में प्रकट होते हैं (*सम्भवाम्यात्ममायया*) तो उन्हें भौतिक प्रकृति के द्वारा निर्मित स्वरूप ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। अतएव भगवान् को *ईश्वर* अथवा माया का नियंत्रक कह कर सम्बोधित किया गया है। वे माया द्वारा नियंत्रित नहीं होते। जब कोई असुर शत्रुतावश उनका लगातार चिन्तन करता है, तो वह अपने जीवन के पापों से निश्चित रूप से मुक्त हो जाता है। कृष्ण के विषय में किसी

भी रूप में चिन्तन करना, चाहे वह उनके नाम, स्वरूप, गुण, साज-सामान या उनसे सम्बन्धित अन्य किसी रूप में हो, हर एक के लिए लाभप्रद होता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:।* कृष्ण का चिन्तन, कृष्ण के पवित्र नामों का श्रवण या कृष्ण की लीलाओं का श्रवण—ये सभी शुद्ध बनाने वाले हैं और *तत्पश्चात्* मनुष्य भक्त बन जाता है। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को किसी न किसी प्रकार कृष्ण के पवित्र नाम को सुनने तथा कृष्ण का *प्रसाद* ग्रहण करने के लिए प्रेरित करने का प्रयास कर रहा है। इस तरह मनुष्य धीरे-धीरे भक्त बन जाएगा और उसका जीवन सफल हो सकेगा।

कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मन: ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गता: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

कामात्—काम से; द्वेषात्—घृणा से; भयात्—भय से; स्नेहात्—स्नेह से; यथा—तथा; भक्त्या—भक्ति से; ईश्वरे—ईश्वर में; मन:—मन; आवेश्य—लीन करके; तत्—उस; अघम्—पाप को; हित्वा—त्याग कर; बहव:—अनेक; तत्—उस; गतिम्—मुक्ति के मार्ग को; गता:—प्राप्त हुए।

अनेकानेक व्यक्तियों ने केवल अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक कृष्ण का चिन्तन करके तथा पापपूर्ण कर्मों का त्याग करके मुक्ति प्राप्त की है। यह ध्यान कामवासनाओं, शत्रुतापूर्ण भावनाओं, भय, स्नेह या भक्ति के कारण हो सकता है। अब मैं यह बताऊँगा कि किस प्रकार से मनुष्य भगवान् में अपने मन को एकाग्र करके कृष्ण की कृपा प्राप्त करता है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.३३.३९) में कहा गया है—

विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णो:

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्य: ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर: ॥

यदि प्रामाणिक श्रोता कृष्ण व गोपियों की लीलाओं को, जो कामपूर्ण सी प्रतीत होती हैं, से सुनता है, तो उसके हृदय की कामवासना, जो बद्धजीव के हृदय रोग का कारण है, विनष्ट हो जाएगी और वह भगवान् का श्रेष्ठ भक्त बन जाएगा। यदि कोई कृष्ण के साथ गोपियों के विषयी आचरण के श्रवण मात्र से विषय-वासनाओं से मुक्त हो जाता है, तो निश्चित रूप से गोपियाँ कृष्ण के पास जाकर ऐसी समस्त

इच्छाओं से मुक्त हो गईं। इसी प्रकार शिशुपाल तथा अन्य लोग जो कृष्ण से अत्यधिक ईर्ष्या करते थे और निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते थे ईर्ष्या से मुक्त हो गये। नन्द महाराज तथा माता यशोदा स्नेह के कारण कृष्णभावनामृत में लीन रहते थे। जब मन किसी न किसी तरह कृष्ण में पूरी तरह लीन रहता है, तो भौतिक अंश तो तुरन्त लुप्त हो जाता है और आध्यात्मिक अंश—कृष्ण का आकर्षण—प्रकट हो जाता है। इससे परोक्षत: यह पुष्टि होती है कि यदि कोई ईर्ष्यावश ही कृष्ण का चिन्तन करता है, तो मात्र चिन्तन करने के कारण वह अपने समस्त पापों से मुक्त हो जाता है और शुद्ध भक्त बन जाता है। इसके उदाहरण अगले श्लोक में दिये गये हैं।

गोप्य: कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोप्यः—गोपियाँ; कामात्—काम-वासनाओं से; भयात्—भय से; कंसः—राजा कंस; द्वेषात्—द्वेष से; चैद्य-आदयः—शिशुपाल तथा अन्य; नृपाः—राजा; सम्बन्धात्—नाते से; वृष्णयः—वृष्णिजन या यादवगण; स्नेहात्—स्नेह से; यूयम्—तुम सब, सारे (पाण्डव); भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हम सब; विभो—हे महान् राजा।.

हे राजा युधिष्ठिर, गोपियाँ अपनी विषयवासना से, कंस भय से, शिशुपाल तथा अन्य राजा ईर्ष्या से, यदुगण कृष्ण के साथ पारिवारिक सम्बन्ध से, तुम सब पाण्डव कृष्ण के प्रति अपार स्नेह से तथा हम सारे सामान्य भक्त अपनी भक्ति से कृष्ण की कृपा को प्राप्त कर सके हैं।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के लोग अपनी निजी प्रबल इच्छाओं के अनुसार जिसे *भाव* कहते हैं विभिन्न प्रकार की *मुक्ति* प्राप्त करते हैं यथा *सायुज्य,* सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। इस प्रकार यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि गोपियाँ अपनी काम-वासनाओं के द्वारा भगवान् की सर्वाधिक प्रिय भक्तिनें बन सकीं, क्योंकि उनकी वासनाएँ कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम पर आश्रित थीं। यद्यपि गोपियों ने वृन्दावन में प्रेमिकओं के रूप में (*परकीया रस*) अपनी काम-वासनाओं को प्रकट किया था किन्तु वास्तव में वे काम-वासनाएँ न थीं। आध्यात्मिक प्रगति के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी इच्छाएँ वासनायुक्त प्रतीत होती थीं, लेकिन वे भौतिक जगत की काम-वासनाएँ न थीं। *चैतन्य-चरितामृत* में आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत की इच्छाओं की तुलना सोने तथा लोहे से की गई है। सोना तथा लोहा दोनों ही धातुएँ हैं, लेकिन उनके मूल्य में महान् अन्तर है। कृष्ण के प्रति गोपियों की काममय इच्छाओं की तुलना सोने से की गई है और भौतिक विषय-वासनाओं की तुलना लोहे से की

गई है।

कंस तथा कृष्ण के अन्य शत्रू ब्रह्म में विलीन हो गये, लेकिन कृष्ण के मित्रों तथा भक्तों को भी वही पद क्यों प्राप्त हो? कृष्ण के भक्त भगवान् के नित्य संगी के रूप में उनका सान्निध्य या तो वृन्दावन में या वैकुण्ठ लोक में प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि नारद मुनि तीनों लोकों में विचरण करते हैं, किन्तु वे नारायण की उत्तम भक्ति करते हैं (*ऐश्वर्यमान्*)। सारे वृन्दावन में वृष्णियों तथा यदुवों एवं कृष्ण के माता-पिता का कृष्ण से पारिवारिक सम्बन्ध है, लेकिन वृन्दावन में कृष्ण के पोष्य पिता तथा माता वसुदेव तथा देवकी से अधिक श्रेष्ठ हैं।

कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कतमः अपि—कोई भी; न—नहीं; वेनः—नास्तिक राजा वेन; स्यात्—ग्रहण करेगा; पञ्चानाम्—पाँचों का (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है); पुरुषम्—भगवान् के; प्रति—प्रति; तस्मात्—अतएव; केनापि—किसी भी; उपायेन—उपाय से; मनः—मनको; कृष्णे—कृष्ण में; निवेशयेत्—स्थिर करना चाहिये।

मनुष्य को किसी न किसी प्रकार से कृष्ण के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। तब ऊपर बताई गई पाँच विधियों में से किसी एक के द्वारा वह भगवद्धाम वापस जा सकता है। लेकिन राजा वेन जैसे नास्तिक इन पाँचों विधियों में से किसी एक के द्वारा कृष्ण के स्वरूप का चिन्तन करने में असमर्थ होने से मोक्ष नहीं पा सकते। अतएव मनुष्य को चाहिए कि जैसे भी हो, चाहे मित्र बनकर या शत्रु बनकर, वह भगवान् का चिन्तन करे।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी तथा नास्तिक कृष्ण के स्वरूप को सदैव तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि आधुनिक युग के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक भी *भगवद्गीता* से कृष्ण को विलग करना चाहते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोगों के लिए कोई मोक्ष नहीं है। लेकिन कृष्ण के शत्रु सोचते हैं ''यह रहा मेरा शत्रु कृष्ण! मुझे उसका वध करना है।'' वे कृष्ण का चिन्तन उनके वास्तविक रूप में करते हैं, अतएव उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव भक्तगण जो कि कृष्ण के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते हैं, वे तो निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करते हैं। मायावादी नास्तिकों का एकमात्र धन्धा रह गया है कृष्ण को रूपहीन बनाना। फलस्वरूप कृष्ण के चरणों कमलों में इस घोर अपराध के कारण वे मोक्ष की आशा नहीं कर सकते। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*तेन*

शिशुपालादिभिन्नः प्रतिकूलभावं दिधीषुर्येन इव नरकं यातीति भावः। शिशुपाल के अतिरिक्त उन में से किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता हैं, जो विधि–विधानों के विरोधी है। उन्हें तो नरक मिलना ही होता है। विधि–विधान यही है कि सदैव कृष्ण का चिन्तन करो, चाहे मित्र रूप में हो या शत्रु रूप में।

मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्रश्च पाण्डव ।
पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदच्युतौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मातृ-स्वस्रेयः—मौसी का पुत्र (शिशुपाल); वः—तुम्हारा; चैद्यः—राजा शिशुपाल; दन्तवक्रः—दन्तवक्र; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डव; पार्षद-प्रवरौ—दोनों श्रेष्ठ पार्षद; विष्णोः—विष्णु के; विप्र—ब्राह्मणों के; शापात्—शाप से; पद—वैकुण्ठ लोक में अपने पद से; च्युतौ—गिरे हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे पाण्डवश्रेष्ठ, तुम्हारी मौसी के दोनों पुत्र तुम्हारे चचेरे भाई शिशुपाल तथा दन्तवक्र पहले भगवान् विष्णु के पार्षद थे, लेकिन ब्राह्मणों के शाप से वे वैकुण्ठ लोक से इस भौतिक जगत में आ गिरे।

तात्पर्य : शिशुपाल तथा दन्तवक्र सामान्य असुर न थे अपितु पहले वे भगवान् विष्णु के निजी पार्षद थे। वे इस भौतिक जगत में पतित हुए, लेकिन वास्तव में वे इस जगत में भगवान् की लीलाओं में सहायता करने आये थे।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः ।
अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; कीदृशः—किस प्रकार का; कस्य—किसका; वा—अथवा; शापः—श्राप; हरि-दास—हरि का सेवक; अभिमर्शनः—हरा कर; अश्रद्धेयः—अविश्वसनीय; इव—मानो; आभाति—प्रकट होता है; हरेः—हरि का; एकान्तिनाम्—उनका जो श्रेष्ठ पार्षदों के रूप में अनुरक्त हैं; भवः—जन्म।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : किस प्रकार के महान् श्राप ने मुक्त विष्णु-भक्तों को भी प्रभावित किया और किस तरह का व्यक्ति भगवान् के भी पार्षदों को श्राप दे सका? भगवान् के दृढ़ भक्तों के लिए इस भौतिक जगत में फिर से आ गिरना असम्भव है। मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*—जो भौतिक कल्मष से शुद्ध हो चुका है और भगवद्धाम वापस जा चुका होता है, वह फिर

कभी इस भौतिक जगत में नहीं लौटता। *भगवद्गीता* (४.९) में अन्यत्र कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत: ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

''हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा मेरे कर्मों की दिव्य प्रकृति को जान लेता है, वह शरीर त्यागने के बाद इस भौतिक जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त होता है।'' अतएव महाराज युधिष्ठिर आश्चर्यचकित थे कि शुद्ध भक्त इस भौतिक जगत में लौट सकता है—यह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

देह—भौतिक शरीर की; इन्द्रिय—इन्दियाँ; असु—प्राण; हीनानाम्—जो रहित हैं उनका; वैकुण्ठ-पुर—वैकुण्ठ के; वासिनाम्—निवासियों का; देह-सम्बन्ध—भौतिक शरीर में; सम्बद्धम्—बन्धन; एतत्—यह; आख्यातुम् अर्हसि—कृपया वर्णन करें।

वैकुण्ठवासियों के शरीर पूर्णतया आध्यात्मिक होते हैं, उनको भौतिक शरीर से, इन्द्रियों या प्राण से कुछ लेना-देना नहीं रहता। अतएव कृपा करके बताइये कि किस तरह भगवान् के पार्षदों को सामान्य व्यक्तियों की तरह भौतिक शरीर में अवतरित होने का श्राप दिया गया?

तात्पर्य : इस अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे पाना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होगा किन्तु *महाजन* होने के कारण नारद मुनि इसका उत्तर दे सकते थे। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने उनसे यह कहकर—*एतद् आख्यातुम् अर्हसि*—कि आप ही इसका कारण बता सकते हैं, प्रश्न पूछा। प्रामाणिक स्रोतों से पता चल सकता है कि भगवान् विष्णु के जो पार्षद इस वैकुण्ठ लोक से नीचे आते हैं, वे वास्तव में पतित नहीं होते। वे भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं और उनका इस प्रकार का अवतरण भगवान् के ही समान होता है। भगवान् इस भौतिक जगत में अपनी अन्तरंगा शक्ति के माध्यम से आते हैं। इसी प्रकार जब भगवद्भक्त या भगवान् का पार्षद इस जगत में अवतरित होता है, तो वह आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ऐसा करता है। भगवान् द्वारा सम्पन्न कोई भी लीला *योगमाया* द्वारा व्यवस्थित की जाती है, *महामाया* द्वारा नहीं। अतएव यह समझना चाहिए कि जब जय तथा विजय इस भौतिक जगत में अवतरित हुए तो वे इसलिए आये, क्योंकि उन्हें भगवान्

के लिये कुछ करना था। अन्यथा यह तथ्य है कि कोई भी वैकुण्ठ से नीचे पतित नहीं होता।

निस्सन्देह, जो जीव *सायुज्य मुक्ति* का इच्छुक है, वह कृष्ण के ब्रह्मतेज में रहता जाता है, जो कृष्ण के शरीर पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। ऐसी निर्विशेषवादी का जो ब्रह्मतेज की शरण ग्रहण करता है पतन अवश्यम्भावी है। इसका उल्लेख शास्त्र (भागवत १०.२.३२) में हुआ है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्।

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धय:।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:

पतन्त्यधोऽनादृतयुस्मदङ्घ्रय: ॥

''हे भगवान्! उनकी बुद्धि अशुद्ध है, जो अपने को मुक्त तो मानते हैं, किन्तु जिनमें भक्ति नहीं होती। भले ही वे कठोर तपस्या द्वारा सर्वोच्च बिन्दु को क्यों न प्राप्त कर लें, वे इस भौतिक जगत में पुन: अवश्य गिरते हैं, क्योंकि वे आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं करते।'' चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् का पार्षद बनने वैकुण्ठ लोक तक नहीं पहुँच पाते, अतएव उनकी इच्छाओं के अनुसार कृष्ण उन्हें *सायुज्य मुक्ति* प्रदान करते हैं। फिर भी, चूँकि सायुज्य मुक्ति अधूरी मुक्ति है, अतएव वे इस जगत में फिर आ गिरते हैं। जब यह कहा जाता है कि कोई जीवात्मा ब्रह्मलोक से च्युत होता है, तो यह निर्विशेषवादी पर लागू होता है।

प्रामाणिक स्रोतों से पता चलता है कि जय-विजय को इस भौतिक जगत में भगवान् की युद्ध करने की इच्छा-पूर्ति के लिये भेजा गया था। भगवान् को भी कभी-कभी युद्ध करने की इच्छा होती है, किन्तु भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त के अतिरिक्त उनसे कौन युद्ध कर सकता है? जय-विजय भगवान् की इच्छा-पूर्ति के लिये ही इस जगत में अवतरित हुए। अतएव उनके तीनों जन्मों में सर्वप्रथम हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु के रूप में, फिर रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में और अन्त में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में उन्हें भगवान् ने अपने हाथों से मारा। दूसरे शब्दों में, जय-विजय नामक भगवान् के पार्षद भगवान् की युद्ध करने की इच्छा पूरी करने के लिए इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। अन्यथा जैसाकि महाराज युधिष्ठिर कहते हैं—*अश्रद्धेय इवाभाति*—कि भगवान् का दास वैकुण्ठ से नीचे गिरता है अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इस जगत में जय-विजय किस प्रकार आये इसकी

विवेचना नारद मुनि द्वारा आगे की गई है।

श्रीनारद उवाच
एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णुलोकं यदृच्छया ।
सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; एकदा—एक बार; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी के; पुत्राः—पुत्र; विष्णु—भगवान् विष्णु के; लोकम्—लोक में; यदृच्छया—संयोगवश; सनन्दन-आदयः—सनन्दन तथा अन्य; जग्मुः—गये; चरन्तः—विचरण करते; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों में।

परम साधु नारद ने कहा—एक बार ब्रह्मा के चारों पुत्र जिनके नाम सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार हैं, तीनों लोकों का विचरण करते हुए संयोगवश विष्णुलोक में आये।

पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ।
दिग्वाससः शिशून्मत्वा द्वाःस्थौ तान्प्रत्यषेधताम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पञ्च-षट्-धा—पाँच या छः वर्ष; आयन—लगभग; अर्भ-आभाः—बालकों जैसे; पूर्वेषाम्—ब्रह्माण्ड के पुराने लोग (मरीचि तथा अन्य); अपि—यद्यपि; पूर्व-जाः—पहले उत्पन्न; दिक्-वाससः—नंगे होने से; शिशून्—बच्चे; मत्वा—सोचकर; द्वाः-स्थौ—दो द्वारपालों, जय तथा विजय ने; तान्—उनको; प्रत्यषेधताम्—मना किया।

यद्यपि ये चारों महर्षि मरीचि आदि ब्रह्मा के अन्य पुत्रों की अपेक्षा बड़े थे, किन्तु वे पाँच या छः वर्ष के छोटे-छोटे नंगे बच्चों जैसे प्रतीत हो रहे थे। जय तथा विजय नामक इन द्वारपालों ने जब उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने का प्रयास करते देखा तो सामान्य बच्चे समझ कर उन्हें प्रवेश करने से मना कर दिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य अपने ग्रंथ *तन्त्र सार* में कहते हैं—

द्वाःस्थावित्यनेनाधिकार-स्थत्वमुक्तम्-

अधिकारस्थिताश्चैव विमुक्तश्च द्विधा जनाः ।

विष्णुलोकस्थितास्तेषां वरशापादियोगिनः ॥

अधिकारस्थितां मुक्तिं नियतं प्राप्नुवन्ति च ।

विमुक्त्यनन्तरं तेषां वर शापादयो ननु ॥

देहेन्द्रियासुयुक्तश्च पूर्वं पश्चान्न तैर्युताः ।

अप्यभिमानिभिस्तेषां देवै स्वात्मोत्तमैर्युताः ॥

सारांश यह है कि वैकुण्ठलोक में भगवान् विष्णु के निजी पार्षद सदैव मुक्तात्माएँ हैं। यदि कभी उन्हें वर प्राप्त होता है या शाप दिया जाता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं और वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी कलुषित नहीं होते। वैकुण्ठलोक में मुक्ति के पूर्व उन्हें भौतिक शरीर प्राप्त थे, किन्तु एक बार वैकुण्ठलोक आ जाने पर उनके वे शरीर नहीं रहे। अतएव भगवान् विष्णु के पार्षदों को यदि कभी शापवश अवतरित होना पड़ता है, तो भी वे सदैव मुक्त रहते हैं।

अशपन्कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः ।
रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अशपन्—शाप दिया; कुपिताः—क्रोध से भर कर; एवम्—इस प्रकार; युवाम्—तुम दोनों; वासम्—निवास स्थान; न—नहीं; च—तथा; अर्हथः—योग्य हो; रजः-तमोभ्याम्—रजो तथा तमो गुणों से; रहिते—रहित; पाद-मूले—चरण कमलों पर; मधु-द्विषः—मधु असुर का वध करने वाले विष्णु के; पापिष्ठाम्—अत्यन्त पापी; आसुरीम्—आसुरी; योनिम्—योनि में, गर्भ में; बालिशौ—अरे तुम दोनों मूर्ख; यातम्—जाओ; आशु—शीघ्र; अतः—इसलिए।

जय तथा विजय नामक द्वारपालों द्वारा इस प्रकार रोके जाने पर सनन्दन तथा अन्य मुनियों ने क्रोधपूर्वक उन्हें श्राप दे दिया। उन्होंने कहा—''अरे दोनों मूर्ख द्वारपालों, तुम रजो तथा तमो गुणों से क्षुभित होने के कारण मधुद्विष के चरण-कमलों की शरण में रहने के अयोग्य हो, क्योंकि वे ऐसे गुणों से रहित हैं। तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा कि तुरन्त ही भौतिक जगत में जाओ और अत्यन्त पापी असुरों के परिवार में जन्म ग्रहण करो।''

एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तौ कृपालुभिः ।
प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; शप्तौ—शापित होकर; स्व-भवनात्—अपने निवास वैकुण्ठ से; पतन्तौ—गिरते हुए; तौ—वे दोनों (जय तथा विजय); कृपालुभिः—दयालु मुनियों (सनन्दन आदि) द्वारा.); प्रोक्तौ—सम्बोधित किये; पुनः—फिर; जन्मभिः—जन्मों से; वाम्—तुम्हारे; त्रिभिः—तीन; लोकाय—पद के लिए; कल्पताम्—सम्भव हो।

मुनियों द्वारा इस प्रकार शापित होकर जब जय तथा विजय भौतिक जगत में गिर रहे थे तो उन मुनियों ने उन पर दया करके इस प्रकार सम्बोधित किया, ''हे द्वारपालो, तुम तीन जन्मों के बाद वैकुण्ठलोक में अपने-अपने पदों पर लौट सकोगे, क्योंकि तब श्राप की अवधि समाप्त हो चुकी होगी।''

जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ ।
हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जज्ञाते—उत्पन्न हुए; तौ—वे दोनों; दितेः—दिति के; पुत्रौ—दो पुत्र; दैत्य-दानव—समस्त असुरों से; वन्दितौ—पूजित; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; ज्येष्ठः—बड़ा; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अनुजः—छोटा; ततः—तत्पश्चात्।

भगवान् के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, बाद में दिति के दो पुत्रों के रूप में जन्म लेकर इस भौतिक जगत में अवतरित हुए। इनमें हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था। सारे दैत्यों तथा दानवों (आसुरी योनियाँ) द्वारा दोनों का अत्यधिक सम्मान किया जाता था।

हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा ।
हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता शौकरं वपुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

हतः—मारा गया; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; हरिणा—हरि या विष्णु द्वारा; सिंह-रूपिणा—शेर के (भगवान् नृसिंह के) रूप में; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; धरा-उद्धारे—पृथ्वी उठाने के लिए; बिभ्रता—धारण करके; शौकरम्—सूकर जैसा; वपुः—स्वरूप।

भगवान् श्री हरि ने नृसिंह देव के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का वध किया। जब भगवान् गर्भोदक सागर में गिरी हुई पृथ्वी का उद्धार कर रहे थे तो हिरण्याक्ष ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया और बाद में भगवान् ने वराह के रूप में हिरण्याक्ष का वध कर दिया।

हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् ।
जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; पुत्रम्—पुत्र; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; केशव-प्रियम्—केशव का प्रिय भक्त; जिघांसुः—मारने की इच्छा से; अकरोत्—किया; नाना—विविध; यातनाः—यातनाएँ; मृत्यु—मृत्यु; हेतवे—के हेतु।

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को, जो भगवान् विष्णु का महान् भक्त था, मारने के लिए नाना प्रकार के कष्ट दिये।

तं सर्वभूतात्मभूतं प्रशान्तं समदर्शनम् ।
भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-भूत-आत्म-भूतम्—समस्त जीवों में आत्मा; प्रशान्तम्—शान्त किन्तु घृणा आदि से रहित.; सम-दर्शनम्—समदर्शी; भगवत्-तेजसा—भगवान् की शक्ति से; स्पृष्टम्—सुरक्षित; न—नहीं; अशक्नोत्—समर्थ हुआ; हन्तुम्—मारने में; उद्यमैः—महान् प्रयत्नों तथा विविध अस्त्रों के द्वारा।

समस्त जीवों के परमात्मा भगवान् गम्भीर शान्त तथा समदर्शी हैं। चूँकि महान् भक्त प्रह्लाद भगवान् की शक्ति द्वारा सुरक्षित था, अतएव हिरण्यकशिपु नाना प्रकार के यत्न करने पर भी उसे मारने में असमर्थ रहा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सर्वभूतात्मभूतम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में समान भाव से स्थित हैं। अतएव न उनका किसी से द्वेष है, न मित्रता। उनके लिए सभी समान हैं। यद्यपि कभी-कभी वे किसी को दण्ड देते पाये जाते हैं, किन्तु यह वैसे ही है जैसे कि बच्चे के कल्याण के लिए पिता बच्चे को दण्ड देता है। भगवान्-प्रदत्त दण्ड भगवान् की समदर्शिता का सूचक है। अतएव भगवान् को *प्रशान्तं समदर्शनम्* कहा गया है। यद्यपि भगवान् को अपनी इच्छा की पूर्ति ठीक से करनी होती है, तो भी वे सभी परिस्थितियों में समभाव बने रहते हैं। वे सबके प्रति समदर्शी हैं।

ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ ।
रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ ॥ ४४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; तौ—दोनों द्वारपाल (जय तथा विजय); राक्षसौ—असुर; जातौ—उत्पन्न; केशिन्याम्—केशिनी के गर्भ से; विश्रवः-सुतौ—विश्रवा के पुत्र; रावणः—रावण; कुम्भकर्णः—कुम्भकर्ण; च—तथा; सर्व-लोक—सभी लोगों को; उपतापनौ—कष्ट देने वाले।

तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के दोनों द्वारपाल जय तथा विजय रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में विश्रवा द्वारा केशिनी के गर्भ से उत्पन्न किए गये। वे ब्रह्माण्ड के समस्त लोगों को अत्यधिक कष्टप्रद थे।

तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये ।
रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात्प्रभो ॥ ४५॥

शब्दार्थ

तत्र अपि—तत्पश्चात्; राघवः—भगवान् रामचन्द्र के रूप में; भूत्वा—प्रकट होकर; न्यहनत्—वध किया; शाप-मुक्तये—शाप-मुक्त करने के लिए; राम-वीर्यम्—भगवान् राम का पराक्रम; श्रोष्यसि—सुनोगे; त्वम्—तुम; मार्कण्डेय-मुखात्—ऋषि मार्कण्डेय के मुख से; प्रभो—हे प्रभु।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, जय तथा विजय को ब्राह्मणों के शाप से मुक्त करने के

लिए भगवान् रामचन्द्र रावण तथा कुम्भकर्ण का वध करने के लिए प्रकट हुए। अच्छा होगा कि तुम भगवान् रामचन्द्र के कार्यकलापों के विषय में मार्कण्डेय से सुनो।

तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव ।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; अत्र—यहाँ, तीसरे जन्म में; क्षत्रियौ—क्षत्रिय अथवा राजा; जातौ—उत्पन्न; मातृ-स्वसृ-आत्म-जौ—मौसी के पुत्र; तव—तुम्हारी; अधुना—अब; शाप-निर्मुक्तौ—शाप से मुक्त; कृष्ण-चक्र—कृष्ण के चक्र द्वारा; हत—विनष्ट; अंहसौ—जिसके पाप।.

तीसरे जन्म में वही जय तथा विजय क्षत्रियों के कुल में तुम्हारी मौसी के पुत्रों के रूप में तुम्हारे मौसरे भाई बने हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण ने उनका वध अपने चक्र से किया है, अतएव उनके सारे पाप नष्ट हो चुके हैं और अब वे शाप से मुक्त हैं।

तात्पर्य : अपने अन्तिम जन्म में जय तथा विजय राक्षस नहीं बने, अपितु उन्होंने सुप्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में जन्म लिया जिसका सम्बन्ध कृष्ण के परिवार से था। वे भगवान् कृष्ण के मौसेरे भाई बने और लगभग उन्हीं के समान पद पर थे। भगवान् ने स्वयं अपने चक्र द्वारा उन्हें मार कर ब्राह्मणों के शाप से बचे हुए पापों को भी नष्ट कर दिया। नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को बताया कि शिशुपाल भगवान् कृष्ण के शरीर में प्रवेश करके उनके पार्षद के रूप में पुनः वैकुण्ठ लोक में प्रविष्ट हुआ। इस घटना को सबों ने देखा था।

वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

वैर-अनुबन्ध—घृणा का बन्धन; तीव्रेण—तीव्र; ध्यानेन—ध्यान से; अच्युत-सात्मताम्—अच्युत भगवान् के तेज को; नीतौ—प्राप्त किया; पुनः—फिर; हरेः—हरि का; पार्श्वम्—सान्निध्य; जग्मतुः—वे पहुँचे; विष्णु-पार्षदौ—भगवान् विष्णु के द्वारपाल पार्षद।.

भगवान् विष्णु के ये दोनों पार्षद, जय तथा विजय, दीर्घकाल तक शत्रुता का भाव बनाये रहे। इस प्रकार कृष्ण के विषय में सदैव चिन्तन करते रहने से भगवद्धाम जाने पर उन्हें पुनः भगवान् की शरण प्राप्त हो गई।

तात्पर्य : जय-विजय चाहे जिस अवस्था में रहे हों, किन्तु वे सदैव कृष्ण का स्मरण करते रहे।

अतएव *मौषल लीला* के अन्त में ये दोनों पार्षद कृष्ण के पास लौट गये। कृष्ण के शरीर तथा नारायण के शरीर में कोई अन्तर नहीं है। अतएव देखने में यद्यपि वे कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हुए किन्तु वास्तव में वे विष्णु के द्वारपालों के रूप में वैकुण्ठ लोक में पुनः प्रविष्ट हुए। वे कृष्ण के शरीर से होकर वैकुण्ठ लोक लौटे, यद्यपि ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें कृष्ण के शरीर में *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त हुई।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि ।
ब्रूहि मे भगवन्येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; विद्वेषः—घृणा, द्वेष; दयिते—अपने प्रिय; पुत्रे—पुत्र के लिए; कथम्—किस प्रकार; आसीत्—था; महा-आत्मनि—महान् आत्मा, प्रह्लाद; ब्रूहि—कृपया कहें; मे—मुझे; भगवन्—हे श्रेष्ठ मुनि; येन—जिससे; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; अच्युत—अच्युत से; आत्मता—आत्मीयता, अत्यधिक आसक्ति।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : हे नारद मुनि, हिरण्यकशिपु तथा उसके प्रिय पुत्र प्रह्लाद महाराज के बीच ऐसी शत्रुता क्यों थी? प्रह्लाद महाराज भगवान् कृष्ण के इतने बड़े भक्त कैसे बने? कृपया यह मुझे बतायें।

तात्पर्य : कृष्ण के सारे भक्त *अच्युतात्मा* कहलाते हैं, क्योंकि वे प्रह्लाद महाराज के पदचिह्नों पर चलते हैं। अच्युत का अर्थ है कभी चूक न करने वाले भगवान् विष्णु, क्योंकि उनका हृदय सदैव अच्युत है। चूँकि भक्तगण अच्युत से जुड़े होते हैं, अतएव वे *अच्युतात्मा* कहलाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''समदर्शी भगवान्'' नामक प्रथम अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

असुरराज हिरण्यकशिपु

जैसाकि इस अध्याय में बताया जाएगा, हिरण्याक्ष के विनाश के बाद उसके पुत्र तथा उसका भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक दुखी हुए। हिरण्यकशिपु ने सामान्य लोगों के धार्मिक कार्यकलापों को कम करने के प्रयास में अनेक पाप किये। किन्तु उसने अपने भतीजों को एक इतिहास का उपदेश दिया जिससे उनके शोक कम हो सकें।

जब भगवान् ने शूकर के रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु के भाई हिरण्याक्ष को मार डाला तो हिरण्यकशिपु अत्यन्त दुखी हुआ। क्रोध में आकर उसने भगवान् पर आरोप लगाया कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं। उसने अपने भाई को मारने के लिए भगवान् द्वारा वराह रूप धारण करने की हँसी भी उड़ाई। वह सारे असुरों तथा राक्षसों को उत्तेजित करने लगा और शान्त मुनियों तथा पृथ्वी के अन्यवासियों के अनुष्ठानों में विघ्न डालने लगा। यज्ञ न कर पाने से सारे देवता पृथ्वी पर छिपे–छिपे विचरण करने लगे।

अपने भाई का अग्निदाह करने के बाद हिरण्यकशिपु अपने भतीजों से शास्त्रों से उद्धरण दे देकर जीवन की सच्चाई के विषय में बातें करता रहा। वह उन्हें सान्त्वना देने के उद्देश्य से बोला "हे भतीजो! वीरों के लिए शत्रु के समक्ष मरना यशपूर्ण होता है। सारे जीव अपने–अपने सकाम कर्मों के अनुसार इस संसार में साथ–साथ आते हैं और प्रकृति के नियमों द्वारा फिर विलग हो जाते हैं। किन्तु हमें यह सदैव जानना चाहिए कि आत्मा, जो कि शरीर से भिन्न है, शाश्वत्, अविकारी, शुद्ध, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ है। भौतिक शक्ति से बद्ध होने पर आत्मा उच्च या निम्न योनियों में विभिन्न साहचर्यों में जन्म लेता है और इस तरह अनेक प्रकार के शरीर प्राप्त करता है, जिसमें वह सुख तथा दुख भोगता है। इस संसार की दशाओं से पीड़ित होना ही सुख तथा दुख का कारण है; इसके अन्य कारण नहीं होते और मनुष्य को कर्म की ऊपरी क्रियाओं को देखकर शोक–संतप्त नहीं होना चाहिए।"

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपु ने उशीनर नरेश सुयज्ञ से सम्बन्धित एक ऐतिहासिक घटना कह सुनाई। जब राजा का वध हो गया तो उसकी शोक–संतप्त रानियों को जो उपदेश दिया गया था उसे भी हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों को कह सुनाया। उसने *कुलिंग* पक्षी का वृतान्त सुनाया जो अपनी पत्नी के शोक में मग्न होने पर एक व्याध के बाण से विद्ध हो गया। उसी ने उसकी पत्नी को बाण से मार डाला था। इन कथाओं को सुनाकर हिरण्यकशिपु ने अपने भतीजों तथा अन्य सम्बन्धियों को सान्त्वना प्रदान की और उन्हें शोक से मुक्त किया। इस तरह शान्त होने पर हिरण्यकशिपु की माता दिति तथा अनुजवधू रुषाभानु ने अपना मन आध्यात्मिक विचारों में लगा दिया।

श्रीनारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना ।

हिरण्यकशिपू राजन्पर्यतप्यद्रुषा शुचा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; भ्रातरि—जब उसका भाई (हिरण्याक्ष); एवम्—इस प्रकार; विनिहते—मार डाला गया; हरिणा—हरि द्वारा; क्रोड-मूर्तिना—वराह के रूप में; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; पर्यतप्यत्—पीड़ित; रुषा—क्रोध से; शुचा—शोक से।.

श्री नारद मुनि ने कहा : हे राजा युधिष्ठिर, जब भगवान् विष्णु ने वराह रूप धारण करके हिरण्याक्ष को मार डाला, तो हिरण्याक्ष का भाई हिरण्यकशिपु अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और विलाप करने लगा।

तात्पर्य : युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा था कि हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद से इतनी ईर्ष्या क्यों करता था? अतएव नारद मुनि ने कथा कहनी प्रारम्भ की जिस तरह हिरण्यकशिपु भगवान् विष्णु का दृढ़ वैरी बन गया था।

आह चेदं रुषा पूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः ।
कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन्धूम्रमम्बरम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आह—कहा; च—तथा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध; पूर्णः—भरा हुआ; सन्दष्ट—काट दिया गया; दशन-छदः—जिसके होठ; कोप-उज्ज्वलद्भ्याम्—क्रोध से जलता हुआ; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; निरीक्षन्—देखते हुए; धूम्रम्—धूमिल; अम्बरम्—आकाश को।.

क्रोध से भरकर तथा अपने होठ काटते हुए हिरण्यकशिपु ने क्रोध से जलती हुई आँखों से आकाश को देखा तो वह सारा आकाश धूमिल हो गया। इस प्रकार वह बोलने लगा।

तात्पर्य : असुर सदैव की भाँति भगवान् के प्रति ईर्ष्या करते हैं और उनसे शत्रुता रखते हैं। हिरण्यकशिपु ने भगवान् विष्णु को मारने तथा उनके धाम वैकुण्ठलोक को विध्वंस करने का विचार किया तो ये उसके शरीर के उद्वेग थे।

करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः ।
शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कराल-दंष्ट्र—भयानक दाँतों से; उग्र-दृष्ट्या—तथा भयानक दृष्टि से; दुष्प्रेक्ष्य—देखने में भयावह; भ्रु-कुटी—रोषपूर्ण भौहों से; मुखः—जिसका मुँह; शूलम्—त्रिशूल को; उद्यम्य—उठाते हुए; सदसि—सभा में; दानवान्—असुरों से; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।.

अपने भयानक दाँत, उग्र दृष्टि तथा रोषपूर्ण भौहों को दिखाते हुए, देखने में भयानक उसने

अपना त्रिशूल धारण किया और अपने एकत्र असुर संगियों से इस प्रकार कहा।

भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर ।
शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४॥
विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन्शकुनादयः ।
शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

भोः—अरे; भोः—अरे; दानव-दैतेयाः—दानवों तथा दैत्यों; द्वि-मूर्धन्—द्विमूर्ध (दो सिर वाला); त्रि-अक्ष—त्र्यक्ष (तीन नेत्रों वाला); शम्बर—शम्बर; शत-बाहो—शतबाहु (सौ भुजाओं वाला); हयग्रीव—हयग्रीव (घोड़ेका सिर वाला); नमुचे—नमुचि; पाक—पाक; इल्वल—इल्वल; विप्रचित्ते—विप्रचित्ति; मम—मेरे; वचः—शब्द; पुलोमन्—पुलोम; शकुन—शकुन; आदयः—इत्यादि; शृणुत—सुनो तो; अनन्तरम्—तत्पश्चात्; सर्वे—सभी; क्रियताम्—किया जाये; आशु—शीघ्र; मा—मत; चिरम्—देर करो।

अरे दानवो और दैत्यो, अरे द्विमूर्ध, त्र्यक्ष, शम्बर तथा शतबाहु, अरे हयग्रीव, नमुचि, पाक तथा इल्वल, अरे विप्रचित्ति, पुलोमन, शकुन तथा अन्य असुरों, तुम सब जरा मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो और तब अविलम्ब मेरे वचनों के अनुसार कार्य करो।

सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत् ।
पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः ॥ ६॥

शब्दार्थ

सपत्नैः—शत्रुओं * द्वारा; घातितः—मारा गया; क्षुद्रैः—शक्ति में नगण्य; भ्राता—भाई; मे—मेरा; दयितः—अत्यन्त प्रिय; सुहृत्—शुभेच्छु; पार्ष्णि-ग्राहेण—पीछे से आक्रमण करके; हरिणा—भगवान् द्वारा; समेन—समान, (देवता तथा असुर दोनों); अपि—यद्यपि; उपधावनैः—पूजकों या देवताओं द्वारा।

मेरे क्षुद्र शत्रु सारे देवता मेरे परम प्रिय तथा आज्ञाकारी शुभेच्छु भ्राता हिरण्याक्ष को मारने के लिए एक हो गये हैं। यद्यपि परमेश्वर विष्णु हम दोनों के लिए अर्थात् देवताओं तथा असुरों के लिए सदैव समान हैं किन्तु इस बार देवताओं द्वारा अत्यधिक पूजित होने से उन्होंने उनका पक्ष लिया और हिरण्याक्ष को मारने में उनकी सहायता की।

Footnote starts Here:

*असुर तथा देवतागण दोनों ही भगवान् को परम स्वामी मानते हैं, किन्तु देवता तो अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हैं जबकि असुर उनको ललकारते हैं। इस तरह देवता तथा असुर एक पति की दो सपत्नियों की भाँति हैं। प्रत्येक पनी दूसरी की सपत्नी है, अतएव यहाँ पर *सपत्नैः* शब्द व्यवहृत है।

Footnote Ends Here.

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा गया है—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—भगवान् समस्त जीवों के प्रति समदर्शी हैं। चूँकि देवता तथा असुर दोनों ही जीव हैं, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि भगवान् एक वर्ग के जीवों का पक्षपात करें और दूसरे के विरुद्ध रहें? वास्तव में भगवान् के लिए पक्षपात कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी चूँकि देवता तथा भक्त भगवान् के आदेशों का कठोरता से सदा पालन करते हैं अतएव अपनी निष्ठा के कारण वे उन असुरों पर विजयी होते हैं, जो यह जानते हैं कि परमेश्वर तो विष्णु हैं किन्तु वे उनके आदेशों का पालन नहीं करते। भगवान् विष्णु का निरन्तर स्मरण करते रहने के कारण असुरगण सामान्यतया मृत्यु के बाद *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। हिरण्यकशिपु भगवान् पर पक्षपात करने का लांछन लगा रहा था, क्योंकि देवता उनकी पूजा करते थे, लेकिन वस्तुत: सरकार की तरह ही भगवान् तनिक भी पक्षपात नहीं करते। सरकार किसी एक नागरिक का पक्षपात नहीं करती, किन्तु यदि नागरिक नियमों का पालन करने वाला है, तो वह शान्तिपूर्वक रहने तथा अपने असली स्वार्थों की पूर्ति करने के लिए राज्य से प्रचुर अवसर प्राप्त करता है।

तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः ।
भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७॥
मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै ।
असृक्प्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (भगवान् का); त्यक्त-स्वभावस्य—अपने स्वभाव (समदर्शिता) को जिसने त्याग दिया है; घृणेः—अत्यन्त गर्हित; माया—भ्रामक शक्ति के प्रभाव से; वन-ओकसः—जंगल में पशु के समान आचरण करते हुए; भजन्तम्—भक्ति में लगे भक्त को; भजमानस्य—पूजित होकर; बालस्य—लड़के के; इव—सदृश; अस्थिर-आत्मनः—सदैव अशान्त तथा परिवर्तित होने वाला; मत्—मेरा; शूल—त्रिशूल से; भिन्न—अलग किया गया, छिन्न; ग्रीवस्य—जिसकी गर्दन; भूरिणा—अत्यधिक; रुधिरेण—रक्त से; वै—निस्सन्देह; असृक्-प्रियम्—रक्त का प्यासा; तर्पयिष्ये—प्रसन्न करूँगा; भ्रातरम्—भाई को; मे—अपने; गत-व्यथः—अपने को शान्त बनाकर।

भगवान् ने असुरों तथा देवताओं के प्रति समानता की अपनी सहज प्रवृत्ति त्याग दी है। यद्यपि वे परम पुरुष हैं, किन्तु अब माया के वशीभूत होकर उन्होंने अपने भक्तों अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वराह का रूप धारण किया है, जिस तरह एक अशान्त बालक किसी

की ओर उन्मुख हो जाये। अतएव मैं अपने त्रिशूल से भगवान् विष्णु के सिर को उनके धड़ से अलग कर दूँगा और उनके शरीर से निकले प्रचुर रक्त से अपने भाई हिरण्याक्ष को प्रसन्न करूँगा जो उनके रक्त को चूसने का शौकीन था। इस प्रकार मैं भी शान्त हो सकूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में आसुरी मनोवृत्ति के दोष का स्पष्ट वर्णन है। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि विष्णु भी एक चंचल बालक की भाँति पक्षपात करते हैं। हिरण्यकशिपु ने यह सोचा कि भगवान् किसी भी समय अपना मन बदल सकते हैं, अतएव उनके वचन तथा कर्म बच्चों जैसे हैं। वास्तव में असुरगण सामान्य मानव होने के कारण अपना मन बदलते हैं और भौतिकता से बद्ध होने के कारण वे सोचते हैं कि भगवान् भी बद्ध हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हू तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं।

असुर सदैव सोचते हैं कि विष्णु को मारा जा सकता है। अतएव उन्हें मारने के विचार में लीन होने के कारण उन्हें विष्णु के प्रतिकूल सोचने का अवसर तो प्राप्त होता है। यद्यपि वे भक्त नहीं होते, लेकिन विष्णु के विषय में सोचना प्रभावशाली होता है और इस तरह वे सामान्यतया *सायुज्य मुक्ति* प्राप्त करते हैं। चूँकि असुरगण परमेश्वर को सामान्य जीव मानते हैं, अतएव वे सोचते हैं कि वे भगवान् विष्णु का उसी तरह वध कर सकते हैं जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति का वध किया जा सकता है। यहाँ पर एक अन्य तथ्य प्रकट हुआ है कि असुरगण रक्त के प्यासे होते हैं। निस्सन्देह, वे सबके सब मांसभक्षक तथा रक्त चूसने वाले होते हैं।

हिरण्यकशिपु ने भगवान् पर आरोप लगाया कि उनका मन एक छोटे बालक की तरह चंचल है, जिसे कुछ बर्फी तथा लड्डू देकर जो चाहो सो कराया जा सकता है। अप्रत्यक्षत: इससे भगवान् की वास्तविक स्थिति सूचित होती है, जो *भगवद्गीता* (९.२३) में कहते हैं कि

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन: ॥

''यदि कोई प्रेम तथा भक्ति से मुझे एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' भगवान् भक्तों के दिव्य प्रेम के कारण उनकी भेंटें स्वीकार करते हैं। चूँकि भक्तगण परमेश्वर से प्रेम करते हैं अतएव वे भगवान् को पहले अर्पित किये बिना अपना भोजन नहीं

करते। भगवान् एक क्षुद्र पत्र या पुष्प के लिए लालायित नहीं रहते। उनके पास खाने के लिए बहुत है। वे ही सारे जीवों को भोजन देने वाले हैं। फिर भी चूँकि वे अत्यन्त कृपालु तथा *भक्तवत्सल* हैं अर्थात् भक्तों के अनुकूल हैं, अतएव उन्हें प्रेम तथा भक्तिपूर्वक जो भी अर्पित किया जाता है उसे वे अवश्य खाते हैं। इस गुण को बालपना नहीं समझना चाहिए। भगवान् का सर्वोच्च गुण है उनकी *भक्तवत्सलता*। दूसरे शब्दों में, वे अपने भक्तों से सदैव अत्यधिक प्रसन्न रहते हैं। जहाँ तक माया शब्द के प्रयोग की बात है, जब यह भगवान् तथा उनके भक्तों के व्यवहारों में प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है "स्नेह"। अपने भक्तों के पक्ष में किये गये कर्म अवगुण नहीं हैं, अपितु भगवान् के सहज स्नेह के लक्षण हैं।

जहाँ तक भगवान् विष्णु के रुधिर का प्रश्न है, चूँकि भगवान् विष्णु के सिर को उनके शरीर से छिन्न नहीं किया जा सकता अतएव रक्त की बात ही नहीं उठती। किन्तु विष्णु के शरीर को अलंकृत करने वाली माला रक्त के ही समान लाल होती है। जब असुरों को *सायुज्य मुक्ति* मिलती है और वे अपने पापमय कर्मों को पीछे छोड़ जाते हैं, तो उन्हें रक्त के समान विष्णु की लाल माला ही आशीर्वाद (वर) देती है। सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने के बाद कभी-कभी असुरों को वैकुण्ठ लोक प्राप्त होता है जहाँ उन्हें भगवान् की माला का प्रसाद पुरस्कार रूप में मिलता है।

तस्मिन्कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ ।
विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह; कूटे—अत्यन्त मायावी; अहिते—शत्रु; नष्टे—नष्ट हो जाता है; कृत्त-मूले—जड़ें कट जाने पर; वनस्-पतौ—वृक्ष; विटपाः—डालें तथा पत्तियाँ; इव—सदृश; शुष्यन्ति—सूख जाती हैं; विष्णु-प्राणाः—जिनका प्राण विष्णु है; दिव-ओकसः—देवतागण।

जब वृक्ष की जड़ काट दी जाती है, तो वह गिर पड़ता है और उसकी शाखायें एवं पत्तियाँ स्वयमेव सूख जाती हैं। उसी तरह जब मैं इस मायावी विष्णु को मार डालूँगा तो सारे देवता, जिनके लिए भगवान् विष्णु प्राण तथा आत्मा हैं, अपना जीवन-स्त्रोत खो देंगे और मुरझा जाएँगे।

तात्पर्य : यहाँ पर देवताओं तथा असुरों का अन्तर बताया गया है। देवता सदैव भगवान् के आदेशों का पालन करते हैं जबकि असुरगण उन्हें क्षुब्ध करने या मारने की योजना बनाते हैं। फिर भी कभी-कभी असुरगण देवताओं की भगवत्कृपा पर पूर्ण निर्भरता की प्रशंसा करते हैं। यह असुरोंद्वारा देवताओं

का अप्रत्यक्ष महिमा-गायन है।

तावद्यात भुवं यूयं ब्रह्मक्षत्रसमेधिताम् ।
सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तावत्—जब तक (मैं विष्णु के मारने में व्यस्त हूँ); यात—जाओ; भुवम्—पृथ्वी लोक में; यूयम्—तुम सब; ब्रह्म-क्षत्र—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; समेधिताम्—कर्मो (ब्राह्मण संस्कृति तथा वैदिक शासन) द्वारा सम्पन्न बने हुए; सूदयध्वम्—विनष्ट कर दो; तपः—तपस्या करने वालों को; यज्ञ—यज्ञ; स्वाध्याय—वैदिक ज्ञान का अध्ययन; व्रत—अनुष्ठान सम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ; दानिनः—तथा दान देने वालों का।

जब तक मैं भगवान् विष्णु के मारने के कार्य में लगा हूँ, तब तक तुम लोग पृथ्वी लोक में जाओ जो ब्राह्मण संस्कृति तथा क्षत्रिय शासन के कारण फल-फूल रहा है। ये लोग तपस्या, यज्ञ, वैदिक अध्ययन, आनुष्ठानिक व्रत तथा दान में लगे रहते हैं। ऐसे सारे लोगों को जाकर विनष्ट कर दो।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का मुख्य उद्देश्य देवताओं को विचलित करना था। उसने सर्वप्रथम भगवान् विष्णु को मार डालने की योजना बनाई जिससे विष्णु की मृत्यु होने पर सारे देवता स्वतः निर्बल होकर मर जाएंगे। उसकी दूसरी योजना पृथ्वी के वासियों को सताने की थी। पृथ्वीवासियों तथा अन्य लोकों की शान्ति तथा समृद्धि ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा स्थिर रखी जाती थी। *भगवद्गीता* (४.१३) में भगवान् कहते हैं—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—प्रकृति के तीन गुणों तथा उनके नियत कर्म के अनुसार मानव समाज के चार वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा की गई है। सभी लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वासी रहते हैं, लेकिन यहाँ पर मनुष्यों द्वारा निवसित पृथ्वी लोक के प्रसंग में वे संस्तुत करते हैं कि समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित किया जाए। इस पृथ्वी पर भगवान् कृष्ण के अवतार के पूर्व ऐसा जाना जाता है कि यह पृथ्वी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा व्यवस्थित होती थी। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह *शमः* (शान्ति), *दमः* (आत्मसंयम), *तितिक्षा* (सहिष्णुता), *सत्यम्* (सच्चाई), *शौचम्* (स्वच्छता) तथा *आर्जवम्* (सरलता) का संवर्धन करे और तब क्षत्रिय राजाओं को सलाह दे कि देश या लोक पर किस तरह शासन किया जाये। ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते हुए क्षत्रियों को चाहिए कि वे जनता को तपस्या, यज्ञ, स्वाध्याय तथा वैदिक अनुष्ठानों में दृढ़ बनने के लिए प्रवृत्त करें। उन्हें ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा मन्दिरों को दान देने की भी

व्यवस्था करनी चाहिए। ब्राह्मण संस्कृति का यह दैवी विधान है।

लोगों की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पन्न करने की ओर इसलिए होती है, क्योंकि यदि यज्ञ नहीं किये जाएं तो अपर्याप्त वर्षा होगी (*यज्ञाद् भवति पर्जन्य:*) जिससे कृषिकर्म में बाधा उपस्थित होगी (*पर्जन्याद् अन्नसम्भव:*) अतएव ब्राह्मण संस्कृति का सूत्रपात करके क्षत्रिय *सरकार* को चाहिए कि लोगों को यज्ञ करने, वेदों को पढ़ने तथा दान देने के प्रति प्रवृत्त करें। इस प्रकार लोगों की आवश्यकताएँ सरलता से पूर्ण हो सकेंगी और समाज में उपद्रव नहीं होगा। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (३.१२) में कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स:॥

''सारे देवता जीवन की विविध आवश्यकताओं का भार सँभालने के कारण यज्ञ सम्पन्न होने पर तुष्ट होकर मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु जो व्यक्ति इन उपहारों को देवताओं को अर्पित किये बिना भोग करता है, वह निश्चय ही चोर है।''

देवतागण वैध इच्छापूर्ति अभिकर्ता हैं, जो विष्णु के प्रतिनिधि रूप में कार्य करते हैं, अतएव नियत यज्ञ सम्पन्न करके उन्हें प्रसन्न किया जाना चाहिए। वेदों में विभिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न यज्ञ बताये गये हैं, किन्तु वे सारे यज्ञ अन्तत: भगवान् को ही समर्पित होते हैं। जो भगवान् को नहीं समझ सकता उसके लिए संस्तुति की जाती है कि वह देवताओं के लिए यज्ञ करे। वेदों में सम्बद्ध व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न यज्ञों की संस्तुति की गई है। विभिन्न देवताओं की पूजा का आधार भी गुणों के अनुसार है। उदाहरणार्थ, मांसाहारियों को प्रकृति की बीभत्स स्वरूपा देवी काली की पूजा की संस्तुति की जाती है। इस देवी के समक्ष पशुओं की बलि दी जाती है। किन्तु सतोगुणियों के लिए विष्णु-पूजा की संस्तुत की जाती है। अन्तत: सारे यज्ञ क्रमश: दिव्य पद तक उठने के निमित्त किये जाते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए कम से कम पाँच यज्ञ आवश्यक हैं जिन्हें *पञ्चमहायज्ञ* कहा जाता है।

किन्तु मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि मानव समाज की सारी आवश्यकताएँ भगवान् के अभिकर्ता देवताओं द्वारा पूरी की जाती हैं। कोई कुछ बना नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मानव समाज के

समस्त खाद्य पदार्थों के विषय में विचार करें। इनमें अन्न, फल, तरकारियाँ, दूध तथा चीनी सम्मिलित हैं, जो शाकाहारियों के लिए हैं। इनमें मांसाहारियों के लिए भी खाद्य पदार्थ होते हैं, यथा मांस, किन्तु इनमें से किसी का भी निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हो सकता। पुनः दूसरा उदाहरण उष्मा, प्रकाश, जल तथा वायु का लें जो जीवन के लिए आवश्यक हैं और इनमें से किसी का भी निर्माण मानव समाज द्वारा नहीं हो सकता। परमेश्वर के बिना न तो प्रचुर सूर्यप्रकाश हो सकता है, न चाँदनी, न वर्षा, न मन्द समीर जिनके अभाव में कोई जीवित नहीं रह सकता। स्पष्ट है कि हमारे जीवन भगवान् द्वारा प्रदत्त वस्तुओं पर आश्रित है। यहाँ तक कि अपने निर्माणकार्यों के लिए भी हमें अनेक कच्चे मालों की आवश्यकता होती है—यथा धातुएँ, गन्धक, पारा, मैंगनीज इत्यादि और ये सब भगवान् के अभिकर्ताओं द्वारा इस उद्देश्य से प्रदान की जाती हैं कि हम इनका उचित उपयोग करके अपने को स्वस्थ रखकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकें जो हमारे जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् संसार में जीवन-संघर्ष से मोक्ष है। यह जीवन-लक्ष्य यज्ञों को सम्पन्न करके प्राप्त किया जाता है। यदि हम मनुष्य जीवन के प्रयोजन को भूल जाते हैं और मात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् के अभिकर्ताओं से आपूर्ति ग्रहण करते जाते हैं और संसार में अधिकाधिक फँसते जाते हैं, जो सृष्टि का उद्देश्य नहीं है, तो निश्चय ही हम चोर बन जाते हैं और हमें प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है। चोरों का समाज कभी सुखी नहीं रह सकता, क्योंकि उनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। निपट भौतिकतावादी चोरों का कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रेरित होते हैं, उन्हें यज्ञों को सम्पन्न करने का कोई ज्ञान भी नहीं होता। किन्तु भगवान् चैतन्य ने यज्ञ की सरलतम विधि का सूत्रपात किया, जो *सङ्कीर्तन यज्ञ* है और जिसे विश्व का कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है, सम्पन्न कर सकता है।

हिरण्यकशिपु ने पृथ्वी के निवासियों को मार डालने की योजना बनाई थी जिससे यज्ञ बन्द हो जाँय और सारे देवता विचलित हो कर स्वतः मर जाएं। जब परमेश्वर भगवान् विष्णु का स्वतः वध हो जाएगी। ये हिरण्यकशिपु की आसुरी योजनाएँ थीं और वह ऐसे कार्यों में दक्ष था।

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान् ।

देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—भगवान् विष्णु; द्विज—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का; क्रिया-मूलः—जिसका मूल है यज्ञों एवं वेदों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना; यज्ञः—साक्षात् यज्ञ (भगवान् विष्णु जो यज्ञ पुरुष कहलाते हैं); धर्म-मयः—धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्ण; पुमान्—परम पुरुष; देव-ऋषि—देवताओं तथा व्यासदेव एवं नारद जैसे महान् ऋषियों का; पितृ—पूर्वजों का; भूतानाम्—तथा समस्त जीवों का; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; च—भी; परायणम्—आश्रय।

ब्राह्मण-संस्कृति का मूल सिद्धान्त यज्ञों तथा अनुष्ठानों के साक्षात् स्वरूप भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् आगार हैं और वे समस्त देवताओं, महान् पितरों तथा सामान्य जनता के आश्रय हैं। यदि ब्राह्मणों का वध कर दिया जाये तो क्षत्रियों को यज्ञ सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करने वाला कोई नहीं रहेगा और इस तरह सारे देवता यज्ञों द्वारा प्रसन्न न किये जाने पर स्वतः मर जायेंगे।

तात्पर्य : चूँकि विष्णु ही ब्राह्मण-संस्कृति के केन्द्रबिन्दु हैं, अतएव हिरण्यकशिपु की योजना विष्णु-वध करने की थी क्योंकि यदि विष्णु का वध कर दिया जाता है, तो ब्राह्मण-संस्कृति भी विनष्ट हो जाएगी। ब्राह्मण-संस्कृति के विनाश होने पर यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकेंगे और यज्ञ के अभाव में नियमित वर्षा होनी बन्द हो जाएगी (*यज्ञात् भवति पर्जन्यः*)। इस तरह सारे विश्व में उत्पात होंगे जिससे देवता पराजित हो जाएँगे। इस श्लोक से हमें स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक सभ्यता के नष्ट होने से मानव समाज किस तरह विश्रृंखलित हो जाता है और ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न होने वाले वैदिक कर्मकाण्ड बन्द हो जाते हैं। *कलौ शूद्रसम्भवः।* चूँकि आधुनिक जगत की जनसंख्या अधिकांशतः शूद्र है, अतएव ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और इसे उचित मार्ग पर ले आना अत्यधिक कठिन है। अतएव भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की संस्तुति की है, जिससे खोई हुई ब्राह्मण-संस्कृति सरलता से पुनरुज्जीवित हो सकेगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

आसुरी जनसंख्या में वृद्धि के कारण ब्राह्मण-संस्कृति तो विनष्ट हो ही चुकी है। कोई क्षत्रिय-सरकार भी नहीं है। उल्टे, आजकल की सरकार प्रजातांत्रिक है, जिसमें कोई भी शूद्र मतदान द्वारा सरकारी बागडोर अपने हाथ में लेकर शासन सँभाल सकता है। कलियुग के विषाक्त प्रभाव के कारण शास्त्र (भागवत १२.२.१३) का कथन है—*दस्युप्रायेषु राजसु*—सरकार दस्युओं अर्थात् लुटेरों की

नीतियाँ धारण करेगी। इस प्रकार ब्राह्मणों से कोई आदेश नहीं मिलेंगे और यदि मिलें भी तो कोई क्षत्रिय शासक नहीं होगा जो उनका पालन कर सके। सत्ययुग को छोड़कर पहले भी जब असुरों का प्रभाव था तो हिरण्यकशिपु ने ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार को विनष्ट करने की योजना बनाई थी जिस से सारे संसार में अराजकता फैल जाये। यद्यपि सत्ययुग में इस योजना को कार्यान्वित कर पाना दुष्कर था, लेकिन शूद्रों तथा असुरों से पूर्ण इस कलियुग में ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है और केवल महामंत्र के कीर्तन से ही पुनरुज्जीवित हो सकती है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन का सूत्रपात ब्राह्मण संस्कृति को सरलता से पुनरुज्जीवित करने के लिए किया गया है, जिससे लोग इसी जीवन में सुखी तथा शान्तिमय रह सकें और अगले जन्म में ऊपर उठने की तैयारी कर सकें। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्माण्ड पुराण* से यह श्लोक उद्धृत किया है—

विप्रयज्ञादिमूलं तु हरिरित्यासुरं मतम्।

हरिरेव हि सर्वस्य मूलं सम्यङ्मतो नृप॥

"हे राजन्! असुरगण सोचते हैं कि हरि या भगवान् विष्णु का अस्तित्व ब्राह्मणों तथा यज्ञों के कारण है, लेकिन तथ्य तो यह है कि हरि ब्राह्मणों तथा यज्ञों सहित प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।" अतएव *हरि कीर्तन* या *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के प्रचार द्वारा ब्राह्मण-संस्कृति तथा क्षत्रिय-सरकार स्वत: वापस आ जाएगी और लोग अत्यन्त सुखी होंगे।

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमक्रियाः ।
तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥ १२॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ जहाँ; द्विजाः—ब्राह्मण गण; गावः—सुरक्षित गाएँ; वेदाः—वैदिक संस्कृति; वर्ण-आश्रम—चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली आर्यसभ्यता के; क्रियाः—कार्यकलाप; तम् तम्—उनको; जन-पदम्—नगर या शहर में; यात—जाओ; सन्दीपयत—अग्नि लगा दो; वृश्चत—(सारे वृक्षों को) काट डालो।

जहाँ कहीं भी गौवों तथा ब्राह्मणों को सुरक्षा प्राप्त है तथा जहाँ-जहाँ वर्णाश्रम नियमों के अनुसार वेदों का अध्ययन होता है, वहाँ-वहाँ तुरन्त जाओ। तुम लोग उन स्थानों में अग्नि लगा दो और जीवन के स्रोत वृक्षों को जड़ से काट कर गिरा दो।

तात्पर्य : यहाँ पर असली मानव सभ्यता के चित्र का अप्रत्यक्ष वर्णन हुआ है। पूर्ण मानव सभ्यता में भलीभाँति प्रशिक्षित पुरुषों का वर्ग पूर्ण ब्राह्मण के रूप में होना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्रों के

आदेशानुसार सुचारु रूप से देश का शासन चलाने के लिए क्षत्रिय होने चाहिए और होने चाहिए वैश्य जो गायों की रक्षा कर सकें। *गाव:* शब्द सूचित करता है कि गायों को सुरक्षा प्रदान की जाये। चूँकि वैदिक सभ्यता समाप्त हो गई है, अतएव गाएँ सुरक्षित नहीं हैं, अपितु कसाईघरों में वे अन्धाधुन्ध काटी जा रही हैं। ऐसे कार्य असुरों के हैं, अतएव यह आसुरी सभ्यता है। यहाँ पर वर्णित *वर्णाश्रम* कर्म मानव सभ्यता के लिए अनिवार्य है। जब तक मार्गदर्शन के लिए ब्राह्मण न हों, ठीक से शासन करने के लिए क्षत्रिय न हों तथा अन्न उत्पन्न करने एवं गायों की रक्षा के लिए पूर्ण वैश्य न हों तब तक लोग शान्तिपूर्वक कैसे रह सकते हैं? यह असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि वृक्षों को भी सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। वृक्ष को उसके जीवन-काल में किसी औद्योगिक कार्य के लिए नहीं काटा जाना चाहिए। कलियुग में वृक्षों को उद्योग के लिए, विशेष रूप से कागज मिलों के लिए, आँख मूँद कर व्यर्थ ही काटा जाता है और ये मिलें वृहद मात्रा में कागज तैयार करती हैं जिससे आसुरी विज्ञापन, व्यर्थ साहित्य, अनेक समाचारपत्रों का प्रकाशन होता है तथा अन्य कागजी उत्पाद बनते हैं। यह आसुरी सभ्यता का चिह्न है। जब तक भगवान् विष्णु की सेवा के लिए आवश्यकता न पड़े, वृक्ष न काटे जाँय। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—भगवान् विष्णु के लिये यज्ञ रूप कर्म किया जाये, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत से बाँधने वाला है। लेकिन यदि कागज की मिलें कागज का उत्पादन बन्द कर दें तो यह पूछा जा सकता है कि हमारा इस्कान-साहित्य किस तरह छपेगा? इसका उत्तर यह है कि कागज मिलों को चाहिये कि इस्कान-साहित्य के प्रकाशनार्थ ही कागज का उत्पादन करें, क्योंकि यह साहित्य भगवान् विष्णु की सेवा करने के लिये प्रकाशित किया जाता है। यह साहित्य भगवान् विष्णु के साथ हमारे सम्बन्ध को स्पष्ट करताहै, अतएव इस्कान-साहित्य का प्रकाशन यज्ञ-सम्पादन है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* यज्ञ तो श्रेष्ठ अधिकारियों द्वारा बताई गई विधि से सम्पन्न किया जाये। अवांछित साहित्य के प्रकाशन हेतु कागज-निर्माण के लिये ही वृक्षों को काटना सबसे बड़ा पापकर्म है।

इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसादृताः ।
तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—वे; भर्तृ—स्वामी की; निर्देशम्—आज्ञा; आदाय—प्राप्त कर; शिरसा—सिर के बल; आदृताः—आदर करते हुए; तथा—और; प्रजानाम्—सारे नागरिकों का; कदनम्—दण्ड; विदधुः—दिया; कदन-प्रियाः—अन्यों को दण्ड देने में पटु।

इस तरह जघन्य कर्मों के इच्छुक असुरों ने हिरण्यकशिपु की आज्ञा को अत्यन्त आदरपूर्वक लिया और उसे नमस्कार किया। उसके निर्देशानुसार वे सारे जीवों के विरुद्ध ईर्ष्यापूर्ण कार्यकलाप में जुट गये।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ पर बताया गया है आसुरी सिद्धान्तों के अनुयायी सामान्य जनों के प्रति नितान्त ईर्ष्या से भरे रहते हैं। आजकल की वैज्ञानिक प्रगति इस ईर्ष्या का जीता-जागता उदाहरण है। नाभिकीय ऊर्जा की खोज जनता के लिए विपत्तिजनक रही है, क्योंकि संसार भर में असुरगण नाभिकीय हथियार बना रहे हैं। इस प्रसंग में *कदनप्रियाः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। असुरगण जो वैदिक संस्कृति को विनष्ट कर देना चाहते हैं, वे निर्बल नागरिकों से अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं और ऐसा कार्य करते हैं कि उनकी खोजें अन्ततोगत्वा हर एक के लिए अकल्याणकर सिद्ध हों (*जगतोऽहिताः*)। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में यह भलीभाँति बताया गया है कि असुरगण सामान्यजनों के विनाश हेतु किस प्रकार पापकर्मों में रत रहते हैं।

पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् ।
खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥ १४॥

शब्दार्थ

पुर—नगर तथा कस्बे; ग्राम—गाँव; व्रज—चारागाहें; उद्यान—बगीचे; क्षेत्र—खेत; आराम—प्राकृतिक जंगल; आश्रम—सन्त जनों की कुटिया; आकरान्—खानें (जिनसे ब्राह्मण-संस्कृति को बनाये रखने के लिए मूल्यवान धातुएं निकलती हैं); खेट—गाँव; खर्वट—पहाड़ी गाँव; घोषान्—ग्वालों के छोटे-छोटे गाँव; च—तथा; ददहुः—जला दिया; पत्तनानि—राजधानियों को; च—भी।

असुरों ने नगरों, गावों, चारागाहों, उद्यानों, खेतों तथा जंगलों में आग लगा दी। उन्होंने साधु पुरुषों के घरों, मूल्यवान धातु उत्पन्न करने वाली महत्त्वपूर्ण खानों, कृषकों के आवासों, पर्वतीय ग्रामों, अहीरों की बस्तियों को जला दिया। उन्होंने सरकारी राजधानियाँ भी जला दीं।

तात्पर्य : *उद्यान* उन स्थानों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जहाँ फल तथा फूल उत्पन्न करने के लिए वृक्ष उगाये जाते हैं, जो मानव सभ्यता के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में कृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

"यदि कोई मुझे प्रेम तथा भक्तिपूर्वक एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।" फल तथा फूल भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है, तो वह केवल फल तथा फूल अर्पित कर सकता है और भगवान् उन्हें ग्रहण करके प्रसन्न हो जाते हैं। हमारा एकमात्र कर्तव्य है भगवान् को प्रसन्न करना (*संसिद्धिर्हरितोषणम्*)। हम जो कुछ भी करें, हमारा व्यवसाय चाहे कुछ भी हो, हमारा मुख्य लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना या तुष्ट करना होना चाहिये। इस श्लोक में वर्णित सारी सामग्री विशेष रूप से भगवान् की तुष्टि के निमित्त है, अन्य किसी की इन्द्रिय-तृप्ति के लिये नहीं। सरकार का ही नहीं, अपितु सारे समाज का गठन ऐसा होना चाहिए कि हर एक को भगवान् को संतुष्ट करने की शिक्षा दी जा सके। किन्तु दुर्भाग्यवश इस युग में *न ते विदुः स्वार्थगातिं हि विष्णुम्*—लोग यह नहीं जानते कि मनुष्य-जीवन सर्वोच्च का लक्ष्य भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है। इसके विपरीत, वे असुरों की तरह विष्णु को मार कर इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुखी बनना चाहते हैं।

केचित्खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् ।
आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान्केचित्परशुपाणयः ।
प्रादहञ्शरणान्येके प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ असुर; खनित्रैः—फावड़ों से; बिभिदुः—खण्ड-खण्ड कर दिया; सेतु—पुल; प्राकार—रक्षा करने वली दीवालें, परकोटे; गोपुरान्—नगर के द्वारों को; आजीव्यान्—जीविका के साधन; चिच्छिदुः—काट डाला; वृक्षान्—वृक्षों को; केचित्—कुछ ने; परशु-पाणयः—हाथ में कुल्हाड़ी लेकर; प्रादहन्—जला डाला; शरणानि—आवास; एके—अन्य असुरों ने; प्रजानाम्—नागरिकों के; ज्वलित—जलते हुए; उल्मुकैः—लुकाठों से।

कुछ असुरों ने फावड़े लेकर पुल, परकोटे तथा नगरों के द्वारों (गोपुरों) को तोड़ डाला। कुछ ने कुल्हाड़े लेकर आम, कटहल के महत्त्वपूर्ण वृक्षों तथा अन्य भोज्य सामग्री वाले वृक्षों को काट डाला। कुछ असुरों ने हाथ में जलते लुकाठे लेकर नागरिकों के रिहायशी मकानों में आग लगा दी।

तात्पर्य : सामान्यतया वृक्षों का काटना वर्जित है, विशेष रूप से जो वृक्ष मानव-समाज के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करते हैं उन्हें तो नहीं ही काटना चाहिये। विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न

प्रकार के फल वृक्ष होते हैं। भारत में आम तथा कटहल के वृक्ष प्रमुख हैं और अन्य स्थानों में आम, कटहल, नारियल तथा बेर के वृक्ष पाये जाते हैं। ऐसा कोई भी वृक्ष जो मनुष्य के भरण के लिये स्वादिष्ट फल उत्पन्न करता हो उसे बिल्कुल ही नहीं काटना चाहिये। यह शास्त्रों का आदेश है।

एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः ।
दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विप्रकृते—सताये जाकर; लोके—जब सारे लोग; दैत्य-इन्द्र-अनुचरैः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा; मुहुः—पुनः पुनः; दिवम्—स्वर्ग लोक को; देवाः—देवतागण; परित्यज्य—त्याग कर; भुवि—पृथ्वी लोक पर; चेरुः—घूमने लगे (उपद्रव का विस्तार देखने के लिये); अलक्षिताः—असुरों से छिप कर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के अनुयायियों द्वारा बारम्बार अप्राकृतिक घटनाओं के रूप में सताये जाने पर सभी लोगों ने बाध्य होकर वैदिक संस्कृति की सारी गतिविधियाँ बन्द कर दीं। देवतागण भी यज्ञों का फल न पाने के कारण विचलित हो उठे। उन्होंने स्वर्गलोक के अपने-अपने आवास त्याग दिये और असुरों से अलक्षित होकर विनाश का अवलोकन करने के लिए वे पृथ्वीलोक में इधर-उधर विचरण करने लगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्यों तथा देवताओं को अन्योन्याश्रित सौभाग्य प्राप्त होता है। जब असुरों के उत्पातों से यज्ञ होने बन्द हो गये तो देवतागण सहज ही यज्ञ के फलों से वंचित रह गये और उन्हें अपने-अपने कर्तव्य करने में बाधा पड़ने लगी। अतएव वे पृथ्वी लोक पर यह देखने के लिए कि लोग किस प्रकार विचलित हुए और यह विचार करने के लिए कि क्या करना चाहिये, उतर आये।

हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः ।
कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; भ्रातुः—भाई का; सम्परेतस्य—मृत; दुःखितः—अत्यन्त दुखी; कृत्वा—करके; कटोदक-आदीनि—मृत्यु के पश्चात् के कृत्य, अन्त्येष्टि क्रिया; भ्रातृ-पुत्रान्—अपने भाई के लड़कों को; असान्त्वयत्—सान्त्वना दी।

अपने भाई की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न कर लेने के बाद हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त दुखित होकर अपने भतीजों को सान्त्वना प्रदान करने का प्रयास किया।

शकुनिं शम्बरं धृष्टिं भूतसन्तापनं वृकम् ।
कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥ १८ ॥
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा ।
श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

शकुनिम्—शकुनि को; शम्बरम्—शम्बर को; धृष्टिम्—धृष्टि को; भूतसन्तापनम्—भूतसंतापन को; वृकम्—वृक को; कालनाभम्—कालनाभ को; महानाभम्—महानाभ को; हरिश्मश्रुम्—हरिश्मश्रु को; अथ—तथा; उत्कचम्—उत्कच को; तत्-मातरम्—उनकी माता; रुषाभानुम्—रुषाभानु को; दितिम्—दिति को; च—तथा; जननीम्—अपनी माता; गिरा—शब्दों से; श्लक्ष्णया—अत्यन्त मधुर; देश-काल-ज्ञः—जो काल तथा परिस्थिति को समझने में दक्ष हो; इदम्—यह; आह—कहा; जन-ईश्वर—हे राजा!.

हे राजा, हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था, किन्तु महान् राजनीतिज्ञ होने के कारण वह देश तथा काल के अनुसार कर्म करना जानता था। अतएव वह अपने भतीजों को मधुर वाणी से सान्त्वना देने लगा। इनके नाम थे शकुनि, शम्बर, धृष्टि, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु तथा उत्कच। उसने उनकी माता अर्थात् अपनी अनुजवधू रुषाभानु एवं अपनी माता दिति को भी ढाढस बँधाया। वह उनसे इस प्रकार बोला।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् ।
रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—हिरण्यकशिपु ने कहा; अम्ब अम्ब—मेरी माता, मेरी माता; हे—हे, ओ; वधूः—मेरी बहू; पुत्राः—मेरे भाई के पुत्रों; वीरम्—वीर; मा—मत; अर्हथ—तुम्हें चाहिये; शोचितुम्—शोक करना; रिपोः—शत्रु के; अभिमुखे—समक्ष; श्लाघ्यः—प्रशंसनीय; शूराणाम्—वास्तविक महान् पुरुषों का; वधः—वध; ईप्सितः—वांछित।.

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे माता, हे वधू तथा हे भतीजो, तुम लोगों को महान् वीर की मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने शत्रु के समक्ष वीर की मृत्यु अत्यन्त प्रशंसनीय तथा वांछनीय होती है।

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते ।
दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; इह—इस संसार में; संवासः—साथ-साथ रहना; प्रपायाम्—ठंडा जल पीने के स्थान, प्याऊ; इव—सदृश; सु-व्रते—हे भद्रे; दैवेन—भाग्य द्वारा; एकत्र—एक स्थान पर; नीतानाम्—लाये गये; उन्नीतानाम्—दूर-दूर ले जाने वालों का; स्व-कर्मभिः—अपने-अपने कर्मों से।.

हे माता, किसी भोजनालय या प्याऊ में अनेक राहगीर पास-पास आते हैं, किन्तु जल पीने

के बाद अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी किसी परिवार में आकर मिलते हैं किन्तु बाद में अपने-अपने कर्मों के अनुसार वे अपने-अपने गन्तव्यों को चले जाते हैं।

तात्पर्य :

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

''मोहग्रस्त जीवात्मा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभावों में आकर अपने को उन कर्मों का कर्ता सोचने लगता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।''(भगवद्गीता ३.२७) सारे जीव प्रकृति के आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं, क्योंकि भौतिक जगत में हम पूरी तरह उच्चतर नियंत्रण में रहते हैं। सारे जीव इस जगत में इसलिए आये, क्योंकि वे कृष्ण के समान भोग करना चाहते हैं और इस तरह वे प्रकृति द्वारा विभिन्न मात्राओं में बद्ध होने के लिए भेजे गये हैं। भौतिक जगत में तथाकथित परिवार एक घर में ऐसे अनेक व्यक्तियों का सम्मिलन है जिन्हें अपना बन्दी जीवन बिताना होता है। जिस तरह जेल में बंद अपराधी अपनी अवधि पूरी होने पर छोड़े जाने पर ही तितर-बितर हो जाते हैं उसी प्रकार हम परिवार के सदस्य, जो अस्थायी रूप से एकत्र हुए हैं, अपने-अपने गन्तव्यों की यात्रा करते रहेंगे। एक अन्य दृष्टान्त दिया जाता है कि, पारिवारिक सदस्य उन तिनकों के समान हैं, जो नदी की लहरों में साथ-साथ बहते रहते हैं। ये तिनके कभी कभी भँवर में पास-पास आ जाते हैं और पुनः उन्हीं लहरों द्वारा विलग किये जाकर अकेले जल में तैरने लगते हैं।

हिरण्यकशिपु दैत्य था, किन्तु उसे भौतिक ज्ञान और समझ थी। फलस्वरूप उसने अपने पारिवारिक जनों को—अपनी अनुजवधू, अपनी माता तथा भतीजों—को जो सलाह दी वह बहुत अच्छी थी। यद्यपि दैत्यों को ज्ञान में अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा माना जाता है, लेकिन वे भगवान् की सेवा में अपनी सद्बुद्धि का प्रयोग न करने के कारण ही दैत्य या असुर कहलाते हैं। किन्तु देवतागण बड़ी ही बुद्धिमानी से भगवान् को प्रसन्न रखने के लिए कर्म करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.१३) में इस प्रकार हुई है—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥

"अत: द्विजश्रेष्ठ! यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य वर्ण तथा आश्रम के विभाग के अनुसार अपने नियत कर्तव्य (*धर्म*) करता हुआ जिस सर्वोच्च सिद्धि को प्राप्त कर सकता है, वह है भगवान् हरि को प्रसन्न करना।" देवता या देवतुल्य बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को प्रसन्न करे, चाहे उसकी वृत्ति कुछ भी हो।

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित्परः ।
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन्गुणान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नित्यः—शाश्वत; आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; शुद्धः—भौतिक कल्मष से रहित; सर्व-गः—भौतिक या आध्यात्मिक जगतों में कहीं भी जाने के योग्य; सर्व-वित्—ज्ञान से पूर्ण; परः—भौतिक दशाओं से परे; धत्ते—स्वीकार करता है; असौ—वह आत्मा या जीव; आत्मनः—अपना; लिङ्गम्—शरीर; मायया—भौतिक शक्ति के द्वारा; विसृजन्—उत्पन्न करते हुए; गुणान्—विविध भौतिक गुणों को।

आत्मा या जीव की मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वह नित्य तथा अव्यय है। भौतिक कल्मष से मुक्त होने के कारण वह भौतिक या आध्यात्मिक जगतों में कहीं भी जा सकता है। वह भौतिक शरीर से पूरी तरह अवगत होते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है, किन्तु अपनी किंचित स्वतंत्रता के दुरुपयोग के कारण उसे भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर धारण करने होते हैं और इस तरह उसे तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख सहने होते हैं। अतएव किसी भी मनुष्य को शरीर में से आत्मा के निकलने पर शोक नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त बुद्धिमानी से आत्मा की स्थिति का वर्णन किया है। आत्मा कभी भी शरीर नहीं होता, अपितु वह सदैव शरीर से पूर्णतया भिन्न होता है। नित्य तथा अव्यय होने के कारण आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु जब वही शुद्ध आत्मा मुक्तभाव से भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो उसे प्रकृति के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत रख दिया जाता है, जिसके कारण उसे किसी न किसी प्रकार शरीर धारण करना पड़ता है और उसके सुखों एवं दुखों को भोगना होता है। इसका वर्णन कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* (१३.२२) में भी हुआ है। *कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्-योनिजन्मसु*—जीव विभिन्न परिवारों में या योनियों में उत्पन्न होता है, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित रहता है। प्रकृति द्वारा बद्ध होने पर जीव को एक प्रकार का शरीर धारण करना होता है, जो परमेश्वर के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक के हृदय में स्थित हैं और ये उन सारे जीवों के विचरण का निर्देश करते रहते हैं, जो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर आरूढ होते हैं।" (*भगवद्गीता* १८.६१) यह शरीर एक यंत्र के तुल्य है और जीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के वशीभूत होकर इधर-उधर विचरण करने के लिये विशेष प्रकार का यंत्र प्रदान किया जाता है। यह तब तक चलता रहता है जब तक वह परमेश्वर की शरण में नहीं जाता (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। बिना शरण में गये बद्धजीव प्रकृति की व्यवस्था से एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाया जाता है।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव ।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः ॥ २३॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अम्भसा—जल द्वारा; प्रचलता—गतिमान; तरवः—वृक्ष (नदी के तट के); अपि—भी; चलाः—गतिमान; इव—मानो; चक्षुषा—आँख से; भ्राम्यमाणेन—गतिमान; दृश्यते—देखा जाता है; चलती—चलती हुई, गतिमान; इव—मानो; भूः—धरती।

जल की गति के कारण नदी के तटवर्ती वृक्ष जल में प्रतिबिम्बित होकर चलते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब आँखें किसी मानसिक असंतुलन के कारण चलती रहती हैं, तो धरती (स्थल) भी घूमती प्रतीत होती है।

तात्पर्य : कभी-कभी मानसिक असंतुलन के कारण धरती घूमती प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, एक शराबी या हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्ति कभी-कभी अनुभव करता है कि धरती गतिमान है। इसी प्रकार प्रवाहित नदी में वृक्षों के प्रतिबिम्ब भी चलते प्रतीत होते हैं। ये सब माया के कार्य हैं। वस्तुतः जीव नहीं चलता (*स्थाणुरचलोऽयम्*)। जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है, किन्तु नश्वर सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कारण जीव एक स्थान से दूसरे को गति करता या सदा के लिए मृत प्रतीत होता है। जैसाकि महान् बंगाली वैष्णव कवि जगदानन्द पंडित ने कहा है—

पिशाची पाइले येन मति-च्छन्न हय।

मायाग्रस्त जीवेर हय से भाव उदय॥

प्रेम विवर्त के इस कथनानुसार जब जीव प्रकृति द्वारा बद्ध होता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान

होता है, जिसे भूत-प्रेत सताते हैं। अतएव मनुष्य को आत्मा के स्थिर पद को समझना चाहिये और जानना चाहिये कि वह किस तरह प्रकृति की लहरों के द्वारा शोक तथा लालसा के अन्तर्गत विभिन्न शरीरों तथा विभिन्न पदों तक ले जाया जाता है। मनुष्य को जीवन की सफलता तब मिलती है जब वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझते है और प्रकृति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से विचलित नहीं होता (*प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश:*)।

एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकल: पुमान् ।
याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ॥ २४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गुणै:—प्रकृति के गुणों द्वारा; भ्राम्यमाणे—विचलित होने पर; मनसि—मन में; अविकल:—परिवर्तन के बिना; पुमान्—जीव; याति—पास जाता है; तत्-साम्यताम्—मन की विक्षोभ जैसी दशा; भद्रे—हे भद्र माता; हि—निश्चय ही; अलिङ्ग:—सूक्ष्म या स्थूल शरीर से रहित; लिङ्ग-वान्—भौतिक शरीर से युक्त; इव—मानो।

इसी तरह से हे मेरी भद्र माता, जब प्रकृति के गुणों की गति द्वारा यह मन विचलित होता (भटकता) है तब जीव, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की विभिन्न अवस्थाओं से मुक्त क्यों न हो, यही सोचता है कि वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्तित हो गया है।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.८४.१३) में कहा गया है—

यस्यात्मबुद्धि: कुणपे त्रिधातुके

स्वधी: कलत्रादिषु भौमइज्यधी:।

यत्तीर्थबुद्धि: सलिले न कर्हिचि-

ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर: ॥

"जो मनुष्य तीन तत्त्वों से बने शरीर को आत्मा के रूप में पहचानता है, जो अपने शरीर से उपजातों को अपना सगा मानता है, जो जन्मभूमि को पूज्य मानता है और जो तीर्थस्थान में दिव्य ज्ञानी पुरुषों से भेंट करने नहीं, अपितु स्नान करने जाता है उसे गाय या गधा ही समझना चाहिये।" यद्यपि हिरण्यकशिपु महान् असुर था, किन्तु वह आज की जनता के समान मूर्ख न था। उसे आत्मा तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों का स्पष्ट ज्ञान था, किन्तु आज हम इतने पतित हो चुके हैं कि बड़े-बड़े विज्ञानी, दार्शनिक तथा नेता समेत प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के अधीन है, जिसकी शास्त्रों द्वारा निन्दा हुई है। *स एव गोखर:*—ऐसे लोग गायों तथा गधों के तुल्य हैं।

हिरण्यकशिपु ने अपने परिवार वालों को उपदेश दिया कि यद्यपि उसके भाई हिरण्याक्ष का स्थूल शरीर मृत है, जिसके कारण शोक-संतप्त हैं, किन्तु उन सबों को हिरण्याक्ष की महान् आत्मा के लिये शोक-सन्तप्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसे अगली गति प्राप्त हो चुकी है। आत्मा सदैव अपरिवर्तित रहता है (*अविकल: पुमान्*)। हम आत्माएँ हैं, किन्तु जब हम मानसिक कार्यकलापों (*मनोधर्म*) द्वारा बहा लिये जाते हैं, तो हमें तथाकथित भौतिक जीवन भोगना पड़ता है। ऐसा प्राय: अभक्तों के साथ होता रहता है। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा:*—भले ही अभक्तों में उच्च भौतिक गुण हों किन्तु मूर्ख होने के कारण उनमें एक भी उत्तम गुण नहीं रहता। भौतिक जगत में बद्धजीव की सारी उपाधियाँ शव के अलंकरण के तुल्य हैं। बद्धजीव को आत्मा तथा इस संसार के प्रभावों से परे उसके उच्च अस्तित्व का कोई ज्ञान नहीं रहता।

एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना ।
एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोग: कर्मसंसृति: ॥ २५ ॥
सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविध: स्मृत: ।
अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एष:—यह; आत्म-विपर्यास:—जीवन का मोह; हि—निस्सन्देह; अलिङ्गे—भौतिक शरीरविहीन में; लिङ्ग-भावना—भौतिक शरीर को ही आत्मा मानना; एष:—यह; प्रिय—अत्यन्त प्रियों के साथ; अप्रियै:—तथा अप्रियों के साथ (शत्रुओं, परिवार के बाहर वालों के साथ); योग:—सम्बन्ध; वियोग:—वियोग; कर्म—कर्मफल; संसृति:—जीवन की भौतिक दशा; सम्भव:—जन्म स्वीकार करते हुए; च—तथा; विनाश:—मृत्यु स्वीकार करते हुए; च—तथा; शोक:—शोक; च—तथा; विविध:—अनेक प्रकार के; स्मृत:—शास्त्रवर्णित; अविवेक:—विवेक-शक्ति का अभाव; च—तथा; चिन्ता—चिन्ता; च—भी; विवेक—समुचित विवेक शक्ति का; अस्मृति:—विस्मरण होना; एव—निस्संदेह; च—भी।

मोहावस्था में जीव अपने शरीर तथा मन को आत्मा स्वीकार करके कुछ व्यक्तियों को अपना सगा सम्बन्धी और अन्यों को बाहरी लोग मानने लगता है। इस भ्रान्ति के कारण उसे कष्ट भोगना पड़ता है। निस्सन्देह, ऐसे मनोभावों का संचय ही सांसारिक दुख और तथाकथित सुख का कारण बनता है। इस प्रकार स्थित होकर बद्धजीव को विभिन्न योनियों में जन्म लेना होता है और विभिन्न चेतनाओं में कर्म करना पड़ता है, जिससे नवीन शरीरों की उत्पत्ति होती है। यह सतत भौतिक जीवन संसार कहलाता है। जन्म, मृत्यु, शोक, मूर्खता तथा चिन्ता—ये सब ऐसे भौतिक विचारों के कारण होते हैं। इस तरह हम कभी उचित ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो कभी जीवन की भ्रान्त धारणा के पुन: शिकार बनते हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत ॥ २७॥

शब्दार्थ

अत्र—इस प्रसंग में; अपि—निस्सन्देह; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—यह; इतिहासम्—इतिहास; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; यमस्य—यमराज का, जो मृत्यु का अधीक्षक है और मृत्यु के पश्चात् निर्णय सुनाता है; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत मनुष्य के मित्रों की; संवादम्—बातचीत; तम्—उसको; निबोधत—समझने का प्रयास करो।

इस प्रसंग में प्राचीन इतिहास से एक उदाहरण दिया गया है। इसमें यमराज तथा मृत व्यक्ति के मित्रों के मध्य की वार्ता निहित है। कृपया इसे ध्यानपूर्वक सुनिये।

तात्पर्य : *इतिहास-पुरातनम्* का अर्थ है ''प्राचीन इतिहास''। यद्यपि पुराणों में तिथिक्रम से वर्णन नहीं मिलते, किन्तु इनमें वर्णित घटनाएँ विगत युगों की वास्तविक कथाएँ हैं। *श्रीमद्भागवत महापुराण* है अर्थात् यह समस्त पुराणों का सार है। मायावादी पुराणों को नहीं मानते, किन्तु श्रील मध्वाचार्य तथा अन्य अधिकारी विद्वान इन्हें विश्व के प्रामाणिक इतिहासों के रूप में स्वीकार करते हैं।

उशीनरेष्वभूद्राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः ।
सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

उशीनरेषु—उशीनर नामक राज्य में; अभूत्—था; राजा—एक राजा; सुयज्ञः—सुयज्ञ; इति—इस प्रकार; विश्रुतः—प्रसिद्ध; सपत्नैः—शत्रुओं द्वारा; निहतः—मारा गया; युद्धे—युद्ध में; ज्ञातयः—सम्बन्धी जन; तम्—उसके; उपासत—चारों ओर बैठ गए।

उशीनर नामक राज्य में सुयज्ञ नाम का एक विख्यात राजा था। जब यह राजा युद्ध में शत्रुओं द्वारा मार डाला गया तो उसके सम्बन्धी मृत शरीर को घेर कर बैठ गये और उस मित्र की मृत्यु पर शोक प्रकट करने लगे।

विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम् ।
शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥ २९ ॥
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम् ।
रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥ ३० ॥
उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं
पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः ।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं
घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

विशीर्ण—इधर-उधर बिखरे; रत्न—रत्नों से बना; कवचम्—सुरक्षा कवच; विभ्रष्ट—गिरा हुआ; आभरण—आभूषण; स्रजम्—मालाएँ; शर-निर्भिन्न—बाणों से बिंधा; हृदयम्—हृदय को; शयानम्—लेटा हुआ; असृक्-आविलम्—रक्तरंजित; प्रकीर्ण-केशम्—बिखरे हुए बाल को; ध्वस्त-अक्षम्—धँसी हुई आँख को; रभसा—क्रोध से; दष्ट—काटा हुआ; दच्छदम्—उसके होंठ को; रजः-कुण्ठ—धूल से ढका; मुख-अम्भोजम्—उसके कमल जैसे मुख को; छिन्न—कटे हुए; आयुध-भुजम्—उसके हथियार तथा बाहों को; मृधे—युद्धस्थल में; उशीनर-इन्द्रम्—उशीनर राज्य के स्वामी को; विधिना—विधाता से; तथा—इस तरह; कृतम्—इस दशा को प्राप्त; पतिम्—पति को; महिष्यः—रानियाँ; प्रसमीक्ष्य—देखकर; दुःखिताः—अत्यन्त दुखी; हताः—मारी गयी; स्म—निश्चय ही; नाथ—हे स्वामी; इति—इस प्रकार; करैः—हाथों से; उरः—वक्षस्थल; भृशम्—निरन्तर; घ्नन्त्यः—पीटती हुई; मुहुः—बारम्बार; तत्-पदयोः—राजा के चरणों पर; उपापतन्—गिर पड़ीं।

वध किया हुआ राजा युद्धस्थल में लेटा था। उसका सुनहला रत्नजटित कवच छिन्न-भिन्न हो गया था, उसके आभूषण तथा वस्त्र अपने-अपने स्थान से विलग हो चुके थे, उसके बाल बिखर गये थे और उसकी आँखें कान्तिहीन हो चुकी थीं, उसका सारा शरीर रक्त से सना था और उसका हृदय शत्रु के बाणों से बिंधा था। उसने मरते समय अपना शौर्य दिखाना चाहा, अतएव उसके होंठ दाँतों से भिंच गये थे और दाँत उस स्थिति में थे। उसका कमल सदृश सुन्दर मुख अब काला पड़ गया था और युद्धभूमि की धूल से भरा था। तलवार तथा अन्य हथियारों से युक्त उसकी भुजाएं कटकर टूट चुकी थी। जब उशीनर के राजा की रानियों ने अपने पति को इस स्थिति में पड़े देखा तो वे रोने लगीं—''हे नाथ, तुम्हारे मारे जाने से हम भी मारी जा चुकी हैं।'' इन शब्दों को टेर-टेर कर वे अपनी छाती पीट-पीट कर मृत राजा के चरणों पर गिर पड़ीं।

तात्पर्य : जैसाकि कहा गया है *रभसा दष्टदच्छदम्*—युद्ध के समय राजा क्रुद्ध था, उसने अपना पराक्रम दिखाने के लिए अपने होंठ काटे तो भी वह विधिवश (*विधिना*) मारा गया। इससे सिद्ध होता है कि हम उच्चतर शक्तियों द्वारा नियंत्रित हैं; हमारी निजी शक्ति या प्रयास सदैव श्रेष्ठ नहीं रह पाता। हमें परमेश्वर द्वारा प्रदत्त स्थिति स्वीकार करनी चाहिए।

रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं
सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः ।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां
सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥ ३२॥

शब्दार्थ

रुदत्यः—रोती हुई; उच्चैः—जोर-जोर से; दयित—अपने प्रिय पति के; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमलों को; सिञ्चन्त्यः—भिगोती हुई; अस्रैः—आँसुओं से; कुच-कुङ्कुम-अरुणैः—जो उसके वक्षस्थलों में लगे कुमकुम के कारण लाल हो रहे थे; विस्रस्त—बिखरे; केश—बाल; आभरणाः—तथा आभूषण; शुचम्—शोक; नृणाम्—सामान्य लोगों का; सृजन्त्यः—उत्पन्न करते हुए; आक्रन्दनया—अत्यन्त करुणापूर्वक रो करके; विलेपिरे—शोक करने लगीं।

रानियों के उच्च स्वर में रोने पर उनके आँसू वक्षस्थल पर लुढ़क आये जहाँ वे कुमकुम चूर्ण से लाल होकर फिर उनके पति के चरणकमलों पर गिर पड़े। उनके केश बिखर गये, उनके आभूषण गिर गये और अन्यों के हृदय से सहानुभूति जगाती हुई रानियाँ अपने पति की मृत्यु पर शोक करने लगीं।

अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो
भवान्प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा
कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; विधात्रा—विधाता द्वारा; अकरुणेन—अत्यन्त निर्दय; नः—हमारा; प्रभो—हे स्वामी; भवान्—आप; प्रणीतः—छीना गया; दृक्—दृष्टि की; अगोचराम्—सीमा के बाहर; दशाम्—अवस्था को; उशीनराणाम्—उशीनर राज्य के वासियों को; असि—था; वृत्ति-दः—जीविका देने वाला; पुरा—पहले; कृतः—समाप्त; अधुना—अब; येन—जिससे; शुचाम्—शोक को; विवर्धनः—बढ़ाते हुए।

हे नाथ, अब आप क्रूर विधाता द्वारा हमारी दृष्टि से ओझल कर लिये गये हैं। इसके पूर्व आप उशीनर के निवासियों को जीविका प्रदान करते थे जिससे वे सुखी थे, किन्तु अब आपकी दशा उनके दुख का कारण बनी है।

त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते
कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः
शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम; कृतज्ञेन—अत्यन्त कृतज्ञ व्यक्ति के; वयम्—हम; मही-पते—हे राजा; कथम्—कैसे; विना—बिना; स्याम—रहेंगी; सुहृत्-तमेन—हमारे मित्रों में श्रेष्ठ; ते—तुम्हारे; तत्र—वहाँ; अनुयानम्—अनुगमन करते हुए; तव—तुम्हारा; वीर—हे वीर पुरुष; पादयोः—चरणकमलों की; शुश्रूषतीनाम्—सेवा में लगे रहने वालों का; दिश—कृपया आज्ञा दें; यत्र—कहाँ; यास्यसि—जाओगे।

हे राजा, हे वीर, आप अत्यन्त कृतज्ञ पति थे और हम सबों के अत्यन्त निष्ठावान् मित्र थे। आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी? हे वीर, आप जहाँ भी जा रहे हैं, कृपा करके हमारा निर्देशन करें जिससे हम आपके पदचिन्हों का अनुसरण कर सकें और पुनः आपकी सेवा कर सकें। हमें भी अपने साथ ले चलें।

तात्पर्य : पुराने जमाने में क्षत्रिय राजा सामान्यतया कई पत्नियों का पति होता था और राजा की

मृत्यु होने पर, विशेषतया युद्धभूमि में मरने पर, सारी रानियाँ पति के साथ *सहमारण* स्वीकार करती थीं, क्योंकि वही उनका जीवन होता था। जब पाण्डवों के पिता पाण्डु महाराज मरे तो उनके दो पत्नियाँ थीं—एक युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन की माता और दूसरी नकुल तथा सहदेव की माता—और वे दोनों ही अपने पति के साथ चिता में जल मरने के लिए तैयार थीं। बाद में ऐसा समझौता हुआ जिससे कुन्ती तो छोटे-छोटे बालकों की रखवाली के लिए जीवित रही और दूसरी पत्नी माद्री को पति के साथ मरने दिया गया। यह सहमारण की प्रथा भारत में ब्रिटिश शासन तक भी चलती रही, किन्तु बाद में इसे हतोत्साहित किया जाने लगा, क्योंकि कलियुग की प्रगति के साथ ही पत्नियों की मनोवृत्ति क्रमशः बदलती गई। इस तरह *सहमारण* की प्रथा एक तरह से उन्मूलित हो चुकी है। तो भी मैंने पचास वर्ष में एक डाक्टर की पत्नी को पति की मृत्यु के तुरन्त बाद स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करते देखा है। पति-पत्नी दोनों को शव-यान में जुलूस के साथ ले जाया गया। पतिव्रता पत्नी का पति के लिए ऐसा प्रखर प्रेम अत्यन्त अनूठा है।

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् ।
अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं सन्न्यवर्तत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; विलपतीनाम्—विलाप करती रानियों का; वै—निस्सन्देह; परिगृह्य—अपनी गोद में लेकर; मृतम्—मृत; पतिम्—पति को; अनिच्छतीनाम्—न चाहती हुए; निर्हारम्—दाह संस्कार के लिए शव को ले जाते हुए; अर्कः—सूर्य; अस्तम्—डूबने के स्थान में; सन्न्यवर्तत—चला गया।

यद्यपि शव-दाह के लिए समय उपयुक्त था लेकिन रानियाँ शव को अपनी गोद में लिए हुए विलाप करती रहीं और उन्होंने शव को ले जाने की अनुमति नहीं दी। तभी सूर्य पश्चिम दिशा में अस्त हो गया।

तात्पर्य : वैदिक प्रथा के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दिन में मरता है, तो उसका दाह-संस्कार सूर्यास्त के पूर्व हो जाना चाहिए, चाहे उसे जलाया जाये या गाड़ा जाये। यदि वह रात्रि के समय मरता है, तो अगले दिन प्रातःकाल दाह-कर्म पूरा किया जाता है। ऐसा लगता है कि रानियाँ मृत शरीर के लिए, जो लोष्ठवत् था, शोक करती रहीं और उन्होंने उसे जलाने के लिए नहीं दिया। इससे मूर्ख व्यक्तियों में व्याप्त मोह का प्रबल बन्धन स्पष्ट होता है, क्योंकि वे शरीर को आत्मा मानते हैं। सामान्यतया स्त्रियाँ कम बुद्धिमान मानी जाती हैं। केवल अज्ञानवश ही रानियाँ मृत शरीर को पति मान

रही थीं और किसी न किसी कारण सोच रही थीं कि यदि शरीर रह जाए तो उनका पति उनके साथ रहता रहेगा। ऐसी धारणा निश्चय ही गोखर अर्थात् गायों तथा गधों के लिए होती है। हमने वास्तव में देखा है कि कभी-कभी जब गाय का बछड़ा मर जाता है, तो ग्वाले उस बछड़े के मृत शरीर को मढ़ा कर गाय के समक्ष प्रस्तुत करके उसे धोखा देते हैं। इस तरह वह गाय जो वैसे दूध नहीं दुहने देती बछड़े के मृत शरीर को चाटती है और दूध दुहने देती है। इससे शास्त्र के वर्णन की पुष्टि होती है कि मूर्ख मनुष्य देहात्मबुद्धि के कारण गाय के समान होता है। न केवल मूर्ख व्यक्ति तथा स्त्रियाँ शरीर को आत्मा मानती हैं, अपितु हमने देखा है कि एक तथाकथित योगी का शव उसके शिष्यों द्वारा कई दिनों तक रखा रहने दिया गया, क्योंकि वे सोच रहे थे कि उनके गुरु समाधि में हैं। जब शरीर सड़ने लगा और दुर्गन्ध आने लगी तब कहीं जाकर शिष्यों ने तथाकथित योगी के शरीर को जलाने दिया। इस प्रकार मूर्ख व्यक्तियों में देहात्मबुद्धि अत्यन्त प्रबल होती है जिनकी तुलना गायों तथा गधों से की जाती है। आजकल बड़े-बड़े वैज्ञानिक मृत शरीरों को प्रशीतित करने के फेर में हैं जिससे भविष्य में इन प्रशीतित शरीरों को पुन: जिन्दा किया जा सके। हिरण्यकशिपु द्वारा वर्णित यह ऐतिहासिक वृत्तान्त लाखों वर्ष पूर्व घटित हुआ होगा, क्योंकि वह लाखों वर्ष पूर्व जीवित था और तब भी वह इतिहास का उदाहरण दे रहा था। अत: यह घटना हिरण्यकशिपु के जीवन काल से पहले हुई होगी, किन्तु देहात्मबुद्धि की वही अविद्या आज भी न केवल अज्ञों में अपितु वैज्ञानिकों में भी व्याप्त है, जो हिमशीतित शवों को पुनरुज्जीवित करने की बात सोचते हैं।

ऐसा लगता है कि रानियाँ शव को जलाने के लिए इसलिए नहीं दे रही थीं, क्योंकि वे अपने पति के शव के साथ मरने से डर रही थीं।

तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् ।
आह तान्बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; ह—निश्चय ही; प्रेत-बन्धूनाम्—मृत राजा के मित्रों तथा सम्बन्धियों के; आश्रुत्य—सुनकर; परिदेवितम्—तीव्र विलाप (जो यमराज के लोक से भी सुना जा सकता था); आह—कहा; तान्—उनसे (शोकसन्तप्त रानियों से); बालकः—एक लड़का; भूत्वा—बन कर; यमः—मृत्यु के अधीक्षक यमराज ने; स्वयम्—साक्षात्; उपागतः—आकर।

जब रानियाँ राजा के मृत शरीर के लिए विलाप कर रही थीं तो उनका तीव्र विलाप यमलोक तक में सुनाई पड़ रहा था। अतएव बालक का रूप धारण करके यमराज मृतक के सम्बन्धियों

के निकट पहुँचे और उन्हें इस प्रकार से उपदेश दिया।

तात्पर्य : कभी-कभी जीव को अपना शरीर त्याग कर यमराज के निर्णय के अनुसार दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। किन्तु बद्धजीव के लिए दूसरे शरीर में प्रवेश करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक मृत शरीर को दाह संस्कार द्वारा या अन्य किसी साधन से विनष्ट न कर दिया जाये। जीव को वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति होती है और वह दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं करना चाहता, अतएव तब तक वह प्रेत बनकर रहता है। यदि मरा हुआ व्यक्ति पुण्यात्मा होता है, तो यमराज उसे मुक्त करने के उद्देश्य से दूसरा शरीर प्रदान करते हैं। चूँकि राजा के शरीर के जीव को उसके शरीर से आसक्ति थी, अतएव वह प्रेत बनकर मँडरा रहा था और इसीसे यमराज विशेष रूप से शोकमग्न सम्बन्धियों को स्वयं उपदेश देने के लिए उनके पास गये। यमराज उनके पास बालक-वेश में गये, क्योंकि बालक को कहीं भी जाने की छूट रहती है, यहाँ तक कि राजमहल में भी। इसके अतिरिक्त यह बालक दर्शन की बातें कर रहा था। जब कोई बालक दर्शन की बातें करता है, तो लोग सुनने में बड़ी रुचि लेते हैं।

श्रीयम उवाच
अहो अमीषां वयसाधिकानां
विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं
स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

श्री-यमः उवाच—श्री यमराज ने कहा; अहो—ओह; अमीषाम्—इनका; वयसा—उम्र से; अधिकानाम्—जिनकी आयु अधिक है, उनका; विपश्यताम्—प्रति दिन देखते हुए; लोक-विधिम्—प्रकृति के नियम को (कि हर कोई मरता है); विमोहः—मोह; यत्र—जहाँ से; आगतः—आया हुआ; तत्र—वहाँ; गतम्—लौटा हुआ; मनुष्यम्—मनुष्य; स्वयम्—स्वयं; स-धर्माः—स्वभाव में समान (मरने के लिए उद्यत); अपि—यद्यपि; शोचन्ति—विलाप करते हैं; अपार्थम्—व्यर्थ ही।

श्री यमराज ने कहा—ओह! यह कितना आश्चर्यजनक है। ये लोग, जो मुझसे वय में बड़े हैं उन्हें अच्छी तरह अनुभव है कि सैकड़ों हजारों जीव जन्म लेते और मरते हैं। इस तरह उन्हें समझना चाहिए कि उन्हें भी मरना है, तो भी वे मोहग्रस्त रहते हैं। बद्धजीव अज्ञात स्थान से आते हैं और मृत्यु के बाद उसी अज्ञात स्थान को लौट जाते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं मिलता तो यह जानते हुए भी वे व्यर्थ शोक क्यों करते हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.२८) में भगवान् कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

''सारे सृजित जीव प्रारम्भ में अप्रकट रहते हैं, बीच में प्रकट होते हैं और विनष्ट होने पर पुनः अप्रकट हो जाते हैं। अतएव शोक करने की क्या आवश्यकता है?''

यह मानते हुए कि दार्शनिकों की दो श्रेणियाँ हैं जिनमें से एक आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करता है और दूसरी नहीं करती, इन दोनों ही दशाओं में शोक करने का कोई कारण नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अनुयायी आत्मा के अस्तित्व पर न विश्वास करने वालों को नास्तिक कहते हैं। फिर भी यदि हम तर्क के लिए नास्तिकवाद सिद्धान्त को मान लें तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं होता। आत्मा के पृथक् अस्तित्व के अलावा सृष्टि के पूर्व भौतिक तत्त्व अव्यक्त रहते हैं। किन्तु अव्यक्तता की इस सूक्ष्म दशा से ही व्यक्तता आती है, जिस तरह शून्य से वायु उत्पन्न होती है, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। पृथ्वी से अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उदाहरणार्थ, एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद पृथ्वी से प्रकट होता है। इसे ध्वस्त कर देने पर वह पुनः अप्रकट हो जाता है और अन्ततः परमाणुओं के रूप में रह आता है। ऊर्जा के संरक्षण का नियम बना रहता है, किन्तु कालक्रम में वस्तुएँ प्रकट तथा अप्रकट होती रहती हैं—यह अन्तर है। तो प्रकट होने या अप्रकट होने पर शोक करने का क्या लाभ है? अप्रकट अवस्था में भी वस्तुएँ खोती नहीं। प्रारम्भ में तथा अन्त में इन दोनों ही अवस्थाओं में सारे तत्त्व अव्यक्त रहते हैं और इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

यदि हम *भगवद्गीता* में दिये गये वैदिक निर्णय को स्वीकार करें (*अन्तवन्त इमे देहाः*) कि ये भौतिक शरीर कालक्रम से विनष्ट हो जाएँगे (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*) किन्तु आत्मा नित्य है, तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि यह शरीर वस्त्र की भाँति हैं; तो फिर वस्त्र-परिवर्तन के लिए शोक कैसा? नित्य आत्मा के आगे भौतिक शरीर का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। यह स्वप्न जैसा है। स्वप्न में हम आकाश में उड़ते या राजा की तरह रथ में आसीन हो सकते हैं, किन्तु जगने पर हम अपने को न तो आकाश में उड़ते, न रथ पर आसीन पाते हैं। वैदिक वाङ्मय भौतिक देह के अनस्तित्व के आधार पर आत्म-साक्षात्कार पर बल देता है। अतएव दोनों ही तरह से, चाहे कोई आत्मा के अस्तित्व को

मानता हो या न मानता हो, शरीर की क्षति के लिए शोक करना व्यर्थ है।

महाभारत में कहा गया है—*अदर्शनाद् इहायात: पुनश्चादर्शनं गत: ।* इस कथन से नास्तिक विज्ञानियों के सिद्धान्त का समर्थन होता है कि माता के गर्भ में शिशु के प्राण नहीं होते और वह एक पिंड जैसा रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि शल्यक्रिया द्वारा किसी पदार्थ के पिंड को बाहर निकाल लिया जाये (गर्भपात कराया जाये) तो जीव की हत्या नहीं होती। शिशु का शरीर तो ट्यूमर (अर्बुद) की भाँति होता है और यदि इस ट्यूमर को शल्यक्रिया द्वारा काट कर निकाल लिया जाये और फेंक दिया जाए तो इसमें कोई पाप नहीं होता। यही तर्क राजा तथा रानियों के प्रसंग में भी दिया जा सकता है। राजा का शरीर अव्यक्त स्रोत से व्यक्त हुआ था और अब वह व्यक्त से अव्यक्त अवस्था को प्राप्त हो गया था। चूँकि व्यक्तता (अभिव्यक्ति) केवल दो अव्यक्तताओं के मध्य में विद्यमान रहती है, तो फिर कोई इस अन्तराल में प्रकट हुए शरीर के लिए क्यों रोए?

अहो वयं धन्यतमा यदत्र
त्यक्ता: पितृभ्यां न विचिन्तयाम: ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभि:
स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; वयम्—हम सब; धन्य-तमा:—अत्यन्त भाग्यशाली; यत्—क्योंकि; अत्र—इस समय; त्यक्ता:—असुरक्षित, अकेले छोड़ी हुई; पितृभ्याम्—पिता तथा माता दोनों के द्वारा; न—नहीं; विचिन्तयाम:—चिन्ता करते; अभक्ष्यमाणा:—न खाई जाकर; अबला:—अत्यन्त निर्बल; वृक-आदिभि:—भेड़िया तथा अन्य हिंस्र पशुओं द्वारा; स:—वह (भगवान्); रक्षिता—रक्षा करेगा; रक्षति—रक्षा कर चुका है; य:—जो; हि—निश्चय ही; गर्भे—गर्भ के भीतर।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि इन वयोवृद्ध महिलाओं को हमारे जैसा भी उच्चतर जीवन-बोध नहीं है! निस्सन्देह, हम अत्यन्त भाग्यशाली हैं, क्योंकि यद्यपि हम बालक हैं और अपने माता-पिता के द्वारा जीवन-संघर्ष करने के लिए असुरक्षित छोड़ दिये गये हैं और यद्यपि हम अत्यन्त निर्बल हैं, तो भी हिंस्र पशुओं ने न तो हमें खाया, न विनष्ट किया। इस तरह हमें दृढ़ विश्वास है कि जिस भगवान् ने हमें माता के गर्भ में भी सुरक्षा प्रदान की है वे ही हमारी सर्वत्र रक्षा करते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार भगवान् सबों की रक्षा करते हैं और उनकी

इच्छानुसार भोगने के लिए जीव को विभिन्न शरीर प्रदान करते हैं। सब कुछ भगवान् के आदेश से होता है अतएव हमें जीव के जन्म तथा मृत्यु के लिए शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये भगवान् द्वारा नियोजित होते हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। मनुष्य को चाहिए कि हृदय में स्थित भगवान् की आज्ञानुसार ही कर्म करे। किन्तु जीव स्वतंत्र होकर कर्म करना चाहता है, अतएव भगवान् उसे कर्म करने तथा फलों का अनुभव करने की सुविधा देते रहते हैं। भगवान् कहते हैं *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"अन्य समस्त कर्तव्यों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।" जो भगवान् के आदेशों का पालन नहीं करता उसे इस भौतिक जगत का भोग करने की सुविधा दे दी जाती है। भगवान् बद्धजीव को रोकने के बजाय भोग करने का अवसर प्रदान करते हैं जिससे परिपक्व अनुभव होने पर अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद (*बहूनां जन्मनामन्ते*) वह यह समझे कि वासुदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना ही सारे जीवों का एकमात्र कर्तव्य है।

य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो
य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितु-
श्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इच्छया—उसकी इच्छा से (किसी के द्वारा बाध्य होकर नहीं); ईशः—परम नियन्ता; सृजति—उत्पन्न करता है; इदम्—इस (भौतिक जगत) को; अव्ययः—यथारूप में रहकर (इतनी सारी भौतिक सृष्टियों को उत्पन्न करने के कारण अपने अस्तित्व को खोये बिना); यः—जो; एव—निस्सन्देह; रक्षति—पालन करता है; अवलुम्पते—संहार करता है; च—भी; यः—जो; तस्य—उसका; अबलाः—हे दीन स्त्रियों; क्रीडनम्—खेल; आहुः—वे कहते हैं; ईशितुः—भगवान् का; चर-अचरम्—चर तथा अचर; निग्रह—विनाश में; सङ्ग्रहे—या रक्षा में; प्रभुः—पूर्ण समर्थ।

उस बालक ने स्त्रियों को सम्बोधित किया: हे अबलाओ, उस अविनाशी भगवान् की इच्छा से सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन और संहार होता है। यह वेदों का निर्णय है। चर तथा अचर से युक्त यह भौतिक सृष्टि उनके खिलौने के समान है। परमेश्वर होने के कारण वे इसको विनष्ट करने तथा इसकी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में रानियाँ तर्क कर सकती हैं "यदि भगवान् ने हमारे पति की रक्षा गर्भ में की

थी तो अब वे क्यों नहीं कर रहे?" इस प्रश्न का उत्तर यह है *य इच्छयेश: सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च य:*। कोई भगवान् के कार्यों की आलोचना नहीं कर सकता। भगवान् सदैव स्वतंत्र हैं, अतएव वे रक्षा कर सकते हैं और संहार भी कर सकते हैं। वे हमारे आदेशवाहक (बैरा) नहीं हैं। जो उन्हें रुचता है वे वही करते हैं। अतएव वे परमेश्वर हैं। भगवान् इस संसार का सृजन किसी के अनुरोध पर नहीं करते, अतएव वे अपनी इच्छा मात्र से समस्त वस्तुओं का संहार कर सकते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। यदि कोई तर्क करता है कि "वे इस तरह क्यों करते हैं?" तो इसका उत्तर यही है कि वे ऐसा इसलिए कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। कोई उनके कार्यकलापों के प्रति आपत्ति नहीं कर सकता। यदि कोई तर्क करता है कि "इस पापपूर्ण सृष्टि तथा संसार का क्या प्रयोजन है?" तो इसका उत्तर यह है कि वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध करने के लिए कुछ भी कर सकते हैं और कोई उनसे पूछ नहीं सकता। यदि उन्हें इसका उत्तर देना होता कि वे ऐसा क्यों करते हैं और ऐसा क्यों नहीं करते हैं, तो उनकी सर्वश्रेष्ठता में बट्टा लगता।

पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं
गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने
गृहेऽभिगुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पथि—रास्ते में; च्युतम्—गिरा हुआ, अधिकार से वंचित; तिष्ठति—बना रहता है; दिष्ट-रक्षितम्—भाग्य द्वारा रक्षित; गृहे—घर में; स्थितम्—यद्यपि स्थित; तत्-विहतम्—परमेश्वर की इच्छा से मारा गया; विनश्यति—नष्ट हो जाता है; जीवति—जीवित रहता है; अनाथ: अपि—बिना रक्षक के भी; तत्-ईक्षित:—भगवान् द्वारा रक्षित होकर; वने—जगंल में; गृहे—घर में; अभिगुप्त:—पूरी तरह गुप्त तथा रक्षित; अस्य—इसका; हत:—मारा गया; न—नहीं; जीवति—बचता है।

कभी-कभी मनुष्य अपना धन सड़क पर खो देता है जहाँ सभी उसे देख सकते हैं; फिर भी यह धन भाग्यवश सुरक्षित पड़ा रहता है और इसे कोई नहीं देख पाता। इस तरह जिस व्यक्ति ने इस धन को खोया था, उसे यह वापस मिल जाता है। दूसरी ओर, यदि भगवान् सुरक्षा प्रदान नहीं करते तो घर में अत्यन्त सुरक्षित ढंग से रखा होने पर भी यह धन खो जाता है। यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो उसका कोई रक्षक न होते हुए भी तथा जंगल में रहते हुए भी वह जीवित रहता है जब कि घर पर सम्बन्धियों तथा अन्यों से रक्षित होते हुए भी मनुष्य कभी-कभी मर जाता है; कोई उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

तात्पर्य : ये भगवान् की श्रेष्ठता के उदाहरण हैं। रक्षा करने या संहार करने की हमारी योजनाएँ सफल नहीं होतीं, किन्तु भगवान् जो भी करने की सोच लेते हैं वह सचमुच होकर रहता है। इस प्रसंग में दिये गये उदाहरण व्यावहारिक हैं। हर एक को ऐसे अनुभव हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्पष्ट उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, प्रह्लाद महाराज ने कहा कि सचमुच ही बालक अपने माता-पिता पर आश्रित रहता है, किन्तु उनके होते हुए भी बालक को अनेक यातनाएँ सहनी होती हैं। कभी-कभी अच्छी से अच्छी दवा एवं अनुभवी वैद्य के होते हुए भी रोगी बच नहीं पाता। चूँकि सब कुछ भगवान् की मुक्त इच्छा (मर्जी) पर निर्भर है, अतएव हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम उनकी शरण में जाएं और उनका आश्रय खोजें।

भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभि-
र्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थित-
स्तस्या गुणैरन्यतमो हि बध्यते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भूतानि—जीवों के समस्त शरीर; तैः तैः—अपने अपने; निज-योनि—अपने शरीर उत्पन्न करके; कर्मभिः—पूर्व कर्मों के द्वारा; भवन्ति—प्रकट होते हैं; काले—काल क्रम से; न भवन्ति—अदृश्य होते हैं; सर्वशः—सभी तरह से; न—नहीं; तत्र—वहाँ; ह—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—इस भौतिक जगत के भीतर; अपि—यद्यपि; स्थितः—स्थित; तस्याः—उस (भौतिक शक्ति) के; गुणैः—विभिन्न गुणों के द्वारा; अन्य-तमः—अत्यन्त भिन्न; हि—निस्सन्देह; बध्यते—बाँधा जाता है।

प्रत्येक बद्धजीव अपने कर्म के अनुसार भिन्न प्रकार का शरीर पाता है और जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है, तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि आत्मा विभिन्न योनियों में विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों में स्थित रहता है, किन्तु वह उनसे बँधा नहीं रहता, क्योंकि वह व्यक्त शरीर से सदा-सदा पूर्णतया भिन्न माना जाता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जीव द्वारा विभिन्न शरीर धारण किये जाने के लिये ईश्वर जिम्मेदार नहीं है। जीव को प्रकृति के नियमों तथा अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करना होता है। अतएव वैदिक आदेश है कि भौतिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों को ऐसे निर्देश दिये जाँय जिससे वह अपने कार्यों को भगवान् की सेवा में लगा सके और बारम्बार जन्म-मरण के भव-बन्धन से छूट सके (*स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः*)। भगवान् तो सदा ही निर्देश देने के लिए तत्पर रहते हैं। निसन्देह, उनके निर्देश *भगवद्गीता* में विस्तार से दिये हुए हैं। यदि हम इन निर्देशों का

लाभ उठाएँ तो प्रकृति के नियमों से बद्ध रह कर भी हम अपनी मूल स्थिति प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र हो सकेंगे (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। हमें दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं और यदि हम उनकी शरण ग्रहण करें तो वे हमारी जिम्मेदारी ले कर हमें बता सकेंगे कि किस तरह भौतिक जीवन से छूट कर हम भगवद्धाम को वापस जा सकते हैं। ऐसी शरणागति के बिना मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार शरीर-विशेष धारण करना पड़ता है—कभी पशु का तो कभी देवता का आदि आदि। यद्यपि शरीर यथासमय मिलता और विनष्ट होता है, किन्तु आत्मा वास्तव में शरीर में मिलता नहीं, अपितु उस गुण-विशेष के वशीभूत होता है, जिससे वह पापपूर्ण ढंग से जुड़ा रहता है। आध्यात्मिक शिक्षा से मनुष्य की चेतना बदल जाती है, जिससे वह भगवान् की आज्ञाओं का पालन करता है और प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं
यथा पृथग्भौतिकमीयते गृहम् ।
यथौदकै: पार्थिवतैजसैर्जन:
कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

इदम्—इस; शरीरम्—शरीर को; पुरुषस्य—बद्धजीव का; मोह-जम्—अविद्या से उत्पन्न; यथा—जिस तरह; पृथक्—भिन्न; भौतिकम्—भौतिक; ईयते—देखा जाता है; गृहम्—घर को; यथा—जिस तरह; उदकै:—जल से; पार्थिव—पृथ्वी से; तैजसै:—तथा अग्नि से; जन:—बद्धजीव; कालेन—काल द्वारा; जात:—उत्पन्न; विकृत:—रूपान्तरित; विनश्यति—नष्ट हो जाता है।.

जिस प्रकार एक गृहस्वामी अपने घर से पृथक् होते हुए भी अपने घर को अपने से अभिन्न मानता है उसी प्रकार अज्ञानवश बद्धजीव इस शरीर को आत्मा मान बैठता है, यद्यपि शरीर आत्मा से वास्तव में भिन्न है। यह शरीर पृथ्वी, जल तथा अग्नि के अंशों के संयोग से प्राप्त होता है और जब वे कालक्रम में रूपान्तरित हो जाते हैं, तो शरीर विनष्ट हो जाता है। आत्मा को शरीर के इस सृजन तथा विलय से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

तात्पर्य : हम एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तर करते हैं। ये शरीर हमारे मोह से जन्य हैं, किन्तु आत्माएँ भौतिक बद्ध जीवन से पृथक् विद्यमान हैं। यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि घर या मोटरकार उसके स्वामी से सदा पृथक् होती हैं, किन्तु बद्धजीव आसक्ति के कारण उसे अपने से अभिन्न मानता है। मोटरकार या घर वास्तव में भौतिक तत्त्वों से बना होता है। जब तक भौतिक तत्त्व सही ढंग

से मिले रहते हैं, तो मोटरकार या घर का अस्तित्व रहता है, किन्तु उनके विलग होते ही घर या मोटरकार भी ध्वस्त हो जाती है। किन्तु आत्मा तो सदैव जैसे का तैसा बना रहता है।

यथानलो दारुषु भिन्न ईयते
यथानिलो देहगतः पृथक्स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते
तथा पुमान्सर्वगुणाश्रयः परः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; अनलः—आग; दारुषु—काष्ठ में; भिन्नः—पृथक्; ईयते—देखी जाती है; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; देह-गतः—शरीर के भीतर; पृथक्—विलग; स्थितः—स्थित; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; सर्व-गतम्—सर्वव्यापक; न—नहीं; सज्जते—मिलता है, लिप्त होता है; तथा—उसी प्रकार; पुमान्—जीव; सर्व-गुण-आश्रयः—यद्यपि प्रकृति के सभी गुणों का आश्रय; परः—भौतिक कल्मष से परे।

जिस तरह अग्नि काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु वह काष्ठ से भिन्न समझी जाती है, जिस तरह वायु मुँह तथा नथुनों के भीतर स्थित रहती है, किन्तु उनसे पृथक् मानी जाती है और जिस तरह आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता उसी तरह जीव भी, जो भले ही इस समय भौतिक शरीर में बन्दी है, उस शरीर का स्त्रोत होते हुए भी उससे पृथक् है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् ने बताया है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही शक्तियाँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं। भौतिक शक्ति को *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा*—भगवान् की आठ पृथक् शक्तियाँ कहा गया है। यद्यपि आठ स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक शक्तियाँ हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, *भिन्ना* अर्थात् भगवान् से पृथक् कही गई हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसी हैं नहीं। जिस प्रकार अग्नि काष्ठ से पृथक् प्रतीत होती है और जिस तरह नथनों तथा मुँह में से होकर निकलने वाली वायु शरीर से भिन्न लगती है उसी तरह परमात्मा जीव से भिन्न लगता है, किन्तु एक ही साथ वह भिन्न तथा अभिन्न होता है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* का दर्शन है। कर्मफलों के अनुसार प्राणी भगवान् से पृथक् प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध होता है। फलस्वरूप भले ही इस समय हम भगवान् द्वारा उपेक्षित लगें, लेकिन वास्तव में वे हमारे कार्यकलापों के प्रति सदैव सजग रहते हैं। अतएव प्रत्येक परिस्थिति में हमें भगवान् की श्रेष्ठता पर ही आश्रित रहना चाहिए और उनके साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। हमें भगवान् की सत्ता तथा नियंत्रण पर आश्रित रहना चाहिए।

सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ ।
यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

सुयज्ञः—सुयज्ञ नामक राजा; ननु—निस्सन्देह; अयम्—यह; शेते—लेटा है; मूढाः—हे मूर्ख जनो; यम्—जिसको; अनुशोचथ—रोदन करते हो; यः—जो; श्रोता—सुनने वाला; यः—जो; अनुवक्ता—बोलने वाला; इह—इस संसार में; सः—वह; न—नहीं; दृश्येत—दृष्टिगोचर है; कर्हिचित्—किसी भी समय।.

यमराज ने आगे कहा : हे शोक करने वालो, तुम सारे के सारे मूर्ख हो। तुम जिस सुयज्ञ नाम व्यक्ति के लिए शोक कर रहे हो वह तुम्हारे समक्ष अब भी लेटा है। वह कहीं नहीं गया। तो फिर तुम्हारे शोक का क्या कारण है? पहले वह तुम्हारी बातें सुनता था और उत्तर देता था, किन्तु तुम लोग अब उसे न पाकर शोक कर रहे हो। यह विरोधमूलक आचरण है, क्योंकि तुमने वास्तव में उस व्यक्ति को शरीर के भीतर कभी नहीं देखा था, जो तुम्हें सुनता था और उत्तर देता था। तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुम जिस शरीर को हमेशा देखते आये हो वह तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है।

तात्पर्य : बालक के रूप में यमराज द्वारा दिया गया यह उपदेश सामान्य व्यक्ति की भी समझ में आने वाला है। जो सामान्य व्यक्ति शरीर को आत्मा मान लेता है, वह निश्चय ही पशु सदृश है (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः*) लेकिन एक सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है कि मृत्यु के बाद मनुष्य चला जाता है। यद्यपि शरीर वही पड़ा रहता है, किन्तु मृत व्यक्ति के सम्बन्धी शोक करते हैं कि वह चला गया है क्योंकि सामान्य व्यक्ति शरीर को तो देखता है, किन्तु आत्मा को नहीं देखता। जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन हुआ—*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*—शरीर का मालिक आत्मा भीतर रहता है। मृत्यु के बाद जब श्वास नथुनों के भीतर जानी बन्द हो जाती है, तो लोग समझ सकते हैं कि शरीर के भीतर जो व्यक्ति अभी तक सुन कर उत्तर दे रहा था अब चला गया है। अतएव वास्तव में सामान्य व्यक्ति यह निष्कर्ष निकालता है कि आत्मा शरीर से सचमुच भिन्न था और अब चला गया है। इस प्रकार एक सामान्य व्यक्ति भी अपने होश में रह कर यह जान सकता है कि जो वास्तविक व्यक्ति शरीर के भीतर था और सुन कर उत्तर दे रहा था वह कभी दिखा नहीं। अतएव जो कभी दिखा न हो, उसके लिए शोक करने की क्या आवश्यकता है?

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः ।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; श्रोता—सुनने वाला; न—नहीं; अनुवक्ता—बोलने वाला; अयम्—यह; मुख्यः—मुख्य, प्रधान; अपि—यद्यपि; अत्र—इस शरीर में; महान्—महान्; असुः—प्राणवायु; यः—जो; तु—लेकिन; इह—इस शरीर में; इन्द्रिय-वान्—समस्त इन्द्रियों से युक्त; आत्मा—आत्मा; सः—वह; च—तथा; अन्यः—भिन्न; प्राण-देहयोः—प्राणवायु तथा भौतिक शरीर से।

शरीर में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु प्राण है, किन्तु वह भी न तो श्रोता है और न वक्ता। यहाँ तक कि प्राण से परे आत्मा भी कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वास्तविक निदेशक तो परमात्मा है, जो जीवात्मा के साथ सहयोग करता है। शरीर की गतिविधियों को संचालित करने वाला परमात्मा शरीर तथा प्राण से भिन्न है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती हैं।" यद्यपि आत्मा प्रत्येक शरीर में उपस्थित है (*देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*) किन्तु वह इन्द्रियों, मन इत्यादि के माध्यम से कर्म करने वाला प्रधान पुरुष नहीं है। आत्मा तो परमात्मा के ही सहयोग से कार्य कर सकता है, क्योंकि परमात्मा ही उसे कर्म करने या न करने का निर्देश देता है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। कोई उनकी स्वीकृति के बिना कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि परमात्मा *उपद्रष्टा* तथा *अनुमन्ता* अर्थात् साक्षी तथा अनुमति देने वाला दोनों हैं। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में ध्यान से अध्ययन करता है, वही इस असली ज्ञान को समझ सकता है कि भगवान् ही व्यष्टि आत्मा (जीवात्मा) के समस्त कार्य-कलापों के संचालक एवं उन कार्यों के फलों के नियामक हैं। यद्यपि जीवात्मा में इन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु वह वास्तविक स्वामी नहीं होता, स्वामी तो परमात्मा होता है। फलस्वरूप परमात्मा को हृषीकेश कहा जाता है और परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा को यही सलाह देते हैं कि उनकी शरण ग्रहण करके सुखी बना जाये (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। इस प्रकार वह अमर होकर वैकुण्ठधाम को सकता है जहाँ उसे नित्य, ज्ञान-मय एवं आनन्दमय जीवन की परम सफलता प्राप्त होगी। निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा शरीर के भीतर की वायु से भिन्न है और उसके ऊपर परमात्मा होता है, जो उसको सारी सुविधाएँ प्रदान करता है। जो जीवात्मा परमात्मा के लिए सब कुछ करता है, वह शरीर के भीतर सुखपूर्वक निवास करता है।

भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान्देहानुच्चावचान्विभुः ।
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भूत—पाँच भौतिक तत्त्वों से; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; मनः—तथा मन; लिङ्गान्—लक्षणयुक्त; देहान्—स्थूल शरीरों को; उच्च-अवचान्—उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग को; विभुः—जीवात्मा, जो शरीर तथा इन्द्रियों का स्वामी है; भजति—प्राप्त करता है; उत्सृजति—त्याग देता है; हि—निस्सन्देह; अन्यः—पृथक् होने से; तत्—उस; च—भी; अपि—निस्सन्देह; स्वेन—अपने; तेजसा—उच्च ज्ञान की शक्ति से।

पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा मन—ये सभी मिलकर स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के विभिन्न अंगों का निर्माण करते हैं। जीव अपने भौतिक शरीरों के सम्पर्क में आता है, चाहे ये उच्च हों या निम्न और बाद में अपनी निजी शक्ति से उन्हें त्याग देता है। यह शक्ति जीव की उस निजी शक्ति में देखी जा सकती है, जिससे वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर सकता है।

तात्पर्य : बद्धजीव के ज्ञान होता है और यदि वह स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का पूरा उपयोग जीवन के वास्तविक विकास में करना चाहे तो वह ऐसा कर सकता है। अतएव यहाँ यह कहा गया है कि वह अपनी उच्च बुद्धि से (*स्वेन तेजसा*) सही स्रोत अर्थात् गुरु या आचार्य से प्राप्त श्रेष्ठ ज्ञान की श्रेष्ठ शक्ति से अपने बद्ध जीवन को भौतिक शरीर में छोड़कर भगवद्धाम वापस जा सकता है। किन्तु यदि वह अपने को भौतिक संसार के अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भी कर सकता है। भगवान् इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२५) में इस प्रकार करते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

"जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे; जो भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं, वे ऐसे जीवों के बीच जन्मते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे पूर्वजों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।"

मनुष्य का शरीर मूल्यवान है। कोई चाहे तो इस शरीर का उपयोग उच्च लोक तथा पितृलोक जाने के लिए कर सकता है या वह इसी अधोलोक में रह सकता है। किन्तु यदि वह प्रयत्न करे तो भगवद्धाम वापस जा सकता है। यह शक्ति परमात्मा रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव भगवान् कहते हैं—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—"मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न है।" यदि कोई भगवान् से असली ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो वह बारम्बार शरीर धारण करने के बन्धन से

मुक्त हो सकता है। यदि कोई भगवान् की भक्ति स्वीकार करता है और उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् उसे भगवद्धाम वापस जाने का निर्देश देने के लिए तैयार रहते हैं, किन्तु यदि कोई मूर्खतावश अपने को अंधकार में रखना चाहता है, तो वह भौतिक जीवन में ही रह सकता है।

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत्कर्मनिबन्धनम् ।
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; लिङ्ग-अन्वितः—सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत; हि—निस्सन्देह; आत्मा—आत्मा; तावत्—तब तक; कर्म—सकाम कर्मों का; निबन्धनम्—बन्धन; ततः—उससे; विपर्ययः—उल्टा (धोखे से शरीर को आत्मा मानते हुए); क्लेशः—कष्ट; माया-योगः—बहिरंगा भ्रामक शक्ति के साथ प्रबल सम्बन्ध; अनुवर्तते—पीछा करता है।

जब तक आत्मा मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर द्वारा आवृत रहता है तब तक वह अपने सकाम-कर्मों के फल से बँधा रहता है। इस आवरण के कारण आत्मा भौतिक शक्ति से जुड़ा रहता है। अतएव उसे उसी के अनुसार जन्म-जन्मांतर भौतिक दशाओं एवं विपर्ययों को भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : जीव सूक्ष्म शरीर द्वारा बँधा हुआ है, जिसमें मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार सम्मिलित रहते हैं। अतएव मृत्यु के समय की मानसिक स्थिति अगले शरीर का कारण बनती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.६) में पुष्टि हुई है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय मन उस मानदण्ड को निर्धारित कर देता है, जिससे आत्मा दूसरे प्रकार के शरीर में ले जाया जाता है। यदि जीव मन की आज्ञा का विरोध करता है और मन को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगाता है, तो मन उसे नीचे नहीं गिरा सकता। अतएव सारे मनुष्यों का कर्तव्य है कि मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों में संलग्न रखें (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*)। जब मन कृष्ण के चरणकमलों में लगा रहता है, तो बुद्धि विमल हो जाती है और उसे परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त होती है (*ददामि बुद्धियोगं तम्*)। इस तरह जीव भव-बन्धन से मुक्ति की दिशा में प्रगति करता है। जीवात्मा सकाम कर्म के नियमों के अधीन रहता है, किन्तु परमात्मा इनके प्रभावित नहीं होता। जैसाकि वैदिक *उपनिषद्* में पुष्टि हुई है, परमात्मा तथा जीवात्मा एक शरीर में बैठे हुए दो पक्षियों की तरह हैं। जीवात्मा शारीरिक कर्मों के फल खाकर सुख या दुख भोगता है, लेकिन परमात्मा ऐसे बन्धन से मुक्त होने के कारण साक्षी बना रहता है और जीवात्मा की इच्छानुसार उसे कर्मों की अनुमति देता रहता है।

वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः ।
यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वितथ—व्यर्थ; अभिनिवेशः—धारणा; अयम्—यह; यत्—जो; गुणेषु—प्रकृति के गुणों में; अर्थ—तथ्य के रूप में; दृक्-वचः—देखना तथा बोलना; यथा—जिस तरह; मनोरथः—मानसिक कल्पना (दिवास्वप्न); स्वप्नः—स्वप्न; सर्वम्—सब कुछ; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से उत्पन्न; मृषा—झूठ।

प्रकृति के गुणों तथा उनसे उत्पन्न तथाकथित सुख तथा दुख को वास्तविक रूप से देखना तथा उनके विषय में बातें करना व्यर्थ है। जब दिन में मन विचरता रहता है और मनुष्य अपने को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझने लगता है या जब वह रात में सपने देखता है और अपने को किसी सुन्दरी के साथ रमण करते देखता है, तो ये मात्र मिथ्या स्वप्न होते हैं। इसी प्रकार से भौतिक इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न सुखों तथा दुखों को व्यर्थ समझना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों के कार्यकलापों से प्राप्त होने वाले सुख-दुख वास्तविक नहीं होते। अतएव *भगवद्गीता* ऐसे सुख की बात करती है, जो भौतिक जीवन-बोध से परे हैं (*सुखम् आत्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्*)। जब हमारी इन्द्रियाँ भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाती हैं, तो वे *अतीन्द्रिय* अर्थात् दिव्य इन्द्रियाँ बन जाती हैं और जब ये दिव्य इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लग जाती हैं, तो मनुष्य को असली दिव्य आनन्द प्राप्त हो सकता है। अपने सूक्ष्म मन के मनोरथ द्वारा हम जो भी सुख या दुख निर्माण करते हैं उसमें यथार्थ वास्तविकता नहीं होती, वह मात्र मनोरथ (मानसिक कल्पना) होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि मनोरथ द्वारा तथाकथित सुख की कल्पना न करे। प्रत्युत सबसे अच्छा मार्ग तो यह है कि मन को हृषीकेश की सेवा में लगाया जाये और वास्तविक आनन्दमय जीवन का अनुभव किया जाये।

वैदिक उक्ति है—*अपामसोमममृता अभूम अप्सरोभिर्विहराम।* ऐसी विचारधारा से मनुष्य स्वर्गलोक जाकर युवतियों के साथ भोग करना तथा सोमरस का पान करना चाहता है। किन्तु ऐसे काल्पनिक आनन्द का कोई महत्त्व नहीं है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२३) में पुष्टि की गई है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—अल्प बुद्धि वाले लोग देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को सीमित तथा क्षणिक फल प्राप्त होता है। यदि कोई सकाम कर्म द्वारा या देवताओं की पूजा से इन्द्रियभोग के लिए स्वर्गलोक चला भी जाये तो *भगवद्गीता* द्वारा ऐसे पद को *अन्तवत्* अर्थात् नश्वर बताकर निन्दा की गई

है। जो इस तरह से सुख भोगता है, वह स्वप्न में सुन्दरी का आलिंगन करने जैसा होता है। भले ही कुछ काल के लिए यह सुखकर हो, किन्तु मूलत: यह मिथ्या है। इस जगत में सुख तथा दुख की मानसिक कल्पनाओं की तुलना स्वप्न से की जाती है, क्योंकि वे झूठ होते हैं। भौतिक इन्द्रियों का उपयोग करके सुख प्राप्त करने के सारे विचार मिथ्या आधार-भूमि पर टिके होते हैं अतएव व्यर्थ होते हैं।

अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः ।
नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अथ—**अतएव**; नित्यम्—**शाश्वत आत्मा**; अनित्यम्—**नश्वर भौतिक शरीर**; वा—**अथवा**; न—**नहीं**; इह—**इस संसार में**; शोचन्ति—**शोक करते हैं**; तत्-विदः—**जो शरीर तथा आत्मा के ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं**; न—**नहीं**; अन्यथा—**अन्यथा**; शक्यते—**समर्थ है**; कर्तुम्—**करने के लिए**; स्व-भावः—**प्रकृति**; शोचताम्—**शोक करने वालों का**; इति—**इस प्रकार**।

जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का पूरा-पूरा ज्ञान है, जो यह भलीभाँति जानते हैं कि आत्मा नित्य है किन्तु शरीर नश्वर है, वे शोक द्वारा अभिभूत नहीं होते। किन्तु जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता वे शोक करते हैं। अतएव मोह-ग्रस्त व्यक्ति को शिक्षित कर पाना कठिन है।

तात्पर्य : *मीमांसा* दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु *नित्य* है और *सांख्य* दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु *मिथ्या* या *अनित्य* अर्थात् अस्थायी है। तो भी आत्मा के असली ज्ञान के बिना ऐसे दार्शनिक मोहग्रस्त रहते हैं और शूद्रों की तरह शोक करते हैं। अतएव श्रील शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज से कहा—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥

''हे राजेन्द्र! जो लोग भौतिकता में उलझे हैं, वे परम सत्य के ज्ञान के प्रति अन्धे होने से मानव समाज में अनेक विषयों का श्रवण करते हैं।'' (भागवत् २.१.२) भौतिक कार्यकलापों में लगे हुए सामान्य मनुष्यों को जानने के लिए अनेकानेक विषय हैं, क्योंकि ऐसे लोग आत्म-साक्षात्कार को नहीं समझते। अतएव मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे जीवन की किसी भी परिस्थिति में वह अपने व्रत पर अटल रहे।

लुब्धको विपिने कश्चित्पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः ।
वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

लुब्धकः—बहेलिया; विपिने—जंगल में; कश्चित्—किसी; पक्षिणाम्—पक्षियों का; निर्मितः—नियुक्त; अन्तकः—मारने वाला; वितत्य—फैलाकर; जालम्—जाल; विदधे—पकड़ लिया; तत्र तत्र—यहाँ वहाँ; प्रलोभयन्—अनाज का लालच देकर।

एक बहेलिया था, जो पक्षियों को दानों का लालच देता था और तब एक जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लेता था। वह इस तरह रह रहा था मानो साक्षात् मृत्यु ने उसे पक्षियों का वधिक नियुक्त किया हो।

तात्पर्य : यह इतिहास की दूसरी घटना है।

कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत्समदृश्यत ।
तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

कुलिङ्ग-मिथुनम्—कुलिंग नामक पक्षियों का जोड़ा (नर तथा मादा); तत्र—वहाँ (जहाँ बहेलिया शिकार करता था); विचरत्—घूमते हुए; समदृश्यत—उसने देखा; तयोः—जोड़े को; कुलिङ्गी—मादा पक्षी; सहसा—एकाएक; लुब्धकेन—बहेलिया द्वारा; प्रलोभिता—लालच में आ गई।

जंगल में घूमते हुए उस बहेलिया ने कुलिंग पक्षियों का एक जोड़ा देखा। इन दोनों में से मादा पक्षी बहेलिया के प्रलोभन में आ गई।

सासज्जत सिचस्तन्त्र्यां महिष्यः कालयन्त्रिता ।
कुलिङ्गस्तां तथापन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सा—वह मादा पक्षी; असज्जत—फँस गई; सिचः—जाल की; तन्त्र्याम्—रस्सी में; महिष्यः—हे रानियो; काल-यन्त्रिता—काल के वशीभूत होकर; कुलिङ्गः—नर कुलिंग पक्षी; ताम्—उसको; तथा—उस अवस्था में; आपन्नाम्—पकड़ा हुआ; निरीक्ष्य—देखकर; भृश-दुःखितः—अत्यन्त दुखी; स्नेहात्—स्नेहवश; अकल्पः—कुछ करने में असमर्थ; कृपणः—बेचारा पक्षी; कृपणाम्—बेचारी पत्नी के लिए; पर्यदेवयत्—शोक करने लगा।

हे सुयज्ञ की रानियो, नर कुलिंग पक्षी अपनी पत्नी को विधाता के अत्यन्त स्वप्नपूर्ण चंगुल में पड़ी देखकर अत्यन्त दुखी हुआ। स्नेहवश बेचारा पक्षी अपनी पत्नी को छुड़ा न सकने के कारण उसके लिए शोक करने लगा।

अहो अकरुणो देवः स्त्रियाकरुणया विभुः ।

कृपणं मामनुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अकरुणः—अत्यन्त क्रूर; देवः—विधाता; स्त्रिया—मेरी पत्नी से; आकरुणया—जो अत्यन्त करुणापूर्ण; विभुः—परमेश्वर; कृपणम्—बेचारा; माम्—मेरे लिये; अनुशोचन्त्या—शोक करती; दीनया—बेचारी; किम्—क्या; करिष्यति—करेगा।

ओह! विधाता कितना क्रूर है। मेरी पत्नी असहाय होने से ही ऐसी विषम स्थिति में है—और मेरे लिए विलाप कर रही है। भला विधाता इस बेचारे मादा पक्षी को लेकर क्या पाएगा? उसे क्या लाभ होगा।

कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे ।
दीनेन जीवता दु:खमनेन विधुरायुषा ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

कामम्—जैसा वह चाहता है; नयतु—ले जाए; माम्—मुझको; देवः—भगवान्; किम्—क्या लाभ; अर्धेन—आधे से; आत्मनः—शरीर के; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दीनेन—बेचारे द्वारा; जीवता—जीवित; दुःखम्—दुख में; अनेन—इस; विधुर-आयुषा—कष्टमय जीवन वाला।

यदि निर्दय विधाता मेरी अर्धांगिनी, मेरी पत्नी, को लिए जा रहा है, तो वह मुझे भी क्यों नहीं ले जाता? आधा शरीर लेकर और अपनी पत्नी की क्षति से विरहित होकर मेरे जीने से क्या लाभ? मुझे इस तरह से क्या मिलेगा?

कथं त्वजातपक्षांस्तान्मातृहीनान्बिभर्म्यहम् ।
मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अजात-पक्षान्—जिनके उड़ने के पंख अभी नहीं उगे; तान्—उन; मातृ-हीनान्—माता से बिछुड़े हुओं को; बिभर्मि—पालन करूँगा; अहम्—मैं; मन्द-भाग्याः—अत्यन्त अभागे; प्रतीक्षन्ते—वे प्रतीक्षा करते हैं; नीडे—घोंसले में; मे—मेरे; मातरम्—अपनी माता की; प्रजाः—पक्षी के बच्चे।

पक्षी के अभागे बच्चे मातृविहीन होकर अपने घोंसले में उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि वह आए तो उन्हें खिलाए। वे अब भी बहुत छोटे हैं और उनके पंख तक नहीं उगे हैं। मैं उनका किस प्रकार पालन कर सकूँगा?

तात्पर्य : नर पक्षी अपने बच्चों की माता के लिए शोक कर रहा है, क्योंकि माता ही बच्चों का पालन करती है और उनकी सुरक्षा करती है। लेकिन यमराज ने एक छोटे बालक के वेष में पहले ही बता दिया है कि यद्यपि उसकी माता ने उसे बिना किसी देखरेख के जंगल में घूमता छोड़ दिया था,

किन्तु भेड़िया तथा अन्य हिंसक पशुओं ने उसे नहीं खाया था। असली तथ्य यह है कि यदि भगवान् किसी की रक्षा करते हैं, तो वह भले ही मातृविहीन तथा पितृविहीन ही क्यों न हो, ईश्वर की इच्छा से उसका पालन हो ही जाता है। अन्यथा यदि परमेश्वर रक्षा नहीं करते तो माता-पिता के होते हुए भी मनुष्य को कष्ट भोगना पड़ता है। दूसरा उदाहरण उस रोगी का है, जो उत्तम वैद्य तथा उत्तम औषधि के होने पर भी कभी-कभी मर जाता है। इस प्रकार भगवान् की रक्षा के बिना कोई जीवित नहीं कर सकता, चाहे उसके माता-पिता हों अथवा न हों।

इस श्लोक की दूसरी बात यह है कि पक्षी तथा पशु समाज में भी बच्चों के लिए माता-पिता में सुरक्षा की भावना होती है—मानव समाज के विषय में तो क्या कहा जाये? किन्तु कलियुग में मनुष्य इतना पतित हो चुका है कि माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही विज्ञान का यह बहाना लेकर मार डालते हैं कि गर्भ के भीतर बालक में कोई प्राण नहीं होता। चूँकि अत्यन्त प्रशिक्षित चिकित्सक ऐसा अभिमत देते हैं, अतएव आजकल के माता-पिता अपने बच्चों को गर्भ में ही मार डालते हैं। मानव समाज कितना पतित हो चुका है! उनका वैज्ञानिक ज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है कि वे अंडे तथा भ्रूण के भीतर जीवन नहीं मानते। अब ये तथाकथित विज्ञानी रासायनिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत करने के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु यदि रासायनिक संयोग ही जीवन के स्रोत हैं, तो फिर सारे विज्ञानी रसायनशास्त्र के बल पर अंडा जैसी कोई वस्तु निर्मित क्यों नहीं कर लेते और उसे इनक्युबेटर में रख कर उससे चुज़ा क्यों नहीं निकाल लेते? उनका उत्तर क्या है? वे अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर एक अंडा तक नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसे विज्ञानियों को *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* कहा गया है अर्थात् ऐसे मूर्ख जिनके असली ज्ञान को हर लिया गया हो। ये ज्ञानी पुरुष होने का नहीं, अपितु विज्ञानी तथा दार्शनिक होने का स्वांग भरते हैं, यद्यपि उनके तथाकथित सैद्धान्तिक ज्ञान से व्यावहारिक परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते।

एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात्
प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण
विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुलिङ्गम्—पक्षी को; विलपन्तम्—विलाप करता; आरात्—दूरी से; प्रिया-वियोग—अपनी पत्नी की क्षति के कारण; आतुरम्—अत्यन्त दुखी; अश्रु-कण्ठम्—आँखों में आँसू भर कर; सः—उसने (बहेलिया ने); एव—निस्सन्देह; तम्—उसको (नर पक्षी को); शाकुनिकः—जो गिद्ध तक को मार सके; शरेण—तीर से; विव्याध—बेध दिया; काल-प्रहितः—काल द्वारा प्रेरित होकर; विलीनः—छिपा, गुप्त।

अपनी पत्नी की क्षति के कारण कुलिंग पक्षी आँखों में आँसू भर कर विलाप कर रहा था। तभी काल के आदेशों का पालन करते हुए अत्यन्त सावधानी से दूर छिपे बहेलिये ने अपना तीर छोड़ा जिसने कुलिंग पक्षी के शरीर को बेध कर उसे मार डाला।

एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः ।
नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥५७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; यूयम्—तुम सब; अपश्यन्त्यः—न देखकर; आत्म-अपायम्—अपनी मृत्यु को; अबुद्धयः—हे मूर्खों; न—नहीं; एनम्—उसको; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगी; शोचन्त्यः—शोक करती हुई; पतिम्—अपने पति के लिए; वर्ष-शतैः—सैकड़ों वर्षों तक; अपि—भी।

इस प्रकार छोटे बालक के वेष में यमराज ने सभी रानियों को बताया : तुम सब इतनी मूर्ख हो तुम शोक तो कर रही हो किन्तु तुम शोक तो कर रही हो किन्तु अपनी मृत्यु को भी नहीं देख रही हो। अल्प ज्ञान के वशीभूत होकर तुम यह नहीं जानती हो कि यदि तुम सैकड़ों वर्षों तक भी अपने मृत पति के लिए शोक करो तो भी तुम उसे जीवित नहीं कर सकती और तब तक तुम्हारा जीवन समाप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : एक बार यमराज ने महाराज युधिष्ठिर से पूछा—''इस संसार में आश्चर्यमय वस्तु क्या है?'' महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर दिया (*महाभारत* वनपर्व ३१३.११६)—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।

शेषाःस्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यम् अतः परं॥

लाखों जीव प्रतिक्षण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, किन्तु मूर्ख जीव तब भी अपने को मृत्युहीन समझता है और मृत्यु की तैयारी नहीं करता। इस संसार की सबसे आश्चर्यमय वस्तु यही है। प्रत्येक व्यक्ति को मरना होता है, क्योंकि वह पूर्णतया प्रकृति के वश में होता है, फिर भी हर व्यक्ति अपने को स्वतंत्र मानता है, वह जो चाहे सो कर सकता है और वह कभी मरेगा नहीं, अपितु सदा जीवित रहेगा। तथाकथित विज्ञानी विविध योजनाएँ बना रहे हैं जिससे जीव भविष्य में सदैव जीवित रहेंगे, किन्तु जब वे ऐसे वैज्ञानिक ज्ञान में लगे रहते हैं तभी यमराज उन्हें उनके तथाकथित शोधकार्य से छीन लेता है।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः ।
ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—श्री हिरण्यकशिपु ने कहा; बाले—बालक रूप में यमराज; एवम्—इस प्रकार; प्रवदति—दार्शनिक रूप में बोल रहा था; सर्वे—समस्त; विस्मित—आश्चर्यचकित; चेतसः—हृदय वाले; ज्ञातयः—सम्बन्धीगण; मेनिरे—उन्होंने सोचा; सर्वम्—समस्त भौतिक वस्तुएँ; अनित्यम्—नाशवान्; अयथा-उत्थितम्—अस्थायी घटना से उदित।

हिरण्यकशिपु ने कहा : जब यमराज इस तरह छोटे से बालक के वेष में सुयज्ञ के मृत शरीर को घेरे हुए समस्त सम्बन्धियों को उपदेश दे रहे थे तो सभी लोग उनके दार्शनिक वचनों को सुनकर दंग थे। वे समझ सके कि प्रत्येक भौतिक वस्तु नाशवान् है, वह सदा विद्यमान नहीं रह सकती।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (२.१८) में की गई है। *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*—शरीर तो नाशवान् है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा नित्य है। अतएव मानव समाज में ज्ञान में बढ़े-चढ़े लोगों का कर्तव्य है कि नित्य आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का अध्ययन करें और जीवन के असली उत्तरदायित्व को समझें तथा शरीर का पालन करने में ही मानव जीवन के अमूल्य समय को न गँवा दें। प्रत्येक मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि आत्मा किस तरह सुखी रह सकता है और वह सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन कहाँ प्राप्त कर सकता है। मानव प्राणी ऐसे विषयों के अध्ययन के लिए है, नाशवान् शरीर की देखरेख में व्यस्त रहने के लिए नहीं है, क्योंकि यह शरीर अवश्य बदलेगा। कोई नहीं जानता कि उसे पुनः मनुष्य-शरीर मिलेगा या नहीं इसकी कोई गारन्टी नहीं है, क्योंकि अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य को देवता से लेकर एक कुत्ते तक का शरीर प्राप्त हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

अहं ममाभिमानादि त्वयथोत्थमनित्यकम्।
महदादि यथोत्थं च नित्या चापि यथोत्थिता॥
अस्वतन्त्रैव प्रकृतिः स्वतन्त्रो नित्य एव च।
यथार्थभूतश्च पर एक एव जनार्दनः॥

केवल जनार्दन या भगवान् ही सदा रहते हैं, किन्तु उनकी सृष्टि, यह भौतिक जगत, नाशवान् है।

अतएव ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक शक्ति द्वारा मोहित है और यह सोचने में लीन रहता है कि "मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है " वह भ्रम (मोह) में रहता है। उसे अपने आपको जनार्दन का एक अंश ही सोचना चाहिए और इस जगत में, विशेष रूप से इस मनुष्य जीवन में, उसका एकमात्र प्रयास यही होना चाहिए कि वह भगवद्धाम वापस जाकर जनार्दन की संगति प्राप्त करे।

यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत ।
ज्ञातयो हि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत्साम्परायिकम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

यमः—बालक रूप में यमराज; एतत्—यह; उपाख्याय—उपदेश देकर; तत्र—वहाँ; एव—निस्सन्देह; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; ज्ञातयः—सम्बन्धियों ने; हि—निस्सन्देह; सुयज्ञस्य—राजा सुयज्ञ के; चक्रुः—सम्पन्न किया; यत्—जो हैं; साम्परायिकम्—अन्येष्टि संस्कार।

बालक रूप में यमराज सुयज्ञ के समस्त मूर्ख सम्बन्धियों को उपदेश देकर उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। तब राजा सुयज्ञ के सम्बन्धियों ने अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

अतः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव वा ।
क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।
स्वपराभिनिवेशेन विनाज्ञानेन देहिनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; शोचत—शोक करो; मा—मत; यूयम्—तुम सब; परम्—अन्य; च—तथा; आत्मानम्—अपने आप; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; कः—कौन; आत्मा—अपना; कः—कौन; परः—दूसरा; वा—अथवा; अत्र—इस भौतिक जगत में; स्वीयः—अपना; पारक्यः—अन्यों के लिए; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; स्व-पर-अभिनिवेशेन—अपने तथा औरों के देहात्मबुद्धि में लीन होने से; विना—अलावा; अज्ञानेन—ज्ञान का अभाव; देहिनाम्—समस्त जीवधारियों का।

अतएव तुममें से किसी को भी शरीर-क्षति के लिए, चाहे तुम्हारा अपना शरीर हो या अन्यों का हो, शोकसंतप्त नहीं होना चाहिए। यह तो केवल अज्ञान है, जिससे मनुष्य यह सोचकर शारीरिक भेदभाव बरतता है कि मैं कौन हूँ? अन्य लोग कौन हैं? मेरा क्या है? उनका क्या है?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में आत्म-संरक्षण की धारणा प्रकृति का पहला नियम है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य पहले अपनी निजी सुरक्षा में रुचि लेनी चाहिए है, तब समाज, मित्रता, प्रेम, राष्ट्रीयता आदि-आदि पर विचार करना चाहिए, क्योंकि ये सब देहात्मबुद्धि एवं आत्म-ज्ञान के अभाव से ही विकसित हैं। यह अज्ञान कहलाता है। जब तब मानव समाज अंधकार तथा अज्ञान में है तब तक लोग

देहात्मबुद्धि के कारण बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करते रहेंगे। प्रह्लाद महाराज ने इसे *भरम* कहा है। भौतिकतावादी धारणा में आधुनिक सभ्यता बड़ी-बड़ी सड़कों, घरों, मिलों तथा फैक्टरियों के लिए बृहद् आयोजन करती है और सभ्यता की उन्नति के विषय में मनुष्य की यही धारणा है। लेकिन लोग यह नहीं जानते कि वे स्वयं किसी भी क्षण इस दृश्य से बाहर किये जा सकते हैं और ऐसे शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य हो सकते हैं जिन्हें विशाल घरों, महलों, सड़कों तथा स्वचालित यानों से कोई सरोकार न हो। अतएव जब अर्जुन अपने सगे रिश्तेदारों से शारीरिक सम्बन्धों के बारे में सोच रहा था तो कृष्ण ने तुरन्त ही उसे यह कहकर प्रताड़ित किया—*कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् अनार्यजुष्टम्*—यह देहात्मबुद्धि अनार्यों को शोभा देती है जिनका ज्ञान बढ़ा-चढ़ा नहीं होता। आर्य-सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़ी-चढ़ी होती है। किन्तु कोई आर्य का ठप्पा लगाकर आर्य नहीं बनता। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में गहन अंधकार में रहकर कोई अपने को आर्य होने का दावा करे तो वह अनार्य है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने *ब्रह्मवैवर्त पुराण* से निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

क आत्मा कः पर इति देहाद्यपेक्षया
न हि देहादिरात्मा स्यान् न च शत्रुरुदीरितः।
अतो दैहिकवृद्धौ वा क्षये वा किं प्रयोजनम्॥
यस्तु देहगतो जीवः स हि नाशं न गच्छति।
ततः शत्रुविवृद्धौ च स्वनाशे शोचनं कुतः॥
देहादि व्यतिरिक्तौ तु जीवेशौ प्रतिजानता।
अत आत्मविवृद्धिस्तु वासुदेवे रतिःस्थिरा।
शत्रुनाशस्तथाज्ञाननाशो नान्यः कथञ्चन॥

इसका भाव यह है कि जब तक हम इस मनुष्य के शरीर में हैं, हमारा कर्तव्य है कि शरीर के भीतर के आत्मा को समझें। शरीर आत्मा नहीं है; हम शरीर से भिन्न हैं अतएव देहात्मबुद्धि के रूप में मित्रों, शत्रुओं तथा जिम्मेदारियों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी को इसके विषय में अधिक उत्सुक नहीं होना चाहिए कि शरीर शिशुता से बाल्यावस्था और बाल्यावस्था से वृद्धावस्था में और तब मृत्यु में बदल रहा है। प्रत्युत मनुष्य के शरीर के भीतर स्थित आत्मा के विषय में तथा भव-बन्धन से

आत्मा को छुड़ाने के विषय में अत्यन्त गम्भीर रहना चाहिए। शरीर के भीतर का जीव कभी विनष्ट नहीं होता; अतएव मनुष्य को यह जान लेना चाहिये कि उसके चाहे लाख दोस्त या दुश्मन हों, न तो दोस्त सहायता कर सकते हैं न ही दुश्मन कोई हानि पहुँचा सकते हैं। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*) और आत्मा की स्वाभाविक स्थिति शरीर में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहती है। सभी दशाओं में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के रूप में भगवान् विष्णु का भक्त होना चाहिए और उसे शारीरिक सम्बन्धों, यथा दोस्त या दुश्मनों, की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि देहात्मबुद्धि में न तो हम स्वयं और न हमारे शत्रु कभी मारे जाते हैं।

श्रीनारद उवाच
इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा ।
पुत्रशोकं क्षणात्त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; इति—ईस प्रकार; दैत्य-पतेः—असुरों के राजा का; वाक्यम्—वाणी; दितिः—दिति, हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता ने; आकर्ण्य—सुनकर; स-स्नुषा—हिरण्याक्ष की पत्नी सहित; पुत्र-शोकम्—अपने पुत्र हिरण्याक्ष का महान् वियोग; क्षणात्—तुरन्त; त्यक्त्वा—छोड़कर; तत्त्वे—जीवन के असली दर्शन में; चित्तम्—हृदय को; अधारयत्—लगाया।

श्री नारद ने आगे कहा : हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष की माता दिति ने अपनी पुत्रवधू हिरण्याक्ष की पत्नी रुषाभानु सहित हिरण्यकशिपु के उपदेशों को सुना। तब उसने अपने पुत्र की मृत्यु के शोक को भुला दिया और उसने अपने मन तथा ध्यान को जीवन का असली दर्शन समझने में लगा दिया।

तात्पर्य : जब किसी का कोई सम्बन्धी मरता है, तो वह दर्शन में अधिक रुचि लेने लगता है, किन्तु जैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हो जाती है, वह पुनः भौतिकतावादी कार्यों में लग जाता है। यहाँ तक कि अत्यन्त भौतिकतावादी दैत्य भी कभी-कभी अपने किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर दर्शन के विषय में सोचते हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति की इस मनोवृत्ति को *श्मशान वैराग्य* कहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, चार प्रकार के लोग आध्यात्मिक जीवन तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। विशेष रूप से जब कोई भौतिक परिस्थितियों से अत्यन्त पीड़ित रहता है, तो वह ईश्वर में मन लगाता है। अतएव कुन्ती देवी ने कृष्ण की प्रार्थना करते हुए कहा है कि उन्हें जीवन में सुख की अपेक्षा दुख पसन्द है। भौतिक जगत में सुखी रहने वाला व्यक्ति कृष्ण या ईश्वर

को भूल जाता है, किन्तु कभी-कभी वास्तविक पवित्रात्मा दुख में रहकर भी कृष्ण का स्मरण करता है। अतएव महारानी कुन्ती ने दुख पसन्द किया, क्योंकि यह कृष्ण को स्मरण करने का सुअवसर होता है। जब कृष्ण कुन्ती देवी के पास से स्वदेश को लौट रहे थे तो कुन्ती देवी ने बड़े ही खेदपूर्वक कहा था कि वे दुख में ही अच्छी थीं, क्योंकि कृष्ण सदैव साथ रहते थे, किन्तु अब जब पाण्डव सिंहासनासीन हैं, तो कृष्ण दूर जा रहे हैं। दुख तो भक्त के लिए भगवान् को निरन्तर स्मरण करने का सुअवसर होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत ''असुरराज हिरण्यकशिपु'' नामक द्वितीय अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तीन

हिरण्यकशिपु की अमर बनने की योजना

इस अध्याय में बताया गया है कि हिरण्यकशिपु ने भौतिक लाभ के लिए कठोर तपस्या की और इस तरह उसने ब्रह्माण्ड भर में उपद्रव मचा दिया। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के प्रमुख व्यक्ति ब्रह्मा भी कुछ-कुछ विचलित हो गये और वे स्वयं यह देखने गये कि हिरण्यकशिपु इतनी कठोर तपस्या क्यों कर रहा है।

हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था। वह चाहता था कि न तो वह किसी के द्वारा जीता जा सके, न जरा तथा रोग से पीड़ित हो, न ही किसी प्रतिद्वन्द्वी द्वारा सताया जाये। इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्ड का परम शासक बनना चाहता था। इस कामना से वह मन्दार पर्वत की घाटी में गया और वहाँ उग्र तपस्या तथा ध्यान करने लगा। हिरण्यकशिपु को ऐसी तपस्या में लगा देखकर देवतागण अपने अपने घर लौट आये, किन्तु जब हिरण्यकशिपु इस तरह से तपस्या में संलग्न था तो उसके सिर से एक प्रकार की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी जिससे अखिल ब्रह्माण्ड के निवासी जिसमें पशु-पक्षी तथा देवता सभी सम्मिलित थे उद्विग्न हो उठे। जब सारे उच्च तथा निम्न लोक तप्त हो जाने के कारण रहने के योग्य नहीं रहे तो सारे देवता विचलित होकर स्वर्गलोक के अपने आवासों को छोड़-छोड़कर ब्रह्माजी से भेंट करने तथा अनावश्यक ताप को कम करने के लिए प्रार्थना करने गये। देवताओं ने ब्रह्माजी से

हिरण्यकशिपु की महत्त्वाकांक्षा बतलाई कि वह अपने जीवन की अल्पायु को जीत कर अमर होना चाहता है और सारे लोकों का, यहाँ तक कि ध्रुव लोक का भी स्वामी बन जाना चाहता है।

हिरण्यकशिपु के एकान्त ध्यान का प्रयोजन सुनकर ब्रह्माजी अपने साथ महर्षि भृगु तथा दक्ष जैसे महापुरुषों को लेकर हिरण्यकशिपु से भेंट करने गये। तत्पश्चात् उन्होंने अपने कमण्डल से हिरण्यकशिपु के सिर पर जल छिड़का।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी के समक्ष अपना सिर झुकाकर उन्हें बारम्बार सादर नमस्कार किया तथा प्रार्थना की। जब ब्रह्माजी ने वर देना स्वीकार कर लिया तो उसने प्रार्थना की कि वह किसी जीव द्वारा न तो किसी ढके या खुले स्थान में ये मारा जाये, न दिन में या रात में मरे, न वह किसी हथियार से, स्थल में या वायु में मारा जाये, न वह किसी मनुष्य, पशु देवता या अन्य जीवित या मृत प्राणी द्वारा मारा जाये। उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर अपनी श्रेष्ठता के लिए भी प्रार्थना की तथा उसने अणिमा, लघिमा इत्यादि आठों योग-सिद्धियों के लिए भी प्रार्थना की।

श्रीनारद उवाच
हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् ।
आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; हिरण्यकशिपुः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; अजेयम्—किसी शत्रु द्वारा न जीता जा सकने योग्य; अजर—जरा या व्याधि से रहित; अमरम्—अमर; आत्मानम्—स्वयं; अप्रतिद्वन्द्वम्—किसी प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी से विहीन; एक-राजम्—ब्रह्माण्ड का एकछत्र राजा, चक्रवर्ती; व्यधित्सत—बनना चाहता था।

नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर से कहा : दैत्यराज हिरण्यकशिपु अजेय तथा वृद्धावस्था एवं शरीर की जर्जरता से मुक्त होना चाहता था। वह अणिमा तथा लघिमा जैसी समस्त योग-सिद्धियों को प्राप्त करना, मृत्युरहित होना और ब्रह्मलोक समेत अखिल विश्व का एकछत्र राजा बनना चाहता था।

तात्पर्य : असुरों द्वारा सम्पन्न तपस्या के लक्ष्य ऐसे ही होते हैं। हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी से ऐसा वरदान प्राप्त करना चाहता था जिससे वह भविष्य में ब्रह्माजी के धाम को जीतने में समर्थ हो सके। इसी प्रकार एक अन्य दैत्य ने शिवजी से वर प्राप्त किया, किन्तु बाद में वह उसी वर से शिवजी को मारना चाहता था। इस तरह स्वार्थी व्यक्ति आसुरी तपस्या द्वारा अपने ही उपकारी को मारना चाहता है

जब कि वैष्णव भगवान् का नित्य दास बना रहना चाहता है और भगवान् के पद को कभी भी प्राप्त करना नहीं चाहता। *सायुज्य मुक्ति* के द्वारा, जिसकी कामना प्राय: असुरगण करते हैं, कोई मनुष्य भगवान् के अस्तित्व में तदाकार हो जाता है, या कभी-कभी कोई अद्वैतवाद का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है किन्तु उसे पुन: इस संसार में संघर्ष करने के लिए नीचे गिरना पड़ता है।

स तेपे मन्दरद्रोण्यां तप: परमदारुणम् ।
ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टि: पादाङ्गुष्ठाश्रितावनि: ॥ २॥

शब्दार्थ

स:—उसने (हिरण्यकशिपु ने); तेपे—सम्पन्न किया; मन्दर-द्रोण्याम्—मन्दर पर्वत की घाटी में; तप:—तपस्या; परम—अत्यधिक; दारुणम्—कठिन; ऊर्ध्व—ऊपर उठाये; बाहु:—बाहें; नभ:—आकाश की ओर; दृष्टि:—अपनी दृष्टि; पाद-अङ्गुष्ठ—अपने पाँव के अँगूठे से; आश्रित—सहारा लेकर; अवनि:—पृथ्वी पर।

हिरण्यकशिपु ने मन्दर पर्वत की घाटी में अपने पाँव के अँगूठे के बल भूमि में खड़े होकर, अपनी भुजाएँ ऊपर किये तथा आकाश की ओर देखते हुए अपनी तपस्या प्रारम्भ की। यह अवस्था अतीव कठिन थी, किन्तु सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसने इसे स्वीकार किया।

जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभि: ।
तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवा: स्थानानि भेजिरे ॥ ३॥

शब्दार्थ

जटा-दीधितिभि:—सिर पर जटा के तेज से; रेजे—चमक रहा था; संवर्त-अर्क:—प्रलयकालीन सूर्य; इव—सदृश; अंशुभि:—किरणों से; तस्मिन्—जब वह (हिरण्यकशिपु); तप:—तपस्या में; तप्यमाने—लगा था; देवा:—सारे देवता जो हिरण्यकशिपु के आसुरी कृत्यों को देखने के लिए सारे ब्रह्माण्ड में घूम रहे थे; स्थानानि—अपने-अपने स्थानों को; भेजिरे—लौट गये।

हिरण्यकशिपु के जटाजूट से प्रलयकालीन सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान तथा असह्य तेज प्रकट हुआ। ऐसी तपस्या देखकर सारे देवता, जो अभी तक सारे लोकों में भ्रमण कर रहे थे, अपने-अपने घरों को लौट गये।

तस्य मूर्ध्न: समुद्भूत: सधूमोऽग्निस्तपोमय: ।
तीर्यगूर्ध्वमधो लोकान्प्रातपद्विष्वगीरित: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; मूर्ध्न:—सिर से; समुद्भूत:—उत्पन्न हुआ; स-धूम:—धुआँ के साथ; अग्नि:—आग; तप:-मय:—कठिन तपस्या के कारण; तीर्यक्—अगल-बगल; ऊर्ध्वम्—ऊपर; अध:—नीचे; लोकान्—सारे लोक; प्रातपत्—गर्म हो उठे; विष्वक्—चारों ओर; ईरित:—फैली हुई।

हिरण्यकशिपु की कठिन तपस्या के कारण उसके सिर से अग्नि प्रकट हुई और यह अग्नि

अपने धुएँ समेत आकाश भर में फैल गई। उसने ऊर्ध्व तथा अधः लोकों को घेर लिया जिससे वे सभी अत्यन्त गर्म हो उठे।

चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः ।
निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥ ५॥

शब्दार्थ

चुक्षुभुः—विचलित हो उठे; नदी-उदन्वन्तः—सारी नदियाँ तथा समुद्र; स-द्वीप—द्वीपों समेत; अद्रिः—पर्वत; चचाल—हिलने लगे; भूः—भूमण्डल की सतह; निपेतुः—गिर पड़े; स-ग्रहाः—ग्रहों सहित; ताराः—तारे; जज्वलुः—प्रज्ज्वलित हो उठीं; च—भी; दिशः दश—दसों दिशाएँ।

उसकी कठिन तपस्या के बल से सारी नदियाँ तथा सारे समुद्र क्षुब्ध हो उठे, भूमण्डल की सतह अपने पर्वतों तथा द्वीपों समेत हिलने लगी और तारे तथा ग्रह टूट कर गिर पड़े। सारी दिशाएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं।

तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः ।
धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते ।
दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस (तपस्या की अग्नि) के द्वारा; तप्ताः—झुलसे; दिवम्—उच्च लोकों में अपने रिहायशी मकान; त्यक्त्वा—छोड़कर; ब्रह्म-लोकम्—ब्रह्मा के रहने वाले लोक को; ययुः—गये; सुराः—देवतागण; धात्रे—इस ब्रह्माण्ड के प्रधान ब्रह्माजी तक; विज्ञापयाम् आसुः—निवेदन किया; देव-देव—हे देवताओं में प्रमुख; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; दैत्य-इन्द्र-तपसा—दैत्यराज हिरण्यकशिपु द्वारा की जा रही कठोर तपस्या के द्वारा; तप्ताः—जले हुए; दिवि—स्वर्गलोक में; स्थातुम्—रुकने के लिए; न—नहीं; शक्नुमः—हम सब समर्थ हैं।

हिरण्यकशिपु की कठोर तपस्या से झुलसने तथा अत्यन्त विचलित होने के कारण समस्त देवताओं ने अपने रहने के लोक छोड़ दिये और ब्रह्मा के लोक को गये जहाँ उन्होंने स्त्रष्टा को इस प्रकार सूचित किया—''हे देवताओं के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड के प्रभु, हिरण्यकशिपु की कठोर तपस्या के कारण उसके शिर से निकलने वाली अग्नि के कारण हम लोग इतने उद्विग्न हैं कि हम अपने लोकों में रह नहीं सकते, अतएव हम आपके पास आये हैं।''

तस्य चोपशमं भूमन्विधेहि यदि मन्यसे ।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; च—निस्सन्देह; उपशमम्—समाप्ति; भूमन्—हे महापुरुष; विधेहि—कृपया करें; यदि—यदि; मन्यसे—आप सही समझते हैं; लोकाः—विभिन्न लोकों के सारे निवासी; न—नहीं; यावत्—तब तक; नङ्क्ष्यन्ति—नष्ट हो जाएँगे; बलि-हाराः—पूजा के प्रति आज्ञाकारी; तव—तुम्हारी; अभिभूः—हे समस्त ब्रह्माण्ड के प्रधान।

हे महापुरुष, हे ब्रह्माण्ड के प्रधान, यदि आप उचित समझें तो इन सारे उत्पातों को, जो सब कुछ विनष्ट करने के उद्देश्य से हो रहे हैं, कृपा करके रोक दें जिससे आपकी आज्ञाकारी प्रजा का संहार न हो।

तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः ।
श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अयम्—यह; किल—निश्चय ही; सङ्कल्पः—दृढ़ निश्चय; चरतः—सम्पन्न करने वाला; दुश्चरम्—अत्यन्त कठिन; तपः—तपस्या; श्रूयताम्—सुन लें; किम्—क्या; न—नहीं; विदितः—ज्ञात; तव—तुम्हारा; अथापि—अब फिर भी; निवेदितम्—निवेदन किया गया।

हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त कठिन तपस्या का व्रत ले रखा है। यद्यपि आपसे उसकी योजना छिपी नहीं है, तो भी हम जिस रूप में उसके मन्तव्यों का निवेदन कर रहे हैं, कृपा करके उन्हें सुन लें।

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना ।
अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम् ॥ ९ ॥
तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना ।
कालात्मनोश्च नित्यत्वात्साधयिष्ये तथात्मनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—सृजन करके; चर—चल; अचरम्—तथा अचल; इदम्—यह; तपः—तपस्या का; योग—तथा योग शक्ति का; समाधिना—समाधि के अभ्यास द्वारा; अध्यास्ते—स्थित है; सर्व-धिष्ण्येभ्यः—स्वर्गलोक समेत समस्त लोकों की अपेक्षा; परमेष्ठी—ब्रह्माजी ने; निज-आसनम्—अपना सिंहासन; तत्—अतएव; अहम्—मैं; वर्धमानेन—वृद्धि के कारण; तपः—तपस्या; योग—योग शक्ति; समाधिना—तथा समाधि से; काल—समय का; आत्मनोः—तथा आत्मा का; च—तथा; नित्यत्वात्—नित्यता से; साधयिष्ये—प्राप्त करेगा; तथा—इतना; आत्मनः—अपने लिए।

''इस ब्रह्माण्ड में परमपुरुष ब्रह्माजी ने अपना उच्च पद कठिन तपस्या, योगशक्ति तथा समाधि द्वारा प्राप्त किया है। फलस्वरूप इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के बाद वे इसके सर्वाधिक पूज्य देवता बने हैं। चूँकि मैं शाश्वत हूँ और काल भी शाश्वत है, अतएव मैं ऐसी ही तपस्या, योगशक्ति तथा समाधि के लिए अनेक जन्मों तक प्रयास करूँगा और वह स्थान ग्रहण करूँगा जो ब्रह्माजी ने प्राप्त किया है।''

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का संकल्प ब्रह्माजी के पद को ग्रहण करने का था लेकिन यह असम्भव था क्योंकि ब्रह्माजी की आयु अत्यन्त दीर्घ थी। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१७) में पुष्टि की गई है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*—ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युग के तुल्य है। ब्रह्मा की आयु अत्यन्त दीर्घ है, फलस्वरूप हिरण्यकशिपु के लिए उनका पद प्राप्त कर सकना असम्भव था। फिर भी उसका निर्णय था कि चूँकि आत्मा तथा काल दोनों शाश्वत हैं अतएव यदि वह उस पद को एक जीवनकाल में नहीं प्राप्त कर सकता तो वह जन्म–जन्मांतर तपस्या करता रहेगा, जिससे कभी न कभी उसे वह पद प्राप्त हो सके।

अन्यथेदं विधास्येऽहमयथा पूर्वमोजसा ।
किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—बिल्कुल उल्टा; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; विधास्ये—बना दूँगा; अहम्—मैं; अयथा—अनुपयुक्त; पूर्वम्—पहले जैसा; ओजसा—अपनी तपस्या के बल से; किम्—क्या लाभ; अन्यैः—दूसरे के साथ; काल-निर्धूतैः—काल के साथ समाप्त होने वाला; कल्प-अन्ते—युग के अन्त में; वैष्णव-आदिभिः—ध्रुवलोक या वैकुण्ठ लोक जैसे लोकों से।

''अपनी कठोर तपस्या से मैं पुण्य तथा पाप कर्मों के फलों को उलट दूँगा। मैं इस संसार की समस्त स्थापित प्रथाओं को पलट दूँगा। कल्प के अन्त में ध्रुवलोक भी मिट जाएगा। अतएव इसका क्या लाभ है? मैं तो ब्रह्मा के पद पर बना रहना अधिक पसन्द करूँगा।''

तात्पर्य : देवताओं ने ब्रह्माजी को हिरण्यकशिपु का आसुरी संकल्प कह सुनाया। उन्होंने सूचित किया कि हिरण्यकशिपु सारे मान्य सिद्धान्तों को पलट देना चाहता है। लोग इस भौतिक जगत में कठिन तपस्या करके स्वर्गलोक चले जाते हैं लेकिन हिरण्यकशिपु नहीं चाहता था कि लोग स्वर्ग में सुखी रहें, क्योंकि देवता स्वर्ग में रहते हुए भी उसके विरुद्ध कूटनीतिक विचार रखते थे। वह चाहता था कि जो लोग इस संसार में सताये जाते हैं, वे स्वर्ग में भी दुखी रहें। निस्सन्देह, वह ऐसा उत्पीडन सर्वत्र चालू करना चाह रहा था। कोई यह पूछ सकता है कि यह कैसे सम्भव होगा क्योंकि विश्व की व्यवस्था तो अनन्त काल से चली आ रही है? किन्तु हिरण्यकशिपु को घमण्ड था कि वह अपनी तपस्या से सब कुछ कर लेगा। यहाँ तक कि वह वैष्णवों की स्थिति को असुरक्षित बना देना चाहता था। ये कतिपय लक्षण हैं उसके आसुरी संकल्प के।

इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः ।
विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; शुश्रुम—हमने सुना है; निर्बन्धम्—प्रबल संकल्प; तपः—तपस्या; परमम्—अत्यन्त कठोर; आस्थितः—स्थित; विधत्स्व—कृपया कार्यवाही करें; अनन्तरम्—जल्दी से जल्दी; युक्तम्—उपयुक्त; स्वयम्—अपने से, स्वयं; त्रि-भुवन-ईश्वर—हे तीनों संसारों के स्वामी।.

हे प्रभु, हमने विश्वस्त सूत्रों से सुना है कि हिरण्यकशिपु आपका पद प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या में जुटा हुआ है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। आप जैसा उचित समझें वैसा अविलम्ब करें।

तात्पर्य : भौतिक जगत में स्वामी अपने नौकर को एक पद प्रदान करता है, किन्तु वह सदैव योजना बनाता रहता है कि किस प्रकार अपने स्वामी का पद छीन ले। इतिहास में इसके अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं। विशेष रूप से भारत में मुसलमानों के शासन काल में अनेक नौकरों ने षड्यंत्र द्वारा अपने स्वामियों के पद हथिया लिये। चैतन्य साहित्य से यह पता चलता है कि सुबुद्धि राय नामक एक बड़े जमींदार ने एक मुसलमान लड़के को नौकर के रूप में रखा था। वह इस लड़के को अपने पुत्र की तरह मानता था और जब वह कभी कुछ चुराता तो उसका स्वामी दण्ड देने के लिए उसे बेंत से मारता था। इससे उस लड़के की पीठ पर एक निशान बन गया था। बाद में जब वह लड़का कुटिल उपायों से हुसने शाह नाम से बंगाल का नवाब बन गया तो एक दिन उसकी पत्नी ने इस निशान को देखा और इसके विषय में पूछा। नवाब ने उत्तर दिया कि बचपन में वह सुबुद्धिराय का नौकर था और उन्होंने किसी उपद्रव के लिए उसे दण्ड दिया था। यह सुनकर नवाब की पत्नी तत्क्षण क्रुद्ध हो उठी और उसने अपने पति से अनुरोध किया कि वह सुबुद्धि राय की हत्या कर दे। किन्तु नवाब हुसेन शाह सुबुद्धि राय का अत्यन्त कृतज्ञ था, अतएव उसने हत्या करने से मना कर दिया। किन्तु जब उसकी पत्नी ने अनुरोध किया कि वह सुबुद्धि राय को मुसलमान बना ले तो नवाब राजी हो गया। उसने अपनी सुराही से कुछ जल निकाल कर सुबुद्धि राय पर छिड़क दिया और यह घोषित कर दिया कि सुबुद्धि राय अब मुसलमान हो गया है। बात यह है कि यही नवाब पहले सुबुद्धि राय का सामान्य नौकर था, किन्तु येन-केन-प्रकारेण वह बंगाल के नवाब का श्रेष्ठ पद प्राप्त करने में सक्षम रहा। ऐसा है यह भौतिक संसार। प्रत्येक व्यक्ति नाना प्रकार की युक्तियों से स्वामी बनना चाहता है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का दास है। इस पद्धति पर चल कर प्रत्येक जीव भले ही अपनी इन्द्रियों का दास क्यों न हो,

सम्पूर्ण संसार का स्वामी बनना चाहता है। हिरण्यकशिपु इसका ज्वलन्त उदाहरण था और देवताओं ने उसके इन मन्तव्यों की जानकारी ब्रह्माजी को दी।

तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते ।
भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तव—आपका; आसनम्—सिंहासन; द्विज—ब्राह्मण संस्कृति का अथवा ब्राह्मणों का; गवाम्—गौवों का; पारमेष्ठ्यम्—सर्वोच्च, परम; जगत्-पते—हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी; भवाय—उन्नति के लिए; श्रेयसे—चरम सुख के लिए; भूत्यै—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए; क्षेमाय—पालन तथा सौभाग्य के लिए; विजयाय—विजय तथा बढ़ती प्रतिष्ठा के लिए; च—तथा।.

हे ब्रह्माजी, निश्चय ही आपका पद इस ब्रह्माण्ड के सभी लोगों के लिए, विशेष रूप से ब्राह्मणों तथा गायों के लिए, अत्यन्त कल्याणप्रद है। इससे ब्राह्मण-संस्कृति तथा गौ-सुरक्षा को अधिकाधिक महिमामंडित किया जा सकता है और इस प्रकार सभी प्रकार के भौतिक सुख, ऐश्वर्य तथा सौभाग्य स्वतः वृद्धि करेंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश यदि हिरण्यकशिपु आपका स्थान ग्रहण करता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *द्विज गवां पारमेष्ठ्यम्* शब्द ब्राह्मणों, ब्राह्मण-संस्कृति तथा गायों की श्रेष्ठ स्थिति को सूचित करने वाले हैं। वैदिक संस्कृति में गायों तथा ब्राह्मणों का कल्याण अनिवार्य है। ब्राह्मण संस्कृति का विकास करने तथा गायों की सुरक्षा करने के समुचित प्रबन्ध के बिना, प्रशासन के सारे कार्य ध्वस्त हो जाएँगे। हिरण्यकशिपु कहीं ब्रह्मा का पद न पा ले इस भय से सारे देवता अत्यन्त उद्विग्न थे। हिरण्यकशिपु विख्यात दैत्य था और देवतागण यह जानते थे कि यदि दैत्यों तथा राक्षसों को यह उच्च पद मिल गया तो ब्राह्मण-संस्कृति तथा गौवों की सुरक्षा मिट्टी में मिल जाएगी। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—सबों के आदि स्वामी भगवान् कृष्ण हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*) अतएव भगवान् अच्छी तरह जानते हैं कि इस जगत में जीवों की भौतिक स्थिति को किस तरह सुधारा जाये। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भगवान् कृष्ण के प्रतिनिधि रूप में कार्य करने के लिए एक ब्रह्मा नियुक्त है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में हुई है (*तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये*)। प्रत्येक ब्रह्माण्ड का प्रमुख स्रष्टा ब्रह्मा है, जो अपने शिष्यों तथा पुत्रों को वैदिक ज्ञान प्रदान करता है। प्रत्येक लोक में राजा या परम नियन्ता को ब्रह्मा का प्रतिनिधि होना चाहिए। अतएव यदि ब्रह्मा के पद पर कोई राक्षस या असुर आसीन हो जाये तो ब्रह्माण्ड की सारी व्यवस्था, विशेष रूप से ब्राह्मण-संस्कृति तथा

गायों की सुरक्षा, नष्ट हो जाएगी। सारे देवताओं को इस संकट की आशंका थी, अतएव वे सब ब्रह्माजी के पास यह प्रार्थना करने के लिए गये कि वे हिरण्यकशिपु की चाल को ध्वस्त करने के लिए तुरन्त कदम उठाएँ।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी पर मधु तथा कैटभ नामक दो असुरों ने आक्रमण किया था, किन्तु कृष्ण ने उन्हें बचा लिया था। अतएव कृष्ण को *मधुकैटभहन्तृ* कहा जाता है। अब पुन: हिरण्यकशिपु ब्रह्मा का स्थान लेने वाला था। भौतिक जगत इस तरह स्थित है कि ब्रह्मा तक का पद कभी-कभी संकट में रहता है, तो सामान्य जीवों के विषय में क्या कहा जाये? तो भी हिरण्यकशिपु के समय तक किसी ने ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करने का यत्न नहीं किया था। किन्तु हिरण्यकशिपु इतना महान् दैत्य था कि वह अपनी इच्छा पूरी करने पर अटल था।

भूत्यै शब्द का अर्थ है "ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए" और *श्रेयसे* शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्धाम वापस जाने का द्योतक है। आध्यात्मिक उन्नति से मनुष्य के भौतिक पद में उन्नति के साथ-साथ मोक्ष का मार्ग भी स्पष्ट होता जाता है और वह भव-बन्धन से छूट जाता है। यदि कोई आध्यात्मिक उन्नति में ऐश्वर्यवान् पद पर हो तो उसका ऐश्वर्य कभी नहीं घटता। अतएव ऐसा आध्यात्मिक वरदान *भूति* या *विभूति* कहलाता है। इसकी पुष्टि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में की है। *यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं...मम तेजोंऽशसम्भवम्*—यदि भक्त आध्यात्मिक चेतना में उन्नति करता है और इस तरह वह भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यवान् भी बन जाता है, तो उसका पद भगवान् का विशिष्ट वरदान होता है। ऐसे ऐश्वर्य को कभी भौतिक नहीं मानना चाहिए। इस समय इस धरा लोक में ब्रह्माजी का प्रभाव काफी घट चुका है और हिरण्यकशिपु के प्रतिनिधि राक्षसों तथा दैत्यों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है। इसलिए ब्राह्मण-संस्कृति तथा गायों को कोई भी संरक्षण प्राप्त नहीं है, यद्यपि ये समस्त सौभाग्य के लिए अत्यावश्यक हैं। यह युग अत्यन्त घातक है, क्योंकि समाज का संचालन असुरों तथा राक्षसों के द्वारा हो रहा है।

इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप ।
परितो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; विज्ञापितः—सूचित; देवैः—समस्त देवताओं द्वारा; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; आत्म-भूः—कमल से उत्पन्न ब्रह्माजी; नृप—हे राजा; परितः—घिरा हुआ; भृगु—भृगु द्वारा; दक्ष—दक्ष से; आद्यैः—तथा अन्यों से; ययौ—गये; दैत्य-ईश्वर—दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु के; आश्रमम्—तपस्या स्थल पर।

हे राजा, देवताओं द्वारा इस प्रकार सूचित किये जाने पर अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्माजी भृगु, दक्ष तथा अन्य महर्षियों को साथ लेकर तुरन्त उस स्थान के लिए चल पड़े जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था।

तात्पर्य : ब्रह्माजी प्रतीक्षा में थे कि हिरण्यकशिपु की तपस्या पूरी हो ले तो वे वहाँ जाकर उसकी इच्छानुसार उसे वर दे सकें। अब वे समस्त देवताओं तथा बड़े-बड़े साधु पुरुषों को साथ लेकर जाने का अवसर पा कर उसे इच्छित वर देने गये।

न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः ।
पिपीलिकाभिराचीर्णं मेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥ १५ ॥
तपन्तं तपसा लोकान्यथाभ्रापिहितं रविम् ।
विलक्ष्य विस्मितः प्राह हसंस्तं हंसवाहनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ददर्श—देखा; प्रतिच्छन्नम्—आवृत, ढका हुआ; वल्मीक—बांबी; तृण—घास; कीचकैः—तथा बाँस के डंडे से; पिपीलिकाभिः—चींटियों द्वारा; आचीर्णम्—चारों ओर से खाया हुआ; मेदः—जिसकी चर्बी; त्वक्—चमड़ी; मांस—मांस; शोणितम्—तथा रक्त; तपन्तम्—तपाता हुआ; तपसा—कठिन तपस्या से; लोकान्—तीनों लोकों को; यथा—जिस तरह; अभ्र—बादलों से; अपिहितम्—आच्छादित; रविम्—सूर्य को; विलक्ष्य—देखकर; विस्मितः—आश्चर्य-चकित; प्राह—कहा; हसन्—हँसते हुए; तम्—उसको; हंस-वाहनः—हंस यान पर आसीन ब्रह्माजी ने।

हंसयान पर चलने वाले ब्रह्माजी पहले तो यह नहीं देख पाये कि हिरण्यकशिपु कहाँ है, क्योंकि उसका शरीर बाँबी, घास तथा बाँस के ड़ड़ों से आच्छादित था। चूँकि हिरण्यकशिपु दीर्घकाल से वहाँ था अतएव चीटियाँ उसकी खाल, चर्बी, मांस तथा रक्त चट कर चुकी थीं। तब ब्रह्माजी तथा देवताओं ने उसे खोज निकाला। वह बादलों से आच्छादित सूर्य की भाँति सारे संसार को अपनी तपस्या से तपा रहा था। आश्चर्यचकित होकर ब्रह्माजी हँस पड़े और उसे इस प्रकार सम्बोधित करने लगे।

तात्पर्य : प्राणी अपनी त्वचा, मज्जा, अस्थि, रक्त इत्यादि के बिना केवल निजी शक्ति से जीवित रह सकता है, क्योंकि यह कहा गया है *असङ्गोऽयं पुरुषः*—प्राणी (जीव) को भौतिक आवरण से कुछ भी लेना देना नहीं रहता। हिरण्यकशिपु ने अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या की थी। निस्सन्देह, कहा जाता है कि उसने एक सौ दैवी वर्षों तक तपस्या की। चूँकि देवताओं का एक दिन हमारे छः मासों के

बराबर होता है, अतएव यह अत्यन्त दीर्घ समय था। प्रकृति के अपने ढंग से उसके शरीर को केंचुओं, चीटियों तथा परजीवियों ने लगभग खा लिया था और इसलिए ब्रह्मा भी पहले उसे नहीं देख पाये। किन्तु बाद में ब्रह्मा जान गये कि हिरण्यकशिपु कहाँ पर था और वे उसकी तपस्या की अद्‌भुत शक्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उस समय कोई भी यह निष्कर्ष निकालता कि हिरण्यकशिपु मृत हो चुका था, क्योंकि उसका शरीर पूरी तरह से आच्छादित हो चुका था। लेकिन इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा समझ गये कि हिरण्यकशिपु जीवित है किन्तु भौतिक तत्त्वों द्वारा आच्छादित हो गया है।

यहाँ इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि हिरण्यकशिपु ने वर्षों तक लगातार यह तपस्या की थी फिर भी वह दैत्य तथा राक्षस के रूप में ही विख्यात था। अगले श्लोकों से पता चल जाएगा कि इस प्रकार की कठिन तपस्या बड़े से बड़े साधु पुरुष भी नहीं कर सकते। तो फिर वह राक्षस तथा दैत्य क्यों कहलाता था? इसका कारण यह था कि उसने जो भी किया वह सब अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किया था। उसका पुत्र प्रह्लाद अभी केवल पाँच वर्ष का था अतएव वह कर ही क्या सकता था? फिर भी नारद मुनि के उपदेशों के अनुसार केवल थोड़ीसी भक्ति करके वह भगवान् का इतना प्रिय बन गया कि वे उसे बचाने के लिए आये। जबकि हिरण्यकशिपु अपनी सारी तपस्या के बावजूद मारा गया। भक्ति तथा सिद्धि की अनेक विधियों में यही अन्तर है। जो अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कठिन तपस्या करता है, वह समग्र संसार को डराता है, जबकि थोड़ी सी भक्ति करने वाला भक्त हर एक का मित्र होता है (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। चूँकि भगवान् प्रत्येक जीव के शुभचिन्तक हैं और चूँकि भक्त भगवान् के गुण प्राप्त कर लेता है, अतएव भक्त भी भक्ति के द्वारा हर एक के कल्याण के लिए कर्म करता है। इस प्रकार यद्यपि हिरण्यकशिपु ने ऐसी कठिन तपस्या की थी, किन्तु वह दैत्य तथा राक्षस ही बना रहा जबकि उसी दैत्य पिता से उत्पन्न प्रह्लाद महाराज अत्यन्त सम्मानित भक्त बन गये जिससे स्वयं भगवान् ने उनकी रक्षा की। इसीलिए भक्ति सर्वोपाधि *विनिर्मुक्तम्* कहलाती है, जिससे सूचित होता है कि भक्त समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है और वह *अन्याभिलाषिताशून्यम्* अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होकर दिव्य पद पर स्थित होता है।

श्रीब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपःसिद्धोऽसि काश्यप ।

वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; उत्तिष्ठ—उठो; उत्तिष्ठ—उठो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; तपः-सिद्धः—तपस्या करने में पूर्ण; असि—तुम हो; काश्यप—हे कश्यप पुत्र; वर-दः—वर देने वाला; अहम्—मैं; अनुप्राप्तः—आया हूँ; व्रियताम्—माँग लो; ईप्सितः—वांछित; वरः—वरदान।

ब्रह्माजी ने कहा : हे कश्यप मुनि के पुत्र, उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपनी तपस्या में सिद्ध हो चुके हो, अतएव मैं तुम्हें वरदान देता हूँ। तुम मुझसे जो चाहे सो माँग सकते हो और मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करूँगा।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य ने *स्कंद पुराण* से उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार हिरण्यकशिपु हिरण्यगर्भ कहलाने वाले ब्रह्माजी का भक्त बनकर तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए कठिन तपस्या करके स्वयं हिरण्यक भी कहलाता है। राक्षस तथा असुरगण ब्रह्मा तथा शिव जैसे विविध देवताओं की पूजा इन देवताओं का स्थान ग्रहण करने के लिए करते हैं। इसकी व्याख्या हम पिछले श्लोकों में कर चुके हैं।

अद्राक्षमहमेतं ते हृत्सारं महदद्भुतम् ।
दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥ १८॥

शब्दार्थ

अद्राक्षम्—स्वयं देखा है; अहम्—मैंने; एतम्—यह; ते—तुम्हारी; हृत्-सारम्—सहन शक्ति; महत्—अत्यधिक; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; दंश-भक्षित—कीड़ों तथा चीटियों से खायी हुई; देहस्य—देह का; प्राणाः—प्राण, प्राणवायु; हि—निस्सन्देह; अस्थिषु—हड्डियों में; शेरते—शरण ले रहा है।

मैं तुम्हारे धैर्य को देखकर अत्यन्त विस्मित हूँ। सभी तरह के कीड़ों तथा चीटियों द्वारा खाये तथा काटे जाने के बावजूद तुम अपनी अस्थियों में प्राणवायु को संचालित किये हुए हो। निस्सन्देह, यह आश्चर्यजजनक है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा का अस्तित्व अस्थियों में भी हो सकता है जैसाकि हिरण्यकशिपु के निजी उदाहरण से दर्शित होता है। जब बड़े-बड़े योगी समाधि में रहते हैं, तो उनके शरीर भूमि में गड़े रहने पर उनकी खाल, मज्जा, रक्त इत्यादि खाये जाने पर भी, यदि उनकी हड्डियाँ बची रहती हैं, तो वे दिव्य पद पर विद्यमान रह सकते हैं। हाल ही में एक पुरातत्वविद ने अपनी खोज प्रकाशित की है, जिसमें सूचित किया गया है कि भूमि में गाड़े जाने के बाद क्राइस्ट को खोद निकाला गया और तब वे कश्मीर गये। योगियों के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जब वे समाधि में गाड़ दिये

गये और कई घन्टों के बाद अच्छी अवस्था में जीवित निकाल लिए गये। योगी अपने को दिव्य अवस्था में जीवित रख सकता है भले ही उसे कई दिनों के लिए क्या वर्षों तक क्यों न गाड़ कर रखा जाये।

नैतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
निरम्बुर्धारयेत्प्राणान्को वै दिव्यसमाः शतम् ॥ १९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; पूर्व-ऋषयः—तुम्हारे पहले के ऋषि यथा भृगु ने; चक्रुः—सम्पन्न किया; न—न तो; करिष्यन्ति—करेंगे; च—भी; अपरे—अन्य लोग; निरम्बुः—जल पिये बिना; धारयेत्—जीवित रख सकते हैं; प्राणान्—प्राण वायु को; कः—कौन; वै—निस्सन्देह; दिव्य-समाः—दैवी वर्ष; शतम्—एक सौ।

यहाँ तक कि भृगु जैसे साधु पुरुष, जो पहले जन्म ले चुके हैं ऐसी कठिन तपस्या नहीं कर सके हैं, न भविष्य में भी कोई ऐसा कर सकेगा। इस तीनों लोकों में ऐसा कौन होगा जो जल पिये बिना एक सौ दैवी वर्षों तक जीवन धारण कर सके?

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि यदि योगी पानी की एक बूँद भी न पिये तो वह योग विधि से अनेकानेक वर्षों तक जीवित रह सकता है भले ही उसके बाह्य शरीर को चींटियाँ तथा कीड़े-मकोड़े खा जाँय।

व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम् ।
तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ॥ २०॥

शब्दार्थ

व्यवसायेन—संकल्प से; ते—तुम्हारा; अनेन—इस; दुष्करेण—दुष्कर; मनस्विनाम्—बड़े-बड़े ऋषियों तथा साधु पुरुषों के लिए भी; तपः-निष्ठेन—तपस्या करने के उद्देश्य से; भवता—तुम्हारे द्वारा; जितः—जीता गया; अहम्—मैं; दिति-नन्दन—हे दिति पुत्र।

हे दितिपुत्र, तुमने अपने महान् संकल्प से तथा अपनी तपस्या से वह कर दिखाया है, जो बड़े-बड़े साधु पुरुषों के लिए भी दुष्कर है। इस तरह तुमने मुझे निश्चय ही जीत लिया है।

तात्पर्य : *जितः* शब्द के विषय में श्रील मध्व मुनि शब्द *निर्णय* से निम्नलिखित उदाहरण देते हैं—*पराभूतं वशस्थं च जितभिद् उच्यते बुधैः*—यदि कोई किसी के वश में हो जाता है या दूसरे द्वारा पराजित हो जाता है, तो वह *जितः* कहलाता है। हिरण्यकशिपु की तपस्या इतनी महान् तथा अद्भुत थी कि ब्रह्माजी को भी अपने को उससे पराजित हुआ स्वीकार करना पड़ा।

ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव ।
मर्तस्य ते ह्यमर्तस्य दर्शनं नाफलं मम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसके कारण; ते—तुमको; आशिषः—वरदान; सर्वाः—सभी; ददामि—दूँगा; असुर-पुङ्गव—हे असुरों में श्रेष्ठ; मर्तस्य—मरने वाले का; ते—तुम्हारी तरह; हि—निस्सन्देह; अमर्तस्य—न मरने वाले का; दर्शनम्—दर्शन; न—नहीं; अफलम्—बिना फल के; मम—मेरा।

हे असुरों में श्रेष्ठ, इस कारण मैं तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें सारे वरदान देने के लिए तैयार हूँ। मैं देवताओं के दैवी संसार से सम्बन्धित हूँ, जहाँ देवतागण मनुष्यों की तरह नहीं मरते। अतएव यद्यपि तुम मर्त्य हो, किन्तु तुमने मेरा दर्शन किया है, अतः यह व्यर्थ नहीं जाएगा।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य तथा असुर तो मर्त्य हैं, किन्तु देवता नहीं हैं। जो देवता ब्रह्माजी के साथ सत्य लोक में रहते हैं, वे अपने शरीरपात के समय वर्तमान देहों सहित वैकुण्ठ लोक को जाते हैं। अतएव यद्यपि हिरण्यकशिपु ने कठिन तपस्या की थी, किन्तु ब्रह्मा ने भविष्यवाणी की कि उसे मरना होगा। वह न तो अमर हो सकता है, न देवताओं के समान पद पा सकता है। उसने इतने वर्षों तक जो महान् तप किया था उससे उसे मृत्यु से सुरक्षा प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसकी भविष्यवाणी ब्रह्मा द्वारा की जा चुकी थी।

श्रीनारद उवाच
इत्युक्त्वादिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः ।
कमण्डलुजलेनौक्षद्दिव्येनामोघराधसा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; आदि-भवः—इस ब्रह्माण्ड का पहला जीवित प्राणी, ब्रह्माजी; देवः—प्रधान देवता; भक्षित-अङ्गम्—हिरण्यकशिपु का शरीर जो प्रायः खाया जा चुका था; पिपीलिकैः—चींटियों द्वारा; कमण्डलु—ब्रह्माजी के हाथ के जलपात्र से; जलेन—जल से; औक्षत्—छिड़का; दिव्येन—आध्यात्मिक, सामान्य नहीं; अमोघ—अचूक; राधसा—जिसकी शक्ति।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : हिरण्यकशिपु से ये शब्द कहने के बाद इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्माजी ने, जो अत्यन्त शक्तिमान हैं, उसके शरीर पर अपने कमण्डल से दिव्य अचूक आध्यात्मिक जल छिड़का, जिसे चींटियों तथा कीड़े-मकोड़ों ने खा लिया था। इस तरह उन्होंने हिरण्यकशिपु को जीवित किया।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्माजी प्रथम जीव हैं जिन्हें सृष्टि करने की शक्ति परमेश्वर द्वारा प्राप्त है।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये—*आदि देव* या *आदि कवि* अर्थात् प्रथम सजीव प्राणी को भगवान् ने स्वयं हृदय के भीतर से शिक्षा दी थी। उसे शिक्षा देने वाला कोई न था, किन्तु चूँकि ब्रह्माजी के हृदय में स्थित हैं, अतएव ब्रह्मा को साक्षात् भगवान् ने शिक्षा दी। ब्रह्माजी विशेष रूप से शक्त्याविष्ट होने के कारण वे जो चाहते हैं उसे करने में अचूक हैं। *अमोघ राधसा* शब्द का अर्थ यही है। वे हिरण्यकशिपु के मूल शरीर को जीवनदान देना चाहते थे; अतएव उन्होंने अपने कमण्डल से दिव्य जल छिड़कर उन्होंने यह कार्य तुरन्त कर डाला।

स तत्कीचकवल्मीकात्सहओजोबलान्वितः ।
सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा ।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ॥ २३॥

शब्दार्थ

सः—वह हिरण्यकशिपु; तत्—उस; कीचक-वल्मीकात्—बाँबी तथा बाँस के कुंज से; सहः—मानसिक शक्ति; ओजः—इन्द्रिय शक्ति; बल—तथा पर्याप्त शारीरिक शक्ति से; अन्वितः—युक्त; सर्व—समस्त; अवयव—शरीर के अंग; सम्पन्नः—पूर्णतया फिर से पाकर; वज्र-संहननः—वज्र के समान मजबूत शरीर वाला; युवा—तरुण; उत्थितः—उठा हुआ; तप्त-हेम-आभः—जिसके शरीर की कान्ति पिघले सोने के समान थी; विभावसुः—अग्नि; इव—सदृश; एधसः—काष्ठ से।

ज्योंही ब्रह्मा ने अपने कमंडल से उसके शरीर पर जल छिड़का त्योंही हिरण्यकशिपु उठ बैठा। उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग इतने बलवान् थे कि वह वज्र के आघात को भी सहन कर सकता था। इतनी शारीरिक शक्ति एवं पिघले सोने की सी शारीरिक कान्ति से युक्त वह पूर्ण तरुण पुरुष की भाँति बाँबी से उसी तरह प्रकट हुआ जिस तरह काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को पुनः जीवन प्राप्त हुआ तो उसका शरीर इतना बलिष्ठ था कि वह वज्र के आघात को भी सहन कर सकता था। अब वह अत्यन्त बलिष्ठ शरीर वाला तरुण पुरुष था और उसके सुन्दर शरीर की आभा पिघले सोने जैसी थी। यह कायाकल्प उसकी कठोर तपस्या का परिणाम था।

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमुपस्थितम् ।
ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ २४॥

शब्दार्थ

सः—उसने (हिरण्यकशिपु ने); निरीक्ष्य—देखकर; अम्बरे—आकाश में; देवम्—परम देवता; हंस-वाहम्—हंस-वायुयान पर चढ़ने वाला; उपस्थितम्—अपने समक्ष स्थित; ननाम—नमस्कार किया; शिरसा—शिर के बल; भूमौ—भूमि पर; तत्-दर्शन—ब्रह्माजी का दर्शन कर के; महा-उत्सवः—अत्यन्त प्रसन्न।

आकाश में हंस-वायुयान पर सवार ब्रह्मा को अपने समक्ष देखकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह तुरन्त शिर के बल भूमि पर गिर पड़ा और भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२३-२४) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

"हे कुन्तीपुत्र! मनुष्य अन्य देवों को जो भी कुछ चढ़ाता है, वह वास्तव में मेरे लिए ही होता है, किन्तु वह बिना सही ज्ञान के चढ़ाया जाता है। मैं ही एकमात्र भोक्ता हूँ और यज्ञ का एकमात्र स्वामी हूँ। जो लोग मेरे दिव्य स्वभाव को वास्तव में नहीं जानते वे पतित होते हैं।"

वास्तव में, कृष्ण कहते हैं "जो लोग देवताओं की पूजा में लगे रहते हैं, वे बहुत बुद्धिमान नहीं होते, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में यह मेरी ही पूजा है।" उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति वृक्ष की जड़ों में पानी न डालकर वृक्ष की टहनियों तथा पत्तों में जल डालता है, तो वह पर्याप्त ज्ञान के अभाव में या अनुष्ठानों का पालन किये बिना ही ऐसा करता है। वृक्ष को जल देने की विधि है कि उसकी जड़ों में पानी डाला जाये। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की सेवा करने की विधि है पेट में भोजन डालना। एक तरह से सारे देवता परमेश्वर की सरकार के विभिन्न अफसर तथा निदेशक हैं। मनुष्य को सरकार द्वारा निर्मित कानून का पालन करना होता है न कि अफसरों या निदेशकों द्वारा निर्मित कानूनों का। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को केवल परमेश्वर की पूजा करनी होती है। इससे भगवान् के विभिन्न अफसर तथा निदेशक स्वतः प्रसन्न हो लेंगे। सारे अफसर तथा निदेशक तो सरकार के प्रतिनिधि हैं और इनमें से किसी को भी घूस देना अवैध है। *भगवद्गीता* में इसे *अविधिपूर्वकम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण देवताओं की अनावश्यक पूजा की अनुमति नहीं देते।

भगवद्गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करने की संस्तुति की गई है, किन्तु वास्तव में वे सब परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए हैं। यज्ञ का अर्थ है

विष्णु। *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ अथवा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करे। मानव सभ्यता का पूर्ण रूप, जो वर्णाश्रम धर्म के नाम से जाना जाता है, विष्णु को प्रसन्न करने के ही निमित्त है। अतएव कृष्ण कहते हैं ''मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ क्योंकि मैं ईश्वर हूँ। किन्तु अल्पज्ञ इस तथ्य को न जानते हुए क्षणिक लाभ के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। अतएव वे इस भौतिक संसार में आ गिरते हैं और जीवन के इच्छित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते।'' किन्तु यदि किसी को कोई भौतिक इच्छा पूरी करनी है, तो अच्छा हो कि वह इसके लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे (यद्यपि यह शुद्ध भक्ति नहीं है) और इस तरह उसे वांछित फल प्राप्त होगा।

यद्यपि हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी को नमस्कार किया, किन्तु वह विष्णु के प्रति अत्यधिक शत्रुता रखता था। यह असुर का लक्षण है। असुरगण देवताओं की पूजा भगवान् से भिन्न होने के रूप में करते हैं और वे यह नहीं जानते कि सारे देवता भगवान् के दास होने के कारण ही शक्तिशाली होते हैं। यदि भगवान् देवताओं से शक्ति छीन लें तो देवतागण अपने उपासकों को वरदान न दे सकें। एक भक्त तथा असुर में यही अन्तर होता है कि भक्त यह जानता रहता है कि विष्णु भगवान् हैं और सभी लोग उनसे शक्ति प्राप्त करते हैं। एक भक्त विशेष शक्तियों के लिए देवताओं की पूजा न करके भगवान् विष्णु की पूजा यह जानते हुए करता है कि यदि उसे किसी शक्ति की आवश्यकता होगी तो वह विष्णु के भक्त के रूप में कर्म करता हुआ प्राप्त कर लेगा। अतएव शास्त्र (*भागवत* २.३.१०) में यह संस्तुति की गई है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

''जो व्यक्ति व्यापक बुद्धि का होता है, वह चाहे भौतिक इच्छओं से युक्त हो, या उनसे मुक्त हो अथवा मुक्ति चाहता हो उसे सभी तरह से परम पूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।'' यदि मनुष्य भौतिक इच्छाओं से पूर्ण भी हो तो भी उसे देवताओं की पूजा न करके परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। इससे परमेश्वर के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित होगा और वह असुर या अभक्त बनने से बच जायेगा। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य *ब्रह्म-तर्क* से निम्नलिखित उदाहरण देते हैं—

एकस्थानैककार्यत्वाद् विष्णो: प्राधान्यतस्तथा।

जीवस्य तदधीनत्वान्न भिन्नाधिकृतं वच: ॥

चूँकि विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं अतएव उनकी पूजा द्वारा मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं। उसे किसी अन्य देवता की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम् ।
हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

उत्थाय—उठकर; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्रह्वः—विनीत भाव से; ईक्षमाणः—देखते हुए; दृशा—अपनी आँखों से; विभुम्—इस ब्रह्माण्ड के भीतर परम पुरुष को; हर्ष—प्रसन्नता के; अश्रु—आँसुओं से; पुलक—शरीर में रोमांच; उद्भेदः—सजीव; गिरा—शब्दों से; गद्गदया—रुक-रुक कर; अगृणात्—प्रार्थना की।

तब दैत्यराज भूमि से उठकर एवं ब्रह्माजी को अपने समक्ष देखकर प्रसन्नता से अभिभूत हो गया। वह अश्रुपूर्ण नेत्रों एवं कम्पित पुलकित शरीर से अपने हाथ जोड़कर तथा अवरुद्ध वाणी से ब्रह्माजी को प्रसन्न करने के लिए विनीत मुद्रा में प्रार्थना करने लगा।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम् ।
अभिव्यनग्जगदिदं स्वयञ्ज्योतिः स्वरोचिषा ॥ २६ ॥
आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति ।
रज:सत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—हिरण्यकशिपु ने कहा; कल्प-अन्ते—ब्रह्माजी के प्रत्येक दिन के अन्त में; काल-सृष्टेन—काल (समय) द्वारा सृजित; यः—जो; अन्धेन—घने अंधकार से; तमसा—अज्ञान से; आवृतम्—ढका हुआ; अभिव्यनक्—प्रकट, व्यक्त; जगत्—विराट अभिव्यक्ति; इदम्—यह; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-तेज; स्व-रोचिषा—अपने शरीर की किरणों से; आत्मना—अपने से; त्रि-वृता—प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा संचालित; च—भी; इदम्—यह भौतिक जगत; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करना है; लुम्पति—संहार करता है; रजः—रजोगुण का; सत्त्व—सतोगुण; तमः—तथा तमोगुण का; धाम्ने—परम स्वामी को; पराय—परम को; महते—महान् को; नमः—मेरा सादर नमस्कार।

''मैं इस ब्रह्माण्ड के परम स्वामी को सादर नमस्कार करता हूँ। उनके जीवन के प्रत्येक दिन के अन्त में यह ब्रह्माण्ड काल के प्रभाव से घने अंधकार द्वारा आच्छादित हो जाता है और दूसरे दिन पुनः वही आत्म-तेजस्वी स्वामी अपने निजी तेज से अपनी भौतिक शक्ति के माध्यम से, जो प्रकृति के तीन गुणों से युक्त है, सम्पूर्ण जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता है। वे ब्रह्माजी ही सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—इन तीन प्रकृति के गुणों के आधार हैं।''

तात्पर्य : *अभिव्यनग् जगद् इदम्* शब्द इस विराट जगत को उत्पन्न करने वाले के लिए आये हैं।

आदि स्रष्टा भगवान् कृष्ण हैं (*जन्माद्यस्य यतः*), ब्रह्माजी तो गौण स्रष्टा हैं। जब भगवान् कृष्ण द्वारा ब्रह्माजी को शिल्पी के रूप में व्यवहार जगत की सृष्टि करने के लिए शक्ति प्रदान की जाती है, तो वे इस ब्रह्माण्ड के परम शक्तिशाली स्वरूप बन जाते हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति कृष्ण द्वारा उत्पन्न की जाती है और बाद में इस शक्ति का लाभ उठाकर ब्रह्मा समग्र व्यवहार-जगत का शिल्पन करते हैं। ब्रह्माजी के दिन के अन्त में स्वर्ग लोक तक सारी वस्तुएँ जल से आप्लावित हो उठती हैं और अगले दिन प्रात:काल जब ब्रह्माण्ड में अंधकार हो जाता है, तो ब्रह्माजी फिर से सृष्टि उत्पन्न करते हैं। अतएव उन्हें यहाँ पर ब्रह्माण्ड का आदि स्रष्टा कहा गया है।

त्रीन् गुणान् वृणोति—ब्रह्माजी प्रकृति के तीन गुणों का लाभ उठाते हैं। यहाँ पर प्रकृति को *त्रिवृता* कहा गया है अर्थात् वह तीन भौतिक गुणों की उद्गम है। इसकी टीका में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि *त्रिवृता* का अर्थ *प्रकृत्या* है। भगवान् कृष्ण आदि स्रष्टा हैं और ब्रह्माजी आदि शिल्पी हैं।

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये ।
प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ; आद्याय—आदि जीव को; बीजाय—विराट विश्व के बीज को; ज्ञान—ज्ञान के; विज्ञान—व्यावहारिक ज्ञान के; मूर्तये—अर्चा विग्रह या स्वरूप को; प्राण—प्राणों के; इन्द्रिय—इन्द्रिय के; मनः—मन के; बुद्धि—बुद्धि के; विकारैः—रूपान्तरों से; व्यक्तिम्—अभिव्यक्ति; ईयुषे—जिसने प्राप्त कर लिया है।

"मैं इस ब्रह्माण्ड के आदि पुरुष ब्रह्माजी को नमस्कार करता हूँ जो ज्ञान विशेष हैं तथा जो इस विराट जगत को उत्पन्न करने में मन तथा अनुभूत बुद्धि का उपयोग कर सकते हैं। उनके कार्य-कलापों के ही कारण इस ब्रह्माण्ड में हर वस्तु दृष्टिगोचर हो रही है, अतएव वे समग्र अभिव्यक्तियों के कारण हैं।"

तात्पर्य : *वेदान्त सूत्र* का शुभारम्भ इस घोषणा से होता है कि परम पुरुष ही समस्त सृष्टि का आदि स्रोत हैं (*जन्माद्यस्य*)। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या ब्रह्माजी परम पुरुष हैं? नहीं। परम पुरुष तो कृष्ण हैं। ब्रह्मा कृष्ण से ही अपना मन, बुद्धि तथा अन्य सारी वस्तुएँ प्राप्त करते हैं और तब वे गौण स्रष्टा या इस ब्रह्माण्ड के शिल्पी बनते हैं। इस सम्बन्ध में हमें ध्यान रखना चाहिए कि सृष्टि संयोगवश विशाल पिंड के विस्फोट से उत्पन्न नहीं हुई। वैदिक जिज्ञासु ऐसे निरर्थक सिद्धान्तों को नहीं मानते। प्रथम उत्पन्न जीव तो ब्रह्मा हैं जिसे भगवान् ने पूर्ण ज्ञान तथा बुद्धि प्रदान की। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में

कहा गया है *तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये*—यद्यपि ब्रह्मा प्रथम उत्पन्न प्राणी हैं, लेकिन वे स्वतंत्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने हृदय में भगवान् की सहायता से बुद्धि प्राप्त करते हैं। सृष्टि के समय ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं होता, अतएव वे भगवान् से प्रत्यक्ष रूप में हृदय के माध्यम से अपनी बुद्धि प्राप्त करते हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में की जा चुकी है।

इस श्लोक में ब्रह्माजी को विराट् जगत का आदि कारण कहा गया है। यह भौतिक जगत में उनके पद का सूचक है। ऐसे अनेक नियंत्रक हैं जिन सबों को परमेश्वर विष्णु ने उत्पन्न किया। इसका चित्रांकन *चैतन्य-चरितामृत* में वर्णित एक घटना में हुआ है। जब इस ब्रह्माण्ड विशेष के ब्रह्मा को कृष्ण ने द्वारका में आमंत्रित किया तो उन्होंने सोचा कि वे ही एकमात्र ब्रह्मा हैं। अतएव जब कृष्ण ने अपने नौकर से पूछा कि कौन से ब्रह्मा भेंट करने द्वार पर आये हैं, तो ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। उसने उत्तर दिया कि चारों कुमारों के पिता ब्रह्माजी द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाद में ब्रह्माजी ने कृष्ण से पूछा कि आपने यह क्यों पूछा था कि कौन से ब्रह्मा आये हैं। तो भगवान् ने बताया कि ऐसे लाखों ब्रह्मा हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड भी लाखों हैं। तब कृष्ण ने सारे ब्रह्माओं को बुलाया तो सारे ब्रह्मा तुरन्त उनसे भेंट करने गये। *चतुर्मुख* ब्रह्मा ने चार मुख होने के कारण उन अनेक ब्रह्माओं के मध्य अपने को अत्यन्त तुच्छ प्राणी समझा जिनके अनेक मुख थे। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड का एक शिल्पी ब्रह्मा होता है और कृष्ण उन सबों के आदि स्रोत हैं।

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तैर्मनइन्द्रियाणां
पतिर्महान्भूतगुणाशयेशः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; ईशिषे—वास्तविक नियंत्रण करते हो; जगतः—चल प्राणियों का; तस्थुषः—एक स्थान पर स्थिर रहने वालों का; च—तथा; प्राणेन—प्राण से; मुख्येन—समस्त कार्यकलापों का उद्गम; पतिः—स्वामी; प्रजानाम्—समस्त जीवों का; चित्तस्य—मन का; चित्तैः—चेतना से; मनः—मन का; इन्द्रियाणाम्—तथा दो प्रकार की इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ) का; पतिः—स्वामी; महान्—महान्; भूत—भौतिक तत्त्वों का; गुण—तथा भौतिक तत्त्वों के गुण; आशय—इच्छाओं का; ईशः—परम स्वामी।

''आप ही इस भौतिक जगत के जीवन के उद्गम होने से चर तथा अचर दोनों प्रकार के जीवों के स्वामी तथा नियन्ता हैं और उनकी चेतना को प्रेरित करते रहते हैं। आप मन और कर्म

तथा ज्ञान की इन्द्रियों को धारण करते हैं अतएव आप समस्त भौतिक तत्त्वों तथा उनके गुणों के महान् नियन्ता हैं। आप समस्त इच्छाओं के भी नियन्ता हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित किया गया है कि प्रत्येक वस्तु का मूल स्रोत जीवन है। ब्रह्मा को परम पुरुष कृष्ण ने उपदेश दिया था। कृष्ण परम पुरुष हैं (*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*) और ब्रह्मा भी जीव हैं लेकिन ब्रह्मा के मूल स्रोत कृष्ण ही हैं। अतएव *भगवद्गीता* (७.७) में कृष्ण कहते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय*—''हे अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ सत्य कोई नहीं है।'' कृष्ण ब्रह्माजी के मूल स्रोत हैं, जो इस ब्रह्माण्ड के मूल स्रोत हैं। ब्रह्माजी कृष्ण के प्रतिनिधि हैं, अतएव कृष्ण के सारे गुण तथा कार्यकलाप ब्रह्माजी में भी पाये जाते हैं।

त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा
त्रय्या चतुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; सप्त-तन्तून्—सात प्रकार के वैदिक अनुष्ठान, जिनमें पहला है अग्निष्टोम यज्ञ; वितनोषि—फैलाते हो; तन्वा—अपने शरीर से; त्रय्या—तीन वेद; चतुः-होत्रक—चार प्रकार के पुरोहित जो होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता कहलाते हैं; विद्यया—आवश्यक ज्ञान द्वारा; च—भी; त्वम्—तुम; एकः—एक; आत्मा—परमात्मा; आत्म-वताम्—सारे जीवों का; अनादिः—आदिरहित; अनन्त-पारः—अन्तहीन; कविः—परम प्रेरक; अन्तः-आत्मा—हृदय के भीतर स्थिर परमात्मा।

''हे प्रभु, आप साक्षात् वेदों के रूप में तथा समस्त याज्ञिक ब्राह्मणों के कार्यकलापों से सम्बन्धित ज्ञान के द्वारा अग्निष्टोम इत्यादि सात प्रकार के यज्ञों के वैदिक अनुष्ठानों का विस्तार करते हैं। निस्सन्देह, आप याज्ञिक ब्राह्मणों को तीनों वेदों में उल्लिखित अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करते हैं। समस्त जीवों की अन्तरात्मा होने से आप आदिरहित, अन्तरहित तथा सर्वज्ञ हैं, आप काल तथा देश की सीमाओं के परे हैं।''

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठान, उनका ज्ञान तथा उनको सम्पन्न करने वाले व्यक्ति परमात्मा द्वारा प्रेरित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानपोहनं च*—भगवान् से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं। परमात्मा हर एक के हृदय में स्थित हैं (*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) और जब कोई वैदिक ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो परमात्मा उसे निर्देश देते हैं। परमात्मा के रूप में कार्य करते हुए भगवान् उपयुक्त व्यक्ति को वैदिक अनुष्ठानों को

सम्पन्न करने की प्रेरणा देते हैं जिन्हें *ऋत्विक्* कहते हैं। इसके लिए चार प्रकार के पुरोहितों को इसका उल्लेख होता, *अध्वर्यु, ब्रह्मा* तथा उद्गाता के रूप में हुआ है।

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यवयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम, एक ही; एव—निश्चित; कालः—अनन्त समय; अनिमिषः—बिना पलक झाँपे; जनानाम्—समस्त जीवों के; आयुः—आयु, उम्र; लव-आदि—सेकंड, पल, मिनट तथा घन्टे आदि; अवयवैः—विभिन्न भागों से; क्षिणोषि—क्षीण करते हो, घटाते हो; कूट-स्थः—किसी से प्रभावित हुए बिना; आत्मा—परमात्मा; परमेष्ठी—परमेश्वर; अजः—अजन्मा; महान्—महान; त्वम्—तुम; जीव-लोकस्य—इस भौतिक जगत का; च—भी; जीवः—जीवन का कारण; आत्मा—परमात्मा।

हे स्वामी, आप नित्य जागते रहते हैं और जो कुछ घटित होता है उसे देखते हैं। नित्य काल के रूप में आप अपने विभिन्न अंगों तथा क्षण, सेकंड, मिनट तथा घंटे से समस्त जीवों की आयु घटाते हैं फिर भी आप अपरिवर्तनशील हैं, एक ही साथ परमात्मा, साक्षी तथा अजन्मा, सर्वव्यापी नियन्ता हैं, जो समस्त जीवों के जीवन के कारण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *कूट-स्थ* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर विराजमान हैं। जैसाकि उपनिषदों में *एकत्वम्* शब्द से सूचित होता है यद्यपि जीव लाखों हैं लेकिन भगवान् परमात्मा रूप में उनमें से हर एक में स्थित हैं। फिर भी वे अनेक में एक हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*—उनके अनेक रूप हैं, किन्तु वे अद्वैत—एक तथा अपरिवर्तित हैं। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे नित्य काल में भी स्थित हैं। जीवों को भगवान् का भिन्नांश कहा जाता है, क्योंकि वे सभी जीवों के जीवन तथा आत्मा हैं और उनके हृदयों में अन्तर्यामी के रूप में स्थित रहते हैं जैसी कि *अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन* की स्थापना है। चूँकि सारे जीव ईश्वर के अंश हैं, अतः वे गुणों में उनके समान होकर भी उनसे भिन्न होते हैं। परमात्मा समस्त जीवों को क र्म करने के लिए प्रेरित करता है, वह एक है और अव्यय है। यद्यपि विषयों तथा कार्यकलापों की अनेक किस्में हैं फिर भी भगवान् एक है।

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज-

देजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोऽसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुमसे; परम्—उच्चतर; न—नहीं; अपरम्—निम्नतर; अपि—भी; अनेजत्—अचर; एजत्—चर; च—तथा; किञ्चित्—कोई वस्तु; व्यतिरिक्तम्—पृथक्; अस्ति—है; विद्याः—विद्या, ज्ञान; कलाः—अंश; ते—तुम्हारे; तनवः—शरीर के लक्षण; च—तथा; सर्वाः—सभी; हिरण्य-गर्भः—अपने उदर में ब्रह्माण्ड को रखने वाला; असि—तुम हो; बृहत्—बड़े से बड़ा; त्रि-पृष्ठः—प्रकृति के तीन गुणों से परे।

"आपसे पृथक् कुछ भी नहीं है चाहे वह अच्छा हो या निम्नतर, अचर या चर। वैदिक वाङ्मय से यथा उपनिषदों से तथा मूल वैदिक ज्ञान के उपायों से प्राप्त ज्ञान आपके बाह्य शरीर की रचना करने वाले हैं। आप हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माण्ड के आगार हैं, लेकिन परम नियन्ता के रूप में स्थित होने से आप तीन गुणों से युक्त भौतिक जगत से परे हैं।

तात्पर्य : *परम* शब्द का अर्थ हैं "परम कारण" तथा *अपरम्* का अर्थ है "कार्य"। परम कारण तो भगवान् हैं और भौतिक प्रकृति कार्य है। चर तथा अचर दोनों प्रकार के जीव कला एवं विज्ञान विषयक वैदिक आदेशों से नियंत्रित होते हैं, अतएव वे सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति के विस्तार हैं, जो परमात्मा के रूप में केन्द्रित हैं। ब्रह्माण्डों का अस्तित्व परमेश्वर के श्वसनकाल तक रहता है (*यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः*)। इस प्रकार ये ब्रह्माण्ड भी भगवान् महाविष्णु के गर्भ के भीतर रहते हैं। अतएव कुछ भी भगवान् से पृथक् नहीं है। *अचिन्त्य भेदाभेदतत्त्व* का दर्शन यही है।

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्ये
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—प्रकट; विभो—हे प्रभु; स्थूलम्—विराट अभिव्यक्ति; इदम्—यह; शरीरम्—बाह्य शरीर; येन—जिससे; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण; मनः—मन; गुणान्—दिव्य गुण; त्वम्—तुम; भुङ्क्षे—भोग करते हो; स्थितः—स्थित; धामनि—अपने धाम में; पारमेष्ठ्ये—परम; अव्यक्तः—सामान्य ज्ञान से प्रकट न होने वाला; आत्मा—आत्मा; पुरुषः—परम पुरुष; पुराणः—आदि, सबसे प्राचीन।

हे प्रभु, आप अपने धाम में निरन्तर स्थित रह कर अपने विराट रूप को इस विराट जगत के भीतर से विस्तारित करते हैं और इस तरह आप भौतिक जगत का आस्वादन करते प्रतीत होते हैं।

आप ब्रह्म, परमात्मा, सबसे प्राचीन ईश्वर हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि परम सत्य तीन रूपों में प्रकट होता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान् कृष्ण। यह विराट जगत भगवान् का स्थूल शरीर है, वे भौतिक रसों का आस्वादन अपने अंशों अर्थात् जीवों का विस्तार करके करते हैं। ये जीव गुणात्मक रूप से उनसे अभिन्न हैं। किन्तु भगवान् वैकुण्ठ लोक में स्थित हैं जहाँ वे आध्यात्मिक रसों का भोग करते हैं। अतएव एक परम सत्य भगवान् अपनी विराट अभिव्यक्ति द्वारा, अपने आध्यात्मिक ब्रह्मतेज द्वारा तथा परमेश्वर रूप में अपने साक्षात् अस्तित्व द्वारा सर्वत्र व्याप्त है।

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् ।
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अनन्त-अव्यक्त-रूपेण—असीम, अप्रकट रूप द्वारा; येन—जिससे; इदम्—यह; अखिलम्—सम्पूर्ण; ततम्—विस्तारित; चित्—आध्यात्मिक; अचित्—भौतिक; शक्ति—शक्ति; युक्ताय—से युक्त; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—मैं सादर नमस्कार करता हूँ।

मैं उन परमब्रह्म को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने अपने अनन्त, अव्यक्त रूप को विराट जगत के रूप में ब्रह्माण्ड की समग्रता में विस्तार किया है। उनमें बहिरंगा शक्ति तथा अन्तरंगा शक्ति और समस्त जीवों से समन्वित मिश्रित तटस्था शक्ति पाई जाती है।

तात्पर्य : भगवान् अनन्त शक्तियों से युक्त हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*) जिन्हें बहिरंगा, अन्तरंगा तथा तटस्था के रूप में संक्षेप में बताया जाता है। बहिरंगा शक्ति से यह भौतिक जगत प्रकट होता है, अन्तरंगा शक्ति से आध्यात्मिक जगत और तटस्था शक्ति से सारे जीव प्रकट होते हैं। यह तटस्था शक्ति अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्ति का मिश्रण है। जीव परब्रह्म का अंश होने से वास्तव में अन्तरंगा शक्ति हैं, लेकिन बहिरंगा शक्ति के सम्पर्क में होने के कारण वे भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ का मिश्रीत रूप हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक लीलाओं में लगे रहते हैं। भौतिक शक्ति उनकी लीलाओं की अभिव्यक्ति मात्र है।

यदि दास्यस्यभिमतान्वरान्मे वरदोत्तम ।
भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; दास्यसि—दोगे; अभिमतान्—वांछित; वरान्—वर; मे—मुझको; वरद-उत्तम—हे समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ; भूतेभ्यः—जीवों से; त्वत्—तुमसे; विसृष्टेभ्यः—उत्पन्न किये गये; मृत्युः—मृत्यु; मा—नहीं; भूत्—हो; मम—मेरे; प्रभो—हे स्वामी।

हे प्रभो, हे श्रेष्ठ वरदाता, यदि आप मुझे मेरा मनचाहा वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दें कि मैं आपके द्वारा उत्पन्न किसी भी जीव के द्वारा मृत्यु को प्राप्त न होऊँ।

तात्पर्य : गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने इस संसार में रहने के लिए विभिन्न प्रकार के जीव उत्पन्न किये। अतएव सृष्टि के प्रारम्भ से सारे जीव एक श्रेष्ठ जीव से उत्पन्न हुए। अन्ततोगत्वा कृष्ण ही श्रेष्ठ जीव और अन्य सबों के जनक हैं। *अहं बीजप्रद: पिता*—वे समस्त जीवों के वीर्यदाता पिता हैं।

यहाँ तक हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी की पूजा भगवान् के रूप में की और वह उनके वर से अमर होने की आशा करता रहा। किन्तु अब यह समझकर कि ब्रह्मा भी अमर नहीं हैं, क्योंकि कल्पान्त के समय वे भी मर जाएँगे, हिरण्यकशिपु अत्यन्त सतर्क होकर ऐसा वर माँग रहा है, जो अमरता के ही समकक्ष है। उसका पहला प्रस्ताव है कि वह इस भौतिक जगत के भीतर ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किसी भी प्रकार के जीव द्वारा न मारा जा सके।

नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः ।
न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्तः—भीतर (घर या महल); बहिः—घर के बाहर; दिवा—दिन के समय; नक्तम्—रात्रि के समय; अन्यस्मात्—ब्रह्मा के परे अन्य किसी से; अपि—भी; च—भी; अयुधैः—इस जगत में प्रयुक्त होने वाले किसी भी हथियार से; न—न तो; भूमौ—भूमि पर; न—नहीं; अम्बरे—आकाश में; मृत्युः—मृत्यु; न—नहीं; नरैः—किसी मनुष्य द्वारा; न—न तो; मृगैः—किसी पशु द्वारा; अपि—भी।

मुझे यह वर दें कि मैं न तो घर के अन्दर, न घर के बाहर, न दिन के समय, न रात में, न भूमि पर, न आकाश में मरूँ। मुझे वर दें कि मेरी मृत्यु न तो आपके द्वारा उत्पन्न जीवों के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा हो, न किसी हथियार से हो, न किसी मनुष्य या पशु के द्वारा हो।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को भय था कि कहीं विष्णु उसे पशु बनकर न मारें, क्योंकि उसके भाई का वध विष्णु ने वराह का रूप धारण करके किया था। अतएव वह सभी प्रकार के पशुओं से अत्यन्त चौकन्ना रहता था, लेकिन विष्णु किसी पशु का रूप धारण किये बिना ही अपना सुदर्शन चक्र चलाकर

उसे मार सकते थे, क्योंकि यह चक्र उनकी उपस्थिति बिना भी कहीं भी जा सकता था। इसीलिए हिरण्यकशिपु सभी प्रकार के हथियारों से अपनी रक्षा के प्रति चौकन्ना था। उसने सभी प्रकार के काल तथा देशों से सावधानी बरती, क्योंकि उसे भय था कि कोई अन्य देश में उसे मार न डाले। ऊपर तथा नीचे अनेक लोक हैं, अतएव उसने ऐसे वर के लिए प्रार्थना की जिससे वह इन लोकों में से किसी के निवासी द्वारा न मारा जा सके। आदि देवता तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर। हिरण्यकशिपु जानता था कि ब्रह्माजी उसे नहीं मारेंगे, किन्तु वह यह भी चाहता था कि विष्णु या महेश्वर भी उसका वध न करें। अतएव उसने ऐसे वर के लिए प्रार्थना की। इस तरह हिरण्यकशिपु ने सोचा कि वह इस ब्रह्माण्ड के भीतर किसी भी जीव के द्वारा किसी भी तरह मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा। उसने प्राकृतिक मृत्यु के प्रति भी सावधानी बरती, क्योंकि ऐसी मृत्यु घर के भीतर या बाहर हो सकती है।

व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः ।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥ ३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथात्मनः ।
तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

व्यसुभिः—निर्जीव वस्तुओं द्वारा; वा—अथवा; असुमद्भिः—सजीवों द्वारा; वा—अथवा; सुर—देवताओं द्वारा; असुर—दैत्यों द्वारा; महा-उरगैः—अधोलोक में वास करने वाले बड़े-बड़े सर्पों द्वारा; अप्रतिद्वन्द्वताम्—जिसकी बराबरी करने वाला न हो; युद्धे—युद्ध में; ऐक-पत्यम्—श्रेष्ठता; च—तथा; देहिनाम्—भौतिक शरीरधारियों के ऊपर; सर्वेषाम्—सभी; लोक-पालानाम्—समस्त लोकों के प्रधान देवताओं का; महिमानम्—यश; यथा—जिस तरह; आत्मनः—आपका; तपः-योग-प्रभावाणाम्—उन सबों का जिन्हें तपस्या तथा योगाभ्यास द्वारा शक्ति प्राप्त होती है; यत्—जो; न—कभी नहीं; रिष्यति—नष्ट होती है; कर्हिचित्—कभी भी।

आप मुझे वर दें कि किसी सजीव या निर्जीव प्राणी द्वारा मेरी मृत्यु न हो। मुझे यह भी वर दें कि मैं किसी देवता या असुर द्वारा या अधोलोकों के किसी बड़े सर्प द्वारा न मारा जाऊँ। चूँकि आपको युद्धभूमि में कोई मार नहीं सकता इसलिए आपका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं है। इसी प्रकार आप मुझे यह भी वर दें कि मेरा भी कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो। मुझे सारे जीवों तथा लोकपालों का एकछत्र स्वामित्व प्रदान करें और उस पद से प्राप्त होने वाला समस्त यश दें। साथ ही मुझे लम्बी तपस्या तथा योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली सारी योग शक्तियाँ दें, क्योंकि ये कभी भी विनष्ट नहीं हो सकतीं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी को अपना श्रेष्ठ पद लम्बी तपस्या, योग, ध्यान आदि से प्राप्त हुआ था।

हिरण्यकशिपु ऐसा ही पद चाहता था। योग, तपस्या तथा अन्य विधियों से प्राप्त सामान्य शक्तियाँ कभी-कभी नष्ट हो जाती हैं, लेकिन भगवान् की कृपा से प्राप्त होने वाली शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं। अतएव हिरण्यकशिपु ऐसा वर चाहता था, जो कभी समाप्त न हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत ''अमर बनने की हिरण्यकशिपु की योजना'' नामक तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक

इस अध्याय में पूरी तरह बताया गया है कि हिरण्यकशिपु ने किस तरह ब्रह्माजी से शक्ति प्राप्त की और फिर किस तरह इस ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों को तंग करने में उसका दुरुपयोग किया।

हिरण्यकशिपु ने कठोर तपस्या द्वारा ब्रह्माजी को प्रसन्न करके मनवांछित वर प्राप्त किये। इन वरों के प्राप्त होते ही उसका शरीर जो प्राय: पूरी तरह विनष्ट हो चुका था पूर्ण सौन्दर्य तथा स्वर्ण जैसी कान्ति से चैतन्य हो उठा। इतने पर भी वह भगवान् विष्णु से ईर्ष्या करता रहा और अपने भाई के वध को भुला नहीं पाया। उसने दशों दिशाएँ तथा तीनों लोक जीत लिए और देवताओं तथा असुरों समेत सभी जीवो को अपने वश में कर लिया। वह इन्द्र को उसके निवास से भगाकर सारे स्थानों का स्वामी बन गया और अत्यन्त विलासमय जीवन बिताने लगा अत: वह प्रमत्त हो उठा। भगवान् विष्णु, ब्रह्मा तथा शिवजी के अतिरिक्त सारे देवता उसके अधीन होकर उसकी सेवा करने लगे, किन्तु इतनी भौतिक शक्ति के बावजूद वह असुन्तष्ट था, क्योंकि वह वैदिक नियमों का उल्लंघन करने से गर्वित और फूला हुआ था। सारे ब्राह्मण उससे असन्तुष्ट थे और वे संकल्प करके उसे शाप देते थे। अन्ततोगत्वा ब्रह्माण्ड के सारे जीवों ने, जिनमें देवता तथा ऋषि भी थे, हिरण्यकशिपु के शासन से मुक्ति पाने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की।

भगवान् विष्णु ने देवताओं को बताया कि उन्हें तथा अन्य जीवों को हिरण्यकशिपु द्वारा उत्पन्न भयाक्रान्त परिस्थितियों से बचाया जाएगा। चूँकि हिरण्यकशिपु सारे देवताओं, वेदों के अनुयायियों, गायों, ब्राह्मणों तथा धार्मिक साधु पुरुषों का उत्पीड़क था और चूँकि वह परमेश्वर से द्वेष रखता था,

अतएव शीघ्र ही उसका वध किया जाएगा। हिरण्यकशिपु का अन्तिम कारनामा होगा अपने ही पुत्र प्रह्लाद को सताना जो एक महाभागवत परम वैष्णव थे। तब उसके जीवन का अन्त होगा। जब भगवान् ने देवताओं को इस तह आश्वस्त कर दिया तो हर एक प्राणी यह जानकर प्रसन्न हुआ कि शीघ्र ही हिरण्यकशिपु के कारण ढाये जानेवाले दुखों का अन्त हो जाएगा।

अन्त में नारद मुनि हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद महाराज के गुणों का वर्णन करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार एक पिता अपने ही योग्य पुत्र से ईर्ष्या करता है। इस प्रकार अध्याय का अन्त होता है।

श्रीनारद उवाच
एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात्तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने आगे कहा; एवम्—इस प्रकार; वृतः—याचना की; शत-धृतिः—ब्रह्माजी ने; हिरण्यकशिपोः—हिरण्यकशिपु की; अथ—तब; प्रादात्—प्रदान किया; तत्—उसकी; तपसा—कठिन तपस्या से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; वरान्—वरों को; तस्य—हिरण्यकशिपु को; सु-दुर्लभान्—अत्यन्त अप्राप्य।

नारद मुनि ने कहा : ब्रह्माजी हिरण्यकशिपु की दुष्कर तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न थे। अतएव जब उसने उनसे वर माँगे तो उन्होंने निस्सन्देह वे दुर्लभ वर प्रदान कर दिये।

श्रीब्रह्मोवाच
तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान्वृणीषे वरान्मम ।
तथापि वितराम्यङ्ग वरान्यद्यपि दुर्लभान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; तात—हे पुत्र; इमे—ये सभी; दुर्लभाः—बहुत कम प्राप्त होने वाले; पुंसाम्—मनुष्यों को; यान्—जो; वृणीषे—तुम माँगते हो; वरान्—वरों को; मम—मुझसे; तथापि—फिर भी; वितरामि—मैं तुम्हें प्रदान करूँगा; अङ्ग—हे हिरण्यकशिपु; वरान्—वरों को; यद्यपि—यद्यपि; दुर्लभान्—सामान्यतया प्राप्त न होने वाले।

ब्रह्माजी ने कहा : हे हिरण्यकशिपु, तुमने जो वर माँगे हैं, वे अधिकांश मनुष्यों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो पाते हैं। हे पुत्र, यद्यपि ये वर सामान्यतया उपलब्ध नहीं हो पाते, तथापि मैं तुम्हें प्रदान करूँगा।

तात्पर्य : भौतिक वर सही रूप में वर कहलाने योग्य नहीं होते। यदि किसी को अधिकाधिक वर मिलें तो ऐसा वर स्वयं में शाप बन सकता है, क्योंकि इस जगत में जिस तरह भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त

करने के लिए अत्यधिक शक्ति तथा प्रयास की आवश्यकता पड़ती है उसी तरह उसे बनाये रखने के लिए प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्माजी ने हिरण्यकशिपु को बताया कि वे उसे उसके द्वारा माँगे वर दे तो रहे हैं, लेकिन उन्हें निभा पाना अत्यन्त कठिन होगा। फिर भी चूँकि ब्रह्मा ने वचन दिया था, अतएव वे उसके माँगे गये सारे वर दे देना चाहते थे। *दुर्लभान्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि ऐसा वर न ले जिसे शान्तिपूर्वक भोगा न जा सके।

ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः ।
पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; जगाम—चले गये; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान, ब्रह्माजी; अमोघ—न चूकने वाले; अनुग्रहः—जिसका वर; विभुः—इस ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ; पूजितः—पूजित होकर; असुर-वर्येण—अत्यन्त सम्माननीय असुर हिरण्यकशिपु द्वारा; स्तूयमानः—प्रशंसित होकर; प्रजा-ईश्वरैः—अनेक देवताओं द्वारा, जो विभिन्न क्षेत्रों के स्वामी हैं।

तब अमोघ वर देने वाले ब्रह्माजी दैत्यों में श्रेष्ठ हिरण्यकशिपु द्वारा पूजित तथा महर्षियों एवं साधु पुरुषों द्वारा प्रशंसित होकर वहाँ से विदा हो गये।

एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; लब्ध-वरः—वांछित वरदान पाकर; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; बिभ्रत्—प्राप्त करके; हेम-मयम्—सोने की कान्ति वाला; वपुः—शरीर; भगवति—भगवान् विष्णु के प्रति; अकरोत्—निभाया; द्वेषम्—ईर्ष्या; भ्रातुः वधम्—अपने भाई के वध को; अनुस्मरन्—सदैव सोचते हुए।

इस प्रकार बह्मा जी से आशीष पाकर तथा कान्तियुक्त स्वर्णिम देह पाकर असुर हिरण्यकशिपु अपने भाई के वध का स्मरण करता रहा जिससे वह भगवान् विष्णु का ईर्ष्यालु बना रहा।

तात्पर्य : आसुरी मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में प्राप्त होने योग्य सारे ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के बाद भी भगवान् का ईर्ष्यालु बना रहता है।

स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन्महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥
सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन्पितृपतीन्मनून् ।

यक्षरक्ष:पिशाचेशान्प्रेतभूतपतीनपि ॥ ६ ॥

सर्वसत्त्वपतीञ्जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।

जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); विजित्य—जीतकर; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; लोकान्—लोकों को; च—भी; त्रीन्—तीन (उच्च, मध्य तथा निम्न); महा-असुरः—महान् दैत्य; देव—देवतागण; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्यों के; इन्द्र—राजा; गन्धर्व—गन्धर्वगण; गरुड—गरुड़; उरगान्—बड़े-बड़े सर्पों को; सिद्ध—सिद्ध; चारण—चारण; विद्याध्रान्—विद्याधरों को; ऋषीन्—ऋषियों तथा साधु पुरुषों को; पितृ-पतीन्—यमराज तथा पितरों के अन्य नायकों को; मनून्—सारे मनुओं को; यक्ष—यक्षगण; रक्षः—राक्षसगण; पिशाच-ईशान्—पिशाच लोक के नायकों; प्रेत—प्रेतों; भूत—तथा भूतों के; पतीन्—स्वामियों को; अपि—भी; सर्व-सत्त्व-पतीन्—विभिन्न लोकों के स्वामियों को; जित्वा—जीतकर; वशम् आनीय—वश में करके; विश्व-जित्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विजेता; जहार—अधीन कर लिया; लोक-पालानाम्—उन देवताओं का जो विश्व का कार्य सँभालते हैं; स्थानानि—स्थान; सह—सहित; तेजसा—उनकी सारी शक्ति।

हिरण्यकशिपु समग्र ब्रह्माण्ड का विजेता बन गया। इस महान् असुर ने तीनों लोकों—उच्च, मध्य तथा निम्न लोकों को जीत लिया जिसमें मनुष्यों, गन्धर्वों, गरुड़ों, महासर्पों, चारणों, विद्याधरों, महामुनियों, यमराजों, मनुष्यों, यक्षों, पिशाचों तथा उनके स्वामियों एवं भूत-प्रेतों के स्वामियों के लोक सम्मिलित थे। उसने उन सारे अन्य लोकों के शासकों को भी हरा दिया जहाँ-जहाँ जीव रहते थे और उन्हें अपने वश में कर लिया। सबों के निवासों को जीतकर उसने उनकी शक्ति तथा उनके प्रभाव को छीन लिया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *गरुड़* शब्द यह सूचित करता है कि गरुड़ जैसे विशाल पक्षियों के भी लोक थे। इसी प्रकार *उरग* शब्द इंगित करता है कि विशाल सर्पों के भी लोक हैं। ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों का ऐसा वर्णन आधुनिक विज्ञानियों के लिए चुनौती स्वरूप है, जो यह सोचते हैं कि इस धरा लोक को छोड़कर सारे लोक शून्य हैं। विज्ञानी दावा करते हैं कि उन्होंने चन्द्र लोक की यात्राएँ की हैं जहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिले, केवल धूल तथा पत्थर के विशाल खड्ड मिले हैं, यद्यपि चन्द्रमा इतना चमकीला है कि समग्र ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने में सूर्य की तरह काम करता है। निस्सन्देह, आधुनिक विज्ञानियों को ब्रह्माण्ड विषयक वैदिक जानकारी के प्रति आश्वस्त कर पाना सम्भव नहीं है। तो भी हम विज्ञानियों की इन बातों से अत्यधिक प्रभावित नहीं हैं कि अन्य सारे लोक शून्य हैं और केवल पृथ्वी ही जीवों से पूर्ण है।

देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिपिष्टपम् ।

महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।

त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८॥

शब्दार्थ

देव-उद्यान—देवताओं के प्रसिद्ध बगीचों का; श्रिया—ऐश्वर्य से; जुष्टम्—समृद्ध; अध्यास्ते स्म—रहता रहा; त्रि-पिष्टपम्—स्वर्ग लोक जहाँ देवतागण निवास करते हैं; महेन्द्र-भवनम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र का महल; साक्षात्—प्रत्यक्ष; निर्मितम्—बनाया हुआ; विश्वकर्मणा—देवताओं के प्रसिद्ध शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा; त्रैलोक्य—तीनों लोकों का; लक्ष्मी-आयतनम्—सम्पत्ति की देवी का निवास; अध्युवास—निवास करती थीं; अखिल-ऋद्धि-मत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य सहित।

समस्त ऐश्वर्य से युक्त हिरण्यकशिपु स्वर्ग के सुप्रसिद्ध नन्दन उद्यान में रहने लगा, जिसका भोग देवता करते हैं। वस्तुतः वह स्वर्ग के राजा इन्द्र के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली महल में रहने लगा। इस महल को देवताओं के शिल्पी साक्षात् विश्वकर्मा ने निर्मित किया था और इसे इतने सुन्दर ढंग से बनाया गया था मानो सम्पूर्ण विश्व की लक्ष्मी वहीं निवास कर रही हो।

तात्पर्य : इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उच्च लोक के सारे स्वर्ग लोक निम्न लोकों की तुलना में, जिसमें हम वास करते हैं, सैकड़ों गुना अधिक समृद्ध हैं। सुप्रसिद्ध स्वर्ग का शिल्पी विश्वकर्मा उच्च लोकों में अनेक अद्भुत इमारतें बनाने के लिए प्रसिद्ध है जहाँ न केवल सुन्दर इमारते हैं, अपितु अनेक ऐश्वर्यशाली उद्यान तथा पार्क हैं जिन्हें *नन्दन-देवोद्यान* कहा जाता है अर्थात् वे जो देवताओं द्वारा भोगे जाने के सर्वथा उपयुक्त हैं। उच्च लोकों तथा उनके ऐश्वर्यों के इस वर्णन को वैदिक वाङ्मय जैसे प्रामाणिक साहित्य से समझा जा सकता है। उच्च लोकों का मूल्यांकन करने के लिए दूरबीन तथा अन्य अपूर्ण यंत्र अपर्याप्त होंगे। चूँकि तथाकथित विज्ञानियों की दृष्टि अपूर्ण है, अतएव ऐसे यंत्रों की आवश्यकता पड़ेगी, लेकिन ये यंत्र स्वयं भी अपूर्ण हैं। अतएव अधूरे व्यक्तियों द्वारा मानव निर्मित अपूर्ण यंत्रों की सहायता से उच्चलोकों का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु वैदिक वाङ्मय से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्ण है। अतएव हम इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते कि इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों में ऐश्वर्यशाली निवास स्थान नहीं हैं।

यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः ।
यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥ ९॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च ।
पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥ १०॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः ।
रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥ ११॥
तस्मिन्महेन्द्रभवने महाबलो

महामना निर्जितलोक एकराट् ।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः
प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ (इन्द्र के आवास में); विद्रुम-सोपानाः—मूँगे की सीढ़ियाँ; महा-मारकताः—मरकत; भुवः—फर्श; यत्र—जहाँ; स्फाटिक—स्फटिक, क्रिस्टल की; कुड्यानि—दीवालें; वैदूर्य—वैदूर्य मणि के; स्तम्भ—ख भों की; पङ्क्तयः—कतारें; यत्र—जहाँ; चित्र—अद्‌भुत; वितानानि—चँदोवे; पद्मराग—मणियों से जड़े; आसनानि—आसन, बैठने के स्थान; च—भी; पयः—दूध का; फेन—झाग; निभाः—के सदृश; शय्याः—सेज, बिछौने; मुक्तादाम—मोतियों के; परिच्छदाः—किनारे वाले; कूजद्भिः—खनकती हुई; नूपुरैः—घुंघुरुओं से; देव्यः—दैवी स्त्रियाँ; शब्द-यन्त्यः—मधुर ध्वनि करती हुई; इतः ततः—इधर उधर; रत्न-स्थलीषु—रत्नों से जटित स्थानों में; पश्यन्ति—देखती हैं; सु-दतीः—सुन्दर दाँतों वाली; सुन्दरम्—सुन्दर; मुखम्—मुँह; तस्मिन्—उसमें; महेन्द्र-भवने—स्वर्ग के राजा के रिहायशी मकान में; महा-बलः—अत्यन्त शक्तिशाली; महा-मनाः—अत्यधिक विचारवान; निर्जित-लोकः—सबों को वश में रखने वाला; एक-राट्—शक्तिशाली तानाशाह; रेमे—भोग किया; अभिवन्द्य—पूजित; अङ्घ्रि-युगः—जिसके दोनों पैर; सुर-आदिभिः—देवताओं द्वारा; प्रतापितैः—उद्विग्न होकर; ऊर्जित—आशा से अधिक; चण्ड—कठिन; शासनः—जिसका शासन।

राजा इन्द्र के आवास की सीढ़ियाँ मूँगे की थीं, फर्श अमूल्य पन्ने से जटित था, दीवालें स्फटिक की थीं और ख भे वैदूर्य मणि के थे। उसके अद्‌भुत वितान सुन्दर ढंग से सजाये गये थे, आसन मणियों से जटित थे और झाग के सदृश श्वेत रेशमी बिछौने मोतियों से सजाये गये थे। वे महल में इधर-उधर घूम रही थीं, उनके घुँघुरुओं से मधुर झनकार निकल रही थी और वे रत्नों में अपने सुन्दर प्रतिबिम्ब देख रही थीं। किन्तु अत्यधिक सताये गये देवताओं को हिरण्यकशिपु के चरणों पर सिर झुकाना पड़ता था, क्योंकि उसने देवताओं को अकारण ही दण्डित कर रखा था। इस प्रकार हिरण्यकशिपु उस महल में रह रहा था और सबों पर कठोरता से शासन कर रहा था।

तात्पर्य : स्वर्ग लोक में हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली हो गया था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को छोड़कर शेष सारे देवताओं को उसकी सेवा करनी पड़ती थी। निस्सन्देह, वे अत्यधिक भयभीत रहते थे कि आज्ञा-उल्लंघन करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने हिरण्यकशिपु की तुलना महाराज वेन से की है, क्योंकि वह भी नास्तिक था और वेदवर्णित अनुष्ठानों का उपहास करता था। तो भी महाराज वेन भृगु जैसे कुछ महर्षियों से डरता था, किन्तु हिरण्यकशिपु इस प्रकार राज्य कर रहा था जिसमें विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के अतिरिक्त सभी भयभीत थे। हिरण्यकशिपु भृगु जैसे महर्षियों की क्रोधाग्नि से भस्म होने से इतना सतर्क रहता था कि उसने अपनी तपस्या के बल पर उन्हें पिछाड़ दिया था और अपने अधीन कर रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग लोक में भी, जहाँ लोग

पुण्यकर्म करने के बाद ही जाते हैं, हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के द्वारा उपद्रव किये जाते हैं। तीनों लोकों में कोई ऐसा नहीं जो बिना उपद्रव के सुख-शान्ति से रह सकता हो।

तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना
विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
उपासतोपायनपाणिभिर्विना
त्रिभिस्तपोयोगबलौजसां पदम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); अङ्ग—हे राजा; मत्तम्—मतवाला; मधुना—सुरा से; उरु-गन्धिना—तीक्ष्ण गन्ध वाली; विवृत्त—चढ़ी हुई; ताम्र-अक्षम्—ताँबे जैसी आँखों वाला; अशेष-धिष्ण्य-पाः—समस्त लोकों के प्रमुख व्यक्तियों ने; उपासत—पूजा की; उपायन—साज सामान से युक्त; पाणिभिः—अपने अपने हाथों से; विना—बिना, रहित; त्रिभिः—तीन प्रमुख देवता (विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव); तपः—तपस्या; योग—योग शक्ति; बल—शारीरिक शक्ति; ओजसाम्—इन्द्रियों की शक्ति; पदम्—धाम।

हे राजा, हिरण्यकशिपु सदा ही तीक्ष्ण गन्ध वाली सुरा पिये रहता था, अतएव उसकी ताम्र जैसी (लाल) आँखें सदैव चढ़ी रहती थीं। फिर भी चूँकि उसने योग की महान् तपस्या की थी और यद्यपि वह निन्दनीय था, किन्तु तीन देवताओं-ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु—के अतिरिक्त सारे देवता अपने-अपने हाथों में विविध भेंटें लेकर उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी सेवा करते थे।

तात्पर्य : *स्कन्द पुराण* में वर्णन आया है—*उपायनं ददुः सर्वे विना देवान् हिरण्यकः।* हिरण्यकशिपु इतना शक्तिशाली था कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसकी सेवा में लगा रहता था। मध्वाचार्य कहते हैं—*आदित्या वसवोरुद्रास्त्रिविधा हि सुरा यतः।* देवता तीन प्रकार के हैं—आदित्य, वसु तथा रुद्र, जिनके नीचे अन्य सारे देवता यथा मरुत तथा साध्य हैं। (*मरुतश्चैव विश्वे च साध्याश्चैव च तद्गताः*) अतएव सारे देवता *त्रिपिष्टप* कहलाते हैं और वही *त्रि* शब्द ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है।

जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं
विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन्मुहु-
र्विद्याधराश्चाप्सरसश्च पाण्डव ॥ १४॥

शब्दार्थ

जगुः—यश गान किया; महेन्द्र-आसनम्—राजा इन्द्र का सिंहासन; ओजसा—निजी शक्ति से; स्थितम्—स्थित; विश्वावसुः—गन्धर्वों का मुख्य गायक; तुम्बुरुः—अन्य गन्धर्व गायक; अस्मत्-आदयः—हम सहित (नारद तथा अन्यों ने भी हिरण्यकशिपु

का यशोगान किया); गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी; ऋषयः—बड़े-बड़े ऋषि तथा साधु पुरुष; अस्तुवन्—स्तुतियाँ की; मुहुः—पुनःपुनः; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; च—तथा; अप्सरसः—अप्सर लोक के वासी; च—तथा; पाण्डव—हे पाण्डु के वंशज।

हे पाण्डु के वंशज महाराज युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने राजा इन्द्र के सिंहासन पर आसीन होकर अपने निजी बल से अन्य सारे लोकों के निवासियों को वश में किया। विश्वावसु तथा तुम्बुरु नामक दो गन्धर्व, मैं तथा विद्याधर, अप्सराएँ एवं साधुओं ने उसका यशोगन करने के लिए बारम्बार उसकी स्तुतियाँ की।

तात्पर्य : कभी-कभी असुरगण इतने शक्तिशाली हो उठते हैं कि नारद मुनि तथा उन्हीं जैसे भक्तों भी अपनी सेवा में लगा सकते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि नारद हिरण्यकशिपु के अधीन थे। किन्तु कभी-कभी इस जगत में ऐसा हो जाता है कि महापुरुष, यहाँ तक कि बड़े-बड़े भक्त भी, असुरों द्वारा नियंत्रित हो सकते हैं।

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत्स्वेन तेजसा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); एव—निस्सन्देह; वर्ण-आश्रमिभिः—चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के विधि-विधानों को कड़ाई से पालने वाले व्यक्तियों द्वारा; क्रतुभिः—अनुष्ठानों द्वारा; भूरि—प्रचुर; दक्षिणैः—दक्षिणा से; इज्यमानः—पूजित होकर; हविः-भागान्—आहुति का अंश; अग्रहीत्—छीन लेता; स्वेन—अपने; तेजसा—तेज से।

वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले पुरुष बड़ी-बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ करके उसकी पूजा करते, तो वह यज्ञों की आहुतियाँ देवताओं को न देकर स्वयं ले लेता था।

अकृष्टपच्या तस्यासीत्सप्तद्वीपवती मही ।
तथा कामदुघा गावो नानाश्चर्यपदं नभः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अकृष्ट-पच्या—बिना जोते बोये अन्न देने वाली; तस्य—हिरण्यकशिपु के; आसीत्—थी; सप्त-द्वीप-वती—सात द्वीपों वाली; मही—पृथ्वी; तथा—उसी तरह; काम-दुघाः—इच्छानुसार दूध देने वाली; गावः—गायें; नाना—विविध; आश्चर्य-पदम्—अनोखी वस्तुएँ; नभः—आकाश।

ऐसा प्रतीत होता है मानों सात द्वीपों वाली पृथ्वी हिरण्यकशिपु के भय से, बिना जोते बोये ही अन्न प्रदान करती थी। इस प्रकार यह वैकुण्ठ लोक की सुरभि या स्वर्गलोक की कामदुधा गायों के समान थी। पृथ्वी पर्याप्त अन्न प्रदान करती, गाएँ प्रचुर दूध देतीं तथा आकाश अनोखी घटनाओं से सुसज्जित रहता था।

**रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः ।
क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७॥**

शब्दार्थ

रत्नाकराः—समुद्र; च—तथा; रत्न-ओघान्—विविध प्रकार के मूल्यवान मणि; तत्-पत्न्यः—समुद्रों की पत्नियाँ अर्थात् नदियाँ; च—भी; ऊहुः—ले जाती थीं; ऊर्मिभिः—अपनी-अपनी लहरों से; क्षार—खारा समुद्र; सीधु—सुरा सागर; घृत—घी का सागर; क्षौद्र—ईख रस का सागर, इक्षु सागर; दधि—दही का सागर; क्षीर—दूध का सागर; अमृत—तथा अत्यन्त मीठा सागर; उदकाः—जल।

ब्रह्माण्ड के विविध सागर अपनी पत्नियों स्वरूप नदियों तथा उनकी सहायक नदियों की लहरों से हिरण्यकशिपु के उपयोग हेतु विविध प्रकार के रत्नों की पूर्ति करते थे। ये सागर लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दुग्ध, दही तथा मीठे जल के थे।

तात्पर्य : जैसाकि हम सबों को अनुभव है, इस लोक के समुद्रों का पानी खारा है किन्तु इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोकों के समुद्र इक्षु, सुरा, घी, दुग्ध तथा मीठे जल के हैं। नदियों की तुलना अलंकारिक भाषा में समुद्रों की पत्नियों से की गई है, क्योंकि सारी नदियाँ समुद्रों में उसी तरह बहकर जाती हैं जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पतियों पर आसक्त रहती हैं। आधुनिक विज्ञानी अन्य लोकों की सैर के प्रयास करते हैं, लेकिन उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं है कि ब्रह्माण्ड के भीतर कितने प्रकार के समुद्र हैं। उनके अनुभव के अनुसार चन्द्रमा धूल से पूर्ण है, किन्तु इससे इसकी व्याख्या नहीं हो पाती कि लाखों मील दूर रह कर भी चन्द्रमा किस प्रकार शीतल किरणें प्रदान करता हैं। जहाँ तक हमारी बात है, हम तो व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी को प्रमाण मानते हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य के अनुसार विश्व की स्थिति का वर्णन किया है। ये विद्वान उन आधुनिक विज्ञानियों से भिन्न मत रखते हैं, जो अपने अपूर्ण ऐन्द्रिय अनुभव से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इसी लोक में जीव रहते हैं और अन्य लोक या तो शून्य हैं या धूल से भरे हैं।

**शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान्द्रुमाः ।
दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥ १८॥**

शब्दार्थ

शैलाः—पर्वत तथा पहाड़ियाँ; द्रोणीभिः—बीच की घाटियों सहित; आक्रीडम्—हिरण्यकशिपु की क्रीड़ा स्थली; सर्व—सभी; ऋतुषु—सभी ऋतुओं में; गुणान्—विभिन्न प्रकार के गुण (फल तथा फूल); द्रुमाः—पौधे; दधार—सम्पन्न किया; लोक-पालानाम्—विभिन्न विभागों के लिए अध्यक्ष; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; पृथक्—भिन्न; गुणान्—गुण।

पर्वतों के मध्य की घाटियाँ हिरण्यकशिपु की क्रीड़ास्थली बन गईं जिसके प्रभाव से सभी

पौधे सभी ऋतुओं में प्रभूत फूल तथा फल देने लगे। जल वृष्टि कराना, सुखाना तथा जलाना जो विश्व के तीन विभागाध्यक्षों इन्द्र, वायु तथा अग्नि के गुण हैं, वे अब देवताओं की सहायता के बिना अकेले हिरण्यकशिपु द्वारा निर्देशित होने लगे।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः*—यह भौतिक जगत अग्नि, जल तथा पृथ्वी के द्वारा संचालित है और ये सब मिलकर आकार ग्रहण करते हैं। यहाँ इसका उल्लेख हुआ है कि तीन प्रकार के गुण (*पृथग् गुणान्*) पृथक्-पृथक् देवताओं के निर्देशन में काम करते हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र पर जलवृष्टि का भार है, वायुदेवता वायु को वश में करके जल को सुखाता है और अग्नि देवता प्रत्येक वस्तु को जलाता है। किन्तु हिरण्यकशिपु अपने योगबल से इतना शक्तिशाली बन गया था कि उसने देवताओं से किसी प्रकार की सहायता लिए बिना अकेले ही सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया।

स इत्थं निर्जितककुबेकराड्विषयान्प्रियान् ।
यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (हिरण्यकशिपु); इत्थम्—इस प्रकार; निर्जित—जीत लीं; ककुप्—सारी दिशाएँ; एक-राट्—एकछत्र सम्राट; विषयान्—इन्द्रियविषयों को; प्रियान्—अत्यन्त प्रिय; यथा-उपजोषम्—यथासम्भव; भुञ्जानः—भोग करते हुए; न—नहीं; अतृप्यत्—सन्तुष्ट था; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण।

समस्त दिशाओं को वश में करने की शक्ति प्राप्त करके तथा यथासम्भव सभी प्रकार की इन्द्रिय-तृप्ति का भोग करने के बावजूद हिरण्यकशिपु असन्तुष्ट रहा, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने के बजाय उनका दास बना रहा।

तात्पर्य : यह आसुरी जीवन का एक उदाहरण है। भले ही नास्तिक लोग भौतिक दृष्टि से प्रगति कर लें और इन्द्रियों के लिए अत्यन्त सुखमय परिस्थिति उत्पन्न कर लें, किन्तु इन्द्रियों के वशीभूत होने के कारण वे कभी तुष्ट नहीं होते। यह आधुनिक सभ्यता का प्रभाव है। भौतिकतावादी व्यक्ति धन तथा स्त्रियों का भोग करने में बहुत आगे बढ़े रहते हैं फिर भी मानव समाज में असन्तोष व्याप्त रहता है, क्योंकि कृष्णभावनामृत के बिना मानव समाज कभी सुखी एवं शान्त नहीं रह सकता। जहाँ तक इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न है, भौतिकतावादी अपने भोग को अपनी कल्पना भर बढ़ाते जा सकते हैं, किन्तु ऐसी भौतिक स्थिति में लोग अपनी इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, अतएव वे तुष्ट नहीं रह सकते।

हिरण्यकशिपु मानवता की इस असन्तुष्ट दशा का ज्वलन्त उदाहरण था।

एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
कालो महान्व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ऐश्वर्य-मत्तस्य—ऐश्वर्य से मदान्ध रहने वाले का; दृप्तस्य—अत्यन्त गर्वित; उत्-शास्त्र-वर्तिनः—शास्त्रों में वर्णित विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए; कालः—अवधि; महान्—महान; व्यतीयाय—बिता दिया; ब्रह्म-शापम्—प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का श्राप; उपेयुषः—प्राप्त करके।

इस प्रकार अपने ऐश्वर्य से अत्यधिक गर्वित एवं प्रामाणिक शास्त्रों के विधि-विधानों का उल्लंघन करते हुए हिरण्यकशिपु ने काफी समय बिताया। अतएव उसे चार कुमारों ने, जो कि प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे, शाप दे दिया।

तात्पर्य : ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जब ऐश्वर्य प्राप्त करने के बाद असुर इतने गर्वीले हो उठे कि उन्होंने प्रामाणिक शास्त्रों में दिये गये नियमों का उल्लंघन किया। हिरण्यकशिपु ने यही किया। जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.२३) में कहा गया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

''जो व्यक्ति आध्यात्मिक आदेशों की अवज्ञा करता है और स्वेच्छा से कर्म करता है उसे न तो सिद्धि प्राप्त होती है, न सुख, न ही परम गति प्राप्त हो पाती है।'' *शास्त्र* शब्द हमारे कार्यकलापों को नियंत्रित करने वाले के रूप में आया है। हम शास्त्रों में उल्लिखित नियमों तथा विधि-विधानों का अतिक्रमण या उल्लंघन नहीं कर सकते। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में बारम्बार मिलती है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

''मनुष्य को चाहिए कि शास्त्रों के नियमों द्वारा जाने कि क्या कर्तव्य है और क्या नहीं है। ऐसे विधि-विधानों को जानकर मनुष्य को चाहिए कि कर्म करे जिससे उसका क्रमिक उत्थान हो सके।'' (*भगवद्गीता* १६.२४) मनुष्य को शास्त्रों के निर्देशानुसार कर्म करना चाहिए, किन्तु माया इतनी प्रबल है कि ज्योंही कोई ऐश्वर्यवान् बन जाता है कि त्योंही शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन करने लगता है। किन्तु वह ज्योंही इस तरह उल्लंघन करता है त्योंहि कि उसके विनाश का मार्ग खुल जाता है।

तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसकी (हिरण्यकशिपु की); उग्र-दण्ड—अत्यन्त भयावह ताड़ना से; संविग्नाः—विचलित; सर्वे—सभी; लोकाः—सारे लोक; स-पालकाः—अपने प्रधान शासकों सहित; अन्यत्र—अन्य कहीं; अलब्ध—न प्राप्त करके; शरणाः—शरण; शरणम्—शरण के लिए; ययुः—पास आये; अच्युतम्—भगवान् के।

हिरण्यकशिपु द्वारा दिये गये कठोर दण्ड से सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि विभिन्न लोकों के शासक भी, अत्यधिक पीड़ित थे। वे अत्यन्त भयभीत तथा उद्विग्न होकर और अन्य किसी की शरण न पा सकने के कारण अन्ततः भगवान् विष्णु की शरण में आये।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

''मुनिगण मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का चरम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर तथा समस्त जीवों का उपकारी तथा शुभचिन्तक जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति-लाभ करते हैं।'' भगवान् कृष्ण वस्तुतः हर एक के श्रेष्ठ मित्र हैं। विपत्ति या दुख में शुभचिन्तक मित्र की खोज की जाती है और ऐसे ही परम शुभचिन्तक भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव विभिन्न लोकों के सारे निवासी अन्य कोई शरण न पाकर अपने परम मित्र के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए बाध्य हो गए। यदि हम प्रारम्भ से ही परम मित्र की शरण खोजते रहें तो किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं उठता। कहा गया है कि यदि जल में तैरते हुए कुत्ते की पूँछ पकड़ कर कोई व्यक्ति समुद्र पार करना चाहे तो वह निस्सन्देह मूर्ख है। इसी प्रकार विपत्ति के समय जो व्यक्ति देवताओं की शरण में जाता है, वह मूर्ख है, क्योंकि उसके सारे प्रयास व्यर्थ होंगे। हर परिस्थिति में मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करे। तब किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा।

तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः ॥ २२ ॥
इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः ।
उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्यै—उस; नमः—हमारा सादर नमस्कार; अस्तु—हो; काष्ठायै—दिशा को; यत्र—जहाँ; आत्मा—परमात्मा; हरिः—भगवान्; ईश्वरः—परम नियन्ता; यत्—जो; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तन्ते—लौटते हैं; शान्ताः—शान्त; सन्न्यासिनः—संन्यासीगण; अमलाः—शुद्ध; इति—इस प्रकार; ते—वे; संयत-आत्मानः—मनों को वश में करके; समाहित—सुस्थिर; धियः—बुद्धि; अमलाः—शुद्ध की गई; उपतस्थुः—पूजा की; हृषीकेशम्—इन्द्रियों के स्वामी की; विनिद्राः—बिना सोये; वायु-भोजनाः—केवल वायु ले कर।

"हम उस दिशा को सादर नमस्कार करते हैं जहाँ भगवान् स्थित हैं, जहाँ संन्यास आश्रम में रहने वाले विशुद्ध आत्मा महान् साधु पुरुष जाते हैं और जहाँ जाकर वे फिर कभी नहीं लौटते।" बिना सोये, अपने मनों को पूर्णतया वश में करके तथा केवल अपनी श्वास पर जीवित रहकर विभिन्न लोकपालों ने इस ध्यान से हृषीकेश की पूजा करनी प्रारम्भ की।

तात्पर्य : *तस्यै काष्ठायै*—ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् अपने ब्रह्म तथा परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक हृदय में तथा प्रत्येक परमाणु में विद्यमान हैं। तो फिर *तस्यै काष्ठायै*—"उस दिशा में जहाँ हरि स्थित हैं" कहने का क्या प्रयोजन है? हिरण्यकशिपु के काल में उसका प्रभाव सर्वत्र था, किन्तु उसका प्रभाव उन स्थानों पर न था जहाँ भगवान् ने लीलाएँ की थीं। उदाहरणार्थ, इस पृथ्वी लोक में वृन्दावन या अयोध्या जैसे स्थान हैं, जिन्हें *धाम* कहा जाता है। *धामों* में कलियुग का या किसी असुर का प्रभाव नहीं रहता। यदि कोई ऐसे धाम में आश्रय ग्रहण करता है, तो भगवान् की पूजा करना सुगम होती है और आध्यात्मिक उन्नति भी जल्दी होती है। वास्तव में आज भी कोई व्यक्ति भारत में वृन्दावन तथा ऐसे ही अन्य स्थानों में जाकर तुरन्त ही आध्यात्मिक कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है।

तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिःस्वना ।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥ २४॥

शब्दार्थ

तेषाम्—सबों के समक्ष; आविरभूत्—प्रकट हुई; वाणी—आवाज; अरूपा—रूपविहीन; मेघ-निःस्वना—बादल की सी ध्वनि करती; सन्नादयन्ती—कम्पन उत्पन्न करती; ककुभः—सभी दिशाएँ; साधूनाम्—साधु पुरुषों की; अभयङ्करी—अभय करने वाली।

तब उन सबों के समक्ष दिव्य वाणी प्रकट हुई जो भौतिक नेत्रों से अदृश्य पुरुष से निकली थी। यह वाणी मेघ की ध्वनि के समान गम्भीर थी और यह अत्यन्त प्रोत्साहन देने वाली तथा सभी प्रकार का भय भगाने वाली थी।

मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥ २५ ॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत् ।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; भैष्ट—डरो; विबुध-श्रेष्ठाः—हे श्रेष्ठ विद्वान पुरुषों; सर्वेषाम्—सबों का; भद्रम्—कल्याण करना, जो पूर्ण सत्य है; अस्तु—हो; वः—तुम्हारा; मत्-दर्शनम्—मेरा दर्शन (मेरी प्रार्थना या मेरा श्रवण करना, जो पूर्ण सत्य है); हि—निस्सन्देह; भूतानाम्—समस्त जीवों का; सर्व-श्रेय—समस्त कल्याण की; उपपत्तये—प्राप्ति के लिए; ज्ञातम्—ज्ञात; एतस्य—इसका; दौरात्म्यम्—दुष्कर्म; दैतेय-अपसदस्य—महान् असुर हिरण्यकशिपु का; यत्—जो; तस्य—उसकी; शान्तिम्—समाप्ति; करिष्यामि—करूँगा; कालम्—काल, समय की; तावत्—तब तक; प्रतीक्षत—प्रतीक्षा करो।

भगवान् की वाणी इस प्रकार गुंजायमान हुई—''हे परम श्रेष्ठ विद्वानो, डरो मत। तुम सब का कल्याण हो। तुम सभी मेरे श्रवण तथा कीर्तन द्वारा एवं मेरी स्तुति से मेरे भक्त बनो, क्योंकि इन सब का उद्देश्य सभी जीवों को आशीष देना है। मैं हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों से परिचित हूँ और मैं उन्हें शीघ्र ही रोक दूँगा। तब तक तुम मेरी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो।

तात्पर्य : कभी-कभी लोग ईश्वर के दर्शन के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं। इस श्लोक में आगत *मद्दर्शनम्* शब्द पर विचार करते हुए यह ध्यान देना होगा कि *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *भक्त्या मामभिजानाति।* दूसरे शब्दों में, भगवान् को समझने या उनका दर्शन करने अथवा उनसे बातें करने की सामर्थ्य मनुष्य की भक्ति सम्बन्धी प्रगति पर निर्भर करती है। भक्ति के नौ प्रकार के विभिन्न कार्य-कलाप होते हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।* चूँकि ये भक्ति-कार्य श्रेष्ठ होते हैं, अतएव मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा करने, उनका दर्शन करने एवं उनके गुणगान करने में कोई आधारभूत अन्तर नहीं। निस्सन्देह, ये सभी विधियाँ हैं उनके दर्शन की, क्योंकि भक्ति में किया गया प्रत्येक कार्य भगवान् से प्रत्यक्ष सम्पर्क का साधन होता है। भगवान् की वाणी की गूँज समस्त भक्तों के समक्ष प्रकट हुई अतः इस वाणी को उच्चारित करने वाला व्यक्ति यद्यपि अदृश्य था, तो भी वे भगवान् से भेंट कर रहे थे या उनका दर्शन कर रहे थे, क्योंकि वे सभी स्तुति कर रहे थे और भगवान् की वाणी विद्यमान थी। भौतिक जगत के नियमों से सर्वथा विपरीत भगवान् के दर्शन करने, उनकी स्तुति करने तथा उनकी दिव्य वाणी सुनने में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् की महिमा का गायन करके ही पूर्णरूपेण प्रसन्न रहते हैं। ऐसा

महिमा-गायन *कीर्तन* कहलाता है। कीर्तन करना और हरे कृष्ण ध्वनि का श्रवण वास्तव में भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। मनुष्य को इस स्थिति का अनुभव करना चाहिए। तभी वह भगवान् के कार्यकलापों की परम प्रकृति को समझ सकेगा।

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; देवेषु—देवताओं में; वेदेषु—वेदों में; गोषु—गायों में; विप्रेषु—ब्राह्मणों में; साधुषु—साधु पुरुषों में; धर्मे—धार्मिक नियमों में; मयि—मुझ भगवान् में; च—तथा; विद्वेषः—ईर्ष्यालु; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; आशु—शीघ्र ही; विनश्यति—विनष्ट हो जाता है।.

जब कोई व्यक्ति भगवान् के प्रतिनिधि देवताओं, समस्त ज्ञान के दाता वेदों, गायों, ब्राह्मणों, वैष्णवों, धार्मिक सिद्धान्तों तथा अन्ततः मुझ भगवान् से ईर्ष्या करता है, तो वह तथा उसकी सभ्यता दोनों अविलम्ब नष्ट हो जाएंगी।

निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

निर्वैराय—शत्रुहीन; प्रशान्ताय—अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त; स्व-सुताय—अपने ही पुत्र को; महा-आत्मने—महान् भक्त; प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज को; यदा—जब; द्रुह्येत्—सतायेगा; हनिष्ये—मैं मारूँगा; अपि—यद्यपि; वर-ऊर्जितम्—ब्रह्मा द्वारा वर प्राप्त।.

जब हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र परम भक्त प्रह्लाद को सतायेगा, जो अत्यन्त शान्त, गम्भीर तथा शत्रुरहित है, तो मैं ब्रह्मा के समस्त वरों के होते हुए भी उसका तुरन्त ही वध कर दूँगा।

तात्पर्य : समस्त पापों में सबसे घोर पाप है शुद्ध भक्त या वैष्णव के प्रति अपराध। एक वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध इतना घातक होता है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसकी तुलना उस प्रमत्त हाथी से की है, जो उद्यान में घुस कर अनेक पौधों तथा वृक्षों को उखाड़ कर अत्यन्त उपद्रव मचा देता है। यदि कोई किसी ब्राह्मण या वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसके अपराध उसके समस्त पुण्यकर्मों का उच्छेद कर देते हैं। अतएव मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए कि *वैष्णव-अपराध* न हो। यहाँ पर भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त थे, किन्तु उसने ज्योंही अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध किया कि उसके

सारे वरदान व्यर्थ हो जाएंगे। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज जैसे वैष्णव को *निर्वैर* अर्थात् शत्रुविहीन बतलाया गया है। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (३.२५.२१) कहा गया है कि *अजातशत्रव: शान्ता: साधव: साधुभूषणा:*—भक्त के कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त होता है, वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करता है और उसके सभी व्यवहार शुद्ध होते हैं, वह शत्रुता मोल नहीं लेता, किन्तु यदि कोई उसका शत्रु बनता है, तो भगवान् उसका संहार कर देगें चाहे उसे कहीं से कितने ही वरदान क्यों न प्राप्त हों। निश्चय ही हिरण्यकशिपु अपनी तपस्या के फलों को भोग रहा था, किन्तु यहाँ पर भगवान् कहते हैं कि वह ज्योंही प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों पर अपराध करेगा कि उसका विनाश कर दिया जाएगा। अपने पुण्यों के परिणामस्वरूप किसी की दीर्घायु, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, शिक्षा तथा उसकी सम्पत्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकते यदि वह वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है। सब कुछ होते हुए भी यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों पर अपराध करता है, तो वह विनष्ट हो जाएगा।

श्रीनारद उवाच
इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः ।
न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—परम साधु नारद मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उक्ताः—सम्बोधित; लोक-गुरुणा—सबों के परम गुरु द्वारा; तम्—उसको; प्रणम्य—प्रणाम करके; दिवौकसः—सारे देवता; न्यवर्तन्त—लौट गये; गत-उद्वेगाः—सारी चिन्ताओं से मुक्त; मेनिरे—उन्होंने विचार किया; च—भी; असुरम्—असुर (हिरण्यकशिपु) को; हतम्—मारा हुआ।

परम साधु नारद मुनि ने आगे कहा : जब सबों के गुरु भगवान् ने स्वर्ग में रहने वाले सभी देवताओं को इस तरह आश्वस्त कर दिया तो उन सबों ने उन्हें प्रणाम किया और विश्वस्त होकर लौट आये कि अब तो हिरण्यकशिपु एक तरह से मर चुका है।

तात्पर्य : वे अल्पबुद्धि लोग जो सदैव देवताओं की ही पूजा में व्यस्त रहते हैं उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि जब जब देवताओं को असुर सताते हैं तब तब वे अपनी रक्षा के लिए भगवान् के पास पहुँचते हैं। जब देवतागण भगवान् के पास जाते हैं, तो फिर देवताओं के वे पूजक अपनी वाञ्छित कामनाओं के लिए परमेश्वर के पास क्यों नहीं जाते? *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

''कोई कुछ चाहे या कुछ भी न चाहे अथवा भगवान् से तादात्म्य चाहे, वह तभी बुद्धिमान कहलाता है जब वह दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् की पूजा करता है। चाहे कोई कर्मी हो, अथवा ज्ञानी या योगी, यदि वह किसी विशेष वर की पूर्ति चाहता है भले ही वर भौतिक क्यों न हो तो उसे भगवान् के पास जाकर प्रार्थना करनी चाहिए क्योंकि तब उसकी पूर्ति होगी। किसी भी इच्छा-पूर्ति के लिए किसी देवता के पास अलग से जाने की आवश्यकता नहीं।''

तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस (हिरण्यकशिपु); दैत्य-पतेः—दैत्यों के राजा के; पुत्राः—पुत्रगण; चत्वारः—चार; परम-अद्भुताः—अत्यन्त योग्य तथा अद्भुत; प्रह्लादः—प्रह्लाद नामक; अभूत्—था; महान्—सबसे बड़ा; तेषाम्—उनमें से; गुणैः—दिव्य गुणों के कारण; महत्-उपासकः—भगवान् का अनन्य भक्त होने के कारण।

हिरण्यकशिपु के चार अद्भुत सुयोग्य पुत्र थे जिसमें से प्रह्लाद नामक पुत्र सर्वश्रेष्ठ था। निस्सन्देह प्रह्लाद समस्त दिव्य गुणों की खान थे, क्योंकि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे।

तात्पर्य : *यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः*—जिसकी कृष्ण पर अविचल भक्तिमयी निष्ठा है, उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे गुण निरन्तर प्रकट होते हैं (*भागवत* ५.१८.१२)। यहाँ पर समस्त सद्गुणों की खान प्रह्लाद महाराज की प्रशंसा उनके द्वारा भगवान् के पूजन के कारण की गई। अतएव ऐसे शुद्ध भक्त में जो निष्काम होता है समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सद्गुण पाये जाते हैं। यदि कोई कट्टर किन्तु उदार भगवद्भक्त होने के कारण आध्यात्म में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो उसके शरीर में सारे सद्गुण प्रकट हो जाते हैं। दूसरी ओर, *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—यदि कोई भक्त नहीं है, तो उसमें जो कुछ भौतिक सद्गुण होते हैं, वे भी व्यर्थ होते हैं। यह वेदों का निर्णय है।

ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकप्रियसुहृत्तमः ।
दासवत्सन्नतार्याङ्घ्रिः पितृवद्दीनवत्सलः ॥ ३१ ॥
भ्रातृवत्सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—अच्छे ब्राह्मण के समान सुसंस्कृत; शील-सम्पन्नः—समस्त सद्गुणों से युक्त; सत्य-सन्धः—परम सत्य को जानने के लिए कृतसंकल्प; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों तथा मन को पूरी तरह वश में करते हुए; आत्म-वत्—परमात्मा के समान; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों का; एक-प्रिय—एकमात्र प्यारा; सुहृत्-तमः—सर्वश्रेष्ठ मित्र; दास-वत्—नीच सेवक की तरह; सन्नत—सदैव आज्ञाकारी; आर्य-अङ्घ्रिः—महान् पुरुषों के चरणकमलों पर; पितृ-वत्—पिता के ही समान; दीन-वत्सलः—गरीबों पर दयालु; भ्रातृ-वत्—भाई के ही समान; सदृशे—अपने समान वालों को; स्निग्धः—अत्यन्त प्यारा; गुरुषु—गुरुओं में; ईश्वर-भावनः—भगवान् के समान मानने वाला; विद्या—शिक्षा; अर्थ—धन; रूप—सौन्दर्य; जन्म—कुलीनता; आढ्यः—से सम्पन्न; मान—गर्व; स्तम्भ—अविवेक से; विवर्जितः—पूर्णतया मुक्त।

[यहाँ पर हिरण्यकशिपु के पुत्र महाराज प्रह्लाद के गुणों का उल्लेख हुआ है] वे योग्य ब्राह्मण के रूप में पूर्णतया संस्कृत, सच्चरित्र तथा परम सत्य को समझने के लिए दृढ़संकल्प थे। उन्हें अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण संयम था। परमात्मा की भाँति वे प्रत्येक जीव के प्रति दयालु थे और हर एक के श्रेष्ठ मित्र थे। वे सम्मानित व्यक्ति के साथ दास की भाँति व्यवहार करते थे, गरीबों के वे पिता तुल्य थे और समानधर्माओं के प्रति वे दयालु भ्राता की तरह अनुरक्त रहने वाले तथा अपने गुरुओं तथा पुराने गुरुभाइयों को भगवान् की तरह मानने वाले थे। वे उस बनावटी गर्व (मान) से पूरी तरह मुक्त थे, जो उनकी अच्छी शिक्षा, धन, सौन्दर्य व उच्च जन्म के कारण संभव था।

तात्पर्य : ये वैष्णव के कतिपय गुण हैं। वैष्णव स्वतः ब्राह्मण होता है क्योंकि उसमें ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

"शान्ति, आत्मसंयम, तपस्या, शुद्धता, सहिष्णुता, निर्व्याजता या साधुता, बुद्धि, ज्ञान तथा धार्मिकता—ये गुण हैं जिनसे ब्राह्मण कार्य करता है।" (*भगवद्गीता* १८.४२) ये सारे गुण वैष्णव के शरीर में प्रकट होते हैं। अतएव पूर्ण वैष्णव एक पूर्ण ब्राह्मण भी होता है जैसाकि *ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः* शब्दों से प्रकट होता है। वैष्णव परम सत्य को समझने के लिए कृतसंकल्प रहता है और परम सत्य को समझने के लिए मनुष्य में अपनी इन्द्रियों तथा मन पर पूरा संयम होना चाहिए। प्रह्लाद महाराज में ये सारे गुण थे। वैष्णव सदैव सबों का शुभेच्छु होता है। उदाहरणार्थ, छह गोस्वामियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—*धीराधीरजनप्रियौ।* वे भद्र तथा अभद्र के बीच लोकप्रिय थे। वैष्णव हर एक के लिए समभाव होता है, चाहे उसकी स्थिति कुछ भी क्यों न हो। *आत्मवत्*—वैष्णव को परमात्मा की

तरह होना चाहिए। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* निस्सन्देह, परमात्मा को किसी से घृणा नहीं होती। वह एक ब्राह्मण के हृदय में भी वास करता है और एक शूकर के भी हृदय में। जिस प्रकार चन्द्रमा चण्डाल के घर में अपनी मनोहर किरणें प्रसारित करने से इनकार नहीं करता उसी प्रकार एक वैष्णव किसी के भी कल्याण के लिए कर्म करने से इन्कार नहीं करता। अतएव वैष्णव अपने गुरु (आर्य) के प्रति सदैव आज्ञाकारी होता है। *आर्य* शब्द ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। जिसमें ज्ञान का अभाव है, वह *आर्य* नहीं कहला सकता। किन्तु इस समय तो *आर्य* शब्द का उपयोग नास्तिकों के लिए प्रयुक्त होता है। कलियुग की यही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

गुरु शब्द उस आध्यात्मिक स्वामी को बताता है, जो अपने भक्त को कृष्ण के विज्ञान में अथवा कृष्णभावनामृत में दीक्षित करता है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ ठाकुर ने बताया है (*श्री भगवान्-मन्त्रोपदेशके गुरावित्यर्थः*)।

नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः
श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा
प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; उद्विग्न—विचलित; चित्तः—जिसकी चेतना; व्यसनेषु—कठिन परिस्थितियों में; निःस्पृहः—इच्छारहित; श्रुतेषु—सुनी हुई बातों में (विशेषतया पुण्यकर्मों के कारण स्वर्ग लोक को उत्थान); दृष्टेषु—साथ ही क्षणिक दृश्य वस्तुओं में; गुणेषु—भौतिक प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत इन्द्रियतृप्ति वाले विषयों में; अवस्तु-दृक्—देखते हुए मानो असार हों; दान्त—नियमित करते हुए; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—सजीव शक्ति; शरीर—शरीर; धीः—तथा बुद्धि; सदा—सदैव; प्रशान्त—शान्त किया गया; कामः—जिसकी भौतिक इच्छाओं से; रहित—पूर्णतया विहीन; असुरः—आसुरी प्रकृति; असुरः—यद्यपि असुर वंश में उत्पन्न।

यद्यपि प्रह्लाद महाराज का जन्म असुर वंश में हुआ था, किन्तु वे स्वयं असुर न होकर भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। अन्य असुरों की तरह वे कभी भी वैष्णवों से ईर्ष्या नहीं करते थे। कठिन परिस्थिति आने पर वे कभी क्षुब्ध नहीं होते थे और वेदों में वर्णित सकाम कर्मों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भी रुचि नहीं लेते थे। निस्सन्देह, वे हर भौतिक वस्तु को व्यर्थ मानते थे; इसलिए वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया रहित थे। वे सदैव अपनी इन्द्रियों तथा प्राणवायु पर संयम रखते थे। स्थिरबुद्धि तथा संकल्पमय होने के कारण उन्होंने सारी विषय-वासनाओं का दमन कर लिया था।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि कोई मनुष्य केवल जन्म के कारण योग्य अथवा अयोग्य नहीं होता। प्रह्लाद महाराज जन्म से असुर थे फिर भी उनमें पूर्ण ब्राह्मण के सारे गुण पाये जाते थे (*ब्रह्मण्य: शीलसम्पन्न:*)। कोई भी व्यक्ति गुरु के निर्देशन के अन्तर्गत पूर्णतया योग्य बन सकता है। प्रह्लाद महाराज इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि किस प्रकार गुरु का चिन्तन करके उनके आदेशों को शान्तिपूर्वक ग्रहण किया जाये।

यस्मिन्महद्गुणा राजन्गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः ।
न तेऽधुना पिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; महत्-गुणाः—उच्च दिव्य गुण; राजन्—हे राजा; गृह्यन्ते—यशोगान किया जाता है; कविभिः—विचारवान् तथा ज्ञानी पुरुषों द्वारा; मुहुः—सदैव; न—नहीं; ते—वे; अधुना—आजकल; पिधीयन्ते—अदृश्य हो जाते हैं; यथा—जिस तरह; भगवति—भगवान् में; ईश्वरे—परम नियन्ता में।.

हे राजा, आज भी प्रह्लाद महाराज के सद्गुणों का यशोगान विद्वान सन्तों तथा वैष्णवों द्वारा किया जाता है। जिस तरह सारे सद्गुण सदैव भगवान् में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार वे उनके भक्त प्रह्लाद महाराज में भी सदैव पाये जाते हैं।

तात्पर्य : प्रामाणिक शास्त्र से पता चलता है कि प्रह्लाद महाराज अब भी वैकुण्ठलोक के साथ-साथ इसी भौतिक जगत में रहते हैं। एक साथ विभिन्न स्थानों में रहने का यह दिव्य गुण भगवान् की दूसरी योग्यता है। *गोलोक एव निवसत्यखिलात्म-भूता:*—यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में प्रकट होते हैं, तो भी वे अपने निजी लोक गोलोक वृन्दावन में रहते हैं। भक्त अपनी अनन्य भक्ति के कारण भगवान् जैसे ही गुण प्राप्त कर लेता है। सामान्य जीव इतने योग्य नहीं हो सकते, किन्तु एक भक्त पूरी तरह नहीं परंतु अंशत: भगवान् की ही तरह योग्य हो सकता है।

यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप ।
प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; साधु-गाथा-सदसि—ऐसे सभा में जहाँ साधु पुरुष एकत्र होते हैं या उच्च लक्षणों (गुणों) की व्याख्या होती है; रिपवः—ऐसे व्यक्ति जो प्रह्लाद महाराज के शत्रु माने गये (प्रह्लाद जैसे भक्त के भी शत्रु थे जिसमें उनका पिता तक सम्मिलित था); अपि—भी; सुराः—देवतागण (जो असुरों के शत्रु हैं और चूँकि प्रह्लाद महाराज असुर वंश में जन्मे थे अतएव देवताओं को उनका शत्रु होना चाहिए); नृप—हे राजा युधिष्ठिर; प्रतिमानम्—भक्तों में सर्वश्रेष्ठ के उदाहरणरूप; प्रकुर्वन्ति—वे करते हैं; किम् उत—उनके विषय में क्या कहा जाये; अन्ये—दूसरे; भवादृशाः—आपके समान महापुरुष।.

हे राजा युधिष्ठिर, किसी भी सभा में जहाँ सन्तों तथा भक्तों की चर्चाएँ चलती हैं वहाँ पर असुरों के शत्रु देवतागण तक प्रह्लाद महाराज को परम भक्त के रूप में उदाहृत करते हैं। आपका तो कहना ही क्या जो प्रह्लाद महाराज का उदाहरण सदा देते रहते हैं।

गुणैरलमसङ्ख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

गुणैः—आध्यात्मिक गुणों से युक्त; अलम्—क्या आवश्यकता है; असङ्ख्येयैः—जो असंख्य हैं; माहात्म्यम्—महानता; तस्य—उसकी (प्रह्लाद महाराज की); सूच्यते—सूचित किया जाता है; वासुदेवे—भगवान् कृष्ण में जो वसुदेव के पुत्र हैं; भगवति—भगवान्; यस्य—जिसकी; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; रतिः—आसक्ति।

भला ऐसा कौन है, जो प्रह्लाद महाराज के असंख्य दिव्य गुणों के नाम गिना सके? उनको वासुदेव भगवान् श्री कृष्ण (वसुदेव के पुत्र) में अविचल श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति थी। भगवान् कृष्ण के प्रति उनकी अनुरक्ति अपनी पूर्व भक्ति के कारण स्वाभाविक थी। यद्यपि उनके सद्गुणों की गणना नहीं की जा सकती, किन्तु उनसे सिद्ध होता है कि वे महात्मा थे।

तात्पर्य : दशावतारों की स्तुति में जयदेव गोस्वामी कहते हैं—*केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे।* प्रह्लाद महाराज भगवान् नृसिंह के भक्त थे, जो केशव या साक्षात् कृष्ण हैं। अतएव इस श्लोक में *वासुदेव भगवति* शब्द का यह अर्थ लेना चाहिए कि नृसिंह देव के प्रति प्रह्लाद महाराज की अनुरक्ति वसुदेव के पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्ति थी। इसलिए प्रह्लाद महाराज को *महात्मा* कहा गया है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१९) में स्वयं पुष्टि की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्मों के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मेरी शरण में आता है और मुझे ही समस्त कारणों के कारण रूप में जानता है। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं।" वसुदेव के पुत्र कृष्ण का महान् भक्त महात्मा होता है, जिसको ढूँढ़ पाना अत्यन्त दुर्लभ है। अगले श्लोक में कृष्ण के प्रति प्रह्लाद महाराज की आसक्ति का वर्णन किया जाएगा। उनका हृदय सदैव कृष्ण के विचारों से पूर्ण रहता था। अतएव प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत के आदर्श भक्त हैं।

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न्यस्त—त्याग करके; क्रीडनकः—सभी प्रकार के खेल-कूद या बचपन में खेल की प्रवृत्ति; बालः—बालक; जड-वत्—आलसी की तरह बिना किसी गतिविधि के; तत्-मनस्तया—कृष्ण में पूर्णतया लीन होने से; कृष्ण-ग्रह—कृष्ण के द्वारा जो कि प्रबल प्रभाव के तुल्य (ग्रह के समान) हैं; गृहीत-आत्मा—जिसका मन पूर्णतया आकृष्ट है; न—नहीं; वेद—समझ पाया; जगत्—सम्पूर्ण भौतिक जगत; ईदृशम्—इस तरह का।.

अपने बाल्यकाल के प्रारम्भ से ही प्रह्लाद महाराज को बालकों के खेल-कूद में अरुचि थी। निस्सन्देह, उन्होंने उन सबका परित्याग कर दिया था और कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन होकर शान्त तथा जड़ बने रहते थे। चूँकि उनका मन सदैव कृष्णभावनामृत से प्रभावित रहता था, अतएव वे यह नहीं समझ सके कि यह संसार किस प्रकार से इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में निमग्न रहकर चलता रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ऐसे व्यक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो कृष्णभावनामृत में पूर्णतया निमग्न रहता है। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.२७४) में कहा गया है—

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्ट-देव-स्फूर्ति॥

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति इस जगत में स्थित होकर भी कृष्ण के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं देखता। यह *महाभागवत* का लक्षण है। वह सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण देखता है क्योंकि कृष्ण के लिए उसमें शुद्ध प्रेम रहता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* द्वारा (५.३८) पुष्टि की गई हैं:-

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो उस भक्त द्वारा सदा देखे जाते हैं जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ है। वे भक्त के हृदय में स्थित अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में देखे जाते हैं।" ऐसा दुर्लभ महात्मा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है और वह अपने हृदय में भगवान् का निरन्तर दर्शन करता रहता है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि व्यक्ति पर शनि, राहु

अथवा केतु जैसे बुरे ग्रहों का प्रभाव होता है, तो वह किसी भावी कार्य में उन्नति नहीं कर पाता। इसके ठीक विपरीत, प्रह्लाद महाराज कृष्ण रूपी परम ग्रह द्वारा प्रभावित थे। अतएव वे भौतिक जगत के विषय में न तो सोच सकते थे, न कृष्णभावनामृत के बिना जीवित रह सकते थे। यह *महाभागवत* का लक्षण है। भले ही कोई कृष्ण का शत्रु क्यों न हो, *महाभागवत* उसे भी कृष्ण की सेवा में संलग्न देखता है। एक अन्य मोटा उदाहरण यह है कि पीलियाग्रस्त आँखों को सब कुछ पीला दिखता है। इसी प्रकार *महाभागवत* को अपने अतिरिक्त हर व्यक्ति कृष्ण की सेवा में संलग्न प्रतीत होता है।

प्रह्लाद महाराज प्रमाणित *महाभागवत* अर्थात् परम भक्त हैं। पिछले श्लोक में बताया गया है कि उनमें नैसर्गिक अनुरक्ति थी (*नैसर्गिकी रतिः*)। इस श्लोक में कृष्ण के प्रति ऐसी नैसर्गिक रति के लक्षण वर्णित हैं। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी बच्चे थे किन्तु उन्हें खेलने में कोई रुचि न थी। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.२.४२) में कहा गया है *विरक्तिरन्यत्र च*—पूर्ण कृष्णभावनामृत का लक्षण है कि मनुष्य सारे भौतिक कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेता। एक छोटे से बालक के लिए खेल-कूद छोड़ पाना असम्भव है, किन्तु प्रह्लाद महाराज उत्कृष्ट भक्ति में स्थित रहने के कारण सदैव कृष्णभावनामृत की समाधि में लीन रहते थे। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी सदैव भौतिक लाभ के विचारों में खोया रहता है उसी तरह प्रह्लाद महाराज जैसा *महाभागवत* सदैव कृष्ण के विचारों में मग्न रहता है।

आसीनः पर्यटन्नश्नन्शयानः प्रपिबन्ब्रुवन् ।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

आसीनः—बैठते; **पर्यटन्**—घूमते; **अश्नन्**—खाते; **शयानः**—सोते; **प्रपिबन्**—पीते; **ब्रुवन्**—बोलते; **न**—नहीं; **अनुसन्धत्ते**—जान पाया; **एतानि**—ये सारे कार्यकलाप; **गोविन्द**—भगवान् द्वारा, जो इन्द्रियों को जगाने वाले हैं; **परिरम्भितः**—आलिंगित होकर।.

प्रह्लाद महाराज सदैव कृष्ण के विचारों में लीन रहते थे। इस प्रकार भगवान् द्वारा आलिंगित उन्हें यह पता भी नहीं चल पाता था कि उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ यथा बैठना, चलना, खाना, सोना, पीना तथा बोलना किस तरह स्वतः सम्पन्न होती थीं।

तात्पर्य : एक छोटा बालक अपनी माता द्वारा लालन-पालन किये जाने पर यह नहीं जान पाता कि किस तरह खाने, सोने, लेटने, मल-मूत्र विसर्जन जैसी शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। वह केवल अपनी माता की गोद में पड़े रहने से सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज एक छोटे से

बालक के तुल्य थे जिसकी देख-रेख गोविन्द द्वारा की जा रही थी। उनके शरीर के आवश्यक कार्यकलाप अनजाने ही सम्पन्न हो रहे थे। जिस प्रकार माता-पिता अपने बालक की देख-रेख करते हैं उसी प्रकार गोविन्द के विचारों में मग्न प्रह्लाद महाराज की रक्षा गोविन्द करते थे। यही कृष्णभावनामृत है। प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत की पूर्ण सिद्धि के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः ।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; **रुदति**—रोता है; **वैकुण्ठ-चिन्ता**—कृष्ण के विचारों से; **शबल-चेतनः**—जिसका मन मोहग्रस्त; **क्वचित्**—कभी; **हसति**—हँसता है; **तत्-चिन्ता**—उसके विचारों से; **आह्लादः**—प्रमुदित होकर; **उद्गायति**—उच्च स्वर में कीर्तन करता है; **क्वचित्**—कभी।

कृष्णभावनामृत में प्रगति होने से वह कभी रोता था, कभी हँसता था, कभी हर्षित होता था और कभी उच्च स्वर में गाता था।

तात्पर्य : इस श्लोक से बालक से भक्त की तुलना का और भी स्पष्टीकरण होता है। यदि माता बालक को पालने पर छोड़कर कोई घरेलू कार्य करने चली जाती है, तो बालक तुरन्त जान लेता है कि माता दूर चली गई है, अतएव वह रोने लगता है। किन्तु जैसे ही माता लौटकर बच्चे को लाड-प्यार करती है त्योंही बच्चा हँसने लगता है और प्रफुल्लित हो उठता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज कृष्ण के विचारों में सदैव मग्न रहने के कारण कभी-कभी यह सोचकर वियोग का अनुभव करते थे कि "कृष्ण कहाँ हैं?" इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे।* जब महान् भक्त अनुभव करता है कि कृष्ण चले गये हैं या अदृश्य हैं, तो वह विरह में रोता है और जब कभी देखता है कि कृष्ण उसकी रखवाली करने के लिए लौट आये हैं, तो वह हँसता है, जिस तरह कभी-कभी बालक यह समझकर हँसता है कि उसकी माँ उसकी देखभाल कर रही है। ये लक्षण *भाव* कहलाते हैं। *भक्तिरसामृतसिन्धु* में भक्त के इन *भावों* का पूर्ण वर्णन किया गया है। ये *भाव* पूर्ण भक्त के कार्यकलापों में दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नदति—जोर से चीखता (हे कृष्ण कहकर); क्वचित्—कभी; उत्कण्ठः—उत्सुक होकर; विलज्जः—लाजरहित; नृत्यति—नाचता है; क्वचित्—कभी; क्वचित्—कभी; तत्-भावना—कृष्ण के भावों से युक्त; युक्तः—लीन होकर; तत्-मयः—ऐसा सोचते हुए कि वह कृष्ण बन गया है; अनुचकार—अनुकरण किया; ह—निस्सन्देह।

कभी भगवान् का दर्शन करके प्रह्लाद महाराज पूर्ण उत्सुकतावश जोर से पुकारने लगते। कभी-कभी वे प्रसन्नतावश अपनी लज्जा खो बैठते और हर्ष के भावावेश में नाचने लगते। कभी-कभी कृष्ण के भावों में विभोर होकर वे भगवान् से एकाकार होने का अनुभव करते और उनकी लीलाओं का अनुकरण करते।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज कभी यह अनुभव करते कि भगवान् उनसे दूर चले गये हैं, तो वे जोर से उन्हें पुकारते। जब वे देखते कि भगवान् उनके समक्ष हैं, तो वे प्रमुदित होते। कभी-कभी अपने आपको परम में लीन समझ कर वे भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते और भगवान् से विलग होने पर वे उन्माद के लक्षण प्रकट करते। भक्त की इन भावनाओं को निर्विशेषवादी कभी भी समझ नहीं सकेंगे। इसके लिए मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान के भीतर प्रवेश करना होता है। प्रथम अनुभूति निर्विशेष ब्रह्म की होती है किन्तु परमात्मा तथा अन्ततोगत्वा भगवान् की अनुभूति के लिए और आगे जाना होता है। तब भक्त भगवान् की शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्य जैसे दिव्य भावों से पूजा करता है। यहाँ पर प्रह्लाद महाराज की भावना वात्सल्य रस की थी। जिस प्रकार माता के दूर चले जाने पर बालक रोता है उसी प्रकार जब प्रह्लाद महाराज को लगता कि भगवान् दूर हैं, तो वे रोने लगते (*नदति*)। पुनः प्रह्लाद जैसे भक्त कभी-कभी उन्हें शान्त करने के लिए भगवान् को माता के समान दूर से आते देखते हैं और बालक से यह कहते सुनते हैं "मेरे बेटे! मत रोओ। मैं आ रही हूँ।" तब भक्त अपने चारों ओर की परिस्थितियों की परवाह न करके यह सोचते हुए नाचने लगता है—"ये रहे मेरे स्वामी! मेरे स्वामी आ रहे हैं।" इस प्रकार भक्त पूर्णतः हर्षित होकर कभी-कभी भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करता है, जिस तरह ग्वाले जंगली जानवरों के आचरण की नकल उतारते हैं। किन्तु वह सचमुच भगवान् नहीं बनता। प्रह्लाद महाराज ने यहाँ पर वर्णित आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के द्वारा प्राप्त कर ली थी।

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः ।

अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; उत्पुलकः—रोमांचित होकर; तूष्णीम्—पूर्णतया मौन; आस्ते—रहता है; संस्पर्श-निर्वृतः—भगवान् के सम्पर्क में अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हुए; अस्पन्द—स्थिर; प्रणय-आनन्द—प्रेम सम्बन्ध के कारण दिव्य आनन्द से; सलिल—अश्रु भर कर; आमीलित—अधखुली; ईक्षणः—जिसकी आँखें।

कभी-कभी भगवान् के करकमलों का स्पर्श अनुभव करके वे आध्यात्मिक रूप से प्रसन्न होते और मौन बने रहते, उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते (रोमांच हो आता) और भगवान् के प्रेम के कारण उनके अर्धनिमीलित नेत्रों से अश्रु ढुलकने लगते।

तात्पर्य : जब भक्त को भगवान् के वियोग का अनुभव होता है, तो वह उन्हें देखने के लिए आतुर हो उठता है और कभी-कभी जब उसे वियोग की पीड़ा सताती है, तो उसके अधखुले नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *शिक्षाष्टक* में कहा है *युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्। चक्षुषा प्रावृषायितम्* का अर्थ है भक्त के नेत्रों से आँसुओं की निरन्तर झड़ी लग जाना। ये लक्षण, जो शुद्ध भक्तिमय आनन्द में प्रकट होते हैं, प्रह्लाद महाराज के शरीर में प्रकट हो रहे थे।

स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-
र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन्परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-
र्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); उत्तम-श्लोक-पद-अरविन्दयोः—भगवान् के चरणकमलों पर, जिसकी पूजा दिव्य स्तुतियों से की जाती है; निषेवया—निरन्तर सेवा द्वारा; अकिञ्चन—उन भक्तों का जिन्हें इस जगत से कुछ भी लेना देना नहीं रहता; सङ्ग—संगति; लब्धया—प्राप्त हुआ; तन्वन्—विस्तार करने वाली; पराम्—सर्वोच्च; निर्वृतिम्—आनन्द; आत्मनः—आत्मा का; मुहुः—निरन्तर; दुःसङ्ग-दीनस्य—बुरी संगति के कारण आध्यात्मिक ज्ञान से विहिन; मनः—मन को; शमम्—शान्त; व्यधात्—बना दिया।

पूर्ण, अनन्य भक्तों की संगति के कारण जिन्हें भौतिकता से कुछ भी लेना देना नहीं था। प्रह्लाद महाराज निरन्तर भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लगे रहते थे। जब वे पूर्ण आनन्द में होते तो उनके शारीरिक लक्षणों को देखकर आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन व्यक्ति भी शुद्ध हो जाते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज उन्हें दिव्य आनन्द प्रदान करते थे।

तात्पर्य : एक तरह से प्रह्लाद महाराज ऐसी स्थिति में थे जिसमें उन्हें अपने पिता द्वारा नित्य ही

सताया जाता था। ऐसी भौतिक स्थिति में किसी का मन अविचल नहीं रह सकता, लेकिन चूँकि भक्ति अहैतुकी (*अहैतुक्यप्रतिहता*) होती है, अतएव प्रह्लाद महाराज कभी भी हिरण्यकशिपु की प्रताड़ना से विचलित नहीं होते थे। उल्टे, भगवान् के प्रेम में आत्मविभोर होने पर उनके शारीरिक लक्षणों से उनके मित्रों के मन बदलते, जो नास्तिक कुलों में उत्पन्न थे। अपने पिता द्वारा सताये जाने से विचलित होने के बजाय प्रह्लाद महाराज इन मित्रों को प्रभावित करते और उनके मनों को विमल बनाते। भक्त कभी भी भौतिक दशाओं से कलुषित नहीं होता लेकिन भौतिक दशाओं में रहने वाले व्यक्ति शुद्ध भक्त के आचरण को देख कर आध्यात्मिक प्रगति करके आनन्दमय बन जाते हैं।

तस्मिन्महाभागवते महाभागे महात्मनि ।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; महा-भागवते—भगवान् के परम भक्त में; महा-भागे—अत्यन्त भाग्यशाली; महा-आत्मनि—जिनका मन अत्यन्त उदार है; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; राजन्—हे राजा; अकरोत्—किया; अघम्—अत्यन्त महापाप; आत्म-जे—अपने ही पुत्र के प्रति।

हे राजा युधिष्ठिर, उस असुर हिरण्यकशिपु ने इस महान् भाग्यशाली भक्त प्रह्लाद को सताया था, यद्यपि वह उसका निजी पुत्र था।

तात्पर्य : जब अपनी कठिन तपस्या के बल पर उच्च स्थान पर होते हुए भी हिरण्यकशिपु-जैसा कोई असुर किसी भक्त को तंग करने लगता है, तो उसका पतन होने लगता है और उसकी तपस्याओं के फल क्षीण होने लगते हैं। जो व्यक्ति किसी शुद्ध भक्त को सताता है, वह अपनी सारी तपस्या तथा पुण्यकर्मों के फल खो देता है। चूँकि हिरण्यकशिपु अपने महानतम भक्त पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित करने पर तुल गया था, अतएव उसका ऐश्वर्य क्षीण होने लगा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत ।
यदात्मजाय शुद्धाय पितादात्साधवे ह्यघम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने प्रश्न किया; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु पुरुष; एतत्—यह; इच्छामः—हमारी इच्छा है; वेदितुम्—जानने के लिए; तव—तुमसे; सु-व्रत—आध्यात्मिक उन्नति के लिए दृढ़संकल्प; यत्—क्योंकि; आत्म-जाय—अपने ही पुत्र को; शुद्धाय—जो अत्यन्त शुद्ध तथा सम्मानित था; पिता—पिता हिरण्यकशिपु ने; अदात्—दिया; साधवे—महान् साधु को; हि—निस्सन्देह; अघम्—कष्ट।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देवर्षि, हे श्रेष्ठ आध्यात्मिक नेता, हिरण्यकशिपु ने शुद्ध तथा श्रेष्ठ सन्त प्रह्लाद महाराज को अपना पुत्र होने पर भी किस प्रकार इतना अधिक कष्ट दिया? मैं इसे आपसे जानना चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के विषय में और उनके शुद्ध भक्त के गुणों के विषय में यदि किसी को कुछ जानना हो तो उसे देवर्षि नारद जैसे अधिकारी से प्रश्न करना चाहिए। दिव्य विषयों के बारे में अज्ञानी से प्रश्न नहीं करना चाहिए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है—*सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:*—केवल भक्तों की संगति से भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। नारद मुनि जैसे भक्त को *सुव्रत* कह कर सम्बोधित किया गया है। *सु* का अर्थ है ''अच्छा,'' *व्रत* का अर्थ है ''प्रतिज्ञा''। इस तरह *सुव्रत* शब्द ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जिसे भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता, क्योंकि यह जगत सदा से बुरा रहा है। शुष्क ज्ञान से गर्वित भौतिकतावादी विद्वान से कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक बात नहीं समझ सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—मनुष्य को चाहिए कि वह भक्ति द्वारा तथा किसी भक्त से कृष्ण को समझने का प्रयास करे। अतएव युधिष्ठिर महाराज बिल्कुल ठीक ही श्री नारद मुनि से प्रह्लाद महाराज के विषय में और आगे जानना चाह रहे थे।

पुत्रान्विप्रतिकूलान्स्वान्पितर: पुत्रवत्सला: ।
उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

पुत्रान्—पुत्रों को; विप्रतिकूलान्—पिता की इच्छा के प्रतिकूल कर्म करने वाले; स्वान्—अपने ही; पितर:—पिता; पुत्र-वत्सला:—पुत्रों के प्रति अत्यन्त स्नेह जताने के कारण; उपालभन्ते—प्रताड़ित करते हैं; शिक्ष-अर्थम्—उन्हें पाठ पढ़ाने के लिए; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; अघम्—दण्ड; अपर:—शत्रु; यथा—सदृश।

माता तथा पिता सदा ही अपने बच्चों के प्रति वत्सल होते हैं। जब बच्चे आज्ञापालक नहीं होते तो माता-पिता उन्हें किसी शत्रुतावश नहीं, अपितु उन्हें शिक्षा देने तथा उनके भले के लिए दण्ड देते हैं। तो हिरण्यकशिपु ने क्योंकर अपने इतने नेक पुत्र प्रह्लाद महाराज को प्रताड़ित किया? मैं यह जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

किमुतानुवशान्साधूंस्तादृशान्गुरुदेवतान् ।

एतत्कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।
पितुः पुत्राय यद्द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

किम् उत—काफी कम; अनुवशान्—आज्ञाकारी तथा पूर्ण पुत्रों को; साधून्—परम भक्त; तादृशान्—उस तरह के; गुरु-देवतान्—पिता को भगवान् तुल्य सम्मान देने वाले; एतत्—यह; कौतूहलम्—संशय; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अस्माकम्—हमारा; विधम—दूर कीजिये; प्रभो—हे स्वामी; पितुः—पिता का; पुत्राय—पुत्र के लिए; यत्—जो; द्वेषः—द्वेष ईर्ष्या; मरणाय—मारने के लिए; प्रयोजितः—प्रयुक्त।

महाराज युधिष्ठिर ने आगे पूछा : भला एक पिता के लिए यह कैसे सम्भव हुआ कि वह अपने आज्ञाकारी, सदाचारी तथा पिता का सम्मान करने वाले पुत्र के प्रति इतना उग्र बना? हे ब्राह्मण, हे स्वामी, मैंने कभी ऐसा विरोधाभास नहीं सुना कि कोई वत्सल पिता अपने नेक पुत्र को मार डालने के उद्देश्य से उसे दण्डित करे। कृपा करके इस सम्बन्ध में मेरे संशयों को दूर कीजिए।

तात्पर्य : मानव समाज के इतिहास में विरले ही कोई वत्सल पिता अपने नेक तथा भक्त पुत्र को दण्डित करता पाया गया है। अतएव महाराज युधिष्ठिर नारद मुनि से अपने इस संशय को दूर कराना चाहते थे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''ब्रह्माण्ड में हिरण्यकशिपु का आतंक'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पाँच

हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद महाराज

प्रह्लाद महाराज अपने गुरु के आदेशों का पालन नहीं कर पाते थे, क्योंकि वे सदैव भगवान् विष्णु की पूजा में लगे रहते ते। जैसाकि इस अध्याय में वर्णन हुआ है, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को साँप से डँसा कर तथा हाथी के पाँव के नीचे डालकर मार डालने का यत्न किया, किन्तु फिर भी वह असफल ही रहा।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के दो पुत्र थे जिनके नाम षण्ड तथा अमर्क थे जिन्हें प्रह्लाद महाराज को पढ़ाने का भार सौंपा गया था। यद्यपि अध्यापक बालक प्रह्लाद को राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य सांसारिक विषयों की शिक्षा देने का प्रयास करते, किन्तु बालक उनके उपदेशों पर कोई

ध्यान नहीं देता था। उल्टे वह शुद्ध भक्त बना रहा। प्रह्लाद महाराज को कभी भी मित्रों तथा शत्रुओं में भेद-भाव करना अच्छा नहीं लगता था। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण वह सबों के प्रति समान भाव रखता।

एक बार हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से पूछा कि उसने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया कि जो मनुष्य द्वन्द्वों में फँसा रहता है और सोचता है कि "यह मेरा है और यह मेरे शत्रु का है।" उसे चाहिए कि वह अपना गृहस्थ जीवन त्याग कर भगवान् की पूजा करने के लिए जंगल चला जाये।

जब हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से इस प्रकार की भक्ति की बातें सुनी तो उसने निश्चय किया कि हो न हो पाठशाला में उसके किसी मित्र ने इस छोटे बच्चे को इस प्रकार दूषित कर रखा है। अतएव उसने अध्यापकों को आदेश दिया कि वे बालक का ध्यान रखें जिससे वह कृष्णभावनाभावित भक्त न बन जाये। किन्तु जब अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह उनकी शिक्षाओं के विरुद्ध क्यों कार्य करता है, तो उसने अध्यापकों को शिक्षा दी कि स्वामित्व की प्रवृत्ति मिथ्या है, अतएव वह भगवान् विष्णु का अनन्य भक्त बनने का प्रयास कर रहा है। इस उत्तर से अध्यापक बहुत अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस बालक को तरह-तरह से डराया धमकाया। उन्होंने अपनी सामर्थ्य भर उसे शिक्षा दी और तब उसे उसके पिता के समक्ष ले आये।

हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को स्नेहपूर्वक गोद में उठा लिया और फिर उससे पूछा कि तुमने अपने अध्यापकों से कौन सी सर्वश्रेष्ठ बात सीखी है। सदैव की भाँति प्रह्लाद महाराज ने भक्ति की नवों विधियों—यथा श्रवण, कीर्तन इत्यादि की प्रशंसा करनी प्रारम्भ की। इस पर असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और षण्ड तथा अमर्क दोनों अध्यापकों को त्रुटिपूर्ण प्रशिक्षण के लिए प्रताड़ित करने लगा। तब तथाकथित अध्यापकों ने राजा को बताया कि प्रह्लाद स्वत: भक्त होने के कारण उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता। जब उन्होंने अपने आपको निर्दोष सिद्ध कर दिया तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा कि तुमने *विष्णु भक्ति* कहाँ से सीखी? प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि जो लोग गृहस्थ जीवन से बँधे हैं, वे न तो व्यक्तिगत रूप से न ही सामूहिक रूप से कृष्णभावनामृत का विकास कर पाते हैं। प्रत्युत वे इस संसार में बारम्बार जन्म लेते और मरते हैं और चर्वितचर्वण करते हैं। प्रह्लाद ने बताया कि

प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करे और इस तरह कृष्णभावनामृत समझने का पात्र बने।

इस उत्तर से हिरण्यकशिपु क्रुद्ध हो गया और उसने प्रह्लाद को अपनी गोद से फेंक दिया। चूँकि उस विष्णु का प्रह्लाद भक्त बन गया था जिसने उसके चाचा हिरण्याक्ष का वध किया था, अतएव वह विश्वासघाती था। अत: हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दिया कि उसको मार डालें। उन्होंने प्रह्लाद पर तीक्ष्ण हथियारों से प्रहार किया, उसे हाथी के पाँवों के नीचे फेंका, उसे नारकीय यातनाएँ दीं, उसे पर्वत के ऊपर से नीचे गिराया और हजारों यत्नों से उसे मारने की कोशिशें की, किन्तु वे असफल रहे। अतएव हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद से अत्यधिक भयभीत हो उठा। उसने उसे बन्दी बना लिया। हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र प्रह्लाद को अपने ढंग से पढ़ाते, किन्तु वह उनके उपदेशों को नहीं मानता था। जब अध्यापकगण कक्षा में न होते तो वह पाठशाला में कृष्णभावनामृत का उपदेश देता और उसके उपदेशों से उसके सारे सहपाठी, जो असुरों के पुत्र थे, उसी की तरह भक्त बन गये।

श्रीनारद उवाच
पौरोहित्याय भगवान्वृत: काव्य: किलासुरै: ।
षण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद: उवाच—महान् सन्त नारद ने कहा; पौरोहित्याय—पुरोहित कर्म के लिए; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; वृत:—चुना गया; काव्य:—शुक्राचार्य; किल—निस्सन्देह; असुरै:—असुरों के द्वारा; षण्ड-अमर्कौ—षण्ड तथा अमर्क; सुतौ—दो पुत्र; तस्य—उसके; दैत्य-राज—दैत्यों का राजा, हिरण्यकशिपु; गृह-अन्तिके—घर के पास।

महामुनि नारद ने कहा : हिरण्यकशिपु आदि असुरों ने शुक्रचार्य को अनुष्ठान सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित के रूप में चुना। शुक्राचार्य के दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के ही पास रहते थे।

तात्पर्य : प्रह्लाद के प्रारम्भिक जीवन की कथा इस प्रकार सुनाई जाती है। शुक्राचार्य नास्तिकों के, विशेष रूप से हिरण्यकशिपु के, पुरोहित बने और इस प्रकार उनके दो पुत्र षण्ड तथा अमर्क हिरण्यकशिपु के महल के पास रहने लगे। शुक्राचार्य को हिरण्यकशिपु का पुरोहित नहीं बनना चाहिए था, क्योंकि स्वयं हिरण्यकशिपु तथा उसके सारे अनुयायी नास्तिक थे। ब्राह्मण को ऐसे व्यक्ति का पुरोहित बनना चाहिए जो आध्यात्मिक संस्कृति की उन्नति में रुचि रखे। किन्तु शुक्राचार्य नाम ही ऐसे

व्यक्ति का सूचक है, जो अपने पुत्रों तथा वंशजों को लाभ दिलाने में ही रुचि रखता हो, भले ही धन कैसे ही आए। असली ब्राह्मण को नास्तिक लोगों का पुरोहित नहीं बनना चाहिए।

तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् ।
पाठयामासतु: पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों (षण्ड और अर्मक); राज्ञा—राजा द्वारा; प्रापितम्—भेजे गये; बालम्—बालक को; प्रह्लादम्—प्रह्लाद नामक; नय-कोविदम्—नैतिक सिद्धान्तों से परिचित; पाठयाम् आसतु:—पढ़ाया करते; पाठ्यान्—भौतिक ज्ञान की पुस्तकें; अन्यान्—अन्य; च—भी; असुर-बालकान्—असुरों के बालकों को।

प्रह्लाद महाराज पहले से ही भक्ति में निपुण थे, किन्तु जब उनके पिता ने उन्हें पढ़ाने के लिए शुक्राचार्य के दोनों पुत्रों के पास भेजा तो उन दोनों ने उन्हें तथा अन्य असुरपुत्रों को अपनी पाठशाला में भर्ती कर लिया।

यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च ।
न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्र—वहाँ (पाठशाला में); गुरुणा—अध्यापकों द्वारा; प्रोक्तम्—बताया गया; शुश्रुवे—सुना; अनुपपाठ—सुनाया; च—तथा; न—नहीं; साधु—अच्छे; मनसा—मन से; मेने—विचार किया; स्व—निजी; पर—दूसरों का; असत्-ग्रह—बुरे भाव से; आश्रयम्—पुष्ट किया गया, समर्थित।

प्रह्लाद अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गये राजनीति तथा अर्थशास्त्र के पाठों को सुनते और सुनाते अवश्य थे, किन्तु वे यह समझते थे कि राजनीति में किसी को मित्र माना जाता है और किसी को शत्रु। अतएव यह विषय उन्हें पसन्द न था।

तात्पर्य : राजनीति में एक वर्ग के मनुष्यों को शत्रु और दूसरे वर्ग वालों को मित्र माना जाता है। राजनीति की सारी बातें इसी दर्शन पर आधारित हैं और सम्पूर्ण विश्व विशेषत: आजकल इसी में उलझा हुआ है। जनता को मित्र देशों तथा मित्र वर्गों या शत्रु देशों तथा शत्रु वर्गों से ही मतलब रहता है, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, विद्वान व्यक्ति कभी भी शत्रुओं तथा मित्रों में भेद-भाव नहीं बरतता। विशेषतया भक्तगण मित्र या शत्रु नहीं बनाते। भक्त तो यह देखता है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का अंश है (*ममैवांशो जीवभूत:*)। अतएव भक्त शत्रुओं तथा मित्रों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने का प्रयत्न करके दोनों के साथ समानता का व्यवहार करता है। निस्सन्देह, नास्तिक लोग शुद्ध भक्तों के

उपदेशों का पालन नहीं करते, उल्टे वे भक्त को अपना शत्रु मानते हैं। किन्तु भक्त न तो कभी मित्रता करता है न शत्रुता। यद्यपि प्रह्लाद महाराज को षण्ड तथा अमर्क के उपदेश सुनने पड़ते थे, किन्तु उन्हें मित्रों तथा शत्रुओं की यह विचार-धारा जो राजनीति का मूल आधार है, पसन्द न थी। वे इस विचार-धारा में रुचि नहीं रखते थे।

एकदासुरराट्पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव ।
पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद्भवान् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; **असुर-राट्**—असुरों के सम्राट ने; **पुत्रम्**—अपने पुत्र को; **अङ्कम्**—गोद में; **आरोप्य**—लेकर; **पाण्डव**—हे महाराज युधिष्ठिर; **पप्रच्छ**—पूछा; **कथ्यताम्**—बतलाओ; **वत्स**—मेरे प्यारे पुत्र; **मन्यते**—मानते हो; **साधु**—श्रेष्ठतम; **यत्**—जिसे; **भवान्**—तुम।

हे राजा युधिष्ठिर, एक बार असुरराज हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को अपनी गोद में लेकर बड़े ही दुलार से पूछा : हे पुत्र, मुझे यह बतलाओ कि तुमने अपने अध्यापकों से जितने विषय पढ़े हैं उनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन सा है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने कुमार बालक से ऐसी बात नहीं पूछी जिसका उत्तर दे पाना उसके लिए कठिन होता, अपितु उसने बालक को यह स्पष्ट बतलाने का अवसर दिया कि उसे सबसे अच्छा क्या लगता है। निस्सन्देह, प्रह्लाद महाराज परम भक्त होने के कारण सब कुछ जानते थे, अतएव वे बतला सकते थे कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंश क्या है। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—यदि कोई ईश्वर को ठीक से समझता है, तो वह किसी भी विषय को अच्छी तरह से समझ सकता है। कभी-कभी हमें बड़े-बड़े विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को ललकारना पड़ता है, किन्तु कृष्ण की कृपा से हम विजयी होते हैं। एक तरह से देखा जाये तो सामान्य व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह असली ज्ञान के विषय में विज्ञानियों तथा दार्शनिकों को चुनौती दे पाये, किन्तु एक भक्त उन्हें ललकार सकता है, क्योंकि कृष्ण-कृपा से भक्त को प्रत्येक वस्तु का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.११) में पुष्टि की गई है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित होकर भक्त के हृदय के अज्ञान को दूर

करते हैं। विशेष कृपा करके वे भक्त के समक्ष प्रकाश का दीपक दिखाकर उसे सारे ज्ञान से प्रकाशित करते हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज श्रेष्ठ ज्ञान से अवगत थे और जब पिता ने पूछा तो उन्होंने उसे वह ज्ञान प्रदान किया। प्रह्लाद महाराज अपने बढ़े-चढ़े कृष्णभावनामृत के कारण कठिन से कठिन समस्या को हल करने में समर्थ थे। अतएव उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीप्रह्लाद उवाच

तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; तत्—वह; साधु—अत्यन्त उत्तम अथवा जीवन का श्रेष्ठ अंश; मन्ये—मानता हूँ; असुर-वर्य—हे असुरों के राजा; देहिनाम्—शरीरधारियों का; सदा—सदैव; समुद्विग्न—चिन्ताओं से पूर्ण; धियाम्—जिसकी बुद्धि; असत्-ग्रहात्—क्षणिक शरीर या शारीरिक सम्बन्धों को असली मानने के कारण (यह सोचते हुए कि मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है); हित्वा—त्याग कर; आत्म-पातम्—स्थान जहाँ जाकर आत्म-साक्षात्कार रुक जाता है; गृहम्—देहात्मबुद्धि या गृहस्थ जीवन; अन्ध-कूपम्—जो मात्र अंधा कुआँ है (जहाँ जल नहीं होता किन्तु फिर भी लोग जल की तलाश करते हैं); वनम्—जंगल में; गतः—जाकर; यत्—जो; हरिम्—भगवान् को; आश्रयेत—शरण लेता है।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: हे असुरश्रेष्ठ दैत्यराज, जहाँ तक मैंने अपने गुरु से सीखा है, ऐसा कोई व्यक्ति जिसने क्षणिक देह तथा क्षणिक गृहस्थ जीवन स्वीकार किया है, वह निश्चय ही चिन्ताग्रस्त रहता है, क्योंकि वह ऐसे अंधे कुएँ में गिर जाता है जहाँ जल नहीं रहता, केवल कष्ट ही कष्ट मिलते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इस स्थिति को त्याग कर वन में चला जाये। स्पष्टार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाये जहाँ केवल कृष्णभावनामृत व्याप्त है और इस तरह वह भगवान् की शरण ग्रहण करे।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने सोचा था कि प्रह्लाद अभी छोटा सा अनुभवहीन बालक मात्र है अतएव वह कुछ ऐसा उत्तर देगा जो मन को भाने वाला होगा, व्यावहारिक नहीं होगा। किन्तु प्रह्लाद महाराज ने उच्च भक्त होने के कारण शिक्षा के सारे गुण प्राप्त कर लिए थे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

''जिसकी कृष्ण में अविचल भक्तिमयी श्रद्धा होती है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्गुण प्रकट करता रहता है। किन्तु जिसमें भगवान् की भक्ति नहीं होती उसमें सद्गुण नहीं पाये जाते, क्योंकि वह मानसिक कल्पनाओं के द्वारा भौतिक जगत में व्यस्त रहता है, जो भगवान् का बाह्यस्वरूप है।'' (*भागवत* ५.१८.१२) तथाकथित शिक्षित दार्शनिक तथा विज्ञानी जो बौद्धिक स्तर को प्राप्त होते हैं, *सत्* अर्थात् शाश्वत तथा *असत्* अर्थात् क्षणिक में अन्तर नहीं कर पाते। वैदिक आदेश है *असतो मा ज्योतिर्गम*—प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि नश्वर स्तर को त्यागकर शाश्वत स्तर को प्राप्त करे। आत्मा शाश्वत है और शाश्वत आत्मा-विषयक कथाएँ वास्तविक ज्ञान हैं। अन्यत्र कहा गया है—*अपश्यताम् आत्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्*—जो देहात्मबुद्धि से जुड़े रहते हैं और जो भौतिक इन्द्रियसुख के स्तर पर गृहस्थ के रूप में जीवन से चिपके रहते हैं, वे शाश्वत आत्मा के कल्याण को नहीं देख सकते। प्रह्लाद महाराज ने इसकी पुष्टि यह कहकर की कि जो व्यक्ति जीवन में सफलता की आकांक्षा करता है उसे सही स्रोत से तुरन्त यह समझ लेना चाहिए कि उसका स्वार्थ किसमें है और आध्यात्मिक चेतना में वह अपने जीवन को किस प्रकार ढाले। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को कृष्ण का अंश समझे और निश्चित आध्यात्मिक सफलता के लिए उनके चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हो ले। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति देहात्मबुद्धि के कारण जन्म-जन्मांतर कठिन जीवन-संघर्ष करता रहता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की है कि इस बारम्बार जन्म-मृत्यु की भौतिक दशा को रोकने के लिए मनुष्य को वन में चला जाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली में मनुष्य पहले ब्रह्मचारी बनता है, फिर गृहस्थ, तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी। वन जाने का अर्थ है वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना जो गृहस्थ जीवन तथा संन्यास के बीच का जीवन है। जैसाकि *विष्णु-पुराण* (३.८.९) में पुष्टि की गई है—*वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते*—वर्ण तथा आश्रम की प्रथा को स्वीकार करके मनुष्य अपने को भगवान् विष्णु की पूजा करने के स्तर तक बड़ी आसानी से उठा सकता है। अन्यथा यदि वह देहात्मबुद्धि में रहता जाता है, तो वह इसी संसार में सड़ता रहता है और उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र श्रेणियाँ होनी चाहिए और आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को क्रमशः ब्रह्मचारी,

गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी बनना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने संस्तुति की कि उनके पिता को वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि देहात्मबुद्धि के कारण वे और अधिक आसुरी मनोवृत्ति वाले हो रहे थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से कहा कि उनके लिए वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा, न कि गृहस्थ के रूप में *गृहम् अन्धकूपम्* में गहरे गिरते जाना। अतएव हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में विश्व के समस्त पुरुषों को वृन्दावन आने के लिए तथा यहाँ पर संन्यास जीवन बिताने और कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए आमंत्रित करते हैं।

श्रीनारद उवाच
श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः ।
जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; पुत्र-गिरः—अपने पुत्र की उपदेशमयी वाणी; दैत्यः—हिरण्यकशिपु; पर-पक्ष—शत्रु की ओर; समाहिताः—श्रद्धा युक्त; जहास—हँसा; बुद्धिः—बुद्धि; बालानाम्—छोटे बालकों की; भिद्यते—प्रदूषित होती है; पर-बुद्धिभिः—शत्रु पक्ष के सिखलाने से।.

नारद मुनि ने आगे कहा : जब प्रह्लाद महाराज ने भक्तिमय आत्म-साक्षात्कार के विषय में बतलाया और इस तरह अपने पिता के शत्रु-पक्ष के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति दिखलाई तो असुरराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद की बातें सुनकर हँसते हुए कहा—''शत्रु की वाणी द्वारा बाल-बुद्धि इसी तरह बिगाड़ी जाती है।''

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु असुर होने के कारण विष्णु तथा उनके भक्तों को अपना शत्रु मानता था। इसलिए यहाँ पर *परपक्ष* (शत्रु की ओर) शब्द व्यवहृत हुआ है। हिरण्यकशिपु ने कभी भी विष्णु या कृष्ण की बातें नहीं मानीं। प्रत्युत वह किसी भी वैष्णव की बुद्धि से क्रुद्ध हो जाता था। भगवान् विष्णु या कृष्ण कहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। किन्तु हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने इससे कभी सहमति नहीं दिखलाई। अतएव कृष्ण कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

''जो शैतान नितान्त मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनकी बुद्धि मोह द्वारा नष्ट हो चुकी है और

जो असुर भाव में हिस्सा बँटाते हैं, वे मेरी शरण में नहीं आते" (*भगवद्गीता* ७.१५)। *असुरभाव* हिरण्यकशिपु का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लोग *मूढ* तथा *नराधम* होने के कारण कभी भी विष्णु को ब्रह्म रूप में स्वीकार नहीं करते और न उनकी शरण ग्रहण करते हैं। स्वाभाविक था कि हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद पर अत्यधिक क्रुद्ध होता, क्योंकि वह शत्रुपक्ष द्वारा प्रभावित हो रहा था। अतएव उसने आदेश दिया था कि उसके पुत्र के निवास स्थान में नारद जैसे साधु पुरुषों को प्रविष्ट न होने दिया जाये, अन्यथा वैष्णव उपदेशों से प्रह्लाद अधिक बिगड़ जाएगा।

सम्यग्विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः ।
विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सम्यक्—पूर्णतया; विधार्यताम्—उसकी सुरक्षा की जाये; बालः—यह कम आयु का; गुरु-गेहे—गुरुकुल में, जहाँ बच्चों को गुरु द्वारा पढ़ाये जाने के लिए भेज दिया जाता है; द्वि-जातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; विष्णु-पक्षैः—विष्णु की ओर के; प्रतिच्छन्नैः—छद्म वेश में रहने वाले; न भिद्येत—प्रभावित न होने पाए; अस्य—उसकी; धीः—बुद्धि; यथा—जिससे।

हिरण्यकशिपु ने अपने सहायकों को आदेश दियाः हे असुरो, इस बालक के गुरुकुल में जहाँ पर यह शिक्षा पाता है, इसकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखो जिससे इसकी बुद्धि छद्मवेश में घूमने वाले वैष्णवों द्वारा और अधिक न प्रभावित हो पाए।

तात्पर्य : हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य को सामान्य कर्मी की भाँति वेश धारण करने की कला का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि आसुरी साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति वैष्णव उपदेशों के विरुद्ध रहता है। कृष्णभावनामृत वर्तमान युग के असुरों को तनिक भी नहीं भाता। ज्योंही वे किसी को केसरिया वस्त्र धारण किये, गले में माला डाले तथा मस्तक पर तिलक लगाये देखते हैं कि वे तुरन्त ही क्षुब्ध हो उठते हैं। वे वैष्णवों का उपहास करने के लिए हरे कृष्ण कहकर उनकी आलोचना करते हैं और कुछ लोग तो निष्ठा से हरे कृष्ण का जाप भी करते हैं। प्रत्येक अवस्था में चूँकि हरे कृष्ण परम है, चाहे कोई मजाक में कहे या निष्ठापूर्वक कहे फिर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। वैष्णवगण जो प्रसन्न होते हैं जब असुरगण हरे कृष्ण कीर्तन करते हैं, क्योंकि इससे पता चलता है कि हरे कृष्ण आन्दोलन की जड़ें गहरा रही हैं। वैष्णवों को दण्डित करने के लिए हिरण्यकशिपु जैसे बड़े-बड़े असुर सदैव तत्पर रहते हैं और ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे वैष्णव लोग न तो अपनी पुस्तकें बेचने, न ही कृष्णभावनामृत का प्रचार करने आएं। इस प्रकार हिरण्यकशिपु ने जो कुछ बहुत समय पहले किया था, वही आज भी

हो रहा है। यही भौतिकतावादी जीवन-शैली है। असुर या भौतिकतावादी नहीं चाहते कि कृष्णभावनामृत किसी प्रकार उन्नति करे और वे इसमें नाना प्रकार से विघ्न डालने का प्रयास करते रहते हैं। इतने पर भी कृष्णभावनामृत के प्रचारकों को अपना वैष्णव वेश बना कर या अन्य वेश में उपदेश देने के लिए आगे बढ़ते जाना चाहिए। चाणक्य पंडित का कहना है कि यदि ईमानदार व्यक्ति को किसी बहुत बड़े ठग से पाला पड़े तो यह आवश्यक है कि वह भी ठग बने—ठगने के उद्देश्य से नहीं अपितु अपने उपदेश कार्य को सफल बनाने के लिए।

गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः ।
प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गृहम्—अध्यापकों (षण्ड तथा अमर्क) के घर तक; आनीतम्—लाया गया; आहूय—पुकार कर; प्रह्लादम्—प्रह्लाद को; दैत्य-याजकाः—हिरण्यकशिपु के पुरोहित; प्रशस्य—शान्त करके; श्लक्ष्णया—अत्यन्त नम्रतापूर्वक; वाचा—वाणी; समपृच्छन्त—प्रश्न पूछा; सामभिः—अत्यन्त अनुकूल शब्दों से।

जब हिरण्यकशिपु के नौकर बालक प्रह्लाद को गुरुकुल वापस ले आये तो असुरों के पुरोहित षण्ड तथा अमर्क ने उसे शान्त किया। उन्होंने अत्यन्त मृदु वाणी तथा स्नेह भरे शब्दों से उससे इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : षण्ड तथा अमर्क असुरों के पुरोहित थे। वे प्रह्लाद महाराज से यह जानने के लिए उत्सुक थे कि वे कौन से वैष्णव हैं, जो उसे कृष्णभावनामृत का उपदेश देने आते हैं। उसका मन्तव्य उन वैष्णवों के नामों का पता लगाना था। प्रारम्भ में उन्होंने बालक को डराया-धमकाया नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर हो सकता था कि वह असली दोषियों के नाम न बताता। अतएव उन्होंने अत्यन्त मृदु तथा शान्त भाव से इस प्रकार पूछा।

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा ।
बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

वत्स—हे पुत्र; प्रह्लाद—प्रह्लाद; भद्रम् ते—तुम्हारा कल्याण हो; सत्यम्—सत्य; कथय—बतलाओ; मा—मत; मृषा—मिथ्या, झूठ; बालान् अति—अन्य असुर बालकों से बढ़कर; कुतः—कहाँ से; तुभ्यम्—तुमको; एषः—इस; बुद्धि—बुद्धि का; विपर्ययः—विकार, प्रदूषण।

हे पुत्र प्रह्लाद, तुम्हारा क्षेम तथा कल्याण हो। तुम झूठ मत बोलना। ये बालक जिन्हें तुम देख

रहे हो, वे तुम जैसे नहीं हैं, क्योंकि ये सब पथभ्रष्ट जैसे नहीं बोलते। तुमने ये उपदेश कहाँ से सीखे? तुम्हारी बुद्धि इस तरह कैसे बिगड़ गई है?

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज अभी बालक ही थे, अतएव उनके अध्यापकों ने सोचा कि यदि इस बालक को फुसला सकें तो वह तुरन्त सच बता देगा और यह रहस्य प्रकट कर देगा कि किस प्रकार वैष्णवजन आकर उसे भक्ति का पाठ पढ़ा जाते हैं। निस्सन्देह, यह विस्मयजनक था कि उसी पाठशाला के अन्य दैत्य बालक बिगड़े नहीं थे, केवल प्रह्लाद महाराज ही वैष्णवों के उपदेश से बिगड़े थे। अध्यापकों का मुख्य कर्तव्य था कि वे पता लगाएँ कि वे वैष्णव कौन थे, जो वहाँ आकर प्रह्लाद को शिक्षा देते थे और उसकी बुद्धि को बिगाड़ रहे थे।

बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् ।
भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥ १० ॥

शब्दार्थ

बुद्धि-भेदः—बुद्धि भ्रष्ट होना; पर-कृतः—शत्रुओं द्वारा किया गया; उताहो—अथवा; ते—तुम्हारा; स्वतः—अपने से; अभवत्—था; भण्यताम्—हमें बताओ; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के इच्छुक; गुरूणाम्—अपने अध्यापकों का; कुल-नन्दन—हे अपने वंश के सर्वश्रेष्ठ।

हे कुलश्रेष्ठ, तुम्हारी बुद्धि का यह विकार अपने आप आया है या शत्रुओं द्वारा लाया गया है? हम सब तुम्हारे अध्यापक हैं और इसके विषय में जानने के इच्छुक हैं। हमसे सच-सच कहो।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के अध्यापक आश्चर्यचकित थे कि इतना छोटा बालक किस तरह ऐसे उच्च वैष्णव-दर्शन की बातें कर सकता है। अतएव उन्होंने उन वैष्णवों के विषय में जानना चाहा जो चोरी-चोरी उसे शिक्षा दे रहे थे जिससे वे वैष्णव बन्दी बनाये जा सकें और प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु के समक्ष मारे जा सकें।

श्रीप्रह्लाद उवाच
परः स्वश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः ।
विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया; परः—शत्रु; स्वः—स्वजन या मित्र; च—भी; इति—इस प्रकार; असत्-ग्राहः—जीवन की भौतिक धारणा; पुंसाम्—मनुष्यों की; यत्—जिसकी; मायया—माया से; कृतः—उत्पन्न; विमोहित—

मोहग्रस्त; धियाम्—बुद्धिवालों का; दृष्टः—साक्षात् अनुभव किया गया; तस्मै—उस; भगवते—भगवान् को; नमः—मेरा नमस्कार है।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनकी माया ने मनुष्यों की बुद्धि को चकमा देकर 'मेरे मित्र' तथा 'मेरे शत्रु' में अन्तर उत्पन्न किया है। निस्सन्देह, मुझको अब इसका वास्तविक अनुभव हो रहा है, यद्यपि मैंने पहले इसके विषय में प्रामाणिक स्त्रोतों से सुन रखा है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (५.१८) में कहा गया है—

विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर एक विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल (अछूत) को समान दृष्टि से देखता है।" जो *पण्डितः* हैं—अर्थात् जो वास्तव में विद्वान हैं, समदर्शी हैं, उन्नत भक्त जिन्हें प्रत्येक वस्तु का पूरा-पूरा ज्ञान है किसी भी प्राणी को मित्र या शत्रु के रूप में नहीं देखते। अपितु व्यापक दृष्टि होने से वे सबों को कृष्ण के अंश रूप में देखते हैं जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है (*जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्य दास'*)। प्रत्येक जीव भगवान् का अंश होने के कारण उनकी सेवा के लिए आया है, जिस तरह शरीर का प्रत्येक अंग पूरे शरीर की सेवा के लिए होता है।

सारे जीव भगवान् के दास के रूप में एक से हैं, लेकिन वैष्णव स्वाभाविक अपनी विनम्रता के कारण प्रत्येक अन्य जीव को *प्रभु* कहकर सम्बोधित करता है। वह अन्य दासों को इतना आगे बढ़ा देखता है कि उसे उनसे बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इस तरह वह भगवान् के अन्य सभी भक्तों को *प्रभु* के रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, लेकिन अपनी विनम्रता के कारण वैष्णव दास दूसरे दास को अपना प्रभु (स्वामी) मानता है। प्रभु का ज्ञान गुरु के ज्ञान से प्रारम्भ होता है—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो

यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।

"गुरु की कृपा होने पर मनुष्य को कृष्ण का आशीर्वाद प्राप्त होता है। गुरु की कृपा के बिना

किसी भी तरह की प्रगति नहीं हो सकती।''

साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै-

रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्‌भिः।

किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य

वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

''गुरु का उतना ही आदर किया जाना चाहिए जितना कि भगवान् का किया जाता है क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वस्त सेवक है। इसे समस्त शास्त्रों ने स्वीकार किया है और सारे विद्वान इसका पालन करते हैं। अतएव मैं ऐसे गुरु के चरणकमलों को सादर प्रणाम करता हूँ जो श्रीहरि (कृष्ण) के प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं।'' ईश्वर का दास गुरु भगवान् की अत्यन्त गुह्य सेवा में लगा रहता है। यह सेवा समस्त बद्धजीवों को माया के चंगुल से मुक्त करती है, जिसमें मनुष्य सोचता है ''यह व्यक्ति मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है।'' वास्तव में भगवान् समस्त जीवों के मित्र हैं और सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। एकत्व तो इसी ज्ञान से सम्भव है, न कि कृत्रिम विचार से कि हममें से प्रत्येक ईश्वर है या ईश्वर के तुल्य है। असली ज्ञान तो यही है कि ईश्वर परम प्रभु हैं और हम सभी उनके दास हैं, अतएव हम सभी एक ही स्तर (पद) पर हैं। प्रह्लाद महाराज को उनके गुरु नारद ने पहले ही यह सिखला दिया था, किन्तु तो भी प्रह्लाद को आश्चर्य हो रहा था कि किस तरह मोहग्रस्त जीव किसी को अपना मित्र और किसी को अपना शत्रु मानता है।

जब तक मनुष्य द्वैत दर्शन से चिपका रहता है और किसी को मित्र तथा किसी को शत्रु मानता है तब तक उसे माया के पाश में समझना चाहिए। मायावादी दार्शनिक भी भ्रम में रहता है, क्योंकि वह समस्त जीवों को ईश्वर मानकर उन्हें एक समझता है। कोई भी व्यक्ति ईश्वर के तुल्य नहीं है। दास कभी प्रभु (स्वामी) के तुल्य नहीं हो सकता। वैष्णव दर्शन के अनुसार स्वामी (प्रभु) एक है और दास भी एक हैं लेकिन स्वामी तथा दास में मुक्त अवस्था में भी अन्तर बना रहता है। बद्ध अवस्था में हम सोचते हैं कि कुछ प्राणी हमारे मित्र हैं और अन्य हमारे शत्रु हैं। इस तरह हम द्वैत भाव में बने रहते हैं। किन्तु मुक्त अवस्था में ईश्वर प्रभु के रूप में और सारे जीव ईश्वर के दास होने के कारण एक होते हैं।

स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते ।
अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह भगवान्; यदा—जब; अनुव्रतः—अनुकूल या प्रसन्न; पुंसाम्—बद्धजीवों का; पशु-बुद्धिः—जीवन के विषय में पाशविक धारणा है (कि मैं भगवान् हूँ और हर एक ईश्वर है); विभिद्यते—नष्ट हो जाता है; अन्यः—दूसरा; एषः—यह; तथा—भी; अन्यः—दूसरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; भेद—अन्तर; गत—से युक्त; असती—संकटपूर्ण।

जब भगवान् किसी जीव से उसकी भक्ति के कारण प्रसन्न हो जाते हैं, तो वह पण्डित बन जाता है और वह शत्रु, मित्र तथा अपने में कोई भेद नहीं मानता। तब वह बुद्धिमानी से सोचता है कि हम सभी ईश्वर के नित्य दास हैं, अतएव हम एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों तथा आसुरी पिता ने पूछा कि उसकी बुद्धि किस तरह दूषित हो गई है, तो प्रह्लाद महाराज ने कहा—"जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मेरी बुद्धि दूषित नहीं की गई है। परन्तु अपने गुरु की कृपा से तथा भगवान् कृष्ण की कृपा से मैंने अब यह सीखा है कि न तो कोई मेरा मित्र है और न कोई शत्रु है। वास्तव में हम सभी कृष्ण के नित्य दास हैं, किन्तु माया के प्रभाव से हम सोचते हैं कि हम एक दूसरे के शत्रु तथा मित्र रूप में भगवान् से भिन्न स्थित हैं। अब यह भ्रम दूर हो गया है, अतएव मैं सामान्य मनुष्यों की तरह नहीं रहा। अब मैं यह नहीं सोचता कि मैं ईश्वर हूँ और अन्य लोग मेरे शत्रु तथा मित्र हैं। अब मैं ठीक ही सोचता हूँ कि हर कोई ईश्वर का नित्य दास है और हमारा कर्तव्य है कि इन परम प्रभु की सेवा की जाये, क्योंकि तब हम दास के रूप में एकत्व के पद पर खड़े होंगे।"

असुरगण प्रत्येक व्यक्ति को मित्र या शत्रु मानते हैं, लेकिन वैष्णवों का कहना है कि चूँकि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति एक जैसे पद पर है। अत: एक वैष्णव अन्य जीवों को न तो शत्रु मानता है, न मित्र अपितु कृष्णभावनामृत का प्रसार करता है हर एक को यह शिक्षा देता है कि हम सभी भगवान् के दास के रूप में एक हैं, किन्तु हम राष्ट्रों, जातियों तथा शत्रु-मित्रों के वर्गों को जन्म देकर अपने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत पद प्राप्त करके भगवान् के दास रूप में एकत्व का अनुभव करना चाहिए। यद्यपि जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु एक वैष्णव उनमें इस एकत्व का अनुभव करता है। *ईशोपनिषद* का उपदेश है—*एकत्वम् अनुपश्यत:।* भक्त को चाहिए कि भगवान् को प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित देखे और यह भी देखे कि प्रत्येक जीव भगवान् के नित्य दास के रूप में है। यह दृष्टि *एकत्वम्* कहलाती है। यद्यपि

दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु दास तथा स्वामी अपनी आध्यात्मिक पहचान के कारण एक हैं। यह भी *एकत्वम्* है। अतएव वैष्णव की *एकत्वम्* की धारणा मायावादी की धारणा से भिन्न है।

हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज से पूछा कि वह अपने परिवार से विपरीत क्यों हो गया है? जब किसी परिवार का कोई सदस्य किसी शत्रु द्वारा मारा जाता है, तो उस परिवार के सारे सदस्य उस हत्यारे के शत्रु बन जाते हैं, लेकिन हिरण्यकशिपु देख रहा था कि प्रह्लाद का तो हत्यारे से मैत्री-भाव था। अतएव उसने पूछा ''किसने तुममें इस तरह की बुद्धि उत्पन्न की है? क्या तुमने स्वयं यह चेतना विकसित की है? चूँकि तुम छोटे से बालक हो, अतएव किसी ने अवश्य ही तुम्हें इस तरह सोचने के लिए प्रेरित किया है।'' प्रह्लाद महाराज कहना चाहते थे कि विष्णु के अनुकूल मनोवृत्ति तभी विकसित हो सकती है जब भगवान् अनुकूल हों (*स यदानुव्रतः*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—कृष्ण सबों के मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति*)। भगवान् कभी भी लाखों जीवों में से किसी के भी शत्रु नहीं होते। वे तो सदा सबों के मित्र हैं। यही असली ज्ञान है। यदि कोई सोचता है कि भगवान् शत्रु हैं, तो उसकी बुद्धि पशुबुद्धि है। वह झूठ ही सोचता हैं ''मैं अपने शत्रु से भिन्न हूँ और मेरा शत्रु मुझसे भिन्न है। चूँकि शत्रु ने ऐसा किया है अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं उसका वध करूँ।'' इस भ्रान्त धारणा को इस श्लोक में *भेदगतासती* के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य-चरितामृत* में पुष्टि की है (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*)। ईश्वर के दास रूप में हम सभी एक हैं और शत्रुता और मित्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मनुष्य वास्तव में यह समझ ले कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति भगवान् का दास है, तो फिर शत्रु या मित्र का प्रश्न कहाँ उठता है?

भगवान् की सेवा करने के लिए सबों को मैत्रीभाव रखना चाहिए। हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की गई भगवान् की सेवा की प्रशंसा करे और अपनी ही सेवा पर गर्वित न हो। यही वैष्णवों के सोचने की विधि या वैकुण्ठ विचार है। सेवा करने के लिए दासों में स्पर्द्धा हो सकती है, बाह्य रूप से होड़ लग सकती है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में तो दूसरे दास की सेवा प्रशंसित होती है, निन्दित नहीं। यह वैकुण्ठ की स्पर्द्धा है। यहाँ पर दासों के मध्य शत्रुता का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्येक व्यक्ति को पूरी सामर्थ्य भर भगवान् की सेवा करने देना चाहिए और हर एक को चाहिए कि दूसरे द्वारा की जाने वाली

सेवा को समझे। वैकुण्ठ के कार्यकलाप ऐसे ही हैं। चूँकि हर व्यक्ति दास है अतएव हर एक समान स्तर (पद) पर होता है और उसे अपनी सामार्थ के अनुसार भगवान् की सेवा करने दी जाती है। जैसाकि *भगवद्गीता* से (१५.१५) पुष्ट होता है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और दास की मनोवृत्ति के अनुसार आदेश देते रहते हैं। किन्तु भगवान् भक्तों तथा अभक्तों को भिन्न-भिन्न आदेश देते हैं। अभक्तगण परमेश्वर की सत्ता को चुनौती देते हैं, अतएव भगवान् ऐसा आदेश देते हैं जिससे अभक्त जन्म-जन्मातर भगवान् की सेवा को भूलता रहता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होता है। किन्तु जब भक्त अत्यन्त निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करना चाहता है, तो भगवान् भिन्न रीति से आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भगवान् कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।" प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में दास है, वह न तो शत्रु है, न मित्र और हर व्यक्ति भगवान् के पृथक्-पृथक् आदेशानुसार कार्य कर रहा है, क्योंकि वे प्रत्येक जीव को उसकी मानसिकता के अनुसार निर्देश देते हैं।

स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभि-
र्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो
ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; आत्मा—प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा; स्व-पर—यह मेरा कार्य है और वह दूसरे का है; इति—इस प्रकार; अबुद्धिभिः—ऐसी खराब बुद्धि वालों के द्वारा; दुरत्यय—पालन करना अत्यन्त दुष्कर; अनुक्रमणः—जिसकी भक्ति; निरूप्यते—निश्चित की जाती है (शास्त्रों या गुरु के उपदेशों से); मुह्यन्ति—मोहित हो जाते हैं; यत्—जिसके; वर्त्मनि—रास्ते में; वेद-वादिनः—वैदिक आदेशों के अनुयायी; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा से लेकर देवगण तक; हि—निस्सन्देह; एषः—यह; भिनत्ति—बदल देती है; मे—मेरी; मतिम्—बुद्धि को।

जो लोग सदैव 'शत्रु' तथा 'मित्र' के बारे में सोचते हैं, वे अपने भीतर परमात्मा को स्थिर कर पाने में असमर्थ रहते हैं। इनकी जाने दें, ब्रह्मा जैसे बड़े-बड़े पुरुष जो वैदिक साहित्य से पूरी

तरह अभिज्ञ हैं कभी-कभी भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए मोहग्रस्त हो जाते हैं। जिस भगवान् ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है उसी ने ही मुझे आपके तथाकथित शत्रु का पक्षधर बनने की बुद्धि दी है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने खुल कर स्वीकार किया—''हे अध्यापको! आप त्रुटिवश सोचते हैं कि भगवान् विष्णु आपके शत्रु हैं, लेकिन चूँकि वे मुझ पर अनुकूल हैं, अतएव मैं समझता हूँ कि वे सबों के मित्र हैं। आप भले ही यह सोचें कि मैंने आपके शत्रु का पक्ष ग्रहण किया है, लेकिन वास्तव में उन्होंने मुझ पर महान् कृपा की है।''

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन्स्वयमाकर्षसन्निधौ ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥ १४॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; भ्राम्यति—घूमता है; अयः—लोह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणो; स्वयम्—अपने आप; आकर्ष—चुम्बक के; सन्निधौ—निकट; तथा—उसी तरह; मे—मेरी; भिद्यते—बदलती है; चेतः—चेतना; चक्र-पाणेः—हाथ में चक्र धारण करने वाले भगवान् विष्णु की; यदृच्छया—केवल इच्छा मात्र से।

हे ब्राह्मणों (आध्यापको), जिस प्रकार चुम्बक से आकर्षित लोह स्वतः चुम्बक की ओर जाता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु की इच्छा से बदली हुई मेरी चेतना उन चक्रधारी की ओर आकृष्ट होती है। इस प्रकार मुझे कोई स्वतंत्रता नहीं है।

तात्पर्य : चुम्बक द्वारा लोहे का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। उसी तरह सारे जीवों का कृष्ण के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक है और इसीलिए भगवान् का असली नाम कृष्ण है, जिसका अर्थ है हर एक को तथा हर वस्तु को आकृष्ट करने वाला। ऐसे आकर्षण के विशिष्ट उदाहरण वृन्दावन में मिलते हैं जहाँ हर वस्तु तथा हर कोई कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है। नन्द महाराज तथा यशोदा देवी, वयोवृद्ध लोग, श्रीदामा, सुदामा तथा अन्य ग्वाल-बाल जैसे मित्रगण तथा श्रीमती राधारानी तथा उनकी सखी गोपियाँ और यहाँ तक कि पशु-पक्षी, गाएँ तथा बछड़े तक आकृष्ट होते हैं। बगीचों के फूल-फल आकृष्ट हैं, यमुना की तरंगें आकृष्ट हैं तथा स्थल, आकाश, वृक्ष, पौधे, पशु तथा अन्य सारे जीव आकृष्ट हैं। वृन्दावन में प्रत्येक वस्तु की यह स्वाभाविक स्थिति है।

वृन्दावन के व्यापारों से सर्वथा विपरीत यह भौतिक जगत है जहाँ सारे लोग कृष्ण द्वारा नहीं, अपितु माया द्वारा आकृष्ट होते हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का यही अन्तर है। हिरण्यकशिपु

इस भौतिक जगत में होने के कारण स्त्रियों तथा धन के द्वारा आकृष्ट था जबकि प्रह्लाद महाराज अपनी स्वाभाविक स्थिति में होने के कारण कृष्ण द्वारा आकृष्ट थे। जब हिरण्यकशिपु ने पूछा कि प्रह्लाद महाराज का पृथक् दृष्टिकोण क्यों है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी दृष्टि पृथक् नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक स्थिति कृष्ण द्वारा आकृष्ट होने की है। प्रह्लाद ने कहा कि उनका यह दृष्टिकोण इसलिए भिन्न लगता है, क्योंकि हिरण्यकशिपु अप्राकृतिक रूप से कृष्ण से अनाकृष्ट है, अतएव उसके शुद्धिकरण की आवश्यकता है।

ज्योंही मनुष्य भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है, तो वह पुनः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होता है (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*)। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की धूल से कलुषित है और वह विभिन्न उपाधियों के अनुसार कर्म करता है—कभी मनुष्य के रूप में, कभी पशु के रूप में, कभी देवता के रूप में, तो कभी वृक्ष के रूप में। उसे इन सारी उपाधियों को धोकर दूर कर देना चाहिए। तभी वह स्वभावतः कृष्ण के प्रति आकृष्ट होगा। भक्ति द्वारा जीव अपने समस्त अस्वाभाविक आकर्षणों से शुद्ध हो जाता है। जब वह शुद्ध हो जाता है, तो कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है और तब माया की सेवा न करके कृष्ण की सेवा करने लगता है। यही उसकी प्राकृतिक स्थिति है। भक्त कृष्ण द्वारा आकृष्ट होता है, लेकिन अभक्त भौतिक भोग की धूल से कलुषित होने के कारण आकृष्ट नहीं होता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"जिन्होंने पूर्वजन्म में तथा इस जीवन में पुण्यकर्म किया है, जिनके पाप कर्म पूरी तरह उन्मूलित हो चुके हैं और जो भ्रम के द्वैत से मुक्त हैं, वे ही संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में संलग्न होते हैं।" मनुष्य को संसार की पापमयी धूल से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति भौतिक इच्छा से दूषित है। जब तक वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त नहीं हो लेता (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*), तब तक वह कृष्ण द्वारा आकृष्ट नहीं होता।

श्रीनारद उवाच
एतावद्ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः ।

तं सन्निभर्त्स्य कुपितः सुदीनो राजसेवकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद महामुनि ने कहा; एतावत्—इतना; ब्राह्मणाय—शुक्राचार्य के पुत्रों से, जो ब्राह्मण थे; उक्त्वा—कहकर; विरराम—मौन हो गये; महा-मतिः—महान् बुद्धि वाले प्रह्लाद महाराज; तम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); सन्निभर्त्स्य—अत्यन्त भर्त्सना करते हुए; कुपितः—क्रुद्ध होकर; सु-दीनः—विचारों में दरिद्र या अत्यधिक शोकमग्न; राज-सेवकः—राजा हिरण्यकशिपु के सेवकगण।

श्री नारद महामुनि ने आगे कहा : शुक्राचार्य के पुत्रों अर्थात् अपने शिक्षकों षण्ड तथा अमर्क से यह कहने के बाद महात्मा प्रह्लाद महाराज मौन हो गये। तब ये तथाकथित ब्राह्मण उन पर क्रुद्ध हुए। चूँकि वे हिरण्यकशिपु के दास थे अतएव वे अत्यन्त दुखी थे। वे प्रह्लाद महाराज की भर्त्सना करने के लिए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : शुक्राचार्य (शुक्र का अर्थ है वीर्य) के पुत्र जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु असली ब्राह्मण तो वह है, जिसमें ब्राह्मण के गुण पाये जाँए। षण्ड तथा अमर्क शुक्राचार्य के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण तो थे, किन्तु उनमें असली ब्राह्मण के गुण नहीं थे, क्योंकि वे हिरण्यकशिपु की नौकरी करते थे। वास्तविक ब्राह्मण किसी को भी कृष्ण का भक्त बनते देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, अपने शिष्य के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। ऐसे ब्राह्मण अपने परम स्वामी को प्रसन्न करने के लिए होते हैं। ब्राह्मण को किसी अन्य का दास बनने के लिए वर्जित किया गया है, क्योंकि यह तो कुत्तों तथा शूद्रों का कार्य है। कुत्ते को अपने स्वामी को प्रसन्न रखना पड़ता है, लेकिन ब्राह्मण को अन्य किसी को प्रसन्न नहीं करना होता, उसे मात्र कृष्ण को प्रसन्न करना होता है (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। ब्राह्मण की असली योग्यता यही है। चूँकि षण्ड तथा अमर्क जन्मना ब्राह्मण थे और हिरण्यकशिपु जैसे स्वामी के दास हो गये थे, अतएव व्यर्थ ही प्रह्लाद महाराज को दण्डित करना चाहते थे।

आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः ।
कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आनीयताम्—लायी जाये; अरे—ओह; वेत्रम्—बेंत, छड़ी; अस्माकम्—हमारी; अयशस्करः—अपयश लाने वाला; कुल-अङ्गारस्य—जो कुल में अंगार के सदृश है उसका; दुर्बुद्धेः—दुर्बुद्धि वाले; चतुर्थः—चौथा; अस्य—उसका; उदितः—घोषित; दमः—दण्ड (हठ न्याय)।

अरे! मेरी छड़ी तो लाओ! यह प्रह्लाद हम लोगों के नाम और यश में बट्टा लगा रहा है। अपनी दुर्बुद्धि के कारण यह असुरों के कुल में अंगार बन गया है। अब राजनीतिक कूटनीति के चार

प्रकारों में से चौथे के द्वारा इसका उपचार किये जाने की आवश्यकता है।

तात्पर्य : राजनीतिक मामलों में जब कोई व्यक्ति सरकार के विरुद्ध अवज्ञा दिखलाता है, तो उसके दमन के लिए चार नियमों का प्रयोग किया जाता है—कानूनी आदेश, शमन करना, पद प्रदान करना या अन्ततः हथियार का प्रयोग। जब कोई तर्क शेष नहीं रहते तो उसे दण्डित किया जाता है। तर्कशास्त्र में इसे हठ न्याय कहते हैं। षण्ड तथा अमर्क नामक दोनों ब्राह्मण जब प्रह्लाद महाराज से अपने पिता से भिन्न मत होने का कारण कहलवा नहीं पाये तो उन्होंने अपने स्वामी हिरण्यकशिपु को प्रसन्न करने के लिए बेंत मँगवाया जिससे वे उसे दन्ड दे सके। चूँकि प्रह्लाद भक्त बन चुका था, अतएव उन्होंने सोचा कि वह दुर्बुद्धि से कलुषित हो चुका है और असुरों के कुल के लिए निकृष्टतम सन्तान है। जैसाकि कहावत है "जहाँ अज्ञान ही वरदान बन जाता है, वहाँ बुद्धिमान होना मूर्खता है।" जिस समाज या परिवार का हर व्यक्ति असुर हो वहाँ किसी का वैष्णव बनना सरासर मूर्खता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज पर दुर्बुद्धि का आरोप लगाया गया, क्योंकि वे असुरों के बीच में थे जिनमें उनके शिक्षक भी सम्मिलित थे, जो कहने भर के ब्राह्मण थे।

हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों की स्थिति प्रह्लाद महाराज जैसी है। सारे विश्व में ९९ प्रतिशत लोग ईश्वरविहीन असुर हैं, अतएव प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करते हुए हम लोगों का प्रचार-कार्य सदैव अनेक अवरोधों से ग्रस्त रहता है। जिन अमरीकी बालकों ने कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया है उन्हें भक्त होने के दोष में सी. आई. ए. का सदस्य बतलाया जाता है। यही नहीं, भारत के शुक्र-ब्राह्मण, जो यह मानते हैं कि कोई ब्राह्मण तभी हो सकता है, जब वह ब्राह्मण कुल में जन्मा हो, हम पर आरोप लगाते हैं कि हम हिन्दू धर्म को विनष्ट कर रहे हैं। निस्सन्देह, तथ्य यह है कि योग्यता से ही कोई ब्राह्मण बन सकता है। चूँकि हम यूरोपवासियों तथा अमरीकियों को योग्य बनने की शिक्षा दे रहे हैं और उन्हें ब्राह्मण पद प्रदान कर रहे हैं, अतएव हम पर हिन्दू धर्म को विनष्ट करने का आरोप लगाया जाता है। फिर भी हमें सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए प्रह्लाद महाराज की भाँति ही दृढसंकल्प होकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना है। असुरराज हिरण्यकशिपु का पुत्र होते हुए भी प्रह्लाद कभी भी आसुरी पिता के शुक्र से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्रों की प्रताड़ना से भयभीत नहीं हुए।

दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः ।
यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥ १७॥

शब्दार्थ

दैतेय—दैत्य वंश के; चन्दन-वने—चन्दन वन में; जातः—उत्पन्न; अयम्—यह; कण्टक-द्रुमः—कँटीला वृक्ष; यत्—जिसकी; मूल—जड़ों के; उन्मूल—काटने में; परशोः—जो कुल्हाड़े की भाँति है; विष्णोः—भगवान् विष्णु; नालायितः—हत्था या बेंट; अर्भकः—बालक।

यह धूर्त प्रह्लाद चन्दन के वन में कँटीले वृक्ष के समान प्रकट हुआ है। चन्दन-वृक्ष काटने के लिए कुल्हाड़े की आवश्यकता होती है और कँटीले वृक्ष की लकड़ी ऐसे कुल्हाड़े का हत्था बनाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती है। भगवान् विष्णु दैत्य वंश रूपी चन्दन बन को काट गिराने के लिए कुल्हाड़े के तुल्य हैं और यह प्रह्लाद उस कुल्हाड़े का हत्था (बेंट) है।

तात्पर्य : सामान्यतया कँटीले वृक्ष मरुस्थल में उगते हैं, वे चन्दन वन में नहीं उगते किन्तु शुक्र-ब्राह्मण षण्ड-अमर्क नामक ब्राह्मणों ने दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वंश की तुलना चन्दन वन से की और प्रह्लाद महाराज की तुलना उस कठोर बलिष्ठ कँटीले वृक्ष से की जिससे कुल्हाड़े का हत्यार बनाया जाता है। उन्होंने भगवान् विष्णु की तुलना कुल्हाड़े से की। अकेला कुल्हाड़ा कँटीले वृक्ष को नहीं काट सकता, इस के लिए कण्टीले लकड़ी से बने हाथे की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उस कँटीले वृक्ष जैसी आसुरी सभ्यता को *विष्णु भक्ति* रूपी कुल्हाड़े से ही खण्ड-खण्ड किया जा सकता है। इस आसुरी सभ्यता रूपी कुल्हाड़े का प्रह्लाद महाराज जैसा कोई सदस्य बेंट बनकर भगवान् विष्णु की सहायता कर सकता है और इस तरह आसुरी सभ्यता का समूचा वन खण्ड-खण्ड किया जा सकता है।

इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः ।
प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥ १८॥

शब्दार्थ

इति—इस तरह से; तम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); विविध-उपायैः—अनेक प्रकार से; भीषयन्—धमकाते हुए; तर्जन-आदिभिः—ताड़ना आदि के द्वारा.; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; ग्राहयाम् आस—पढ़ाया; त्रि-वर्गस्य—जीवन के तीन लक्ष्य (धर्म, अर्थ तथा काम); उपपादनम्—शास्त्र जो प्रस्तुत करता है।

प्रह्लाद महाराज के शिक्षक षण्ड तथा अमर्क ने अपने शिष्य को तरह-तरह से डराया-धमकाया और उसे धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों के विषय में पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह थी उनकी शिक्षा देने की विधि।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रह्लादं ग्राहयाम् आस* पद महत्त्वपूर्ण है। *ग्राहयाम् आस* का शाब्दिक अर्थ होगा कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम के मार्गों को स्वीकार कराने की चेष्टा की। सामान्यतया लोग इन्हीं तीनों में बँधे रहते हैं, उन्हें मुक्ति मार्ग में कोई रुचि नहीं रहती। प्रह्लाद महाराज का पिता तो केवल स्वर्ण तथा विषय-भोग में रुचि लेता था। *हिरण्य* शब्द का अर्थ है ''सोना'' और *कशिपु* का अर्थ है ''मुलायम गद्दे'' जिन पर लोग इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लेते हैं, किन्तु *प्रह्लाद* शब्द सूचक है उस व्यक्ति का जो ब्रह्म को जानने से सदैव प्रसन्न रहता है (*ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा*)। *प्रह्लाद* का अर्थ है प्रसन्नात्मा, अर्थात् सदैव प्रसन्न रहने वाला। प्रह्लाद भगवान् की पूजा करने में सदैव प्रसन्न रहता था, लेकिन हिरण्यकशिपु के आदेशों के अनुसार, शिक्षकगण उसे भौतिक बातों की शिक्षा देने में अधिक रुचि दिखाते थे। भौतिकतावादी लोग सोचते हैं कि धर्म का पक्ष उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए है। वे मन्दिर में नाना प्रकार के देवताओं की पूजा करने जाते हैं जिससे उनकी भौतिक दशा सुधारने के लिए वर प्राप्त हो सके। वे *साधु* या तथाकथित *स्वामी* के पास इसलिए जाते हैं जिससे भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए कोई सुगम विधि प्राप्त हो सके। ये तथाकथित साधु धर्म के नाम पर भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने के सुगम मार्ग दिखलाकर भौतिकतावादियों की इन्द्रियों को तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी वे कुछ तिलस्म या आशीर्वाद देते हैं। कभी-कभी वे उन्हें सोना बनाकर आकृष्ट करते हैं। तब वे अपने को ईश्वर घोषित करते हैं और ये मूर्ख भौतिकतावादी आर्थिक लाभ के लिए उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। इस ठगी के फलस्वरूप अन्य लोग धार्मिक विधि को ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं और इसके बजाय वे सामान्य लोगों को भौतिक उन्नति के लिए कार्य करने का उपदेश देते हैं। यही विश्व भर में हो रहा है। आज से नहीं, अपितु अनन्त काल से लोग *मोक्ष* में रुचि नहीं लेते। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार सिद्धान्त हैं। लोग भौतिक रूप से ऐश्वर्यवान क्यों बने? इन्द्रियतृप्ति के लिए। अतएव लोग भौतिकता पूर्ण जीवनके इन्ही तीन *मार्गों* को अच्छा समझते हैं। किसी की रुचि *मोक्ष* में नहीं होती और *भगवद्भक्ति* तो मोक्ष से भी ऊपर है। अतएव भक्तियोग या कृष्णभावनामृत को समझना अत्यन्त कठिन है। इसकी व्याख्या आगे चलकर प्रह्लाद महाराज द्वारा की जाएगी। षण्ड तथा अमर्क नामक अध्यापकों ने प्रह्लाद महाराज को भौतिकतावादी जीवन-शैली अपनाने के लिए फुसलाया, किन्तु उनका प्रयास व्यर्थ गया।

तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् ।
दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलङ्कृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; एनम्—उसको (प्रह्लाद महाराज को); गुरुः—उसके गुरु; ज्ञात्वा—जानकर; ज्ञात—जाना हुआ; ज्ञेय—जिन्हें जानना है; चतुष्टयम्—चार कूटनीतिक सिद्धान्त-साम, दाम, दंड, भेद; दैत्य-इन्द्रम्—दैत्यों के राजा हिरण्यकशिपु को; दर्शयाम् आस—ले गये, प्रस्तुत किया; मातृ-मृष्टम्—अपनी माता के द्वारा नहलाया जाकर; अलङ्कृतम्—आभूषणों से सजाया जाकर।

कुछ काल बाद षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने सोचा कि प्रह्लाद महाराज जनता के नेताओं को शान्त करने, उन्हें लाभप्रद आकर्षक नौकरीयाँ देकर प्रसन्न करने, उनमें फूट डालकर उन पर शासन करने तथा अवज्ञा करने पर उन्हें दण्डित करने के कूटनीतिक मामलों में पर्याप्त शिक्षा प्राप्त कर चुका है। तब एक दिन जब प्रह्लाद की माता अपने पुत्र को स्वयं नहला-धुलाकर तथा पर्याप्त आभूषणों से अलंकृत कर चुकी थीं तो उन शिक्षकों ने उसे उसके पिता के समक्ष लाकर प्रस्तुत कर दिया।

तात्पर्य : जो विद्यार्थी शासक या राजा होने वाला हो उसके लिए आवश्यक है कि वह चार कूटनीतिक सिद्धान्तों को सीखे। राजा तथा उसकी प्रजा के बीच सदा प्रतिस्पर्धा चलती है। अतएव जब कोई नागरिक जनसमूह को राजा के विरुद्ध भड़काएं तो राजा का धर्म है कि वह उसे बुलाए और मीठी-मीठी वाणी से यह कहकर शान्त करे—"तुम इस राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो। तुम जनता को किसी नये आन्दोलन के लिए क्यों भड़का रहे हो?" यदि वह नागरिक बहलावे में नहीं आता तो राजा को चाहिए कि उसे गवर्नर या मंत्री का कोई लाभप्रद पद कोई भी पद जिस में ऊँचा वेतन मिलता हो—प्रदान करे जिससे वह राजी हो सके। यदि शत्रु फिर भी जनता को भड़काएं तो राजा को चाहिए कि शत्रु के खेमे में मतभेद उत्पन्न कर दे। किन्तु यदि वह इतने पर भी न माने तो राजा को चाहिए कि उसे कठोर दण्ड दे—वह उसे कारागार में डाल दे या गोली चलाने वाली पोलिस की टुकड़ी के सामने खड़ा कर दे। हिरण्यकशिपु द्वारा नियुक्त शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को यह पढ़ाया कि किस प्रकार कूटनीतिज्ञ बना जाये जिससे प्रजा के ऊपर ठीक से शासन किया जा सके।

पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः ।
परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादयोः—पावों पर; पतितम्—गिरा हुआ; बालम्—बालक (प्रह्लाद महाराज) को; प्रतिनन्द्य—प्रोत्साहित करते हुए; आशिषा—आशीर्वादों से ("प्रिय पुत्र, तुम दीर्घायु हो और प्रसन्न रहो"); असुरः—असुर हिरण्यकशिपु ने; परिष्वज्य—चूम कर; चिरम्—प्यारवश दीर्घकाल तक; दोर्भ्याम्—अपनी दोनों बाहों से; परमाम्—महान; आप—प्राप्त किया; निर्वृतिम्—हर्ष, आनन्द।

जब हिरण्यकशिपु ने देखा कि उसका पुत्र उसके चरणों पर विनत है और प्रणाम कर रहा है, तो उसने तुरन्त ही वत्सल पिता की भाँति अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए उसे अपनी दोनों बाँहों में भरकर उसका आलिंगन किया। पिता स्वभावतः अपने पुत्र का आलिंगन करके प्रसन्न होता है और इस तरह हिरण्यकशिपु अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः ।
आसिञ्चन्विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आरोप्य—बैठाकर; अङ्कम्—गोद में; अवघ्राय मूर्धनि—उसका सिर सूँघ कर; अश्रु—आँसुओं की; कला-अम्बुभिः—बूँदों के जल से; आसिञ्चन्—भिगोते हुए; विकसत्-वक्त्रम्—प्रसन्न मुख; इदम्—यह; आह—कहा; युधिष्ठिर—हे महाराज युधिष्ठिर।

नारद मुनि ने आगे बताया: हे राजा युधिष्ठिर, हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को अपनी गोद में बैठा लिया और उसका सिर सूँघने लगा। फिर अपने नेत्रों से प्रेमाश्रु ढरकाते हुए और बालक के हँसते मुख को भिगोते हुए वह अपने पुत्र से इस प्रकार बोला।

तात्पर्य : यदि बालक या शिष्य अपने पिता अथवा गुरु के चरणों पर गिरता है, तो गुरु या पिता अपने से छोटे का सिर सूँघता है।

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् ।
कालेनैतावतायुष्मन्यदशिक्षद्गुरोर्भवान् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

हिरण्यकशिपुः उवाच—राजा हिरण्यकशिपु ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; अनूच्यताम्—बतलाओ; तात—मेरे पुत्र; स्वधीतम्—भलीभाँति सीखा हुआ; किञ्चित्—कुछ; उत्तमम्—अत्यन्त सुन्दर; कालेन एतावता—इतने काल में; आयुष्मन्—चिरंजीव; यत्—जो; अशिक्षत्—सीखा है; गुरोः—अपने गुरुओं से; भवान्—तुमने।

हिरण्यकशिपु ने कहा : हे प्रह्लाद, मेरे पुत्र, हे चिरञ्जीव, इतने काल में तुमने अपने गुरुओं से बहुत सारी बातें सुनी हैं। अब तुम उन सब में जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हो उसे मुझसे कह सुनाओ।

तात्पर्य : इस श्लोक में हिरण्यकशिपु अपने पुत्र से पूछता है कि उसने अपने गुरु से क्या सीखा

है। प्रह्लाद महाराज के गुरु दो प्रकार के थे—एक तो शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क जिन्हें उनके पिता ने नियुक्त किया था तथा दूसरे गुरु नारद मुनि थे जिन्होंने उन्हें तब शिक्षा दी थी जब वे अपनी माता के गर्भ में थे। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता के प्रश्न का उत्तर उन उपदेशों के आधार पर दिया जिन्हें उन्होंने अपने गुरु नारद से प्राप्त किया था। इस तरह पुन: मतभेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि वे अपने गुरु से सीखी सर्वोत्तम बात बताना चाहते थे जबकि हिरण्यकशिपु राजनीति तथा कूटनीति के विषय में सुनना चाह रहा था जिन्हें उन्होंने षण्ड तथा अमर्क से सीखा था। पिता और पुत्र के बीच का यह मतभेद तब बढ़कर और गम्भीर हो गया जब प्रह्लाद महाराज ने अपने गुरु नारद से जो सीखा था उसे बताना शूरू किया।

श्रीप्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; विष्णोः—भगवान् विष्णु का (अन्य किसी का नहीं); स्मरणम्—स्मरण करना; पाद-सेवनम्—चरणों की सेवा करना; अर्चनम्—पूजा करना (षोडशोपचार अर्थात् १६ प्रकार की साजसामग्री द्वारा); वन्दनं—स्तुति करना; दास्यम्—दास बनना; सख्यम्—सर्वश्रेष्ठ मित्र बनना; आत्म-निवेदनम्—अपने पास की प्रत्येक वस्तु को समर्पित करना; इति—इस प्रकार; पुंसा अर्पिता—भक्त द्वारा अर्पित; विष्णौ—भगवान् विष्णु पर (अन्य किसी पर नहीं); भक्तिः—भक्ति; चेत्—यदि; नव-लक्षणा—नौ प्रकार वाली; क्रियेत—करना चाहिए; भगवति—भगवान् में; अद्धा—प्रत्यक्षतः या पूर्णतः; तत्—वह; मन्ये—मैं मानता हूँ; अधीतम्—विद्या अध्ययन; उत्तमम्—सर्वोच्च।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : भगवान् विष्णु के दिव्य पवित्र नाम, रूप, साज-सामान तथा लीलाओं के विषय में सुनना तथा कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, भगवान् के चरणकमलों की सेवा करना, षोडशोपचार विधि द्वारा भगवान् की सादर पूजा करना, भगवान् से प्रार्थना करना, उनका दास बनना, भगवान् को सर्वश्रेष्ठ मित्र के रूप में मानना तथा उन्हें अपना सर्वस्व न्योछावर करना (अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा उनकी सेवा करना)—शुद्ध भक्ति की ये नौ विधियाँ स्वीकार की गई हैं। जिस किसी ने इन नौ विधियों द्वारा कृष्ण की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया है उसे ही सर्वाधिक विद्वान व्यक्ति मानना चाहिए, क्योंकि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज के पिता ने कहा कि उसने जो कुछ सीखा है उसमें से कुछ सुनाए तो उसने सोचा कि उसने अपने गुरु से जो सीखा है, वह सर्वोत्तम उपदेश है, जबकि उसने षण्ड तथा अमर्क नामक अपने भौतिक गुरुओं से जो सीखा था यह व्यर्थ था। *भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च* (*भागवत* ११.२.४२)। यह शुद्ध भक्ति का लक्षण है। शुद्ध भक्त केवल भक्ति में रुचि रखता है, भौतिक बातों में नहीं। भक्ति करने के लिए मनुष्य को सदैव कृष्ण या भगवान् विष्णु के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में लगना चाहिए। मन्दिर पूजा की विधि *अर्चन* कहलाती है। यहाँ पर यह बताया जाएगा कि अर्चन किस प्रकार किया जाये। मनुष्य को कृष्ण के इन शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए जब वे कहते हैं कि वे सबों के महान् शुभचिन्तक हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। भक्त कृष्ण को अपना एकमात्र मित्र मानता है। यह *सख्यम्* कहलाता है। *पुंसार्पिता विष्णौ। पुंसा* शब्द का अर्थ है "समस्त जीवों द्वारा"। ऐसा कोई भेदभाव नहीं है कि केवल एक ही व्यक्ति को या केवल ब्राह्मण को भगवान् की भक्ति करने दिया जाये। हर कोई भक्ति कर सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में पुष्टि की गई है—*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।* यद्यपि स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र अल्पज्ञ माने जाते हैं, लेकिन वे भी भक्त बनकर भगवद्धाम जा सकते हैं।

यज्ञ करने के बाद कभी-कभी सकाम कर्म में लगा व्यक्ति अपने यज्ञफल विष्णु को औपचारिक रूप से समर्पित करता है। किन्तु यहाँ पर कहा गया है *भगवत्यद्धा*—मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु सीधे विष्णु को अर्पित करे। यह *संन्यास* कहलाता है (केवल न्यास नहीं)। एक *त्रिदंडी* संन्यासी तीन दण्ड धारण करता है, जो *कायमनोवाक्य*—शरीर, मन तथा वाणी के सूचक हैं। ये सभी विष्णु को अर्पित किये जाने चाहिए। तभी कोई भक्ति प्रारम्भ कर सकता है। सकाम कर्मी पहले कुछ पुण्यकर्म करते हैं और तब वे औपचारिक रूप से या आधिकारिक रूप से विष्णु को उसके फल अर्पित करते हैं। किन्तु असली भक्त पहले अपने शरीर, मन तथा वचनों से कृष्ण को आत्मसमर्पण करता है और तब अपने शरीर, मन तथा वचनों को कृष्ण की इच्छानुसार उनकी सेवा में लगाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकूर अपनी पुस्तक 'तथ्य' में निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। *श्रवण* शब्द भगवान् के पवित्र नाम तथा उनके रूप, गुण, पार्षद एवं लीलाओं के वर्णन को कानों से सुनने के लिए आता है जैसाकि *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में बतलाया

गया है। इन सन्देशों को सुनने के बाद इन ध्वनियों को स्मरण करके उन्हें बारम्बार दुहराना चाहिए (*कीर्तनम्*)। *स्मरणम्* का अर्थ है भगवान् के बारे में अधिकाधिक जानने का प्रयत्न करना और *पादसेवनम्* का अर्थ है समय तथा परिस्थिति के अनुसार भगवान् के चरणकमलों की सेवा में अपने को लगाना। *अर्चनम्* का अर्थ है भगवान् विष्णु की उसी रूप में पूजा करना जैसी कि मन्दिरों में की जाती है। *मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजि मां नमस्कुरु*—नमस्कार करना या वंदना करना। *वन्दनम्* का अर्थ है *नमस्कुरु* अर्थात् नमस्कार करना या प्रार्थना करना। अपने आपको कृष्ण का चिर दास—*नित्य कृष्ण दास*—मानना *दास्यम्* है और कृष्ण का हितचिन्तन *सख्यम्* कहलाता है। कृष्ण चाहते हैं कि सभी लोग उसकी शरण में जाँए, क्योंकि सभी लोग स्वभावत: उनके दास हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के निष्ठावान् मित्र की भाँति वह उनके दर्शन का प्रचार करे और हर एक से कृष्ण की शरण में जाने के लिए अनुरोध करे। *आत्मनिवेदनम्* का अर्थ है कृष्ण को प्रत्येक वस्तु अर्पित करना जिसमें शरीर, मन, बुद्धि तथा अपने पास में जो भी हो वह सम्मिलित है।

भक्ति की इन नौ विधियों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करने को भक्ति कहते हैं। *अद्धा* का अर्थ है ''सीधे, प्रत्यक्षत:''। मनुष्य को *कर्मियों* की तरह नहीं होना चाहिए जो पुण्यकर्म करने के बाद कृष्ण को उनके फल औपचारिक रूप में अर्पित करते हैं। यह तो *कर्मकाण्ड* है। मनुष्य को अपने पुण्यकर्मों के फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु पूर्णतया समर्पित होकर पुण्यकर्म करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् विष्णु की तुष्टि के लिए कर्म करना चाहिए न कि अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए। यही अर्थ है अद्धा शब्द का।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णनुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

''मनुष्य को चाहिए कि भौतिक लाभ के लिए सकाम कर्मों के द्वारा या दार्शनिक चिन्तन के द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना तथा अनुकूल होकर कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।'' ज्ञान या कर्म से अप्रभावित रहकर कृष्ण को तुष्ट करना चाहिए।

गोपालतापनी उपनिषद् के अनुसार भक्ति का अर्थ है केवल भगवान् की भक्ति, अन्य किसी की नहीं। *उपनिषद* के अनुसार भक्ति भगवान् की भक्तिमयी सेवा है। भक्ति करने के लिए मनुष्य को

देहात्म-बुद्धि से तथा स्वर्गलोक जाकर सुखी रहने की आकांक्षा से मुक्त होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, किसी भौतिक लाभ के लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित होकर परमेश्वर की तुष्टि के लिए ही किया गया कर्म भक्ति कहलाता है। भक्ति को निष्कर्म अर्थात् सकाम कर्म के फलों से मुक्ति भी कहते हैं। भक्ति तथा निष्कर्म समान पद पर होते हैं यद्यपि भक्ति तथा सकाम कर्म एक जैसे प्रतीत होते हैं।

प्रह्लाद महाराज ने जिन नौ विभिन्न विधियों का प्रतिपादन किया है और जिन्हें उन्होंने नारद मुनि से सीखा था, हो सकता है कि भक्ति के लिए उन सबों की आवश्यकता न पड़े। यदि कोई भक्त अविचल भाव से इनमें से एक का भी पालन करता है, तो उसे भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकती है। कभी-कभी यह पाया जाता है कि जब कोई किसी एक विधि का पालन करता होता है, तो उसमें अन्य विधियाँ मिली होती हैं। भक्त के लिए यह अनुचित नहीं है। जब भक्त नौ विधियों (*नवलक्षणा*) में से किसी एक को सम्पन्न करता है, तो वही पर्याप्त होती है, अन्य आठ उसी में निहित रहती हैं। अब हम इन नवों विधियों की विवेचना करेंगे।

(१) *श्रवणम्*—भगवान् के पवित्र नाम को सुनना (*श्रवणम्*) भक्ति का शुभारम्भ है। यद्यपि नवों विधियों में से कोई भी एक विधि पर्याप्त होती है, किन्तु क्रमानुसार भगवान् के पवित्र नाम का श्रवण ही भक्ति का प्रारम्भ है। निस्सन्देह, यह अनिवार्य है। जैसाकि भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रतिपादित किया है—*चेतोदर्पणमार्जनम्*—भगवान् का नामकीर्तन करने से मनुष्य उस देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाता है, जो कि प्रकृति के मलिन गुणों के कारण उत्पन्न होती है। जब मनुष्य के हृदय से मैल हट जाता है, तो वह भगवान् सच्चिदानन्द को समझ सकता है—*ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।* इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण करने से मनुष्य भगवान् के साकार रूप को समझने की स्थिति में होता है। भगवान् के स्वरूप की अनुभूति करने के बाद वह भगवान् के दिव्य गुणों को समझ सकता है और दिव्य गुणों को समझ लेने के बाद भगवान् के पार्षदों को समझ सकता है। इस प्रकार वह भगवान् के नाम, दिव्य रूप तथा गुण, उनके पार्षद तथा उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु की अनुभूति कर लेने के बाद भगवान् को पूरी तरह समझने की दिशा में अग्रसर होता जाता है। अतएव क्रमवार विधि है *श्रवणं कीर्तनं विष्णो: ।* यही क्रम कीर्तन तथा स्मरण में मिलता है। जब किसी शुद्ध भक्त के मुख से भगवान् के पवित्र नाम, रूप, गुण तथा पार्षद का कीर्तन सुन पड़ता है, तो उसके श्रवण तथा

कीर्तन अत्यन्त सुहावने लगते हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने बनावटी भक्त या अभक्त के मुख से कीर्तन सुनने के लिए मना किया है।

श्रीमद्भागवत के पाठ को सुनना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रवण विधि मानी गई है। *श्रीमद्भागवत* पवित्र नाम के दिव्य कीर्तन से पूर्ण है और *श्रीमद्भागवत* का कीर्तन तथा श्रवण दिव्य रसों से ओत-प्रोत है। भगवान् के दिव्य पवित्र नाम को भक्त की रुचि के अनुसार सुना तथा जपा जा सकता है। कोई चाहे तो कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करे या भगवान् राम या नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन करे (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*)। भगवान् के असंख्य नाम तथा रूप हैं अतएव भक्त किसी भी रूप का ध्यान कर सकता है और अपनी रुचि के अनुसार पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। सबसे अच्छा मार्ग तो यह होगा कि अपने ही स्तर के शुद्ध भक्त से पवित्र नाम, रूप इत्यादि का श्रवण किया जाये। दूसरे शब्दों में, जो कृष्ण के प्रति अनुरक्त है उसे कीर्तन करना चाहिए और उन अन्य शुद्ध भक्तों से श्रवण करना चाहिए जो कृष्ण के प्रति ही अनुरक्त हैं। यही सिद्धान्त उन भक्तों पर लागू होता है, जो भगवान् राम, नृसिंह तथा अन्य भगवान् रूपों द्वारा आकृष्ट होते हैं। चूँकि कृष्ण भगवान् के परम रूप हैं (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*), अच्छा यही होगा कि ऐसे सिद्ध भक्त से भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा लीलाओं के विषय में सुना जाये जो भगवान् कृष्ण के रूप द्वारा विशेष अनुरक्त हो। *श्रीमद्भागवत* में शुकदेव गोस्वामी जैसे महान् भक्तों ने भगवान् कृष्ण के नाम, रूप तथा गुणों का विशेष रूप से वर्णन किया है। भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों के विषय में सुने बिना भक्ति की अन्य विधियों को ठीक से नहीं समझा जा सकता। अतएव चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि मनुष्य कृष्ण नाम का कीर्तन करे। *परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्।* यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे सिद्ध भक्तों के मुख से सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह भक्ति के मार्ग पर अत्यन्त सफल हो सकता है। अतएव भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण अनिवार्य है।

श्रीमद्भागवत (१.५.११) में एक श्लोक है—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो

यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि॥

नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥

''अनन्त देव के नाम, रूप तथा गुणों का वर्णन करने वाले श्लोक समस्त जगत के समस्त पाप फलों को दूर करने में समर्थ हैं। अतएव यदि ऐसे श्लोक ठीक से न भी रचे गये हों तो भी भक्त उन्हें सुनते हैं, उनका वर्णन करते हैं और उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि शुद्ध भक्त दूसरे भक्त से भगवान् के नाम, रूप तथा गुणों का श्रवण करके लाभ उठाता है। यदि ऐसा अवसर न प्राप्त हो तो वह अकेले ही भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करता है।

(२) *कीर्तनम्*—नाम के श्रवण का वर्णन ऊपर किया गया है। अब पवित्र नाम के कीर्तन को समझने का प्रयास किया जाये जो उसी क्रम में दूसरे स्थान पर है। ऐसी संस्तुति है कि कीर्तन उच्च स्वर से किया जाये। *श्रीमद्भागवत* में नारद मुनि कहते हैं कि उन्होंने बिना किसी लज्जा के भगवान् के नाम का कीर्तन करते हुए विश्व का भ्रमण प्रारम्भ किया। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

भक्त को चाहिए कि घास से भी अधिक विनम्र होकर, वृक्ष की भाँति सहिष्णु होकर तथा हर एक को नमस्कार करते हुए, किसी से आदर की इच्छा न रखते हुए, शान्तिपूर्वक भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। ऐसी योग्यताए भगवान् के नाम का कीर्तन करना सुगम बना देती हैं। कोई भी व्यक्ति दिव्य कीर्तन की विधि को सरलता से सम्पन्न कर सकता है। यहाँ तक कि जो शरीर से अक्षम है, अन्यों की तुलना में नीच है, भौतिक योग्यताओं से रहित है या जिसने पुण्यकर्म नहीं किये हैं, उसके लिए भी पवित्र नाम का कीर्तन लाभप्रद है। आध्यात्मिक जीवन में उन्नति के लिए उच्च कुल में जन्म, उच्च शिक्षा, सुन्दर शरीर, धन तथा पुण्यकर्मों के फल व्यर्थ हैं, क्योंकि एकमात्र पवित्र नाम के कीर्तन द्वारा मनुष्य प्रगति कर सकता है। वैदिक साहित्य के प्रामाणिक स्रोत से यह ज्ञात है कि विशेष रूप से इस कलियुग में लोग अल्पायु हैं, उनके स्वभाव अत्यन्त बुरे हैं और वे अप्रामाणिक भक्ति की विधियों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। यही नहीं, वे भौतिक दशाओं द्वारा सदैव उद्विग्न रहते हैं और परम अभागे हैं। ऐसी परिस्थिति में *यज्ञ, दान, तप* तथा *क्रिया* जैसी अन्य विधियों को सम्पन्न कर पाना सम्भव नहीं हो पाता। अतएव संस्तुति की गई है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कलह तथा कपट के युग में उद्धार का एकमात्र साधन भगवान् के नाम का कीर्तन है। कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है, कोई अन्य उपाय नहीं है।" भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन मात्र से मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करता है। जीवन की सफलता के लिए यह सर्वोत्तम विधि है। अन्य युगों में भी नाम कीर्तन समान रूप से शक्तिशाली होता है किन्तु इस कलियुग में यह विशेष रूप से शक्तिशाली है। *कीर्तनाद् एव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।* केवल कृष्ण के पवित्र नाम-कीर्तन से मनुष्य मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम को जाता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति भक्ति की अन्य विधियाँ अपनाता है, तो उसे पवित्र नाम के कीर्तन को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की प्रमुख विधि के रूप में ग्रहण करना चाहिए। *यज्ञै सङ्कीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*—जो अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं उन्हें भगवान् के पवित्र नाम कीर्तन की यह विधि ग्रहण करनी चाहिए। किन्तु उन्हें विभिन्न प्रकार के कीर्तन निर्मित नहीं करने चाहिए। शास्त्रों में संस्तुत पवित्र नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। पर गम्भीरतापूर्वक स्थिर रहना चाहिए।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते हुए दस अपराधों से बचना चाहिए। सनत्कुमार से पता चलता है कि यदि कोई अनेक प्रकार से घोर अपराधी भी हो तो भगवान् के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करने पर वह अपराधी जीवन से मुक्त हो जाता है। यद्यपि मनुष्य दो पैर वाले पशु से श्रेष्ठ नहीं है, तो भी वह यदि भगवन्नाम की शरण ग्रहण करता है, तो मुक्त हो जाएगा। अतएव मनुष्य को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए कि भगवन्नाम के चरणकमलों पर अपराध न होने दे। ये अपराध इस प्रकार हैं—(अ) उस भक्त की निन्दा करना, जो भगवान् के नाम की महिमा के प्रचार में लगा हो (आ) शिवजी या किसी अन्य देवता के नाम को भगवान् के नाम के समान शक्तिशाली समझना (न तो कोई भगवान् के समान है न उनसे बढ़कर) (इ) गुरु की आज्ञा का पालन न करना, (ई) वैदिक ग्रंथों या उनके अनुसरण पर लिखे गये ग्रंथों की निन्दा करना, (उ) यह टीका करना कि भगवान् के नाम की महिमा बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती है, (ऊ) पवित्र नाम की व्याख्या भिन्न प्रकार से करना, (ए) पवित्र नाम के

कीर्तन के बल पर पापकर्म करना, (ऐ) पवित्र नाम के कीर्तन की तुलना पुण्यकर्मों से करना, (ओ) ऐसे व्यक्ति को भगवन्नाम कीर्तन की महिमा का उपदेश देना जिसे ऐसे कीर्तन का कोई ज्ञान न हो, (औ) सारे शास्त्रों के आदेशों को सुनकर भी पवित्र कीर्तन के प्रति दिव्य अनुराग उत्पन्न न होना।

इन अपराधों के शमन का कोई उपाय नहीं है। अतएव यह संस्तुति की जाती है कि पवित्र नाम के चरणों पर अपराधी चौबीसों घण्टे नाम कीर्तन करे। पवित्र नाम के निरन्तर कीर्तन से मनुष्य अपराधों से मुक्त होगा और धीरे-धीरे उस दिव्य पद को प्राप्त होगा जहाँ वह शुद्ध नामकीर्तन कर सकता है और इस तरह भगवान् का प्रेमी बन सकता है।

यह संस्तुति की जाती है कि यदि कोई अपराध करे भी तो उसे पवित्र नाम का कीर्तन करते रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पवित्र नाम का कीर्तन मनुष्य को अपराधरहित बनाता है। *नाम कौमुदी* पुस्तक में आदेश है कि यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमलों के प्रति अपराधी है, तो उसे चाहिए कि उस वैष्णव को आत्म-समर्पण कर दे और क्षमा प्राप्त कर ले। इसी प्रकार यदि कोई पवित्र नामकीर्तन के प्रति अपराधी है, तो वह पवित्र नाम को आत्म-समर्पण करके अपने अपराधों से मुक्त हो ले। इस सम्बन्ध में दक्ष ने शिवजी से जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है—"मैं आपकी महिमा से परिचित न था, अतएव भरी सभा में मैंने आपके चरणकमलों पर अपराध किया, किन्तु आप इतने कृपालु हैं कि आपने मेरे अपराध को नहीं माना। उल्टे जब मैं आप पर दोषारोपण के फलस्वरूप नीचे गिर रहा था तो आपने अपनी कृपामय चितवन से मुझे बचा लिया। आप अत्यन्त महान् हैं। कृपया मुझे क्षमा कर दें और अपने उच्च गुणों से तुष्ट हों।"

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाएँ अर्पित करने के लिए अत्यन्त विनीत हो और पवित्र नाम की महिमा में रची गई स्तुतियों का उच्चारण करे, यथा *अयि मुक्तकुलैरुपास्य मानम्* तथा *निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्।* भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराधों से मुक्त होने के लिए ऐसी प्रार्थनाएँ करनी चाहिए।

(३) *स्मरणम्*—श्रवण तथा कीर्तन विधियों को नियमित रूप से सम्पन्न करने तथा अपने अंत:करण को शुद्ध करने के बाद *स्मरणम्* की संस्तुति की जाती है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित को बतलाते हैं—

एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

"हे राजन्! जिन महान् योगियों ने सारे भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण परित्याग कर दिया है, जिन्हें सारे भौतिक भोग चाहिए तथा जो दिव्य ज्ञान के कारण आत्मसन्तुष्ट हैं उनके लिए भगवान् के पवित्र नाम के सतत कीर्तन की संस्तुति की जाती है।" भगवान् के साथ विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार *नामानुकीर्तनम्* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन के अनेक भेद हैं अतएव विभिन्न सम्बन्धों एवं रसों के अनुसार स्मरण के पाँच प्रकार हैं। ये इस प्रकार हैं—(१) भगवान् के किसी विशेष रूप की पूजा के विषय में शोध करना, (२) किसी एक विषय पर मन को एकाग्र करना तथा अन्य सारे विषयों के सोचने, अनुभव करने तथा चाहने जैसे मन के कार्यों से विलग होना, (३) भगवान् के किसी विशेष रूप पर एकाग्र होना (यह ध्यान कहलाता है) (४) भगवान् के रूप पर मन को निरन्तर एकाग्र रखना (यह ध्रुवानुस्मृति या पूर्ण ध्यान कहलाता है) तथा (५) किसी विशेष रूप पर एकाग्रता के लिए रुचि उत्पन्न करना (यह समाधि कहलाती है)। किसी विशेष परिस्थिति में भगवान् की किसी विशेष लीला पर चित्त की एकाग्रता स्मरण भी कहलाती है। अतएव सम्बन्ध के अनुसार समाधि पाँच प्रकार से सम्भव है। विशेषतया उदासीन अवस्था में भक्तों की समाधि मानसिक (चित्त) एकाग्रता कहलाती है।

(४) *पाद-सेवनम्*—मनुष्य की रुचि तथा शक्ति के अनुसार श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण के बाद *पादसेवनम्* की बारी आती है। मनुष्य को स्मरण की सिद्धि तभी मिलती है जब वह निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता है। भगवान् के चरणकमलों के चिन्तन में गहन आसक्ति होने को *पादसेवनम्* कहते हैं। जब कोई *पादसेवनम्* में विशेष रूप से अविचल रहता है, तो इस विधि से अन्य विधियाँ भी मिलती रहती हैं—यथा भगवान् के स्वरूप का दर्शन, भगवान् के स्वरूप का स्पर्श, भगवान् के रूप या मन्दिर की परिक्रमा, भगवान् के रूप के दर्शन के लिए जगन्नाथ पुरी, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थानों का भ्रमण तथा गंगास्नान या यमुनास्नान। गंगास्नान तथा शुद्ध वैष्णव की सेवा भी *तदीय उपासनम्* कहलाते हैं। ये भी *पादसेवनम्* हैं। *तदीय* शब्द का अर्थ है भगवान् विषयक। वैष्णव की सेवा, तुलसी, गंगा तथा यमुना *पादसेवनम्* में सम्मिलित हैं। *पादसेवनम्* की ये सारी विधियाँ मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन में तेजी से प्रगति करने में सहायता करती हैं।

(५) *अर्चनम्*—पादसेवनम् के बाद *अर्चनम्* अर्थात् देव की पूजा की बारी आती है। यदि कोई सचमुच *अर्चनम्* विधि में रुचि रखता है, तो उसे अवश्य ही प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करके इस विधि को सीखना चाहिए। *अर्चनम्* के लिए अनेक पुस्तकें हैं जिसमें से *नारद पञ्चरात्र* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस युग में अर्चन के लिए पञ्चरात्र पद्धति की विशेष रूप से संस्तुति की जाती है। अर्चन की दो पद्धतियाँ हैं—*भागवत* पद्धति तथा *पाञ्चरात्रिकी* पद्धति। *श्रीमद्भागवत* में पाञ्चरात्रिकी पूजा (अर्चन) की कोई संस्तुति नहीं है, क्योंकि इस कलियुग में देव पूजा के बिना भी केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा पादसेवनम् से सब कुछ पूरी तरह सम्पन्न हो सकता है। रूप गोस्वामी का कथन है—

श्री विष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽस्थ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिर्भूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

"परीक्षित महाराज ने केवल श्रवण से और शुकदेव गोस्वामी ने केवल कीर्तन से मोक्ष प्राप्त किया। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् के स्मरण से मोक्ष प्राप्त किया। धन की देवी लक्ष्मी ने भगवान् के चरणकमलों की पूजा (पादसेवनम्) करके सिद्धि प्राप्त की। पृथु महाराज ने भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा (अर्चनम्) करके मोक्ष प्राप्त किया। अक्रूर ने वन्दना करके, हनुमान ने सेवा करके, अर्जुन ने भगवान् से मैत्री स्थापित करके तथा बलि महाराज ने भगवान् की सेवा में सर्वस्व अर्पित करके मोक्ष प्राप्त किया।" इन सब महान् भक्तों ने विशेष विधियों के द्वारा भगवान् की सेवा की किन्तु इन सबों को मोक्ष मिला और ये भगवद्धाम वापस जाने के भागी हुए। *श्रीमद्भागवत* में इसकी व्याख्या की गई है।

अतएव यह संस्तुति की जाती है कि दीक्षित भक्त मन्दिर में अर्चा विग्रह की पूजा करके *नारद पञ्चरात्र* के नियमों का पालन करें। ऐसे गृहस्थ भक्त जिनके पास प्रचुर भौतिक सम्पत्ति है उनके लिए देव-अर्चन विधि की प्रबल संस्तुति की जाती है। जो ऐश्वर्यवान् गृहस्थ भक्त अपनी कठिन कमाई की पूँजी भगवान् की सेवा में नहीं लगाता वह कंजूस कहलाता है। मनुष्य को चाहिए कि देव अर्चन के लिए वेतनभोगी ब्राह्मण न लगाए। यदि कोई स्वयं अर्चन न करके वेतनभोगी नौकर लगाता है, तो वह

आलसी माना जाता है और उसकी देवपूजा कृत्रिम मानी जाती है। ऐश्वर्यवान् गृहस्थ अर्चा–विग्रह की पूजा के लिए उच्चकोटि की सामग्री जुटा सकता है और फलस्वरूप उसके लिए देवपूजा अनिवार्य है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी होते हैं, किन्तु मन्दिर में देवपूजा का कार्य विशेष रूप से गृहस्थों द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। ब्रह्मचारीगण संन्यासियों के साथ प्रचार कार्य के लिए जा सकते हैं और वानप्रस्थों को अपने अगले आश्रम, संन्यास, की तैयारी करते रहना चाहिए। किन्तु गृहस्थ भक्त सामान्यतया भौतिक कार्यकलापों में संलग्न रहते हैं, अतएव यदि वे देवपूजा नहीं करते तो उनका पतन निश्चित है। देवपूजा का अर्थ है विधि–विधानों का सही सही पालन करना। इससे मनुष्य भक्ति में स्थिर रह सकेंगे। सामान्यतया गृहस्थ के बच्चे होते हैं और तब गृहस्थ की पत्नियों को अपने बच्चों के पालन–पोषण में उसी तरह व्यस्त रहना चाहिए जिस तरह नर्सरी स्कूल में बच्चों की देखरेख के लिए अध्यापिकाएँ होती हैं।

गृहस्थ भक्तों को चाहिए कि वे गुरु द्वारा दिये गये आदेशों तथा उपयुक्त प्रबन्धों द्वारा *अर्चन विधि* या देवपूजन करें। जो लोग मन्दिर में अर्चन नहीं कर सकते उनके लिए *अग्नि पुराण* का यह कथन है—यदि कोई गृहस्थ भक्त परिस्थितिवश अर्चन नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि कम से कम अर्चन होते देखे और इस तरह वह भी सफलता प्राप्त करे। अर्चन का विशेष प्रयोजन अपने आपको शुद्ध तथा स्वच्छ रखना है। गृहस्थ भक्तों को स्वच्छता का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

अर्चन को श्रवण तथा कीर्तन के साथ–साथ करते रहना चाहिए। अतएव प्रत्येक मंत्र के पूर्व *नमः* शब्द आता है। सभी मंत्रों में विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं जिनका लाभ गृहस्थों को उठाना चाहिए। ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनके पूर्व *नमः* शब्द आता है, किन्तु यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता है, तो वह *नमः* के कई बार उच्चारण करने का फल पाता है। भगवान् के नामोच्चारण से भगवत्प्रेम के पद तक पहुँचा जा सकता है। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है—तो फिर दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि पवित्र नामोच्चारण से आध्यात्मिक जीवन में प्रगति होती है, जिससे भगवत्प्रेम का पद प्राप्त किया जा सकता है किन्तु भौतिक शरीर होने से मनुष्य भी कल्मषग्रस्त हो सकता है। फलस्वरूप *अर्चन विधि* पर विशेष बल दिया जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि *भागवत* विधि तथा *पाञ्चरात्रिकी* विधि इन दोनों का ही लाभ उठाए।

अर्चन के दो विभाग हैं—शुद्ध एवं सकाम कर्मों से मिश्रित। जो स्थिर है उसके लिए अर्चन अनिवार्य है। इसी अर्चन विधि के अन्तर्गत श्री जन्माष्टमी, रामनवमी तथा नृसिंह चतुर्दशी जैसे नाना प्रकार के उत्सवों का मनाना सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, गृहस्थ के लिए इन उत्सवों को मनाना आवश्यक है।

अब हम अर्चन में होने वाले अपराधों की विवेचना करेंगे। ये अपराध हैं—(१) जूते पहनकर या पालकी में चढ़कर मन्दिर के भीतर जाना, (२) मान्य उत्सवों को न मनना, (३) देवों को नमस्कार करने से कतराना, (४) खाने के बाद हाथ धोये बिना अशुद्ध अवस्था में ही प्रार्थना करना, (५) एक हाथ से नमस्कार करना, (६) देव के समक्ष परिक्रमा करना, (७) देव के सामने पाँव पसारना, (८) एक हाथ से पाँव का टखना पकड़ कर देव के समक्ष बैठना, (९) देव के समक्ष लेटना, (१०) देव के समक्ष भोजन करना, (११) देव के समक्ष झूठ बोलना, (१२) देव के समक्ष किसी को जोर से पुकारना, (१३) देव के समक्ष अनर्गल बातें करना, (१४) देव के समक्ष किसी पर चिल्लाना, (१५) देव के समक्ष वाद-विवाद करना, (१६) देव के समक्ष किसी को दंड देना, (१७) देव के समक्ष ऊनी कम्बल ओढ़ना, (१८) देव के समक्ष कपट-वचन कहना, (१९) देव के समक्ष किसी का पक्ष लेना, (२०) देव के समक्ष किसी की निन्दा करना, (२१) देव के समक्ष किसी को पूजना, (२२) देव के समक्ष अश्लील भाषा का प्रयोग करना, (२३) देव के समक्ष अपान वायु निकालना, (२४) समर्थ होते हुए भी ठाटबाट से देव की पूजा करने से कतराना, (२५) देवता को चढ़ाये बिना कोई वस्तु खाना, (२६) ऋतु के अनुसार देव पर ताज़े फल न चढ़ाना, (२७) देव को उच्छिष्ट भोजन या किसी अन्य को दिया गया पदार्थ अर्पित करना, (२८) देव की ओर पीठ फेर कर बैठना, (२९) देव के समक्ष अन्य किसी को नमस्कार करना, (३०) गुरु को नमस्कार करते हुए समुचित स्तुति का उच्चारण न करना, (३१) देव के समक्ष आत्म-प्रशंसा करना, (३२) देवताओं की निन्दा करना। अर्चना विधि या देव पूजन में इन बत्तीस अपराधों से बचना चाहिए।

वराह पुराण में निम्नलिखित अपराधों का उल्लेख हुआ है—(१) किसी धनी व्यक्ति के घर भोजन करना, (२) अँधेरे में देव के समक्ष कक्ष में प्रवेश करना, (३) विधि-विधानों का पालन न करते हुए देव की पूजा करना, (४) बिना शब्दोच्चारण किये मन्दिर में प्रवेश करना, (५) कुत्ते द्वारा देखा गया

भोग एकत्र करना, (६) देवपूजा करते समय मौन भंग करना, (७) देव पूजा के बीच शौचादि के लिए जाना, (८) बिना पुष्प अर्पित किये अगुरु चढ़ाना, (९) वर्जित फूलों से अर्चना करना, (१०) दाँत साफ किये बिना पूजा करना, (११) मैथुन के बाद पूजा करना, (१२) दीपक, शव या रजस्वला स्त्री को स्पर्श करना या लाल, नीले कपड़े पहनना या बिना धुले या किसी के पहने, अथवा गन्दे कपड़े धारण करना। अन्य अपराधों में शव को देखने के बाद अर्चन करना, देव के समक्ष अपान वायु निकालना, देव के समक्ष क्रोध करना और श्मशान घाट से लौटकर तुरन्त देव पूजन करना सम्मिलित हैं। खाने के बाद जब तक भोजन पच न जाये तब तक न तो देव की पूजा करनी चाहिए, न देव का स्पर्श करना चाहिए, न कुसुम्भ तेल तथा हींग खाने के बाद देव पूजन करना चाहिए। ये भी अपराध हैं।

अन्य निम्नलिखित अपराधों की सूची मिलती है—(१) वैदिक साहित्य के शास्त्रीय आदेशों के विरुद्ध होना अथवा हृदय से *श्रीमद्भागवत* का अनादर करना और ऊपर से झूठे ही इसके सिद्धान्तों को मानना, (२) शास्त्रों से असहमति व्यक्त करने का प्रचार करना, (३) देव के समक्ष पान चबाना, (४) रेंड़ के पत्ते पर पूजा के लिए फूल रखना, (५) दोपहर के बाद देव पूजन करना, (६) वेदी पर या फर्श पर बैठकर (बिना आसन के) देव पूजन करना, (७) देव को स्नान कराते समय बाएँ हाथ से उनका स्पर्श करना, (८) देव पर बासी या चढ़ाये हुए फूल चढ़ाना, (९) देव पूजन के समय थूकना, (१०) देव पूजन के समय अपने वैभव का विज्ञापन करना, (११) मस्तक पर टेढ़ा तिलक लगाना, (१२) बिना पाँव धोये मन्दिर में प्रवेश करना, (१३) अदीक्षित व्यक्ति द्वारा पकाये गये भोजन को देव पर चढ़ाना, (१४) अदीक्षित व्यक्ति या अवैष्णव के समक्ष देव पूजा करना तथा देव को भोग लगाना, (१५) गणेश आदि वैकुण्ठ देवों को पूजे बिना देव का पूजन करना, (१६) पसीने से लथपथ होकर पूजा करना, (१७) देव पर चढ़े फूलों को लेने से इनकार करना, (१८) भगवान् के पवित्र नाम की शपथ लेना।

यदि कोई इन अपराधों में से एक भी अपराध करता है, तो उसे *भगवद्गीता* का कम से कम एक अध्याय पढ़ना चाहिए। इसकी पुष्टि *स्कन्द पुराण* के अवन्ती खण्ड में की गई है। इसी प्रकार एक अन्य आदेश है कि जो विष्णु सहस्त्र नाम का पाठ करता है, वह सभी अपराधों से मुक्त किया जा सकता है। उसी *स्कन्द पुराण* के रेवा खण्ड में कहा गया है कि जो तुलसी की स्तुति करता है या तुलसी का बीज

बोता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। इसी प्रकार जो *शालिग्राम* शिला को पूजता है, वह भी सारे अपराधों से छूट जाता है। *ब्रह्माण्ड पुराण* में कहा गया है कि जो शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् की पूजा करता है, वह उपर्युक्त समस्त अपराधों से मुक्त हो जाता है। *आदि वराह पुराण* में कहा गया है कि पुजारी जिसने अपराध किया है उसे साँकरना नामक धाम में एक दिन का उपवास व गंगा में स्नान करना चाहिए। अर्चाविग्रह के पूजन के क्रम कभी कभी कोई मन में पूजा करता है। ''सारे व्यक्ति मन से पूजा कर सकते हैं।'' *गौतमीय तन्त्र* का कहना है ''गृहविहीन संन्यासी के लिए मन के भीतर देव की अर्चना की संस्तुति की जाती है।'' *नारद पंचरात्र* में भगवान् नारायण ने कहा है कि मन के भीतर देव पूजा *मानस पूजा* कहलाती है। इस विधि से मनुष्य चारों कष्टों से मुक्त हो सकता है। कभी-कभी स्वतंत्र रूप से मन द्वारा पूजा की जा सकती है। श्रीमद् भागवद् के कथनानुसार, नव योगेन्द्रों में से एक आविर्होत्र मुनि के आदेशानुसार सारे मंत्रों का उच्चारण करके देव पूजा की जा सकती है। शास्त्रों में आठ प्रकार के देवों का उल्लेख है और ''मानस'' देव उनमें से एक है। इस प्रसंग में *ब्रह्मवैवर्त पुराण* का निम्नलिखित वर्णन दिया जा रहा है।

बहुत पहले प्रतिष्ठानपुर में एक ब्राह्मण रहता था, जो अत्यन्त गरीब किन्तु अबोध था पर वह असन्तुष्ट नहीं था। एक दिन ब्राह्मणों की एक सभा में उसने एक वार्तलाप सुना जो मन्दिर में देव पूजन के विषय में था। उसी सभा में उसने यह भी सुना कि देव की पूजा मन से भी की जा सकती है। इस घटना के बाद वह ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करके मन में देव पूजन करने लगा। वह अपने मन में ही मन्दिर को धोता और कल्पना द्वारा सोने तथा चाँदी के पात्रों में सभी पवित्र नदियों का जल लाता। उसने पूजा की सारी अमूल्य सामग्री एकत्र कर ली और देव को स्नान कराने से लेकर आरती करने तक देव की अत्यन्त भव्य पूजा की। इस तरह उसे महान् सुख प्राप्त हुआ। जब इस तरह कई वर्ष बीत गये तो उसने अपने मन में देव पूजा के लिए घी से खीर तैयार की। उसने एक सुनहरे पात्र में खीर रखी और भगवान् कृष्ण को भेंट कर दी, लेकिन उसे लगा कि खीर बहुत गरम है, अतएव उसने अपनी उँगली से उसे छू दिया। उसे तुरन्त लगा कि उसकी उँगली गरम खीर से जल गई है, अतएव वह पछताने लगा। जब ब्राह्मण को पीड़ा हो रही थी तो भगवान् विष्णु वैकुण्ठ में हँसने लगे। इस पर लक्ष्मी जी ने पूछा कि आप क्यों हँस रहे हैं। तब विष्णु ने अपने पार्षदों से कहा कि उस ब्राह्मण को वैकुण्ठ में

ले आएँ। इस तरह उस ब्राह्मण को *सामीप्य* मुक्ति प्राप्त हुई।

(६) *वन्दनम्*—यद्यपि देव अर्चन में वन्दना भी सम्मिलित रहती है, लेकिन श्रवण-कीर्तन आदि अन्य विधियों की तरह इसे भी पृथक् माना जा सकता है, इसलिए यहाँ पर पृथक् वर्णन किया जा रहा है। भगवान् के दिव्य गुण तथा ऐश्वर्य असीम हैं और जो कोई विविध कार्यकलापों में भगवान् के गुणों से प्रभावित होता है, वह भगवान् की वन्दना या स्तुति करता है। इस तरह वह सफल बनता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अपराधों से बचना चाहिए—(अ) एक हाथ से नमस्कार करना, (आ) अपना शरीर ढके हुए नमस्कार करना, (इ) देव की तरफ पीठ करना, (ई) देव के बाईं ओर से प्रणाम करना तथा (उ) बहुत निकट से देव को प्रणाम करना।

(७) *दास्यम्*—दास के रूप में भगवान् की सहायता करने के विषय में यह कथन पाया जाता है—हजारों जन्मों के बाद जब कोई यह समझ पाता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह इस ब्रह्माण्ड के अन्य लोगों का उद्धार कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी भक्ति-विधि को किये बिना केवल यह सोचता रहे कि वह कृष्ण का नित्य दास है, तो वह सफलता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि केवल इसी भावना से भक्ति की नवों विधियाँ सम्पन्न हो जाती हैं।

(८) *सख्यम्*—मित्र के रूप में भगवान् की पूजा करने के सम्बन्ध में *अगस्त्य संहिता* का कहना है कि *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* द्वारा भक्ति में लगा भक्त कभी-कभी भगवान् के साक्षात् दर्शन करना चाहता है, अतएव वह मन्दिर में रहने लगता है। अन्यत्र ऐसा कथन प्राप्त होता है "हे भगवान्, परम पुरुष तथा नित्य सखा! यद्यपि आप आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण हैं, तो भी आप वृन्दावनवासियों के सखा बन चुके हैं। ये भक्त कितने भाग्यशाली हैं?" इस कथन में 'सखा' शब्द प्रगाढ़ प्रेमसूचक है। इसलिए सख्य दास्य से श्रेष्ठ है। दास्य रस से ऊपर की अवस्था में भक्त भगवान् को सखा (मित्र) रूप में स्वीकार करता है। यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि जब भक्त हृदय से शुद्ध होता है, तो भगवान् के स्वत:स्फूर्त प्रेम के प्रकट होते ही उसका देव अर्चन घट जाता है। इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी ने श्रीदामा विप्र का उल्लेख किया है, जिसने अपने मन में कृतज्ञता प्रकट करते हुए सोचा "अच्छा हो कि भगवान् कृष्ण से इस प्रकार सख्य भाव से जन्म-जन्मांतर सम्बन्धित रहूँ।"

(९) *आत्मनिवेदनम्*—जब किसी में भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं रहती

तो वह अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित कर देता है और हर कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए करता है। यह अवस्था *आत्मनिवेदनम्* है। ऐसा भक्त उस गाय के तुल्य है, जिसकी रखवाली उसका स्वामी करता है। अपने स्वामी की देख-रेख में गाय को अपने उदर-पूर्ति की कोई चिन्ता नहीं रह जाती। ऐसी गाय अपने स्वामी के प्रति सदैव समर्पित रहती है और कभी भी मनमाना कार्य नहीं करती, केवल स्वामी के लाभ के लिए ही हर कार्य करती है। इसलिए कुछ भक्त भगवान् को शरीर समर्पण करने को *आत्मनिवेदनम्* मानते हैं और जैसाकि *भक्तिविवेक* ग्रंथ में बतलाया गया है, कभी-कभी भगवान् को आत्मा का समर्पण *आत्मनिवेदनम्* कहा जाता है। आत्मनिवेदनम् का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बलि महाराज तथा अम्बरीष महाराज का है। द्वारका में रुक्मिणी देवी के आचरण में भी कभी-कभी *आत्मनिवेदनम्* पाया जाता है।

निशम्यैतत्सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा ।
गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; एतत्—यह; सुत-वचः—पुत्र की वाणी; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; तदा—उस समय; गुरु-पुत्रम्—अपने गुरु शक्राचार्य के पुत्र से; उवाच—कहा; इदम्—यह; रुषा—क्रोध से; प्रस्फुरित—हिलते हुए; अधरः—जिसके होठ।

अपने पुत्र प्रह्लाद के मुख से इन वचनों को सुनकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने काँपते होठों से अपने गुरु शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड से इस प्रकार कहा।

ब्रह्मबन्धो किमेतत्ते विपक्षं श्रयतासता ।
असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-बन्धो—हे ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र; किम् एतत्—यह क्या है; ते—तुम्हारे द्वारा; विपक्षम्—मेरे शत्रु दल का; श्रयता—आश्रय लेकर; असता—अत्यन्त दुष्ट; असारम्—सारहीन, व्यर्थ; ग्राहितः—पढ़ाया गया; बालः—बालक; माम्—मुझको; अनादृत्य—अनादर करके; दुर्मते—अरे मूर्ख अध्यापक।

अरे ब्राह्मण के अत्यन्त नृशंस (घृणित) अयोग्य पुत्र, तुमने मेरे आदेश की अवज्ञा की है और मेरे शत्रु-पक्ष की शरण ले रखी है। तुमने इस बेचारे बालक को भक्ति का पाठ पढ़ाया है। यह क्या बकवास है?

तात्पर्य : इस श्लोक में *असारम्* शब्द का जिस का अर्थ है "सारहीन" महत्त्वपूर्ण। असुर के लिए भक्ति में कोई सार नहीं रहता, किन्तु भक्त के लिए तो भक्ति जीवन का एकमात्र आवश्यक कारक है।

चूँकि हिरण्यकशिपु को जीवन का सार भी पसन्द न थी, अतएव उसने कटु वचन कहकर प्रह्लाद महाराज के अध्यापकों को प्रताड़ित किया।

सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः ।
तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥ २७॥

शब्दार्थ

सन्ति—हैं; हि—निस्सन्देह; असाधवः—असाधु मनुष्य; लोके—इस संसार में; दुर्मैत्राः—धोखा देने वाले मित्र; छद्म-वेषिणः—दिखावटी पहनावा पहने; तेषाम्—उन सबों का; उदेति—उदय होता है; अघम्—पापमय जीवन का फल; काले—काल क्रम में; रोगः—रोग; पातकिनाम्—पापी मनुष्यों के; इव—सदृश।

समय के साथ, उन लोगों में अनेक प्रकार के रोग प्रकट होते हैं, जो पापी हैं। इसी प्रकार से इस संसार में छद्मवेष धारण किये हुए जितने धोखेबाज मित्र हैं अन्ततोगत्वा उनके मिथ्या आचरण से उनकी वास्तविकता शत्रुता में प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : अपने पुत्र प्रह्लाद की शिक्षा को लेकर हिरण्यकशिपु अत्यधिक असन्तुष्ट रहता था। जब प्रह्लाद भक्ति के विषय में शिक्षा देने लगे तो हिरण्यकशिपु तुरन्त अध्यापकों को मित्र वेष में अपना शत्रु मानने लगा। इस श्लोक में *रोगः पातकिनाम् इव* से वह रोग सूचित होता है, जो अत्यन्त पापमय तथा बद्ध जीवन में अत्यन्त कष्टकर होता है (*जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि*)। रोग तो पापी व्यक्ति के शरीर का लक्षण है।

स्मृतिशास्त्र का कथन है—

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः ।

स्वर्णहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥

ब्राह्मणों के हत्यारे बाद में क्षय रोग से पीड़ित होते हैं। शराबी लोगों के दाँत झड़ जाते हैं, स्वर्ण चुराने वालों को नाखून के रोग हो जाते हैं और ऐसे कामी पुरुष जो उच्च कुल की स्त्रियों से यौन सम्बन्ध रखते हैं उन्हें कोढ़ तथा इसी प्रकार के चर्म रोग होते हैं।

श्रीगुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्

नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-गुरु-पुत्रः उवाच—हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा; न—नहीं; मत्-प्रणीतम्—मेरे द्वारा पढ़ाने से; न—न तो; पर-प्रणीतम्—किसी अन्य द्वारा पढ़ाने से; सुतः—पुत्र (प्रहलाद); वदति—कहता है; एषः—यह; तव—तुम्हारा; इन्द्र-शत्रो—इन्द्र के शत्रु; नैसर्गिकी—प्राकृतिक; इयम्—यह; मतिः—प्रवृत्ति; अस्य—उसकी; राजन्—हे राजा; नियच्छ—त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; कत्—दोष; अदाः—लगाइये; स्म—निस्सन्देह; मा—नहीं; नः—हम पर।

हिरण्यकशिपु के गुरु शुक्राचार्य के पुत्र ने कहा : हे इन्द्र के शत्रु, हे राजन्, आपके प्रह्लाद पुत्र ने जो भी कहा है, वह न तो मेरे द्वारा पढ़ाया गया है, न किसी अन्य के द्वारा। उसमें यह भक्ति स्वतः विकसित हुई है। अतएव आप अपना क्रोध त्याग दें और व्यर्थ ही हमें दोषी न ठहराएँ। एक ब्राह्मण को इस प्रकार अपमानित करना अच्छा नहीं है।

श्रीनारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् ।
न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; गुरुणा—अध्यापक द्वारा; एवम्—इस प्रकार; प्रतिप्रोक्तः—उत्तर दिये जाने पर; भूयः—पुनः; आह—कहा; असुरः—महान् दैत्य, हिरण्यकशिपु ने; सुतम्—अपने पुत्र को; न—नहीं; चेत्—यदि; गुरु-मुखी—गुरु के मुख से निकली; इयम्—यह; ते—तुम्हारा; कुतः—कहाँ से; अभद्र—हे अशुभ; असती—अत्यन्त बुरी; मतिः—प्रवृत्ति, रुझान।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : जब हिरण्यकशिपु को अध्यापक से यह उत्तर मिल गया तो उसने पुनः अपने पुत्र को सम्बेधित किया। हिरण्यकशिपु ने कहा ''रे धूर्त! हमारे परिवार के सबसे पतित! यदि तुमने यह शिक्षा अपने अध्यापकों से नहीं प्राप्त की, तो बतला कि इसे कहाँ से प्राप्त की?''

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवती ठाकुर बतलाते हैं कि भक्ति वास्तव में *भद्रा सती* होती है *अभद्र असती* नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भक्ति का ज्ञान न तो अशुभ होता है न शिष्टाचार के विरुद्ध होता है। भक्ति सीखना हर एक का कर्तव्य है। अतएव प्रह्लाद महाराज की तात्क्षणिक शिक्षा शुभ तथा पूर्ण सिद्ध होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।

अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—श्री प्रह्लाद ने कहा; मतिः—झुकाव; न—कभी नहीं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण में; परतः—अन्यों के उपदेशों से; स्वतः—अपनी बुद्धि से; वा—अथवा; मिथः—संयुक्त प्रयास से; अभिपद्येत—विकसित होती है; गृह-व्रतानाम्—भौतिकवादी देहात्मबुद्धि के प्रति अनुरक्त लोगों का; अदान्त—अनियंत्रित; गोभिः—इन्द्रियों द्वारा; विशताम्—प्रवेश करते हुए; तमिस्रम्—नारकीय जीवन में; पुनः—फिर से; पुनः—फिर से; चर्वित—पहले से चबाई गई वस्तुएँ; चर्वणानाम्—जो चबा रहे हैं।.

प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया: अपनी असंयमित इन्द्रियों के कारण जो लोग भौतिकतावादी जीवन के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, वे नरकगामी होते हैं और बार-बार उसे चबाते हैं, जिसे पहले ही चबाया जा चुका है। ऐसे लोगों का कृष्ण के प्रति झुकाव न तो अन्यों के उपदेशों से, न अपने निजी प्रयासों से, न ही दोनों को मिलाकर कभी होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मतिर्न कृष्णे* शब्द कृष्ण के प्रति की गई भक्ति को बताते हैं। जो भी तथाकथित राजनीतिज्ञ, प्रकांड पंडित तथा दार्शनिक *भगवद्गीता* को पढ़ते हैं, वे अपने भौतिक अभिप्रायों के उपयुक्त कोई न कोई अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कृष्ण विषयक उनका यह भ्रम उन्हें कोई लाभ नहीं दिलाता। चूँकि ये सभी लोग *भगवद्गीता* को भौतिक रीति से तालमेल बैठाने के साधन के रूप में प्रयुक्त करने में रुचि रखते हैं अतएव उनके लिए कृष्ण या कृष्णभावनामृत का निरन्तर विचार करना असम्भव है (*मतिर्न कृष्णे*)। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में में कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति*—कोई कृष्ण को यथारूप में भक्ति के द्वारा ही समझ सकता है। तथाकथित राजनीतिज्ञ तथा विद्वान कृष्ण को काल्पनिक मानते हैं। राजनीतिज्ञ कहता है कि उनका कृष्ण *भगवद्गीता* में अंकित कृष्ण से भिन्न है। यद्यपि वह कृष्ण तथा राम को परमेश्वर मानता है किन्तु वह उन्हें निराकार समझता है, क्योंकि उसे कृष्ण की सेवा का कोई अनुमान नहीं रहता। अतएव उसका एकमात्र कार्य रहता है— *पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*—चबाये हुए को बार-बार चबाना। ऐसे राजनीतिज्ञों तथा विद्वानों का लक्ष्य अपनी शारीरिक इन्द्रियों द्वारा भौतिक जगत का भोग करना होता है। इसलिए यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि जो गृहव्रत हैं, अर्थात् जिनका एकमात्र लक्ष्य भौतिक जगत में इस शरीर के साथ सुखपूर्वक जीवन बिताना होता है वे कृष्ण को समझ नहीं सकते। *गृहव्रत* तथा *चर्वितचर्वणानाम्* दोनों ही पद सूचित करते हैं कि भौतिकतावादी पुरुष जन्म-जन्मांतर विभिन्न शरीरों में इन्द्रियतृप्ति भोगना चाहते हैं, किन्तु फिर भी वे असन्तुष्ट रहते हैं। व्यक्तिवाद के नाम पर ऐसे लोग

जीवन की भौतिकतावादी शैली के प्रति सदैव आसक्त रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

"जो लोग इन्द्रियभोग तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं और जो ऐसी वस्तुओं से मोहग्रस्त हैं उनके मनों में परमेश्वर की भक्ति का दृढ़ संकल्प नहीं उत्पन्न होता।" जो लोग भौतिक भोग में लिप्त हैं, वे भगवान् की भक्ति में दृढ़ नहीं हो सकते। वे न तो भगवान् कृष्ण को समझ सकते हैं न उनके उपदेश *भगवद्गीता* को। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रम्*—उनका मार्ग सचमुच नारकीय जीवन की ओर ले जाने वाला है। जैसाकि ऋषभदेव ने पुष्टि की है—*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*—मनुष्य को चाहिए कि किसी भक्त की सेवा करके कृष्ण को समझने का प्रयत्न करे। *महत्* शब्द भक्त के लिए आया है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं ऐसे महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में लगे रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।" (*भगवद्गीता* ९.१३) *महात्मा* वह है, जो चौबीसों घण्टे भक्ति में लगा रहता है। जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है, जब तक कोई ऐसे महापुरुष के पीछे लग नहीं जाता, वह कृष्ण को नहीं समझ सकता। हिरण्यकशिपु जानना चाह रहा था कि प्रह्लाद ने कृष्णभावनामृत कहाँ से प्राप्त किया? किसने उसे सिखाया था? प्रह्लाद ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया "हे पिता! आप जैसे व्यक्ति कृष्ण को कभी नहीं समझ पाएँगे। केवल *महत्* अर्थात् महात्मा की सेवा करके कृष्ण को समझा जा सकता है। जो लोग भौतिक परिस्थितियों से समझौता करनेका प्रयास करते हैं, वे चबाये हुए को चबाते हुए कहे जाते हैं। आज तक कोई भी व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों को समंजित नहीं कर पाया, किन्तु लोग जन्म-जन्मांतर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयास करते हैं और बारम्बार असफल होते हैं। जब तक मनुष्य किसी *महत्*—महात्मा या भगवान् के अनन्य भक्त—द्वारा प्रशिक्षित नहीं किया जाता तब तक उसके द्वारा कृष्ण तथा उनकी भक्ति

को समझ पाने की सम्भावना नहीं है।''

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-
स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—वे; विदुः—जानते हैं; स्व-अर्थ-गतिम्—जीवन का चरम लक्ष्य या अपने असली हित को; हि—निस्सन्देह; विष्णुम्—भगवान् विष्णु तथा उनके धाम को; दुराशयाः—इस भौतिक जगत का भोग करने के इच्छुक; ये—जो; बहिः—बाह्य इन्द्रिय विषय; अर्थ-मानिनः—महत्त्वपूर्ण मानते हुए; अन्धाः—अन्धे व्यक्ति; यथा—जिस प्रकार; अन्धैः—दूसरे अन्धे व्यक्तियों द्वारा; उपनीयमानाः—ले जाए जाकर; ते—वे; अपि—यद्यपि; ईश-तन्त्र्याम्—भौतिक प्रकृति की रस्सियों (नियमों) को; उरु—अत्यन्त शक्तिशाली; दाम्नि—रस्सियाँ; बद्धाः—बँधी हुई।

जो लोग भौतिक जीवन के भोग की भावना द्वारा दृढ़ता से बँधे हैं और जिन्होंने अपने ही समान बाह्य इन्द्रिय विषयों से आसक्त अन्धे व्यक्ति को अपना नेता या गुरु स्वीकार कर रखा है, वे यह नहीं समझ सकते कि जीवन का लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना तथा भगवान् विष्णु की सेवा में लगे रहना है। जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति द्वारा ले जाया गया दूसरा अन्धा व्यक्ति सही मार्ग भूल सकता है और गड्ढे में गिर सकता है उसी प्रकार भौतिकता से आसक्त व्यक्ति अपने ही जैसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा मार्ग दिखलाये जाने पर सकाम कर्म की रस्सियों द्वारा बंधे रहते हैं, जो अत्यन्त मजबूत धागों से बनी होती हैं और ऐसे लोग तीनों प्रकार के कष्ट सहते हुए पुनः-पुनः भौतिक जीवन प्राप्त करते रहते हैं।

तात्पर्य : चूँकि असुरों तथा भक्तों के विचारों में अन्तर होना ही चाहिए अतएव जब हिरण्यकशिपु की आलोचना उसके पुत्र प्रह्लाद महाराज द्वारा की जा रही थी तो उसे इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए था कि वे उसकी जीवन-शैली से सहमत न थे। तो भी हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रुद्ध था और अपने पुत्र को अध्यापक या गुरु का उपहास करने कि लिए डाँटना चाहता था, क्योंकि उसके अध्यापक महान् आचार्य शुक्राचार्य के ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे। शुक्र शब्द का अर्थ हैं ''वीर्य'' और आचार्य गुरु का सूचक है। आदि काल से वंशानुगत गुरुओं को मान्यता प्राप्त होती रही है, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने ऐसे जन्मजात गुरु को या उसके उपदेश को ग्रहण करने से इनकार कर दिया था। वास्तविक गुरु *श्रोत्रिय* होता है और जो *परम्परा* से पूर्ण ज्ञान सुनता है या प्राप्त किये होता है। अतएव प्रह्लाद

महाराज ने जन्मजात गुरु को मान्यता नहीं दी। ऐसे गुरु विष्णु में तनिक भी रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, वे भौतिक सफलता के इच्छुक रहते हैं (*बहिरर्थमानिन:*)। *बहि:* शब्द का अर्थ है ''बाह्य,'' *अर्थ* का ''हित'' तथा *मानिन:* का अर्थ ''गम्भीरता से लेना'' होता है। एक तरह से सभी लोग आध्यात्मिक जगत से अनजान हैं। भौतिकतावादियों का ज्ञान इस भौतिक जगत की ४०० करोड़ मील की सीमा तक संकुचित है, जो सृष्टि का अंधकारमय अंश है। वे यह नहीं जानते कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक जगत भी है। जब तक कोई भगवान् का भक्त नहीं होता वह आध्यात्मिक जगत के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे गुरु जो इस भौतिक जगत में ही रुचि रखते हैं अन्धे कहे गये हैं। ऐसे अन्धे उन अनेक अन्धे अनुयायियों का मार्गदर्शन कर सकते हैं जिन्हें भौतिक दशाओं का सही ज्ञान नहीं है किन्तु ऐसे लोग प्रह्लाद महाराज जैसे भक्तों द्वारा स्वीकार नहीं किये जाते। ऐसे अन्धे गुरु बाह्य भौतिक जगत में रुचि रखने के कारण सदैव प्रकृति की मजबूत रस्सियों द्वारा बँधे रहते हैं।

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषाम्—इनकी; मतिः—चेतना; तावत्—तब तक; उरुक्रम-अङ्घ्रिम्—भगवान् के चरणकमल, जो असामान्य कार्य करने के लिए विख्यात हैं; स्पृशति—छूती है; अनर्थ—अंवाछित वस्तुओं का; अपगमः—विलोप, छिपना; यत्—जिसका; अर्थः—प्रयोजन; महीयसाम्—महात्माओं (या भक्तों) का; पाद-रजः—चरणकमल की धूल द्वारा; अभिषेकम्—राजतिलक; निष्किञ्चनानाम्—उन भक्तों का जिन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है; न—नहीं; वृणीत—स्वीकार करे; यावत्—जब तक।

जब तक भौतिकतावादी जीवन के प्रति झुकाव रखने वाले लोग ऐसे वैष्णवों के चरणकमलों की धूलि अपने शरीर में नहीं लगाते जो भौतिक कल्मष से पूर्णतया मुक्त हैं, तब तक वे भगवान् के चरणकमलों के प्रति आसक्त नहीं हो सकते जिनका यशोगान उनके अपने असामान्य कार्यकलापों के लिए किया जाता है। केवल कृष्णभावनाभावित बनकर एवं इस प्रकार से भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित होने से *अनर्थ अपगम:* प्राप्त होता है अर्थात् सभी अनर्थों या उन दुखमय दशाओं का लोप होता है, जिन्हें हमने व्यर्थ ही अंगीकार कर रखा है। भौतिक देह इन अवांछित दुखमय दशाओं का मूल कारण है। समग्र वैदिक सभ्यता इन्हीं अवांछित दुखों से मुक्ति दिलाने के लिए है, किन्तु प्रकृति के नियमों से बद्ध लोग जीवन-लक्ष्य को नहीं जानते। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है—*ईश-तन्त्र्यम् उरुदाम्नि बद्धा:*—वे प्रकृति के तीन प्रबल गुणों द्वारा बँधे हैं। वह शिक्षा जो बद्धजीव को जन्म-जन्मांतर बद्ध रखती है भौतिकतावादी शिक्षा कहलाती है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने बताया है कि भौतिकतावादी शिक्षा माया के प्रभाव को बढ़ाती है। ऐसी शिक्षा से बद्धजीव भौतिकतावादी जीवन के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होता है और अवांछित दुखों से मुक्ति पाने से दूर चला जाता है।

कोई यह पूछ सकता है कि अत्यधिक शिक्षित लोग कृष्णभावनामृत को क्यों स्वीकार नहीं करते? इसका कारण इस श्लोक में बतलाया गया है। जब तक कोई पूर्णतया कृष्णभावनाभावित प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण नहीं करता तब तक कृष्ण को समझने का प्रश्न ही नहीं उठता। शिक्षक, विद्वान तथा लाखों व्यक्तियों द्वारा पूजित राजनीतिक नेता जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ सकते और कृष्णभावनामृत को अंगीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने प्रामाणिक गुरु एवं वेदों को स्वीकार नहीं किया है। अतएव *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.३) में कहा गया है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन*—न तो शिक्षा प्राप्त करने से, न विद्वत्तापूर्ण भाषण करने से (*प्रवचनेन लभ्य:*) अथवा अनेकानेक अद्भुत वस्तुओं की खोज करने वाले बुद्धिमान विज्ञानी बनने से कोई स्वरूपसिद्ध बन सकता है। कोई कृष्ण को तब तक नहीं समझ सकता जब तक उस पर भगवान् की कृपा न हो। जिसने कृष्ण के शुद्ध भक्त की शरण ले ली है और उसके चरणकमलों की धूलि धारण की है, वही कृष्ण को समझ सकता है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह जानना चाहिए कि वह माया के चंगुल से किस प्रकार बाहर निकले। इसका एकमात्र उपाय है कि वह कृष्णभावनाभावित हो जाये और सरलता से कृष्णभावनाभावित होने के लिए आवश्यक है कि किसी स्वरूपसिद्ध महत् या महात्मा की शरण ग्रहण की जाये जिसका एकमात्र स्वार्थ परमेश्वर की भक्ति में लगे रहना है। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.१३) में कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

''हे पृथापुत्र! जो मोहग्रस्त नहीं हैं अर्थात् महात्मा हैं, वे दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतया भक्ति में संलग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।'' अतएव जीवन के अंवाछित दुखों को समाप्त करने के लिए मनुष्य को भक्त बन जाना चाहिए।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

''जिसमें कृष्ण के प्रति अविचल भक्तिमयी श्रद्धा है, वह निरन्तर कृष्ण तथा देवताओं के सद्गुणों को प्रकट करता है।'' (भागवत ५.१८.१२)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''केवल उन महात्माओं को वैदिक ज्ञान का सारा अर्थ स्वतः प्रकट होता है जिन्हें भगवान् तथा गुरु दोनों पर ही निश्चित श्रद्धा होती है।'' (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

''भगवान् केवल उसे प्राप्त हो पाता है, जिसे वे स्वयं चुनते हैं। ऐसे व्यक्ति को वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।'' (*मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक शिक्षाप्राप्त विद्वान या राजनीतिज्ञ की शरण ग्रहण न करके स्वरूपसिद्ध गुरु की शरण में जाये। उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति की शरण ले जो भक्ति में संलग्न रहता हो और भौतिक कल्मष से मुक्त हो (*निष्किञ्चन*)। भगवद्धाम जाने का यही उपाय है।

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—कहकर; उपरतम्—रुक गया; पुत्रम्—पुत्र को; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु ने; रुषा—अत्यधिक क्रोध से; अन्धीकृत-आत्मा—आत्म-साक्षात्कार से अन्धा बना हुआ; स्व-उत्सङ्गात्—अपनी गोद से; निरस्यत—फेंक दिया; मही-तले—भूमि पर।

जब प्रह्लाद महाराज इस प्रकार बोलकर शान्त हो गये तो क्रोध से अन्धे हिरण्यकशिपु ने उन्हें अपनी गोद से उठाकर भूमि पर फेंक दिया।

आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः ।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैरृताः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आह—उसने कहा; अमर्ष—रोष; रुषा—तथा क्रोध से; आविष्टः—पराभूत, वशीभूत; कषायी-भूत—गरम लाल ताँबे की भाँति हुए; लोचनः—जिसकी आँखें; वध्यताम्—मार डालो; आशु—तुरन्त; अयम्—इसको; वध्यः—मारने के योग्य है, जो; निःसारयत—बाहर निकाल दो; नैरृताः—हे असुरो।

अत्यन्त क्रुद्ध तथा पिघले ताम्र जैसी लाल-लाल आँखें किये हिरण्यकशिपु ने अपने नौकरों से कहा : अरे असुरो, इस बालक को मेरी आँखों से दूर करो। यह वध करने योग्य है। इसे जितनी जल्दी हो सके मार डालो।

अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान्सुहृदोऽधमः ।
पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्चति ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; मे—मेरे; भ्रातृ-हा—भाई को मारने वाला; सः—वह; अयम्—यह; हित्वा—त्यागकर; स्वान्—अपने; सुहृदः—शुभचिन्तक; अधमः—अत्यन्त नीच; पितृव्य-हन्तुः—चाचा हिरण्याक्ष के मारने वाले के; पादौ—चरणों पर; यः—जो; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; दास-वत्—नौकर की तरह; अर्चति—सेवा करता है।

यह बालक प्रह्लाद मेरे भाई को मारने वाला है, क्योंकि इसने एक तुच्छ नौकर की भाँति मेरे शत्रु भगवान् विष्णु की सेवा में संलग्न रहने के लिए अपने परिवार को छोड़ दिया है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद महाराज को अपने भाई का हत्यारा माना है, क्योंकि वे भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते थे। दूसरे शब्दों में, प्रह्लाद महाराज को तो *सारूप्य मोक्ष* प्राप्त होगा और इस तरह वे भगवान् विष्णु के समान थे। अतएव प्रह्लाद महाराज का वध हिरण्यकशिपु द्वारा किया जाना था। भक्तों या वैष्णवों को *सारूप्य, सालोक्य, सार्ष्टि* तथा *सामीप्य*—ये चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं जब कि मायावादियों को *सायुज्य* मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु सायुज्य मुक्ति अत्यन्त निश्चित नहीं है, जबकि भक्तों की चारों मुक्तियाँ अत्यन्त निश्चित हैं। यद्यपि वैकुण्ठ लोक में भगवान् विष्णु या नारायण के सारे दास भगवान् के ही समान स्तर पर रहते हैं, किन्तु वहाँ के भक्त

अच्छी तरह जानते हैं कि भगवान् उनके स्वामी हैं और वे उनके दास हैं।

विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः ।
सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विष्णोः—विष्णु को; वा—अथवा; साधु—अच्छा; असौ—यह; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; करिष्यति—करेगा; असमञ्जसः—विश्वास न करने योग्य; सौहृदम्—प्रिय सम्बन्ध; दुस्त्यजम्—छोड़ पाना कठिन; पित्रोः—अपने पिता-माता का; अहात्—छोड़ दिया; यः—जो; पञ्च-हायनः—केवल पाँच वर्ष का।.

यद्यपि प्रह्लाद केवल पाँच वर्ष का है, किन्तु इसी अल्पावस्था में उसने अपने माता-पिता के स्नेह-सम्बन्ध को त्याग दिया है। अतएव यह निश्चय ही विश्वास करने योग्य नहीं है। निस्सन्देह, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह विष्णु के प्रति भी ठीक से आचरण करेगा।

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं
स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं
शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

परः—उसी परिवार से सम्बन्धित न होना; अपि—यद्यपि; अपत्यम्—बालक; हित-कृत्—जो लाभप्रद है; यथा—जिस प्रकार; औषधम्—औषधि; स्व-देह-जः—अपने ही शरीर से उत्पन्न; अपि—यद्यपि; आमय-वत्—रोग के समान; सुतः—पुत्र; अहितः—जो हितैषी नहीं है; छिन्द्यात्—काट देना चाहिए; तत्—उस; अङ्गम्—शरीर के भाग को; यत्—जो; उत—निस्सन्देह; आत्मनः—शरीर का; अहितम्—अनुपयोगी; शेषम्—बचा हुआ, शेष; सुखम्—सुखपूर्वक; जीवति—जीवित रहता है; यत्—जिसके; विवर्जनात्—काट देने से।.

यद्यपि औषधि (जड़ी-बूटी) जंगल में उत्पन्न होने के कारण मनुष्य की श्रेणी में परिगणित नहीं होती किन्तु लाभप्रद होने पर अत्यन्त सावधानी से रखी जाती है। इसी प्रकार यदि अपने परिवार से बाहर का कोई व्यक्ति अनुकूल हो तो उसे पुत्र के समान संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए। दूसरी ओर, यदि किसी के शरीर का कोई अंग रोग से विषाक्त हो जाये तो उसे काट कर अलग कर देना चाहिए जिससे शेष शरीर सुखपूर्वक जीवित रहे। इसी प्रकार भले ही अपना आत्मज पुत्र ही क्यों न हो, यदि वह प्रतिकूल है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने समस्त भगवद्भक्तों को उपदेश दिया है कि वे तृण से भी अधिक विनीत और वृक्षों से भी अधिक सहिष्णु बनें अन्यथा उनके भक्ति-मार्ग में सदैव उपद्रव होते रहेंगे। यहाँ पर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दिया गया है कि किस तरह एक भक्त एक अभक्त द्वारा, जो कि एक

वत्सल पिता है, सताया जाता है। यह भौतिक जगत ऐसा है कि अभक्त पिता एक भक्त पुत्र का शत्रु बन जाता है। अपने ही पुत्र को मार डालने का निश्चय करके हिरण्यकशिपु ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो अपने शरीर के ही एक अंग के विषाक्त होने तथा शेष शरीर के लिए हानिकारक होने के कारण उसे काट कर अलग करने के तुल्य है। निस्सन्देह, यही उदाहरण अभक्तों पर भी लागू किया जा सकता हैं। चाणक्य पण्डित का उपदेश है—*त्यज दुर्जनसंसर्गम् भज साधुसमागमम्*—जो भक्त सचमुच ही आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के लिए इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि अभक्तों की संगति छोड़कर सदैव भक्तों की संगति करें। इस शरीर से अत्यधिक लिप्त होना अज्ञानता है, क्योंकि यह क्षणिक तथा दुखमय है। अतएव जो भक्त आत्म-साक्षात्कार के हेतु तपस्या करने के लिए कृतसंकल्प हैं और जो आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर होना चाहते हैं उन्हें नास्तिक अभक्तों का साथ छोड़ देना चाहिए। प्रह्लाद महाराज में अपने पिता हिरण्यकशिपु की विचारधारा से असहयोग करने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वे सहिष्णु तथा विनीत थे। किन्तु हिरण्यकशिपु अभक्त होने के कारण इतना कलुषित था कि वह अपने पुत्र को मार डालने तक के लिए सन्नद्ध था। उसने अंग काट देने के तर्क द्वारा इसकी पुष्टि करनी चाही।

सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सर्वैः—सभी; उपायैः—उपायों के द्वारा; हन्तव्यः—मार डाला जाये; सम्भोज—खाते; शयन—लेटे; आसनैः—बैठे हुए; सुहृत्-लिङ्ग-धरः—मित्र का बाना धारण किये हुए; शत्रुः—दुश्मन; मुनेः—मुनियों की; दुष्टम्—अनियंत्रित; इव—जैसे; इन्द्रियम्—इन्द्रियाँ।

जिस प्रकार असंयमित इन्द्रियाँ आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए व्यस्त योगियों की शत्रु होती हैं उसी प्रकार यह प्रह्लाद मित्र के समान प्रतीत होकर भी मेरा शत्रु है, क्योंकि इस पर मेरा वश नहीं चलता। अतएव खाते, बैठे या सोते हुए, सभी तरह से इस शत्रु को मार डाला जाये।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज को मार डालने का अभियान नियोजित किया कि वह अपने पुत्र को खाते समय विष खिला कर, उसे उबलते तेल में बैठा कर या जब वह सो रहा हो तो उसे हाथी के पैरों के नीचे फेंककर मार डालेगा। इस तरह हिरण्यकशिपु ने अपने उस निर्दोष बालक को, जो अभी केवल पाँच वर्ष का था, मार डालने का इसलिए निश्चय किया, क्योंकि यह बालक भगवान्

का भक्त बन गया था। ऐसी मनोवृत्ति होती है अभक्तों की भक्तों के प्रति।

नैरृतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥ ३९ ॥
नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनं चाहनञ्शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नैरृताः—असुर; ते—वे; समादिष्टाः—आज्ञा पाकर; भर्त्रा—अपने स्वामी से; वै—निस्सन्देह; शूल-पाणयः—अपने हाथों में त्रिशूल लेकर; तिग्म—अत्यन्त तीखे; दंष्ट्र—दाँत; कराल—तथा भयानक; आस्याः—मुख; ताम्र-श्मश्रु—ताँबे जैसी मूछें; शिरोरुहाः—सिर के बाल; नदन्तः—ध्वनि करते; भैरवम्—भयानक; नादम्—ध्वनि; छिन्धि—काट दो; भिन्धि—छोट-छोटे टुकड़े कर डालो; इति—इस प्रकार; वादिनः—बोलते हुए; आसीनम्—चुपचाप बैठा हुआ; च—तथा; अहनन्—आक्रमण किया; शूलैः—अपने त्रिशूलों से; प्रह्लादम्—प्रह्लाद पर; सर्व-मर्मसु—शरीर के कोमल भागों (मर्मस्थलों) पर।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु के सारे नौकर राक्षसगण प्रह्लाद महाराज के शरीर के नम्र भागों (मर्मस्थलों) पर अपने त्रिशूल से वार करने लगे। इन राक्षसों के मुख अत्यन्त भयानक थे, दाँत तीखे तथा दाढ़ी एवं बाल ताँबे जैसे थे और वे सब अत्यन्त भयावने प्रतीत हो रहे थे। वे उच्च स्वर से ''उसके टुकड़े-टुकड़े कर दो। उसे छेद डालो'' इस तरह चिल्ला कर प्रह्लाद महाराज पर जो शान्त भाव से भगवान् का ध्यान करते हुए आसीन थे प्रहार करने लगे ।

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

परे—परम; ब्रह्मणि—ब्रह्म; अनिर्देश्ये—इन्द्रियों से अदृश्य; भगवति—भगवान् में; अखिल-आत्मनि—सबों के परमात्मा; युक्त-आत्मनि—जिसका मन लगा था, उस (प्रह्लाद) पर; अफलाः—निष्फल, व्यर्थ; आसन्—थे; अपुण्यस्य—ऐसे व्यक्ति का जिसके पास पुण्यकर्मों की पूँजी न हो; इव—सदृश; सत्-क्रियाः—सत्कर्म (यथा यज्ञ तथा तपस्या)।

ऐसा व्यक्ति जिसके पास कोई पुण्यकर्म की कमाई नहीं होती यदि वह कोई अच्छा कार्य करे भी तो उसका कोई परिणाम नहीं निकलता। इसी प्रकार राक्षसों के हथियारों का प्रह्लाद महाराज पर कोई प्रकट प्रभाव नहीं पड़ रहा था, क्योंकि वे भौतिक दशाओं से अविचलित रहने वाले भक्त थे और उन भगवान् का ध्यान करने तथा सेवा करने में व्यस्त थे, जो अनश्वर थे, जिन्हें भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता और जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आत्मा हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के विचार में निरन्तर पूर्णतया मग्न रहते थे। जैसाकि कहा गया है *गोविन्द परिरम्भितः।* प्रह्लाद महाराज सदैव ध्यान में लीन रहते थे, अतएव उनकी रक्षा गोविन्द करते

थे। जिस प्रकार एक छोटा सा शिशु अपने पिता या माता की गोद में पूर्णत: सुरक्षित रहता है वैसे ही भक्त समस्त परिस्थितियों में परमेश्वर द्वारा सुरक्षित रहता है। तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि जब राक्षसों ने प्रह्लाद महाराज पर आक्रमण किया तो गोविन्द पर भी उनका प्रहार हुआ? ऐसा सम्भव नहीं है। असुरों ने भगवान् को चोट पहुँचाने या मार डालने के अनेक प्रयास किये, किन्तु वे किसी भौतिक साधन द्वारा क्षतिग्रस्त नहीं हो सकते, क्योंकि वे सदैव अध्यात्म में लीन रहते हैं। अतएव यहाँ पर *परे ब्रह्मणि* शब्दों का प्रयोग हुआ है। राक्षसगण न तो परमेश्वर को देख सकते हैं, न उन्हें छू सकते हैं, यद्यपि वे ऊपरी तौर पर यह सोचे कि वे भगवान् के दिव्य शरीर पर अपने भौतिक हथियारों से प्रहार कर रहे हैं। इस श्लोक में भगवान् को *अनिर्देश्ये* कहा गया है। चूँकि वे सर्वव्यापी हैं, अतएव हम उन्हें किसी एक स्थान पर नहीं देख सकते। साथ ही, वे *अखिलात्मा* हैं, वे हर वस्तु के प्राण हैं, यहाँ तक कि भौतिक हथियारों के भी। जो लोग भगवान् की स्थिति को नहीं समझते वे हतभाग्य हैं। भले ही वे यह सोचें कि वे भगवान् तथा उसके भक्त को मार सकते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास व्यर्थ जाते हैं। भगवान् जानते हैं कि उनसे किस प्रकार निपटा जाए।

प्रयासेऽपहते तस्मिन्दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः ।
चकार तद्वधोपायान्निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

प्रयासे—प्रयास में; अपहते—व्यर्थ; तस्मिन्—उस; दैत्य-इन्द्रः—दैत्यों का राजा हिरण्यकशिपु; परिशङ्कितः—अत्यन्त भयभीत (यह सोचकर कि बालक की रक्षा हो रही है); चकार—किया; तत्-वध-उपायान्—उसे मारने के विविध उपाय; निर्बन्धेन—संकल्प से; युधिष्ठिर—हे राजा युधिष्ठिर।

हे राजा युधिष्ठिर, जब प्रह्लाद महाराज को मार डालने के असुरों के सारे प्रयास निष्फल हो गये तो दैत्यराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त भयभीत होकर उसे मारने के अन्य उपायों की योजना करने लगा।

दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः ।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ।
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि ॥ ४३ ॥
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

दिक्-गजैः—बड़े-बड़े हाथियों द्वारा, जिन्हें अपने पैरों तले किसी भी वस्तु को कुचल डालने का प्रशिक्षण दिया गया था; दन्द-शूक-इन्द्रैः—राजा के जहरीले साँपों द्वारा कटा कर; अभिचार—विध्वंसक जादू द्वारा; अवपातनैः—पर्वत की चोटी से गिरा कर; मायाभिः—युक्तियों द्वारा; सन्निरोधैः—बन्दी बना कर; च—तथा; गर-दानैः—विष पिला कर; अभोजनैः—भूखों रख कर; हिम-वायु-अग्नि—ठिठुरती ठंड, हवा तथा अग्नि; सलिलैः—तथा जल से; पर्वत-आक्रमणैः—बड़े-बड़े पत्थरों तथा पहाड़ियों से कुचला कर; अपि—भी; न शशाक—समर्थ न हुआ; यदा—जब; हन्तुम्—मारने के लिए; अपापम्—जो तनिक भी पापी न था; असुरः—असुर (हिरण्यकशिपु); सुतम्—अपने पुत्र को; चिन्ताम्—चिन्ता; दीर्घ-तमाम्—अधिक काल से चली आ रही; प्राप्तः—प्राप्त किया; तत्-कर्तुम्—उसे करने के लिए; न—नहीं; अभ्यपद्यत—प्राप्त किया।

हिरण्यकशिपु अपने पुत्र को विशाल हाथी के पाँवों के नीचे, बड़े-बड़े भयानक साँपों के बीच में, विध्वसंक जादू का प्रयोग करके, पर्वत की चोटी से नीचे गिरा कर, मायावी तरकीबें करके, विष देकर, भूखों रख कर, ठिठुरती ठंड, हवा, अग्नि तथा जल में रखकर या उस पर भारी पत्थर फेंक कर भी नहीं मार पाया। जब उसने देखा कि वह निर्दोष प्रह्लाद को किसी तरह हानि नहीं पहुँचा पाया, तो वह अत्यन्त चिन्ता में पड़ गया कि आगे क्या किया जाये।

एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः ।
तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; मे—मेरा; बहु—अनेक; असाधु-उक्तः—गालियाँ; वध-उपायाः—उसे मारने के अनेक उपायों द्वारा; च—तथा; निर्मिताः—कल्पित, बनाया; तैः—उनके द्वारा; तैः—उनके द्वारा; द्रोहैः—विश्वासघात से; असत्-धर्मैः—घृणित कर्म के द्वारा; मुक्तः—छूटा हुआ; स्वेन—अपने; एव—निस्सन्देह; तेजसा—तेज से।

हिरण्यकशिपु ने विचार किया: मैंने इस बालक को दण्डित करने के लिए अनेक गालियाँ दी हैं, अपशब्द कहे हैं और उसे मार डालने के लिए अनेक उपाय किये हैं, किन्तु मेरे समस्त प्रयत्नों के बावजूद यह मरा नहीं। निस्सन्देह, इन विश्वासघातों तथा घृणित कर्मों के द्वारा वह तनिक भी प्रभावित नहीं हुआ और अपनी ही शक्ति से उसने अपने को बचाया है।

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् ।
न विस्मरति मेऽनार्यं शुनः शेप इव प्रभुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

वर्तमानः—स्थित होकर; अविदूरे—अधिक दूरी पर नहीं; वै—निस्सन्देह; बालः—शिशु मात्र; अपि—यद्यपि; अजड-धीः—पूर्ण निर्भीक; अयम्—यह; न—नहीं; विस्मरति—भूलता है; मे—मेरा; अनार्यम्—दुर्व्यवहार; शुनः शेपः—कुत्ते की टेढ़ी पूँछ; इव—सदृश; प्रभुः—समर्थ होकर।

यद्यपि यह मेरे अत्यन्त निकट है और निरा बालक है फिर भी यह पूर्ण निर्भीक है। यह उस कुत्ते की टेढ़ी पूँछ के समान है, जो कभी सीधी नहीं की जा सकती, क्योंकि यह मेरे दुर्व्यवहार

तथा अपने स्वामी भगवान् विष्णु से अपने सम्बन्ध को कभी भी नहीं भूलता है।

तात्पर्य : *शुनः* शब्द का अर्थ है "कुत्ते की" और *शेप* का अर्थ है "पूँछ"। यह उदाहरण अत्यन्त सीधा सा है। कोई कुत्ते की पूँछ को सीधा करने का कितना ही प्रयास क्यों न करे वह कभी भी सीधी नहीं होती अपितु सदैव टेढ़ी ही रहती है। *शुनः शेप* अजीगर्त के द्वितीय पुत्र का नाम भी है। उसे हरिश्चन्द्र को भी बेच दिया गया था, लेकिन बाद में उसने विश्वामित्र की शरण ले ली थी जो हरिश्चन्द्र का शत्रु था और फिर उसका साथ नहीं छोड़ा।

अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः ।
नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अप्रमेय—असीम; अनुभावः—यश; अयम्—यह; अकुतश्चित्-भयः—किसी भी ओर से भय न होना; अमरः—अमर; नूनम्—निश्चय ही; एतत्-विरोधेन—इसका विरोध करने से; मृत्युः—मृत्यु; मे—मेरी; भविता—हो जाये; न—नहीं; वा—अथवा।

मैं देखता हूँ कि इस बालक की शक्ति असीम है, क्योंकि यह मेरे किसी भी दण्ड से भयभीत नहीं हुआ। यह अमर प्रतीत होता है, अतएव इसके प्रति शत्रुता के भाव से मैं मरूँगा। या ऐसा नहीं भी हो सकता।

इति तच्चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् ।
शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तत्-चिन्तया—प्रह्लाद महाराज की स्थिति के कारण चिन्ता से पूर्ण; किञ्चित्—कुछ-कुछ; म्लान—मुरझाया; श्रियम्—शारीरिक कान्ति; अधः-मुखम्—नीचे मुँह किये; शण्ड-अमर्कौ—षण्ड तथा अमर्क; औशनसौ—शुक्राचार्य के पुत्रो; विविक्ते—गुप्त स्थान में; इति—इस प्रकार; ह—निस्सन्देह; ऊचतुः—बोले।

इस प्रकार सोचते हुए चिन्तित तथा कान्तिहीन दैत्यराज अपना मुँह नीचा किये चुप रह गया। शुक्राचार्य के दोनों पुत्र षण्ड तथा अमर्क एकान्त में उससे बोले।

जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवोर्
विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।
न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्वहे
न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

जितम्—जीता गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एकेन—अकेले; जगत्-त्रयम्—तीनों जगत; भ्रुवो:—भौहों के; विजृम्भण—फैलने से; त्रस्त—भयभीत हो जाते हैं; समस्त—सारे; धिष्ण्यपम्—प्रत्येक लोक के प्रमुख व्यक्ति; न—नहीं; तस्य—उसकी; चिन्त्यम्—चिन्ता; तव—तुम्हारा; नाथ—हे स्वामी; चक्ष्वहे—हम देख रहे हैं; न—न तो; वै—निस्सन्देह; शिशूनाम्—बच्चों के; गुण-दोषयो:—उत्तम गुण या दोष का; पदम्—विषय।.

हे स्वामी, हम जानते हैं कि यदि आप अपनी भौहों को हिला भी दें तो विविध लोकों के नायक (पालक) अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। आपने किसी की सहायता लिए बिना ही तीनों लोकों को जीत लिया है। इसलिए हमें आपके चिन्तित होने का कोई कारण नहीं दिख रहा। जहाँ तक प्रह्लाद का प्रश्न है, वह एक बालक मात्र है और वह चिन्ता का कारण नहीं बन सकता। अन्तत: उसके गुणों या अवगुणों का कोई महत्व नहीं है।

इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा
निधेहि भीतो न पलायते यथा ।
बुद्धिश्च पुंसो वयसार्यसेवया
यावद्गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

इमम्—इसको; तु—लेकिन; पाशै:—रस्सियों से; वरुणस्य—वरुण देव की; बद्ध्वा—बाँध कर; निधेहि—रखो; भीत:—डरा हुआ; न—नहीं; पलायते—भागे; यथा—जिससे; बुद्धि:—बुद्धि; च—भी; पुंस:—मनुष्य की; वयसा—उम्र बढ़ने से; आर्य—अनुभवी व्यक्तियों की; सेवया—सेवा से; यावत्—जब तक; गुरु:—हमारा गुरु; भार्गव:—शुक्राचार्य; आगमिष्यति—आ जाएगा।.

हमारे गुरु शुक्राचार्य के लौट आने तक इस बालक को वरुण की रस्सियों से बाँध दो जिससे वह डर कर भाग न सके। हर हालत में, जब वह कुछ-कुछ बड़ा हो जाएगा और हमारे उपदेशों को आत्मसात् कर चुकेगा या हमारे गुरु की सेवा कर लेगा तो इसकी बुद्धि बदल जाएगी। इस प्रकार चिन्ता की कोई बात नहीं है।

तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् ।
धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार से; इति—इस तरह; गुरु-पुत्र-उक्तम्—शुक्राचार्य के पुत्रों, षण्ड तथा अमर्क द्वारा सलाह दिये जाने पर; अनुज्ञाय—मानकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा; धर्म:—कर्तव्य; हि—निस्सन्देह; अस्य—प्रह्लाद को; उपदेष्टव्य:—उपदेश देना चाहिए; राज्ञाम्—राजाओं के; य:—जो; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थ जीवन में जिनकी रुचि है।.

अपने गुरु पुत्र षण्ड तथा अमर्क के इन उपदेशों को सुनकर हिरण्यकशिपु राजी हो गया और उनसे प्रह्लाद को इस वृत्तिपरक धर्म का उपदेश देने की प्रार्थना की जिसका पालन राजसी

गृहस्थ परिवार करते हैं।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद महाराज देश या विश्व का शासन चलाने के लिए कूटनीतिक राजा के रूप में प्रशिक्षित हो न कि संन्यास आश्रम के लिए उपदेश प्राप्त करे। *धर्म* शब्द किसी धार्मिक विश्वास के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ। जैसाकि स्पष्ट कहा गया है— *धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम्।* राजाओं के परिवार दो प्रकार के होते हैं—पहले वे जिसके सदस्य गृहस्थ जीवन से आसक्त रहते हैं और दूसरे *राजर्षि* अर्थात् वे राजा जो शासक के रूप में शासन करते हैं, किन्तु साथ ही ऋषि भी होते हैं। प्रह्लाद *राजर्षि* बनना चाहते थे, किन्तु हिरण्यकशिपु उसे इन्द्रिय-भोग-आसक्त राजा बनाना चाहता था (*गृहमेधिनाम्*)। इसीलिए आर्य प्रणाली में *वर्णाश्रम धर्म* होता है, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के अनुसार शिक्षा प्राप्त करता है।

भक्ति से पवित्र हुआ भक्त संसारी गुणों से ऊपर दिव्य स्थिति में रहता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज तथा हिरण्यकशिपु में यह अन्तर था कि हिरण्यकशिपु चाहता था कि प्रह्लाद संसार में लिप्त रहे, किन्तु प्रह्लाद तो प्रकृति के गुणों से ऊपर थे। जब तक कोई प्रकृति के वश में रहता है तब तक उसका वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) उस व्यक्ति से भिन्न होता है, जो प्रकृति के वश में नहीं होता। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन *श्रीमद्भागवत* में हुआ है (*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*)। जैसाकि धर्मराज या यमराज ने अपने आदेशपालक से कहा था, जीव आध्यात्मिक सत्ता है अतएव उसका वृत्तिपरक कर्तव्य धर्म भी आध्यात्मिक है। वास्तविक धर्म तो वह है, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में हुआ है— *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक धर्म का परित्याग उसी तरह कर दे जिस प्रकार उसे भौतिक शरीर का परित्याग करना होता है। चाहे किसी का धर्म हो, यहाँ तक कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार भी हो, उसे उसका परित्याग करके अपने आध्यात्मिक कार्य में लग जाना चाहिए। मनुष्य के असली धर्म का वर्णन श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया है— *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का नित्य दास है। यही मनुष्य का असली धर्म है।

धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः ।

प्रह्लादायोचतू राजन्प्रश्रितावनताय च ॥५२॥

शब्दार्थ

धर्मम्—संसारी वृत्तिपरक कर्तव्य; अर्थम्—आर्थिक विकास; च—तथा; कामम्—इन्द्रिय तृप्ति; च—तथा; नितराम्—सदैव; च—तथा; अनुपूर्वशः—क्रमानुसार, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक; प्रह्लादाय—प्रह्लाद महाराज के लिए; ऊचतुः—उन्होंने कहा; राजन्—हे राजा; प्रश्रित—नम्र; अवनताय—तथा विनीत; च—भी।

तत्पश्चात् षण्ड तथा अमर्क ने अत्यन्त नम्र एवं विनीत प्रह्लाद महाराज को क्रमशः तथा निरन्तर धर्म, अर्थ तथा काम के विषय में पढ़ाना शुरू किया।

तात्पर्य : मानव समाज में चार विधियाँ (पुरुषार्थ) हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनका अन्त मोक्ष में होता है। मानव समाज को आगे बढ़ने के लिए धर्म विधि का पालन करना होता है और इसी धर्म के आधार पर मनुष्य को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास करना चाहिए जिससे वह धार्मिक विधि-विधानों के अनुसार इन्द्रिय-तृप्ति की आवश्यकता-पूर्ति कर सके। तब भव-बन्धन से मोक्ष प्राप्त करना आसान होगा। यही वैदिक विधि है। जब कोई धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की अवस्थाएँ पार कर लेता है, तो वह भक्त बन जाता है। तब वह ऐसे पद पर होता है जहाँ से वह गिर कर पुनः जगत में नहीं आता (*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है, यदि कोई इन चारों अवस्थाओं को पार कर जाता है और वास्तव में मुक्त है, तो वह भक्ति में संलग्न होता है। तब उसे इस संसार में पुनः पड़ने की सम्भावना नहीं रहती।

यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम् ।
न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥५३॥

शब्दार्थ

यथा—इस प्रकार; त्रि-वर्गम्—तीन विधियाँ (धर्म, अर्थ तथा काम); गुरुभिः—अध्यापकों द्वारा; आत्मने—अपने (प्रह्लाद) को; उपशिक्षितम्—उपदेश दिया; न—नहीं; साधु—वास्तव में अच्छा; मेने—उसने माना; तत्-शिक्षाम्—उस शिक्षा को; द्वन्द्व-आराम—द्वैत (शत्रुता तथा मित्रता) में आनन्द लेने वाले व्यक्तियों द्वारा; उपवर्णिताम्—संस्तुत।

षण्ड तथा अमर्क नामक शिक्षकों ने प्रह्लाद महाराज को धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन प्रकार के भौतिक विकास के बारे में शिक्षा दी। किन्तु प्रह्लाद महाराज इन उपदेशों से ऊपर थे, अतएव उन्होंने इन्हें पसन्द नहीं किया, क्योंकि ऐसे उपदेश संसारी मामलों के द्वैत पर आधारित होते हैं, जो मनुष्य को भौतिकतावादी जीवन-शैली में फंसा लेते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि प्रमुख हैं।

तात्पर्य : पूरा संसार भौतिकतावादी जीवन-शैली में रुचि रखता है। निस्सन्देह, तीनों संसार के

९९.९ प्रतिशत लोग मोक्ष या आध्यात्मिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं लेते। केवल भगवान् के भक्त, जिनमें प्रह्लाद महाराज तथा नारद मुनि जैसे महापुरुष प्रमुख हैं, आध्यात्मिक जीवन की असली शिक्षा में रुचि लेते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक पद पर रहते हुए धर्म के नियमों को नहीं समझ सकता। अतएव उन्हें चाहिए कि वे इन महापुरुषों का अनुगमन करें। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* (६.३.२०) में कहा गया है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, मनु, चारों कुमार, प्रह्लाद महाराज, भीष्म, जनक, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा यमराज जैसे महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करे। जो लोग आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखते हैं उन्हें चाहिए कि धर्म, अर्थ तथा काम का परित्याग करके प्रह्लाद महाराज का अनुगमन करें। मनुष्य को आध्यात्मिक शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रह्लाद महाराज के चरण-चिह्नों पर चलकर सारे विश्व में फैल रहा है, क्योंकि जिन्हें अपने शिक्षकों से प्राप्त भौतिकतावादी शिक्षा बिल्कुल पसन्द न थी।

यदाचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु ।
वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः ॥५४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आचार्यः—शिक्षकगण; परावृत्तः—काम में लग गये; गृह-मेधीय—गृहस्थ जीवन के; कर्मसु—कार्यों में; वयस्यैः—समान आयु वाले अपने मित्रों; बालकैः—बालकों के द्वारा; तत्र—वहाँ; सः—वह (प्रह्लाद महाराज); अपहूतः—बुलाया गया; कृत-क्षणैः—उचित अवसर पाकर।

जब शिक्षक अपने घरेलू काम करने अपने घर चले जाते थे, तो प्रह्लाद महाराज के समवयस्क छात्र उन्हें इस अवकाश (छुट्टी) को खेलने में लगाने के लिए बुला लेते।

तात्पर्य : अवकाश के समय जब शिक्षक कक्षा से चले जाते तो छात्रगण प्रह्लाद के साथ खेलने की इच्छा से उन्हें बुलाते। किन्तु जैसाकि अगले श्लोकों से प्रकट हो जाएगा, प्रह्लाद महाराज को खेलना नहीं भाता था। उल्टे, वे प्रत्येक क्षण का उपयोग कृष्णभावनामृत को अग्रसर करने में बिताना चाहते थे। इसलिए जैसाकि इस श्लोक के *कृतक्षणैः* शब्द से सूचित होता है, उपयुक्त अवसर पर जब कृष्णभावनामृत के विषय में विचार करना सम्भव होता तो प्रह्लाद महाराज समय का उपयोग

निम्नलिखित प्रकार से करते थे।

अथ ताञ्श्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः ।
उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; तान्—सहपाठियों को; श्लक्ष्णया—अत्यन्त सुहावनी; वाचा—वाणी से; प्रत्याहूय—सम्बोधित करके; महा-बुधः—अत्यन्त बुद्धिमान तथा आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर प्रह्लाद महाराज ने (महा-महान्, बुधः-पंडित); उवाच—कहा; विद्वान्—अत्यन्त विद्वान; तत्-निष्ठाम्—ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग; कृपया—दयालु होकर; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश।

तब प्रह्लाद महाराज ने, जो सचमुच परम विद्वान पुरुष थे, अपने सहपाठियों से अत्यन्त मधुर वाणी में कहा। उन्होंने हँसते हुए भौतिकतावादी जीवन-शैली की अनुपयोगिता के विषय में बताना शुरू किया। उन पर अत्यन्त कृपालु होने के कारण उन्होंने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का हँसना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य विद्यार्थी धर्म, अर्थ तथा काम के उपयोग द्वारा भौतिक जीवनका भोग करने में अत्यधिक आगे बढ़े हुए थे किन्तु प्रह्लाद महाराज उन पर हँस पड़े क्योंकि वे जानते थे कि यह वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक सुख तो कृष्णभावनामृत की प्रगति है। जो लोग प्रह्लाद महाराज के अनुयायी हैं उनका कर्तव्य है कि सारे विश्व को शिक्षा दें कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित होकर वास्तव में सुखी बना जाये। भौतिकतावादी व्यक्ति धर्म को इसलिए ग्रहण करते हैं कि उन्हें वर प्राप्त हो सके जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधर सके और वे इन्द्रियतृप्ति द्वारा भौतिक जगत का भोग कर सकें। किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त इस बात पर हँसते हैं कि ऐसे लोग कितने मूर्ख हैं कि आत्मा के देहान्तरण के ज्ञान के बिना ये नाशवान् जीवन में व्यस्त हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति क्षणिक लाभों में लगे रहते हैं जबकि प्रह्लाद महाराज जैसे व्यक्ति, जो आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं, भौतिकतावादी जीवन-शैली में तनिक भी रुचि नहीं रखते, अपितु वे ज्ञान तथा आनन्द के शाश्वत जीवन को प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव जिस तरह कृष्ण सदैव पतितात्माओं पर, दयालु रहते हैं उसी तरह उनके दास कृष्ण के भक्त भी सम्पूर्ण जनता को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देने में रुचि रखते हैं। भक्तगण भौतिकतावादी जीवन के दोषों को जानते हैं, अतएव वे उसे तुच्छ समझ कर उस पर हँसते हैं। किन्तु दयावश ऐसे भक्तगण सारे विश्व में *भगवद्गीता* का उपदेश देते हैं।

ते तु तद्गौरवात्सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः ।
बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥ ५६ ॥
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः ।
तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; तु—निस्सन्देह; तत्-गौरवात्—प्रह्लाद महाराज के शब्दों के प्रति महान् आदर से (उनके भक्त होने के कारण); सर्वे—वे सभी; त्यक्त—त्याग; क्रीडा-परिच्छदाः—खेलने के खिलौने; बालाः—लड़के; अदूषित-धियः—जिनकी बुद्धि अपने पिताओं के समान दूषित नहीं हुई; द्वन्द्व—द्वैत्य भाव में; आराम—आनन्द लेने वाले (यथा षण्ड तथा अमर्क जैसे शिक्षक); ईरित—उपदेशों द्वारा; ईहितैः—तथा कार्यों से; पर्युपासत—चारों ओर बैठ गये; राज-इन्द्र—हे राजा युधिष्ठिर; तत्—उसको; न्यस्त—त्याग करके; हृदय-ईक्षणाः—अपने हृदय तथा नेत्र; तान्—उनको; आह—बोला; करुणः—अत्यन्त दयालु; मैत्रः—असली मित्र; महा-भागवतः—अत्यन्त पूज्य भक्त; असुरः—यद्यपि असुर पिता से उत्पन्न प्रह्लाद महाराज।

हे राजा युधिष्ठिर, सारे बालक प्रह्लाद महाराज को अत्यधिक चाहते थे और उनका सम्मान करते थे। अपनी अल्पायु के कारण वे अपने शिक्षकों के उपदेशों एवं कार्यों से जितने दूषित नहीं हुए थे जबकि उनके शिक्षक निन्दा, द्वैत तथा शारीरिक सुविधा के प्रति आसक्त थे। इस तरह सारे बालक अपने-अपने खिलौने छोड़कर प्रह्लाद महाराज की बात सुनने के लिए उनके चारों ओर बैठ गये। उनके हृदय तथा नेत्र उन पर टिके थे और वे उन्हें उत्साहपूर्वक देख रहे थे। प्रह्लाद महाराज यद्यपि असुर कुल में पैदा हुए थे, किन्तु महान् भक्त थे और वे असुरों की कल्याण-कामना करते थे। इस प्रकार उन्होंने उन बालकों को भौतिकतावादी जीवन की व्यर्थता के विषय में उपदेश देना प्ररम्भ किया।

तात्पर्य : *बाला अदूषित-धियः* पद बताता है कि बच्चे अल्पायु होने के कारण भौतिकतावादी जीवन से उतने दूषित नहीं थे जितने कि उनके पिता। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों की अबोधता का लाभ उठा कर उन्हें आध्यात्मिक जीवन की महत्ता तथा भौतिकतावादी जीवन की असारता का उपदेश देना शुरू किया। यद्यपि षण्ड तथा अमर्क सारे बालकों को धर्म, अर्थ तथा काम सम्बधी भौतिकतावादी जीवन का उपदेश दे रहे थे लेकिन बच्चे अधिक दूषित नहीं हुए थे। अतएव वे कृष्णभावनामृत के विषय में प्रह्लाद महाराज से सुनने के लिए उत्सुक थे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के कार्यकलापों में गुरुकुल का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि गुरुकुल के बालकों को बचपन से ही कृष्णभावनामृत के विषय में शिक्षा दी जाती है। वे अपने अन्तस्तल में स्थिर हो जाते हैं और जब वे बड़े होते हैं, तो प्रकृति के गुण उन्हें जीत नहीं पाते।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''हिरण्यकशिपु का साधु पुत्र प्रह्लाद

महाराज'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज द्वारा अपने सहपाठियों को दिये गये उपदेशों का विवरण है। अपने सारे के सारे असुरों के पुत्र मित्रों से प्रह्लाद महाराज ने बल देकर कहा कि मानव समाज में प्रत्येक जीव को जीवन के प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक अनुभूति में रुचि लेनी चाहिए। बचपन में ही मनुष्यों को पढ़ाया जाना चाहिए कि भगवान् हर एक का आराध्यदेव है। मनुष्य को भौतिक भोग में अधिक रुचि नहीं दिखानी चाहिए, अपितु उसे आसानी से जितना भौतिक लाभ हो जाये उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। चूँकि मनुष्य की आयु अत्यल्प है, अतएव उसे अपना प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिए। यदि कोई गलती से यह सोचता है कि चलो, प्रारम्भ में भौतिक सुविधाओं को भोग लिया जाये और बुढ़ापे में कृष्ण भक्ति करेंगे तो यह गलत है। ऐसे भौतिकतावादी विचार व्यर्थ होते हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति वृद्धावस्था में आध्यात्मिक जीवन-शैली नहीं अपना सकता। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में (श्रवणं कीर्तनं विष्णोः) प्रवृत्त होना चाहिए। यह सभी जीवों का धर्म है। भौतिक शिक्षा प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होती है, लेकिन मानव समाज में जिस आध्यात्मिक शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, वह दिव्य होती है। प्रह्लाद महाराज ने उस रहस्य को भी प्रकट कर दिया जिस तरह उन्होंने नारद मुनि से शिक्षा प्राप्त की थी। परम्परा को प्राप्त प्रह्लाद महाराज के चरणकमलों को ग्रहण करके कोई भी आध्यात्मिक जीवन की पद्धति को समझ सकता है। इस जीवन को स्वीकार करने के लिए कोई भौतिक योग्यता नहीं चाहिए।

प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने उनकी बात सुन लेने के बाद उनसे पूछा कि वे किस तरह इतने विद्वान तथा उन्नत बने हैं। इस प्रकार इस अध्याय की समाप्ति होती है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान्भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; कौमारः—बाल्य काल में; आचरेत्—अभ्यास करे; प्राज्ञः—बुद्धिमान व्यक्ति; धर्मान्—वृत्तिपरक कर्तव्य; भागवतान्—जो भगवान् की भक्ति हैं; इह—इस जीवन में; दुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; मानुषम्—मनुष्य का; जन्म—जन्म; तत्—वह; अपि—भी; अध्रुवम्—नश्वर; अर्थ-दम्—अर्थ से पूर्ण।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में इस मानव शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान् होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता तथा वेदाध्ययन का सारा उद्देश्य मनुष्य जीवन में भक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त करना है। अतएव वैदिक प्रणाली के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चलाई जाती है, जिससे बाल्यकाल से ही—पाँच वर्ष की अवस्था से—मनुष्य अपने कर्मों को इस तरह मोड़े कि वह ढंग से पूर्णरूपेण भक्ति में प्रवृत्त हो सके। जैसी कि *भगवद्गीता* (२.४०) में पुष्टि की गई है—*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*—इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी मनुष्य को अत्यन्त घातक भय से बचा सकती है। वैदिक साहित्य के निर्णयों से संदर्भ न रखने के कारण आधुनिक सभ्यता मानव समाज के सदस्यों के प्रति इतनी क्रूर है कि बच्चों को ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा देने के बजाये माताओं को शिक्षा देती है कि जनसंख्या न बढ़ने देने के लिए वे गर्भ में ही अपने बच्चों को मार दें। और यदि भाग्यवश बालक बच जाता है, तो उसे इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है। इस तरह धीरे-धीरे सारे संसार में मानव समाज में जीवन की पूर्णता के प्रति रुचि का ह्रास हो रहा है। निस्सन्देह लोग कूकरों-सूकरों की भाँति जी रहे हैं और वे ८४,००,००० निम्न जीव-योनियों में देहान्तरण करने की तैयारी करके अपने मनुष्य-जीवन अवधि को व्यर्थ गंवा रहे हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को भक्ति करना सिखलाकर मानव समाज की सेवा करने के लिए उत्सुक है, जिससे मनुष्य पुनः पशु-जीवन में न जा गिरें। जैसाकि प्रह्लाद महाराज पहले कह चुके हैं *भागवत* धर्म में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्* निहित हैं। सारे स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में एवं घरों में भी सारे बच्चों तथा तरुणों को भगवान् के विषय में श्रवण करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्हें इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे *भगवद्गीता* के उपदेशों को सुनकर उन्हें अपने-अपने जीवन में उतारें और इस प्रकार भक्ति में सशक्त

बनें तथा पशु-जीवन में पतित होने के भय से मुक्त हों। इस कलियुग के लिए भागवत धर्म का अनुसरण अत्यन्त सरल बना दिया गया है। शास्त्र का कथन है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।

मनुष्य को केवल हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन करने की आवश्यकता है। जो भी इस महामंत्र का कीर्तन करता है उसका हृदय शुद्ध हो जाएगा और वह जन्म-मृत्यु के चक्र से बच जाएगा।

यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् ।
यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥ २॥

शब्दार्थ

यथा—जिससे कि; **हि**—निस्सन्देह; **पुरुषस्य**—जीव का; **इह**—यहाँ; **विष्णोः**—भगवान् विष्णु का; **पाद-उपसर्पणम्**—चरणकमलों के निकट आना; **यत्**—क्योंकि; **एषः**—यह; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **प्रियः**—प्रिय; **आत्म-ईश्वरः**—आत्मा का स्वामी, परमात्मा; **सुहृत्**—शुभचिन्तक तथा मित्र।

यह मनुष्य-जीवन भगवद्धाम जाने का अवसर प्रदान करता है अतएव प्रत्येक जीव को, विशेष रूप से उसे जिसे मनुष्य जीवन मिला है, भगवान् विष्णु के चरणकमलों की भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। यह भक्ति स्वाभाविक है क्योंकि भगवान् विष्णु सर्वाधिक प्रिय, आत्मा के स्वामी तथा अन्य सब जीवों के शुभचिन्तक हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"साधु लोग मुझे समस्त यज्ञ तथा तपस्या का परम प्रयोजन, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी तथा हितैषी जानकर भौतिक यातनाओं से शान्ति प्राप्त करते हैं।" इन तीन तथ्यों को—कि भगवान् विष्णु ही सारी सृष्टि के मालिक हैं, वे समस्त जीवों के सर्वश्रेष्ठ हितैषी तथा हर वस्तु के परम भोक्ता हैं—समझ लेने पर मनुष्य शान्त तथा सुखी बनता है। इसी दिव्य सुख के लिए जीव ब्रह्माण्ड भर में नाना योनियों तथा विभिन्न लोकों में चक्कर लगाता रहता है, किन्तु विष्णु के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को भूल जाने के कारण उसे जन्म-जन्मन्तार कष्ट भोगना पड़ता है। अतएव मनुष्य-जीवन में शिक्षाप्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य ईश्वर या विष्णु के साथ अपने

घनिष्ठ सम्बन्ध को समझ सके। प्रत्येक जीव का ईश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह *शान्तरस* में भगवान् का यशोगान करे या *दास्य रस* में दास की भाँति विष्णु से नित्य सम्बन्ध स्थापित करके या *सख्य रस* में मित्र की तरह या *वात्सल्य रस* में माता-पिता के रूप में या *माधुर्य रस* में दाम्पत्य प्रेमी के रूप में रहे। ये सारे सम्बन्ध प्रेम के स्तर पर होते हैं। विष्णु हर एक के प्रेम के केन्द्र हैं, अतएव हर एक का कर्तव्य है कि वह भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे। जैसाकि भगवान् ने (*भागवत* ३.२५.३८) कहा है—*येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्*। किसी भी रूप में सही, हम विष्णु से सम्बन्धित हैं, जो परम प्रिय परमात्मा, पुत्र, मित्र तथा गुरु हैं। ईश्वर के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध मनुष्य-जीवन में पुनः जागृत हो सकता है और शिक्षा का लक्ष्य भी यही होना चाहिए। निस्सन्देह, यही जीवन तथा शिक्षा की पूर्णता है।

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुख; ऐन्द्रियकम्—भौतिक इन्द्रियों के प्रसंग में; दैत्याः—दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रो; देह-योगेन—विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण; देहिनाम्—समस्त देहधारी जीवों का; सर्वत्र—सभी जगह (किसी योनि में); लभ्यते—उपलब्ध हैं; दैवात्—भाग्य से; यथा—जिस प्रकार; दुःखम्—दुख; अयत्नतः—बिना प्रयास के।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : हे दैत्य कुल में उत्पन्न मेरे मित्रों, शरीर के सम्पर्क से इन्द्रियविषयों से जो सुख अनुभव किया जाता है, वह तो किसी भी योनि में अपने विगत सकाम कर्मों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सुख बिना प्रयास के उसी तरह स्वतः प्राप्त होता है, जिस प्रकार हमें दुख प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सभी प्रकार के जीवन में कोई न कोई तथाकथित सुख तथा दुख लगा रहता है। कोई नहीं चाहता कि दुख आए किन्तु वह आता है। इसी प्रकार भौतिक सुख के लाभों को पाने के लिए प्रयास न करने पर भी हमें सुख स्वतः प्राप्त होता है। ये दुख-सुख किसी भी जीवन में बिना प्रयास के मिलते हैं। अतएव दुख के विरुद्ध लड़ने या सुख के लिए कठिन श्रम करने में समय तथा शक्ति का अपव्यय व्यर्थ है। मनुष्य-जीवन में हमारा एकमात्र कर्तव्य भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जा गृत करना और इस प्रकार भगवद्धाम वापस जाने के लिए योग्य होना चाहिए। हमारे द्वारा भौतिक शरीर स्वीकार करते ही सुख तथा दुख आते रहते हैं। चाहे वह शरीर किसी रूप में हो हम

किसी भी दशा में ऐसे सुख-दुख से बच नहीं सकते। अतएव मनुष्य जीवन का सबसे अच्छा उपयोग भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करना है।

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—उस (काम तथा अर्थ) के लिए; प्रयासः—प्रयत्न; न—नहीं; कर्तव्यः—करणीय; यतः—जिससे; आयुः-व्ययः—आयु की हानि; परम्—एकमात्र या अन्ततः; न—न तो; तथा—उस तरह से; विन्दते—भोगता है; क्षेमम्—जीवन का अन्तिम लक्ष्य; मुकुन्द—भव-बन्धन से उद्धार करने वाले भगवान् के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों को।

केवल इन्द्रिय-तृप्ति या भौतिक सुख के लिए आर्थिक विकास द्वारा प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की हानि होती है और वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता। यदि कोई कृष्णभावनामृत को लक्ष्य बनाकर प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से आत्म-साक्षात्कार के आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकता है। आर्थिक विकास में अपने आपको संलग्न रखने से कोई ऐसा लाभ प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य : हम देखते हैं कि भौतिकतावादी व्यक्ति अपना भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए आर्थिक विकास में दिन-रात लगे रहते हैं और यदि यह मान भी लें कि वे इन प्रयत्नों से कुछ लाभ प्राप्त कर लेते हैं, तो भी इससे उनके जीवन की वास्तविक समस्या हल नहीं हो पातीं। न ही वे यह जानते हैं कि जीवन की असली समस्या क्या है। यह आध्यात्मिक शिक्षा की कमी के कारण है। इस युग में विशेष रूप से प्रत्येक व्यक्ति अंधकार में है, देहात्म-बुद्धि से युक्त है और वह आत्मा तथा उसकी आवश्यकताओं के बारे में कुछ नहीं जानता। समाज के अंधे नेताओं द्वारा गुमराह होकर लोग शरीर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और वे शरीर को भौतिक रूप से आरामदेह बनाये रखने का प्रयास करते रहते हैं। ऐसी सभ्यता को धिक्कार है, क्योंकि यह मानवता को जीवन के वास्तविक लक्ष्य को जानने की ओर नहीं ले जाती। लोग व्यर्थ ही अपना समय तथा मानव जीवनरूपी अमूल्य उपहार नष्ट करते हैं, क्योंकि जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन नहीं करता बल्कि कुत्ते-बिल्लियों की तरह मरता है, वह अगले जन्म में पतित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्य-जीवन से निरन्तर जन्म-मृत्यु के चक्र में चला जाता है। इस प्रकार वह मनुष्य-जीवन के उस वास्तविक लाभ को खो देता है, जो कृष्णभावनाभावित होने तथा जीवन की समस्याओं को हल करने के रूप में है।

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भवमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ततः—अतएव; यतेत—प्रयत्न करना चाहिए; कुशलः—बुद्धिमान मनुष्य जो जीवन के अन्तिम लक्ष्य में रुचि रखता हो; क्षेमाय—जीवन के असली लाभ के लिए या भव-बन्धन से मुक्ति के लिए; भवम् आश्रितः—जो भौतिक संसार में है; शरीरम्—शरीर; पौरुषम्—पुरुष का; यावत्—जब तक; न—नहीं; विपद्येत—असफल होता है; पुष्कलम्—हृष्ट-पुष्ट।

अतएव इस संसार में रहते हुए (भवम् आश्रितः) भले तथा बुरे में भेद करने में सक्षम व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे और विनष्ट होने से चिन्ताग्रस्त न हो तब तक वह जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करे।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञः। प्राज्ञः* शब्द उस व्यक्ति को बताता है, जो अनुभवी है तथा भले-बुरे की पहचान कर सकता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए कुत्ते-बिल्ली की तरह कार्य करते हुए इस अमूल्य मानव जीवन तथा अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक के *भवम् आश्रितः* के स्थान पर *भयम् आश्रितः* पाठ भी उपलब्ध है, किन्तु हम चाहे जिस पाठ का अर्थ ग्रहण करें, निष्कर्ष वही निकलता है। *भयम् आश्रितः* सूचित करता है कि भौतिकतावादी जीवन-शैली सदैव भय से पूर्ण है क्योंकि पद-पद पर संकट बना रहता है। भौतिकतावादी जीवन चिन्ता तथा भय (*भयम्*) से पूर्ण है। इसी प्रकार *भवम् आश्रितम्* पाठ स्वीकार करने पर *भवम्* अनावश्यक झंझट तथा समस्याओं का सूचक है। कृष्णभावनामृत के अभाव में मनुष्य *भवम्* में आ पड़ता है जहाँ वह निरन्तर जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से चिन्तित रहता है। इस तरह मनुष्य निश्चित रूप से चिन्ताग्रस्त बना रहता है। मानव समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इस प्रकार की सामाजिक प्रणाली में विभक्त तो होना चाहिए, किन्तु हर एक व्यक्ति भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। यदि कोई भक्ति के बिना रहना चाहता है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने का कोई अर्थ नहीं निकलता। कहा जाता है *स्थानाद् भ्रष्टाःपतन्त्यधः*—कोई चाहे उच्चवर्ग का हो या निम्न वर्ग का, कृष्णभावनामृत के अभाव में उसका पतन निश्चित है। विज्ञ पुरुष अपने पद से च्युत होने के प्रति सदैव भयभीत रहता है। यह विधान है। मनुष्य को अपने उच्च पद से नीचे नहीं गिरना चाहिए। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य तभी तक प्राप्त किया जा सकता है जब तक शरीर हृष्ट-पुष्ट रहता है। अतएव

हमें इस तरह रहना चाहिए कि हम मन तथा बुद्धि से स्वस्थ एवं पुष्ट रहें जिससे हम जीवन-लक्ष्य एवं समस्याओं से भरे हुए जीवन के बीच अन्तर कर सकें। विचारवान् व्यक्ति को उचित-अनुचित में अन्तर करना सीख कर इस तरह से कर्म करना और जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।

पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः ।
निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—प्रत्येक मनुष्य के लिए; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; हि—निस्सन्देह; आयुः—आयु, उम्र; तत्—उसका; अर्धम्—आधा; च—तथा; अजित-आत्मनः—ऐसे व्यक्ति का जो अपनी इन्द्रियों का दास है; निष्फलम्—बिना लाभ के, निरर्थक; यत्—क्योंकि; असौ—वह व्यक्ति; रात्र्याम्—रात में; शेते—सोता है; अन्धम्—अज्ञान (अपने शरीर तथा आत्मा को भूल कर); प्रापितः—पूर्णतया प्राप्त करके; तमः—अंधकार।

प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम आयु एक सौ वर्ष है, किन्तु जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता, उसकी आयु के आधे वर्ष तो रात्रि में बारह घण्टे अज्ञानवश सोने में ही बीत जाते हैं। अतएव ऐसे व्यक्ति की आयु केवल पचास वर्ष होती है।

तात्पर्य : चाहे ब्रह्माजी हों या एक मनुष्य अथवा एक चींटी—सभी एक सौ वर्ष तक जीवित रहते हैं, लेकिन उनकी एक सौ वर्ष की उम्र एक दूसरे से भिन्न होती है। यह संसार सापेक्ष है, अतएव इसके काल के सापेक्ष क्षण भिन्न हैं। इस तरह ब्रह्माजी के सौ वर्ष मनुष्य के सौ वर्ष के समान नहीं होते। *भगवद्गीता* से हमें पता चलता है कि ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् बारह घण्टे ४३००००० × १००० वर्षों के तुल्य है (*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*)। अतएव काल, व्यक्ति तथा परिस्थितियों के अनुसार *वर्ष शतम्* या सौ वर्ष सापेक्षतया भिन्न-भिन्न होते हैं। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है यहाँ पर दी गई गणना सामान्य लोगों के लिए सही है। यद्यपि मनुष्य की अधिक से अधिक आयु सौ वर्ष की होती है, किन्तु सोने के कारण वह अपने पचास वर्ष गँवा देता है। खाना, सोना, मैथुन तथा भय—ये चार शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना में आगे बढ़ना चाहता है उसे चाहिए कि इन कार्यकलापों में कमी करके अपने जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठाये। इससे उसे अपनी आयु का पूर्ण सदुपयोग करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

मुग्धस्य बाल्ये कैशोरे क्रीडतो याति विंशतिः ।

जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मुग्धस्य—मोहग्रस्त या पूर्ण ज्ञान में न होने वाले व्यक्ति का; बाल्ये—बचपन में; कैशोरे—किशोरावस्था में; क्रीडतः—खेलते हुए; याति—बीतता है; विंशतिः—बीस वर्ष; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्त-देहस्य—ग्रस्त मनुष्य का; याति—बीत जाता है; अकल्पस्य—बिना संकल्प के क्योंकि भौतिक कार्यों के करने में असमर्थ रहता है; विंशतिः—और बीस वर्ष।

मनुष्य अपने बाल्यकाल की कोमल अवस्था में, जब सभी मोहग्रस्त होते हैं, दस वर्ष बिता देता है। इसी प्रकार किशोर अवस्था में, खेल-कूद में लगकर वह अगले दस वर्ष बिता देता है। इस प्रकार बीस वर्ष व्यर्थ चले जाते हैं। इसी तरह से वृद्धावस्था में जब मनुष्य अक्षम हो जाता है और वह भौतिक कार्यकलाप भी सम्पन्न नहीं कर पाता, उसमें उसके बीस वर्ष और निकल जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के बिना मनुष्य बीस वर्ष बाल्यावस्था तथा किशोरवस्था में तथा अन्य बीस वर्ष ऐसी वृद्धावस्था में बिताता है जब वह कोई भी भौतिक कार्य ठीक से नहीं कर पाता और इस चिन्ता से पूर्ण रहता है कि वह अपने लड़कों तथा नातियों के लिए क्या करे और अपनी सम्पत्ति की किस तरह रक्षा करे। इनमें से आधे वर्ष सोने में निकल जाते हैं। यही नहीं, शेष जीवन में से वह रात्रि में सोने में अन्य तीस वर्ष गुजार देता है। इस प्रकार जो मनुष्य जीवन के उद्देश्य को नहीं जानता तथा इस मानव स्वरूप का सदुपयोग करना नहीं जानता है, वह १०० वर्षों में से ७० वर्ष ऐसे ही गँवा देता है।

दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा ।
शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥ ८॥

शब्दार्थ

दुरापूरेण—जो कभी पूरा नहीं होता; कामेन—भौतिक जगत को भोगने की प्रबल इच्छा से; मोहेन—मोह से; च—भी; बलीयसा—जो बलिष्ठ तथा दुर्जेय है; शेषम्—जीवन के बचे हुए वर्ष; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; सक्तस्य—अत्यधिक आसक्त का; प्रमत्तस्य—पागल का; अपयाति—व्यर्थ बिता देता है; हि—निस्सन्देह।

जिसके मन तथा इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह अतृप्त कामेच्छाओं तथा प्रबल मोह के कारण पारिवारिक जीवन में अधिकाधिक आसक्त होता जाता है। ऐसे पागल मनुष्य के जीवन के शेष वर्ष भी व्यर्थ जाते हैं, क्योंकि वह इन वर्षों में भी अपने को भक्ति में नहीं लगा सकता।

तात्पर्य : यह जीवन के सौ वर्षों का लेखा-जोखा है। यद्यपि इस युग में सामान्यतः सौ वर्ष की आयु सम्भव नहीं है, फिर भी यदि किसी को इतनी आयु मिल भी जाये तो गणना के अनुसार पचास

वर्ष सोने में व्यर्थ जाते हैं, बीस वर्ष बचपन तथा किशोरावस्था में और बीस वर्ष अशक्तता (*जरा–व्याधि*) में निकल जाते हैं। इस तरह केवल कुछ ही वर्ष बच रहते हैं लेकिन ये वर्ष भी गृहस्थ जीवन में अत्यधिक आसक्त रहने से ईश्वरभावनामृत के बिना ही व्यर्थ बीत जाते हैं। अतएव मनुष्य को जीवन के प्रारम्भिक काल में पूर्ण ब्रह्मचारी बनने, फिर यदि वह गृहस्थ बनता है, तो विधि–विधानों का पालन करते हुए इन्द्रिय–निग्रह में सिद्ध बनने का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करके जंगल जाना चाहिए और तब संन्यास ले लेना चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। जो लोग जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते (*अजितेन्द्रिय*) उन्हें केवल इन्द्रिय–तृप्ति के लिए ही शिक्षित किया जाता है जैसाकि हम पाश्चात्य देशों में देख चुके हैं। इस प्रकार एक सौ वर्ष की पूरी आयु व्यर्थ और दुरुपयोग में जाती है। मृत्यु के समय जब मनुष्य दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, तो यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य का ही शरीर मिले। एक सौ वर्ष के अन्त में जो व्यक्ति तपस्यामय जीवन में मनुष्य की तरह कर्म नहीं करता रहता वह कूकर–सूकर या बिल्लियों के शरीर को पुन: धारण करता है। अतएव कामेच्छाओं तथा इन्द्रिय–तृप्ति का यह जीवन अत्यन्त विपदाग्रस्त है।

को गृहेषु पुमान्सक्तमात्मानमजितेन्द्रिय: ।
स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क:—कौन सा; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; पुमान्—मनुष्य; सक्तम्—अत्यधिक आसक्त; आत्मानम्—स्वयं, आत्मा; अजित-इन्द्रिय:—जिसने कभी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; स्नेह-पाशै:—स्नेह की रस्सियों से; दृढै:—अत्यन्त शक्तिशाली; बद्धम्—हाथ तथा पैर बाँधा हुआ; उत्सहेत—समर्थ है; विमोचितुम्—भव-बन्धन से छुड़ाने के लिए।

ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ होने के कारण गृहस्थ जीवन से अत्यधिक आसक्त होकर अपने आपको मुक्त कर सके? आसक्त गृहस्थ अपनों (पत्नी, बच्चे तथा अन्य सम्बन्धी) के स्नेह–बन्धन से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक बँधा रहता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज का पहला प्रस्ताव था—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*—पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कार्यों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। *धर्मान् भागवतान्* का अर्थ है भगवान् के साथ सम्बन्ध पुन: जागृत करने का धार्मिक सिद्धान्त। इस कार्य के लिए साक्षात् कृष्ण

उपदेश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। इस भौतिक संसार में रहते हुए हम अनेक वादों के नाम पर अनेकानेक कर्तव्यों को गढ़ते रहते हैं, किन्तु हमारा वास्तविक कर्तव्य तो अपने आपको जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्त करना है। इसके लिए सर्वप्रथम भव-बन्धन से और विशेष रूप से गृहस्थ जीवन से मुक्त होना चाहिए। गृहस्थ जीवन वास्तव में भौतिकता से आसक्त व्यक्ति के लिए विधि-विधानों के अन्तर्गत इन्द्रिय-तृप्ति का एक प्रकार का लाइसेंस है। अन्यथा गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य को गुरु के संरक्षण में उसके स्थान या गुरुकुल में ब्रह्मचारी के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (भागवत ७.१२.१)। ब्रह्मचारी को प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है कि गुरु के लाभ के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दे। ब्रह्मचारी को उपदेश दिया जाता है कि वह सभी स्त्रियों को माता कहकर घर-घर जाकर भिक्षा माँगे और जो कुछ एकत्र करे उसे वह गुरु को लाकर दे दे। इस प्रकार वह अपनी इन्द्रियों को वश में करना तथा प्रत्येक वस्तु को गुरु को समर्पित करना सीखता है। पूर्णतया प्रशिक्षित होने पर यदि वह चाहता है, तो उसे विवाह करने दिया जाता है। इस प्रकार वह सामान्य गृहस्थ नहीं होता जिसने केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना सीख लिया है। प्रशिक्षित गृहस्थ धीरे-धीरे गृहस्थ जीवन त्याग कर जंगल जा सकता है, जिससे वह आध्यात्मिक जीवन में अधिकाधिक प्रबुद्ध हो सके और अन्ततः संन्यास ले ले। प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को बताया कि समस्त भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए मनुष्य को जंगल में जाना चाहिए। *हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपम्।* मनुष्य को अपना घर-बार छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यह भौतिक संसार के घोर अंधकारमय भागों में नीचे जाने के लिए स्थान है। अतएव पहला उपदेश यह है कि मनुष्य अपना गृहस्थ जीवन त्याग दे (*गृहम् अन्धकूपम्*)। किन्तु यदि वह अनियंत्रित इन्द्रियों के कारण गृहस्थ जीवन के अन्धे कुएँ में बना रहना अच्छा समझता है, तो वह अपनी पत्नी, बच्चे, नौकर, घर, धन इत्यादि की प्रेम-रस्सियों से अधिकाधिक जकड़ता जाता है। ऐसे मनुष्य को भौतिक बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतएव बच्चों को बचपन से ही उच्चकोटि का ब्रह्मचारी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। तभी भविष्य में वे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर पाएँगे।

भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य को भौतिक आसक्ति से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए। अतएव भक्तियोग का अर्थ है *वैराग्य विद्या*—ऐसी कला जो भौतिक भोग के प्रति अरुचि उत्पन्न करने में सहायक होती है।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

''भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने से मनुष्य को अहैतुक ज्ञान तथा जगत से वैराग्य प्राप्त हो जाता है।'' (भागवत १.२.७) यदि कोई जीवन के प्रारम्भ से ही भक्ति में लग जाता है, तो वह सरलता से *वैराग्य विद्या* या *अनासक्ति* प्राप्त करता है और *जितेन्द्रिय* अर्थात् इन्द्रियों का नियंत्रक बन जाता है। जो अपने को पूर्णरूपेण भक्ति में लगाता है, वह *गोस्वामी* या स्वामी अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना किसी को संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। इन्द्रिय-भोग की प्रबल प्रवृत्ति ही भौतिक शरीर का कारण है। बिना पूर्ण ज्ञान के भौतिक भोग से विरक्त नहीं हुआ जा सकता, किन्तु जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भगवद्धाम वापस जाने का पात्र नहीं होता।

को न्वर्थतृष्णां विसृजेत्प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अर्थ-तृष्णाम्—धन अर्जित करने की प्रबल इच्छा को; विसृजेत्—त्याग सकता है; प्राणेभ्यः—जीवन की अपेक्षा; अपि—निस्सन्देह; यः—जो; ईप्सितः—अधिक वांछित; यम्—जिसको; क्रीणाति—प्राप्त करने का प्रयास करता है; असुभिः—अपने ही प्राण से; प्रेष्ठैः—अत्यन्त प्रिय; तस्करः—चोर; सेवकः—नौकर; वणिक्—व्यापारी।

धन इतना प्रिय होता है कि लोग इसे मधु से भी मीठा मानने लगते हैं, अतएव ऐसा कौन होगा जो धन संग्रह करने की तृष्णा का परित्याग कर सकता है और वह भी गृहस्थ जीवन में? चोर, व्यावसायिक नौकर (सैनिक) तथा व्यापारी अपने प्रिय प्राणों की बाजी लगाकर भी धन प्राप्त करना चाहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में इंगित किया गया है कि धन किस तरह प्राणों से भी प्रिय हो सकता है। चोर अपने प्राणों को संकट में डाल कर धनवान के घर में धन चुराने के लिए प्रवेश करते हैं। भले ही वे अतिक्रमण के कारण बन्दूकों से मार डाले जाँय या संतरी कुत्ते उन पर आक्रमण कर दें, किन्तु फिर भी वे सेंध लगाने का प्रयत्न करते हैं। तो वे अपना जीवन संकट में क्यों डालते हैं? मात्र कुछ धन पाने

के लिए। इसी प्रकार व्यावसायिक सैनिक सेना में भर्ती होता है और वह युद्धक्षेत्र में मरने की परवाह न करके मात्र धन के लिये इस नौकरी को स्वीकार करता है। इसी प्रकार व्यापारीगण भी नावों में सवार होकर अपने प्राणों को संकट में डाल कर एक देश से दूसरे देश में जाते हैं या मोती तथा अन्य अमूल्य रत्न चुनने के लिए समुद्र के जल में गोते लगाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है और इसे सभी स्वीकार करेंगे कि धन मृत्यु से भी मधुर होता है। धन प्राप्त करने के लिए कुछ भी किया जा सकता है और यह उन धनी मनुष्यों पर विशेष रूप से चरितार्थ होता है, जो गृहस्थ जीवन में अत्यधिक लिप्त हैं। पूर्वकाल में उच्च जाति के सदस्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य (शूद्रों के अतिरिक्त अन्य सारे लोग) गुरुकुल में ब्रह्मचर्य तथा योगाभ्यास द्वारा वैराग्य तथा इन्द्रिय-संयम का जीवन बिताते थे। तब उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट होने दिया जाता था। फलस्वरूप ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ बड़े-बड़े राजाओं तथा सम्राटों ने गृहस्थ जीवन का परित्याग किया है। यद्यपि वे अत्यन्त ऐश्वर्यवान् थे तथा साम्राज्यों के स्वामी थे तो भी वे अपना सारा वैभव इसीलिए छोड़ सके, क्योंकि उन्हें शुरू से ही ब्रह्मचर्य व्रत का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। अतएव प्रह्लाद महाराज का यह उपदेश अत्यन्त अनुकूल है—

कौमार आचरेत प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।

दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

"पर्याप्त बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन के प्रारम्भ से ही अर्थात् बाल्यकाल से ही अन्य सारे कर्मों को छोड़कर भक्ति कार्यों के अभ्यास में अपने शरीर का उपयोग करे। यह मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है और अन्य शरीरों की भाँति नाशवान होते हुए भी अर्थपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य जीवन में ही भक्ति सम्पन्न की जा सकती है। यदि निष्ठापूर्वक किंचित भी भक्ति की जाये तो पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है।" मानव समाज को इस उपदेश से लाभ उठाना चाहिए।

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः
सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु तत्स्नेहसितः शिशूनां
कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥
पुत्रान्स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या
भ्रातॄन्स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।

गृहान्मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च
वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२ ॥
त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः
कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्वं बहुमन्यमानः
कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; प्रियायाः—परमप्रिय पत्नी की; अनुकम्पितायाः—सदैव स्नेहिल एवं दयालु; सङ्गम्—साथ; रहस्यम्—एकान्त; रुचिरान्—अत्यन्त सुखद तथा भाने वाला; च—तथा; मन्त्रान्—उपदेश; सुहृत्सु—पत्नी तथा बच्चों को; तत्-स्नेह-सितः—उनके स्नेह से बँधा हुआ; शिशूनाम्—छोटे-छोटे बच्चों का; कल-अक्षराणाम्—तोतली बोली बोलते हुए; अनुरक्त-चित्तः—व्यक्ति जिसका मन मोहित है; पुत्रान्—बच्चों को; स्मरन्—सोचने में; ताः—उनको; दुहितृः—पुत्रियाँ (विवाहित तथा अपनी ससुराल में रहती हुई); हृदय्याः—हृदय में वास करने वाली; भ्रातृन्—भाइयों को; स्वसृः वा—अथवा बहिनों को; पितरौ—माता-पिता; च—तथा; दीनौ—वृद्धावस्था के कारण अत्यधिक अशक्त; गृहान्—घरेलू मामले; मनोज्ञ—अत्यन्त आकर्षक; उरु—अत्यधिक; परिच्छदान्—साज-सामान; च—तथा; वृत्तीः—आय के महान् साधन (उद्योग व्यापार); च—तथा; कुल्याः—परिवार से सम्बद्ध; पशु—पशुओं(गायों, हाथियों तथा और घरेलू पशुओं); भृत्य—नौकर-नौकरानियों के; वर्गान्—समूहों को; त्यजेत—छोड़ सकता है; कोशः-कृत्—रेशम का कीड़ा; इव—सदृश; ईहमानः—सम्पन्न करते हुए; कर्माणि—विभिन्न कार्यकलाप; लोभात्—अतृप्त इच्छाओं के कारण; अवितृप्त-कामः—जिनकी बढ़ती हुई इच्छाएँ पूरी नहीं होती; औपस्थ्य—कर्मेन्द्रियाँ; जैह्वम्—तथा जीभ से प्राप्त आनन्द; बहु-मन्यमानः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए; कथम्—कैसे; विरज्येत—त्यागने में समर्थ है; दुरन्त-मोहः—अत्यधिक मोह में होने से।

भला ऐसा मनुष्य, जो अपने परिवार के प्रति अत्यधिक स्नेहिल हो और जिसके हृदय में सदैव उनकी आकृतियां रहती हों, वह किस तरह उनका संग छोड़ सकता है? विशेषकर पत्नी सदैव अत्यन्त दयालु तथा सहानुभूति पूर्ण होती है और अपने पति को सदैव एकान्त में प्रसन्न करती है। भला ऐसा कौन होगा जो ऐसी प्रिय तथा स्नेहिल पत्नी की संगति का त्याग करता हो? छोटे-छोटे बालक तोतली बोली बोलते हैं, जो सुनने में अत्यन्त मधुर लगती है और उनके पिता सदैव उनके मधुर शब्दों के विषय में सोचते रहते हैं। वह भला उनका संग किस तरह छोड़ सकता है? किसी भी मनुष्य को अपने वृद्ध माता-पिता, अपने पुत्र तथा पुत्रियाँ भी अत्यन्त प्रिय होते हैं। पुत्री अपने पिता की अत्यन्त लाड़ली होती है और अपनी ससुराल में रहती हुई भी वह उसके मन में बसी रहती है। भला कौन है, जो इस संग को छोड़ेगा? इसके अतिरिक्त भी घर में अनेक अलंकृत साज-सामान होते हैं और अनेक पशु तथा नौकर भी रहते हैं। भला ऐसे आराम को कौन छोड़ना चाहता है? आसक्त गृहस्थ उस रेशम-कीट की तरह है, जो अपने चारों ओर धागा बुनकर अपने को बन्दी बना लेता है और फिर उससे निकल पाने में असमर्थ रहता है। केवल दो इन्द्रियों—शिश्न तथा जिह्वा—की तुष्टि के लिए मनुष्य भौतिक दशाओं से बँध जाता

है। कोई इनसे कैसे बच सकता है?

तात्पर्य : गृहस्थी में पहला आकर्षण सुन्दरी तथा मधुरभाषिणी पत्नी है, जो गृहस्थी के आकर्षण को बढ़ाने वाली होती है। मनुष्य को अपनी पत्नी का आनन्द दो प्रमुख इन्द्रियों से मिलता है—जीभ से तथा शिश्न से। स्त्री अत्यन्त मीठे स्वर से बोलती है। यह निश्चय ही आकर्षण है। फिर वह सुखद भोजन तैयार करती है, जिससे जीभ तृप्त होती है और जीभ तृप्त हो जाने पर जिनमें शिश्न विशेष है को बल प्राप्त होता है। इस प्रकार पत्नी मैथुन में आनन्द प्रदान करती है। गृहस्थ जीवन का अर्थ है विषयी जीवन (*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*)। यह सब जीभ द्वारा प्रोत्साहित है। फिर सन्तानें उत्पन्न होती हैं। बच्चा अपनी तोतली बोली से आनन्द प्रदान करता है और जब लड़के-लड़कियाँ बड़े हो जाते हैं, तो मनुष्य उनकी शिक्षा तथा विवाह में व्यस्त हो जाता है। फिर अपने माता-पिता भी होते हैं जिनकी देख-रेख करनी होती है और मनुष्य सामाजिक वातावरण में तथा अपने भाई-बहनों को प्रसन्न करने में भी लग जाता है। वह घरेलू काम-काज में इस तरह व्यस्त होता जाता है कि उन्हें छोड़ पाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार गृहस्थी *गृहम् अन्धकूपम्*—अर्थात् वह अंधा कुआँ बन जाती है, जिसमें मनुष्य गिर जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए उसमें से निकल पाना तब तक मुश्किल रहता है जब तक कोई बलवान् मनुष्य अर्थात् गुरु उसकी सहायता न करे, क्योंकि गुरु आध्यात्मिक उपदेशों की रस्सी से पतित मनुष्य की सहायता करता है। पतित मनुष्य को चाहिए कि इस रस्सी का सहारा ले और तब गुरु या भगवान् कृष्ण उसे अंधकूप से बाहर निकाल लेंगे।

कुटुम्बपोषाय वियन्निजायुर्
न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा
निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥ १४॥

शब्दार्थ

कुटुम्ब—पारिवारिक सदस्यों के; पोषाय—पालन-पोषण के लिए; वियत्—इनकार करते हुए; निज-आयुः—अपनी उम्र; न—नहीं; बुध्यते—समझता है; अर्थम्—जीवन का हित या प्रयोजन; विहतम्—विनष्ट; प्रमत्तः—भौतिक परिस्थिति में पागल होकर; सर्वत्र—सभी जगह; ताप-त्रय—तीनों दुखमय स्थितियों से (अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक); दुःखित—सताया जाकर; आत्मा—आत्मा; निर्विद्यते—पछताता है; न—नहीं; स्व-कुटुम्ब-रामः—परिवार का भरण-पोषण करके ही भोग भोगता है।

अत्यधिक आसक्त मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि वह अपना बहुमूल्य जीवन अपने

परिवार के ही पालन-पोषण में व्यर्थ बिता रहा है। वह यह भी नहीं समझ पाता कि इस मनुष्य-जीवन का जो परम सत्य के साक्षात्कार के लिए उपयुक्त है, उद्देश्य अदृश्य रूप से विनष्ट हो रहा है। फिर भी वह इतनी चतुरता एवं सावधानी से देखता रहता है कि दुर्व्यवस्था के कारण एक भी पाई न खोई जाए। इस प्रकार यद्यपि संसार में आसक्त व्यक्ति सदैव तीनों प्रकार के कष्ट सहता रहता है, किन्तु वह इस संसार के प्रति अरुचि उत्पन्न नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मूर्ख व्यक्ति न तो यही समझ पाता है कि मनुष्य जीवन का महत्त्व क्या है, न ही यह समझ पाता है कि वह किस तरह अपने परिवार वालों के भरण-पोषण में ही अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ बिता रहा है। वह अपनी हानि के एक छदाम की भी गणना करने में पटु होता है, लेकिन वह इतना मूर्ख होता है कि यह नहीं जानता कि वह भौतिक गणना के अनुसार कितना धन खो रहा है। चाणक्य पण्डित उदाहरण देते हैं कि जीवन का एकक्षण लाखों रुपयों से भी नहीं खरीदा जा सकता। किन्तु मूर्ख व्यक्ति ऐसे मूल्यवान जीवन को बिना यह जाने ही बिताता है कि आर्थिक गणना के अनुसार कितना जीवन व्यर्थ चला गया। यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति लागत की गणना करने और व्यापार करने में पटु होता है, किन्तु उसे इसकी अनुभूति नहीं हो पाती कि ज्ञान के अभाव में वह अपने मूल्यवान जीवन का दुरूपयोग होने दे रहा है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि तीनों प्रकार के कष्टों को सहता रहता है, किन्तु वह भौतिकतावादी जीवन-शैली को रोक पाने के लिए बुद्धिमान नहीं होता।

वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता
विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।
प्रेत्येह वाथाप्यजितेन्द्रियस्त-
दशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥ १५॥

शब्दार्थ

वित्तेषु—भौतिक सम्पत्ति में; नित्य-अभिनिविष्ट-चेताः—जिसका मन सदैव रमा रहता है; विद्वान्—जानते हुए; च—भी; दोषम्—बुराई; पर-वित्त-हर्तुः—ठगकर या काला बाजारी से अन्यों का धन चुराने वाले का; प्रेत्य—मरने के बाद; इह—इस संसार में; वा—अथवा; अथापि—फिर भी; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण; तत्—वह; अशान्त-कामः—जिसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती, अतृप्त; हरते—चुराता है; कुटुम्बी—अपने परिवार को अत्यधिक चाहने वाला।

यदि कोई मनुष्य पारिवारिक भरण-पोषण के कर्तव्यों के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाता और उसका मन सदैव इसी में डूबा रहता है कि धन का संग्रह कैसे करे। यद्यपि वह जानता रहता है कि जो अन्यों का धन लेता है उसे सरकारी

नियमों और मृत्यु के बाद यमराज के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ेगा। तो भी वह धन अर्जित करने के लिए दूसरों को धोखा देता रहता है।

तात्पर्य : आजकल विशेष रूप से लोग न तो अगले जीवन में विश्वास करते हैं, न यमराज के न्यायालय में तथा न ही पापी को मिलने वाले विविध दण्डों में। किन्तु उन्हें कम से कम इतना तो जान लेना चाहिए कि जो धन प्राप्त करने के लिए अन्यों को ठगता है, वह सरकार के नियमों द्वारा दण्डित होगा। फिर भी, लोग न तो इस जीवन के, न ही अगले जीवन के नियमों की परवाह करते हैं। कोई चाहे कितना ज्ञानी क्यों न हो वह अपने पापकर्मों को नहीं रोक पाता, यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असमर्थ है।

विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं
पुष्णान्स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभाव-
स्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विद्वान्—जानते हुए (विशेष रूप से गृहस्थ जीवन में असुविधाओं को); अपि—यद्यपि; इत्थम्—इस प्रकार; दनु-जाः—हे असुर पुत्रो; कुटुम्बम्—परिवार के सदस्य या दूर के लोग (यथा जाति, समाज, राष्ट्र या राष्ट्रकुलों के लोग); पुष्णन्—जीवन की सारी सुविधाएँ प्रदान करते हुए; स्व-लोकाय—अपने को समझने में; न कल्पते—समर्थ नहीं होता; वै—निस्सन्देह; यः—जो; स्वीय—अपना; पारक्य—अन्यों का; विभिन्न—पृथक्; भावः—जीवन की धारणा वाला; तमः—केवल अंधकार; प्रपद्येत—प्रवेश करता है; यथा—जिस प्रकार; विमूढः—शिक्षारहित व्यक्ति या पशु जैसा।

हे मित्रों, हे असुरपुत्रो, इस भौतिक जगत में शिक्षा में अग्रणी लगने वाले व्यक्ति भी यह विचार करने की प्रवृत्ति रखते हैं "यह मेरा है और यह पराया है।" इस प्रकार वे सीमित पारिवारिक जीवन की धारणा में अपने परिवारों को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने में लगे रहते हैं मानो अशिक्षित कुत्ते-बिल्ली हों। वे आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते प्रत्युत वे मोहग्रस्त तथा अज्ञान से पराभूत हैं।

तात्पर्य : मानव समाज में मनुष्य को शिक्षित करने के प्रयास किये जाते हैं, किन्तु पशु-समाज में न तो ऐसी व्यवस्था हैं, न ही पशुओं को शिक्षित किया जा सकता है। अतएव पशुओं एवं मूर्ख मनुष्यों को *विमूढ* या मोहग्रस्त कहा जाता है और शिक्षित मनुष्य को *विद्वान्* कहते हैं। असली *विद्वान्* वह है, जो इस भौतिक जगत के भीतर अपनी स्थिति को समझने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, जब

सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ली तो उनका पहला प्रश्न था *'के आमि' 'केने आमाय जारे ताप त्रय'।* दूसरे शब्दों में, वे अपनी स्वाभाविक स्थिति जानना चाहते थे और यह जानना चाहते थे कि वे संसार के तीन प्रकार के दुख क्यों उठा रहे हैं। यह शिक्षा की विधि है। यदि कोई यह न पूछकर कि "मैं कौन हूँ? मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है?" कूकरों-सूकरों की ही पशु-वृत्ति का पालन करे तो उसकी शिक्षा से क्या लाभ है? जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है जीव अपने सकाम कर्मों द्वारा रेशम के कीट की भाँति अपने ही जाल में फँसा रहता है। मूर्ख लोग सामान्यतया इस भौतिक जगत का भोग करने की प्रबल इच्छा के कारण अपने सकाम कर्म द्वारा बँधे हुए हैं। ऐसे लोग समाज, जाति तथा राष्ट्र की ओर आकृष्ट होकर अपना समय व्यर्थ गँवाते हैं और मनुष्य-जन्म पाकर उसका कोई लाभ नहीं उठा पाते। विशेषकर इस कलियुग में बड़े-बड़े नेता, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा विज्ञानी मूर्खतापूर्ण कार्यों में यह सोचकर लगे हुए हैं कि "यह मेरा है और वह तुम्हारा है।" विज्ञानी नाभिकीय अस्त्रों का आविष्कार करते हैं और अपने समाज या राष्ट्र का हित-समर्थन करने के लिए बड़े-बड़े नेताओं से सहयोग करते हैं। किन्तु इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपने तथाकथित उच्च ज्ञान के होते हुए भी कुत्ते-बिल्लियों वाली मानसिकता से ग्रस्त होते हैं। जिस तरह बिल्लियाँ तथा कुत्ते अपने जीवन के वास्तविक हित को न जानकर अधिकाधिक अज्ञान में फँसते जाते हैं उसी प्रकार तथाकथित शिक्षित व्यक्ति जो अपने निज को या जीवन के असली लक्ष्य को नहीं जानता भौतिकता में अधिकाधिक मग्न होता जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज हर एक को *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए उपदेश देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि एक विशेष अवस्था को प्राप्त करने पर वह आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए संन्यास आश्रम ग्रहण करे और इस तरह मुक्त हो ले। इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में विस्तार से की गई है।

यतो न कश्चित्क्व च कुत्रचिद्वा
दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहार-
क्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ १७॥
ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या
दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।

उपेत नारायणमादिदेवं
स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यतः—क्योंकि; न—कभी नहीं; कश्चित्—कोई; क्व—किसी भी स्थान में; च—भी; कुत्रचित्—किसी समय; वा—अथवा; दीनः—अल्प ज्ञान वाला; स्वम्—अपना; आत्मानम्—स्वयं; अलम्—अत्यधिक; समर्थः—सशक्त; विमोचितुम्—मुक्त करने के लिए; काम-दृशाम्—कामलोलुप स्त्रियों का; विहार—विषय सुख में; क्रीडा-मृगः—खिलौना, मनोरंजन का साधन; यत्—जिसमें; निगडः—जो भव-बन्धन की जंजीर है; विसर्गः—पारिवारिक सम्बन्धों का विस्तार; ततः—ऐसी परिस्थिति में; विदूरात्—दूर से ही; परिहृत्य—त्याग करके; दैत्याः—हे दैत्यों के पुत्र मेरे मित्रो; दैत्येषु—दैत्यों के मध्य; सङ्गम्—साथ; विषय-आत्म-केषु—जिन्हें इन्द्रियभोग की लत है, व्यसनी; उपेत—पास जाना चाहिए; नारायणम्—भगवान् नारायण के; आदि-देवम्—समस्त देवताओं के उद्गम; सः—वह; मुक्त-सङ्गैः—मुक्त पुरुषों की संगति द्वारा; इषितः—इच्छित; अपवर्गः—मुक्ति का मार्ग।

हे मित्रों, हे दैत्य पुत्रो, यह निश्चित है कि भगवान् के ज्ञान से विहीन कोई भी अपने को किसी काल या किसी देश में मुक्त करने में समर्थ नहीं रहा है। उल्टे, ऐसे ज्ञान-विहीन लोग भौतिक नियमों से बाँधे जाते हैं। वे वास्तव में इन्द्रियविषय में लिप्त रहते हैं और उनका लक्ष्य स्त्रियाँ होती है। निस्सन्देह, ऐसे लोग आकर्षक स्त्रियों के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। ऐसी जीवन-धारणोओं के शिकार बनकर वे बच्चों, नातियों तथा पनातियों से घिरे रहते हैं और इस तरह वे भव-बन्धन की जंजीरों से जकड़े जाते हैं। जो लोग ऐसी जीवन-धारणा में बुरी तरह लिप्त रहते हैं, वे दैत्य कहलाते हैं। इसलिए यद्यपि तुम सभी दैत्यों के पुत्र हो, किन्तु ऐसे व्यक्तियों से दूर रहो और भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करो जो समस्त देवताओं के उद्गम हैं, क्योंकि नारायण-भक्तों का चरम लक्ष्य भव-बन्धन से मुक्ति पाना है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की दार्शनिक धारणा है कि मनुष्य को गृहस्थ जीवन के अंधकूप को त्यागकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने के लिए जंगल में चला जाना चाहिए। (*हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*)। इस श्लोक में भी वे इसी बात पर बल दे रहे हैं। मानव समाज के इतिहास में कोई कभी या कहीं भी अपने परिवार के स्नेह तथा आसक्ति के कारण मोक्ष नहीं प्राप्त कर सका है। यहाँ तक कि जो ऊपर से बहुत पढ़े-लिखे लगते है उनमें भी वही पारिवारिक आसक्ति पाई जाती है। यहाँ तक कि वृद्धावस्था या अशक्तावस्था में भी वे अपने परिवारों की संगति नहीं छोड़ पाते क्योंकि वे इन्द्रिय-भोग के प्रति आसक्त रहते हैं। जैसाकि हमने कई बार व्याख्या की है—*यन् मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्*—तथाकथित गृहस्थ मात्र यौन सुख के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस प्रकार वे अपने को पारिवारिक जीवन की शृंखला से बद्ध रखते हैं। यही नहीं, वे

अपने बच्चों को भी इसी तरह बँधा रखना चाहते हैं। ऐसे लोग स्त्रियों के हाथ की कठपुतली बनकर संसार के गहनतम भाग में जा गिरते हैं। *अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं पुन: पुनश्चर्वितचर्वणानाम्।* चूँकि वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते, अतएव वे चर्वित-चर्वण जीवन बिताते रहते हैं और संसार के घोर अंधकारयुक्त भागों में नीचे चले जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे दैत्यों की संगति छोड़कर भक्तों की संगति करे। इस प्रकार वह भवबन्धन से मुक्त हो सकेगा।

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजा: ।
आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वत: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अच्युतम्—कभी न गिरने वाले भगवान्; प्रीणयत:—तुष्ट करते हुए; बहु—अत्यधिक; आयास:—प्रयास; असुर-आत्म-जा:—हे असुरपुत्रों; आत्मत्वात्—सिद्ध होने के कारण; सर्व-भूतानाम्—सारेजीवों का; सिद्धत्वात्—स्थापित होने से; इह—इस संसार में; सर्वत:—सभी दिशाओं में, सभी कालों में तथा सभी दृष्टिकोणों से।

हे दैत्यपुत्रो, भगवान् नारायण ही समस्त जीवों के पिता और मूल परमात्मा हैं। फलस्वरूप उन्हें प्रसन्न करने में या किसी भी दशा में उनकी पूजा करने में बच्चे या वृद्ध को कोई अवरोध नहीं होता। जीव तथा भगवान् का अन्त:सम्बन्ध एक तथ्य है अतएव भगवान् को प्रसन्न करने में कोई कठिनाई नहीं है।

तात्पर्य : कोई यह पूछ सकता है ''यह ठीक है कि मनुष्य पारिवारिक जीवन के प्रति अत्यन्त आसक्त रहता है, किन्तु यदि उसे यह जीवन छोड़कर भगवान् की सेवा में आसक्त होना है, तो उसे उतना ही प्रयास करना तथा कष्ट झेलना होगा। अतएव इस तरह कष्ट झेलकर भगवान् की सेवा में लगने से क्या लाभ?'' यह वैध आपत्ति नहीं है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.४) में बल देकर कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या: ।

तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह जान लो कि इस भौतिक प्रकृति में सारी जीवयोनियाँ जन्म द्वारा सम्भव होती हैं और मैं वीर्यदाता पिता हूँ।'' भगवान् नारायण सभी जीवों के वीर्यदाता पिता हैं, क्योंकि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं (*ममैवांशो...जीव भूत:*)। जिस प्रकार पिता तथा पुत्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं होती उसी प्रकार नारायण तथा जीवों के मध्य प्राकृतिक घनिष्ठ सम्बन्ध को पुन:स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं है। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—*

यदि कोई रंचमात्र भी भक्ति करता है, तो नारायण उसे बड़े से बड़े खतरे से बचाने के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं। इसका सर्वविदित उदाहरण अजामिल है। अजामिल ने अनेक पापकर्म करके अपने को भगवान् से विलग कर लिया था और यमराज ने उसे अत्यन्त कठोर दण्ड देकर नीचा दिखाना चाहा, लेकिन उसने मृत्यु के समय नारायण का नामोच्चार किया था, जो भगवान् नारायण का उच्चार न होकर उसके पुत्र नारायण का उच्चार था तो भी वह यमराज के हाथों से बचा लिया गया। इसलिए नारायण को प्रसन्न करने में उतना प्रयत्न नहीं करना पड़ता जितना कि अपने परिवार को, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न करने में। हमने देखा है कि नामी से नामी राजनीतिक नेता अपने आचरण में थोड़ी सी भी गड़बड़ी के लिए जान से मारे गये हैं। अतएव अपने समाज, परिवार, जाति तथा राष्ट्र को प्रसन्न कर पाना, अत्यन्त कठिन है, किन्तु नारायण को प्रसन्न कर पाना तनिक भी कठिन नहीं, यह अत्यन्त सरल काम है।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नारायण के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करे। इस दिशा में थोड़ा प्रयास करने से सफलता प्राप्त होगी जबकि अपने तथाकथित परिवार, समाज तथा राष्ट्र को अपने जीवन का बलिदान देकर भी प्रसन्न कर पाना सम्भव नहीं होगा। भगवान् के पवित्र नाम के श्रवण तथा कीर्तन—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—में निहित थोड़ा प्रयास भगवान् को प्रसन्न करने में सफल बना सकता है, अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपना आशीर्वाद—*परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्तनम्*—श्रीकृष्ण संकीर्तन की जय हो कहकर दिया। यदि कोई मनुष्य जीवन का असली लाभ उठाना चाहता है, तो उसे भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु ।
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥ २० ॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा ।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥ २१ ॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् ।
व्याप्यव्यापकनिर्देश्यो ह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥ २२ ॥
केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पर-अवरेषु—जीवन की श्रेष्ठ या नारकीय स्थिति में; भूतेषु—जीवों में; ब्रह्म-अन्त—ब्रह्मा में समाप्त होने वाले; स्थावर-आदिषु—पेड़-पौधों जैसे अचल प्राणियों से लेकर; भौतिकेषु—भौतिक तत्त्वों में; विकारेषु—रूपान्तरों में; भूतेषु—प्रकृति के पाँच स्थूल तत्त्वों में; अथ—साथ ही; महत्सु—महत् तत्त्व में पूर्ण शक्ति; च—भी; गुणेषु—प्रकृति के गुणों से; गुण-साम्ये—भौतिक गुणों के संतुलन में; च—तथा; गुण-व्यतिकरे—प्रकृति के नियमों के असमान प्राकट्य में; तथा—और; एकः—एक; एव—एकमात्र; परः—दिव्य; हि—निस्सन्देह; आत्मा—मूल स्रोत; भगवान्—भगवान्; ईश्वरः—नियन्ता; अव्ययः—विकाररहित; प्रत्यक्—आन्तरिक; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा के रूप में, अपने मूल स्वाभाविक पद के द्वारा; दृश्य-रूपेण—अपने दृश्य रूपों द्वारा; च—भी; स्वयम्—स्वयं; व्याप्य—व्याप्त; व्यापक—सर्वव्यापी; निर्देश्यः—वर्णन किया जाने वाला; हि—निश्चय; अनिर्देश्यः—जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता (सूक्ष्म उपस्थिति के कारण); अविकल्पितः—बिना भेदभाव के; केवल—एकमात्र; अनुभव-आनन्द-स्वरूपः—जिसका स्वरूप आनन्द पूर्ण तथा ज्ञान से युक्त है; परम-ईश्वरः—परमेश्वर, परम शासक; मायया—माया द्वारा; अन्तर्हित—आवृत, ढका हुआ; ऐश्वर्यः—जिसका असीम ऐश्वर्य; ईयते—भूल से मान लिया जाता है; गुण-सर्गया—प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया से।

परम नियन्ता भगवान् जो अच्युत तथा अजेय हैं जीवन के विभिन्न रूपों में यथा पौधे जैसे स्थावर जीवों से लेकर प्रथम जन्मे प्राणी ब्रह्मा तक में उपस्थित हैं। वे अनेक प्रकार की भौतिक सृष्टियों में भी उपस्थित हैं तथा सारे भौतिक तत्त्वों, सम्पूर्ण भौतिक शक्ति एवं प्रकृति के तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुण) के साथ-साथ अव्यक्त प्रकृति एवं मिथ्या अंहकार में भी उपस्थित हैं। एक होकर भी वे सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। वे समस्त कारणों के कारण दिव्य परमात्मा भी हैं, जो सारे जीवों के अन्तस्तल में प्रेक्षक के रूप में उपस्थित हैं। उन्हें व्याप्य तथा सर्वव्यापक परमात्मा के रूप में इंगित किया गया है, लेकिन वास्तव में उनको इंगित नहीं किया जा सकता। वे अपरिवर्तित तथा अविभाज्य हैं। वे परम सच्चिदानन्द के रूप में अनुभव किये जाते हैं। माया के आवरण से ढके होने के कारण नास्तिक को वे अविद्यमान प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् न केवल समस्त जीवों के परमात्मा के रूप में उपस्थित हैं, अपितु एकसाथ वे सारी सृष्टि में प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हैं। वे समस्त परिस्थितियों में और सभी समय विद्यमान रहते हैं। वे ब्रह्माजी के हृदय में विद्यमान रहते हैं और कूकरों, शूकरों, वृक्षों, पौधों इत्यादि के भी अन्तस्तल में रहते हैं। वे सर्वत्र उपस्थित हैं। वे न केवल जीवों के हृदय में उपस्थित हैं अपितु भौतिक वस्तुओं में, यहाँ तक कि भौतिकविज्ञानियों द्वारा खोजे गये परमाणुओं, प्रोटाँनों तथा इलेक्ट्रानों में भी रहते हैं।

भगवान् तीन रूपों में उपस्थित रहते हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। चूँकि वे सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव उन्हें *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—ब्रह्म से परे विद्यमान कहा गया है। *भगवद्गीता* से पुष्टि होती है कि अपने ब्रह्म रूप के द्वारा कृष्ण सर्वव्याप्त हैं (*मया ततम् इदं सर्वम्*) लेकिन ब्रह्म कृष्ण पर आश्रित है (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। कृष्ण के बिना ब्रह्म या परमात्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता। अतएव

भगवान् परम सत्य की चरम अनूभूति हैं। यद्यपि वे प्रत्येक हृदय के भीतर परमात्मा रूप में स्थित हैं फिर भी वे एक हैं चाहे वह व्यक्तिगत रूप में हों या सर्वव्यापी ब्रह्म के रूप में।

कृष्ण परम कारणस्वरूप हैं और जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण की है वे उनकी तथा उनकी उपस्थिति का अनुभव ब्रह्माण्ड में तथा प्रत्येक परमाणु में कर सकते हैं (*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*)। यह अनुभूति केवल उन भक्तों को होती है जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। अन्यों के द्वारा यह सम्भव नहीं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

सौभाग्यशाली जीव ही भक्तिमयी प्रवृत्ति में शरणागति की विधि को स्वीकार करते हैं। अनेक लोकों में विविध योनियों में चक्कर लगाने के बाद जब मनुष्य को भक्त की कृपा से परम सत्य का असली ज्ञान होता है, तो वह भगवान् की शरण ग्रहण करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्ट हुआ है (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)।

दैत्यकुलों में उत्पन्न प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों ने सोचा कि ब्रह्म की अनुभूति कर पाना अत्यन्त कठिन होगा। निस्सन्देह, अनेक लोग यही बात कहते हैं, इसका हमें अनुभव है। किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ब्रह्म समस्त जीवों से घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं। अतएव यदि कोई वैष्णव दर्शन को समझता है, जो यह बतलाता है कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र उपस्थित है और वह किस प्रकार सर्वत्र कर्म करता है, तो उसके लिए भगवान् की पूजा करना या उनकी अनुभूति करना तनिक भी कठिन नहीं है। फिर भी भगवान् की अनुभूति भक्तों की संगति से ही सम्भव है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए कहा (*चैतन्य चरितामृत,* मध्य १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

भौतिक दशा में जीव अनेक योनियों में तथा अनेक परिस्थितियों में घूमता रहता है, किन्तु यदि वह शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आता है और भक्ति के विषय में उससे शिक्षाएँ ग्रहण करने की बुद्धिमानी

दिखाता है, तो वह ब्रह्म तथा परमात्मा के उत्स भगवान् को बिना कठिनाई के समझ सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा व्याप्तः कालो हरिः स्मृतः।

प्रकृत्या तमसावृतत्वात् हरेरैश्वर्यं न ज्ञायते॥

भगवान् हरेक के हृदय में *अन्तर्यामी* रूप में उपस्थित हैं और शरीर से आवृत आत्मा में दृश्य होते हैं। निस्सन्देह, वे प्रत्येक काल तथा परिस्थिति में सर्वत्र हैं, लेकिन माया के आवरण से प्रच्छन्न होने के कारण सामान्य व्यक्ति को लगता है कि ईश्वर नहीं है।

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् ।
भावमासुरमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों पर; दयाम्—दया; कुरुत—दिखालाओ; सौहृदम्—मैत्री; भावम्—भाव, प्रवृत्ति; आसुरम्—असुरों का (जो मित्रों तथा शत्रुओं को पृथक् करते हैं); उन्मुच्य—त्याग कर; यया—जिससे; तुष्यति—प्रसन्न होता है; अधोक्षजः—भगवान् जो इन्द्रियों की अनभूति के परे है।

अतएव हे असुरों से उत्पन्न मेरे प्यारे तरुण मित्रो, तुम सब ऐसा करो कि ऐसे भगवान्, जो भौतिक ज्ञान की धारणा से परे हैं, वे तुम पर प्रसन्न हों। तुम अपनी आसुरी प्रकृति छोड़ दो और शत्रुता या द्वैत रहित होकर कर्म करो। सभी जीवों में भक्ति जगाकर उन पर दया प्रदर्शित करो और इस प्रकार उनके हितैषी बनो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.५५) में भगवान् कहते हैं—*भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—मनुष्य केवल भक्ति से परमेश्वर को यथारूप में समझ सकता है। प्रह्लाद महाराज ने अन्ततः अपने असुर सहपाठियों को शिक्षा दी कि वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत विज्ञान का उपदेश देकर भक्ति की विधि स्वीकार करें। उपदेश देना (प्रचार करना) भगवान् की सर्वोत्तम सेवा है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के उपदेश कार्य की इस सेवा में लग जाता है उससे भगवान् तुरन्त ही अतीव प्रसन्न होते हैं। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६९) में में की है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*—इस संसार में न तो उससे बढ़कर प्रिय मेरा दास है, न भविष्य में कभी इससे बढ़कर प्रिय होगा। यदि कोई भगवान् के यश तथा उनकी श्रेष्ठता का उपदेश करके कृष्णभावनामृत को फैलाने का प्रयास निष्ठापूर्वक करता है, तो भले ही वह अपूर्ण रूप से शिक्षित क्यों न हो, वह भगवान् का सर्वप्रिय

दास बन जाता है। यह भक्ति है। ज्योंही शत्रु तथा मित्र का भेद-भाव किये बिना मानवता के लिए वह सेवा करता है त्योंही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश दिया है कि वह गुरु-भक्त बने और कृष्णभावनामृत का प्रचार करे (*यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश*)। भगवान् की अनुभूति करने का यह सरलतम उपाय है। ऐसे उपदेश कार्य से उपदेशक तुष्ट होता है और जिन्हें उपदेश दिया जाता है वे भी तुष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण विश्व में शान्ति लाने की विधि यही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परमेश्वर सम्बन्धी ज्ञान के इन तीन सूत्रों को समझे कि वे परम भोक्ता हैं, कि वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं तथा वे सबों के श्रेष्ठ सुहृद तथा सखा हैं। उपदेशक को ये सत्य स्वयं समझने चाहिए और सबों को इन्हीं का उपदेश देना चाहिए। तब सारे विश्व में शान्ति रहेगी।

इस श्लोक में *सौहृदम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया लोग कृष्णभावनामृत से अनजान हैं, अतएव उनका हितैषी बनने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन्हें बिना किसी भेद-भाव के कृष्णभावनामृत की शिक्षा दे। चूँकि भगवान् विष्णु हर एक के अन्तस्तल में विद्यमान हैं, अतएव प्रत्येक शरीर विष्णु का मन्दिर है। मनुष्य को चाहिए कि इस ज्ञान का दुरुपयोग *दरिद्र नारायण* जैसे शब्दों के बहाने से न करे। यदि नारायण दरिद्र अर्थात् गरीब मनुष्य के घर में वास करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे दरिद्र हो गये हैं। वे सर्वत्र रहते हैं—दरिद्र के घर में और धनी के घर में भी किन्तु सभी परिस्थितियों में वे नारायण बने रहते हैं। यह सोचना कि वे निर्धन या धनी हो जाते हैं भौतिक अनुमान है। वे सदैव *षड्ऐश्वर्यपूर्ण*—अर्थात् वे सदा छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण रहते हैं।

तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तुष्टे—तुष्ट होने पर; च—भी; तत्र—वहाँ; किम्—क्या; अलभ्यम्—अप्राप्य; अनन्ते—भगवान् में; आद्ये—समस्त वस्तुओं के अनादि स्रोत, समस्त कारणों के कारण; किम्—और क्या चाहिए; तैः—उनसे; गुण-व्यतिकरात्—प्रकृति के गुणों की क्रिया;

इह—इस संसार में; ये—जो; स्व-सिद्धाः—स्वयमेव प्राप्त; धर्म-आदयः—भौतिक उन्नति के तीन सिद्धान्त (अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम); किम्—क्या आवश्यकता; अगुणेन—परमेश्वर में मुक्ति के साथ; च—तथा; काङ्क्षितेन—वांछित; सारम्—सारे निचोड़; जुषाम्—स्वाद लेते हुए; चरणयोः—भगवान् के दो चरणकमल; उपगायताम्—भगवान् के गुणों का गान करने वाले; नः—हमारा।

जिन भक्तों ने समस्त कारणों के कारण, समस्त वस्तुओं के आदि स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लिया है उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं है। भगवान् असीम आध्यात्मिक गुणों के आगार हैं। अतएव उन भक्तों के लिए जो प्रकृति के गुणों से परे हैं उन्हें धर्म, अर्थ काम, मोक्ष के सिद्धान्तों का पालन करने से क्या लाभ, क्योंकि ये तो प्रकृत्ति के गुणों के प्रभावों के अन्तर्गत स्वतः प्राप्त हैं! हम भक्तगण सदैव भगवान् के चरणकमलों का यशोगान करते हैं अतएव हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की याचना नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : उन्नत सभ्यता में सभी लोग धार्मिक बनने, आर्थिक दृष्टि से भलीभाँति स्थित होने, अपनी इन्द्रियों को पूरी तरह तुष्ट करने एवं अन्त में मोक्ष-लाभ करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु बढ़-चढ़ कर इतनी वांछा नहीं करनी चाहिए। निस्सन्देह, भक्त के लिए ये सब सहज ही प्राप्त हैं। बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है—*मुक्तिः स्वयं मुकुलितांजलि सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः।* मुक्ति तो सदैव भक्त के द्वार पर आज्ञापालन के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष भक्त की सेवा करने का अवसर पाने के लिए प्रतीक्षित रहते हैं। भक्त पहले से दिव्य पद को प्राप्त रहता है, उसे मुक्त होने के लिए किसी अतिरिक्त योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मों एवं फलों से परे होता है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर स्थित होता है।

प्रह्लाद महाराज ने कहा—*अगुणेन च कांक्षितेन*—यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हो तो उसे धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष की परवाह नहीं रहती। अतएव दिव्य ग्रंथ *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र। धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* तो *कैतव* हैं, अर्थात् वे मिथ्या तथा व्यर्थ हैं। *निर्मत्सराणाम्* अर्थात् जो पुरुष पृथक्तावादी भौतिक कार्यकलापों से परे हैं, जो 'मेरा' तथा 'तेरा' में कोई भेद नहीं रखते, किन्तु, भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, वे ही वास्तव में *भागवत धर्म* स्वीकार करने के योग्य हैं (*धर्मान् भगवतान् इह*)। चूँकि वे *निर्मत्सर* हैं अर्थात् किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, अतएव वे अन्यों को, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं

को भक्त बनाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*कांक्षते मोक्षगम् अपि सुखं नाकाङ्क्षतो यथा।* भक्तगण किसी भी भौतिक सुख की आकांक्षा नहीं करते जिसमें मोक्ष से प्राप्त होने वाला सुख भी सम्मिलित है। यह *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्* कहलाता है। *कर्मी* भौतिक सुख चाहते हैं और *ज्ञानी* मोक्ष चाहते हैं, किन्तु भक्त कुछ नहीं चाहता। वह तो भगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति करके तथा सर्वत्र उपदेश द्वारा उनके गुणों का गान करके ही सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि यही उसका जीवन और प्राण है।

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक उन्नति; कामः—संयमित इन्द्रियतृप्ति; इति—इस प्रकार; यः—जो; अभिहितः—बताये गये; त्रि-वर्गः—तीन का समूह; ईक्षा—आत्म-साक्षात्कार; त्रयी—वैदिक अनुष्ठान; नय—तर्क; दमौ—तथा विधि एवं व्यवस्था की विद्या; विविधा—अनेक प्रकार; च—भी; वार्ता—वृत्तिपरक कर्तव्य या जीविका; मन्ये—मैं मानता हूँ; तत्—उनको; एतत्—वे; अखिलम्—सारा; निगमस्य—वेदों का; सत्यम्—सत्य; स्व-आत्म-अर्पणम्—अपने को पूरी तरह अर्पित कर देना; स्व-सुहृदः—अपने परम मित्र को; परमस्य—परम; पुंसः—पुरुष।

धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों को वेदों में त्रिवर्ग अर्थात् मोक्ष के तीन साधन कहा गया है। इन तीन वर्गों के अन्तर्गत ही शिक्षा तथा आत्म-साक्षात्कार, वैदिक आदेशानुसार सम्पन्न कर्मकाण्ड, विधि तथा व्यवस्था विज्ञान एवं जीविका अर्जित करने के विविध साधन आते हैं। ये तो वेदों के अध्ययन के बाह्य विषय हैं अतएव मैं उन्हें भौतिक मानता हूँ। किन्तु मैं भगवान् विष्णु के चरणकमलों में समर्पण को दिव्य मानता हूँ।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये उपदेश भक्ति की दिव्य स्थिति पर बल देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।" जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में पूर्णतया संलग्न

रहता है, वह तुरन्त ही दिव्य पद को प्राप्त होता है, जो कि *ब्रह्मभूत* अवस्था है। ऐसी शिक्षा या कार्य जो *ब्रह्मभूत* पद या आत्म-साक्षात्कार पद पर नहीं होता वह भौतिक माना जाता है और प्रह्लाद महाराज का कहना है कि कोई भी भौतिक वस्तु परम सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि परम सत्य आध्यात्मिक पद पर होता है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (२.४५) में की है जहाँ पर वे यह कहते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—''वेदों में केवल तीन गुणों का वर्णन मिलता है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे होओ।'' भले ही किसी के कर्मों की स्वीकृति वेदों द्वारा क्यों न मिली हो, भौतिक पद पर कर्म करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का चरम लक्ष्य तो आध्यात्मिक पद पर बने रहना है। मानव उद्देश्य यही है। सारांशतः वैदिक कर्मकाण्डों तथा आदेशों की अवमानना नहीं की जानी चाहिए, वे आध्यात्मिक पद तक पहुँचने के साधन हैं। किन्तु यदि कोई इस पद तक नहीं पहुँच पाता तो सारे वैदिक अनुष्ठान केवल समय के अपव्यय हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१.२.८) में हुई है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

''कर्तव्य (धर्म) चाहे जिस वृत्ति के पुरुष द्वारा किये जाँय, यदि वे परमेश्वर के सन्देश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पाते तो उन पर किया सारा श्रम निरर्थक है। यदि कोई दृढ़तापूर्वक धर्म के कार्यों को करता है, किन्तु यदि वह अन्ततः परमेश्वर की शरण में नहीं जाता तो उसका मोक्ष या ऊपर उठने के सारे साधन समय तथा श्रम के अपव्यय मात्र हैं।''

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय ।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; तत्—वह; एतत्—यह; अमलम्—कल्मषरहित; दुरवापम्—समझ पाना कठिन (भक्ति की कृपा के बिना); आह—बतलाया; नारायणः—भगवान् नारायण ने; नर-सखः—सारे जीवों (विशेषतया मनुष्यों) के मित्र; किल—निश्चय ही; नारदाय—महर्षि नारद को; एकान्तिनाम्—उनका, जिन्होंने एकमात्र भगवान् की शरण ले रखी है; भगवतः—भगवान् का; तत्—वह (ज्ञान); अकिञ्चनानाम्—जिन्हें कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहिए; पाद-अरविन्द—भगवान् के चरणकमलों की; रजसा—धूल से; आप्लुत—स्नात, नहाये हुए; देहिनाम्—जिनके शरीर; स्यात्—सम्भव है।

समस्त जीवों के शुभचिन्तक एवं मित्र भगवान् नारायण ने यह दिव्य ज्ञान पहले परम सन्त नारद को दिया। ऐसा ज्ञान नारद जैसे सन्त पुरुष की कृपा के बिना समझ पाना कठिन है, किन्तु जिसने भी नारद की परम्परा की शरण ले रखी है, वह इस गुह्य ज्ञान को समझ सकता है।

तात्पर्य : यहाँ यह बताया गया है कि गुह्य ज्ञान को समझ पाना अत्यन्त कठिन है फिर भी यदि शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण कर ली जाये तो इसे समझना सरल है। इस गुह्य ज्ञान का उल्लेख *भगवद्गीता* में भी अन्त में हुआ है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—तुम सभी प्राकर के धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण ग्रहण करो। यह ज्ञान गुह्यतम है, किन्तु यदि कोई नारद की परम्परा में स्थित गुरु के माध्यम से भगवान् तक पहुँचता है, तो इसे समझा जा सकता है। प्रह्लाद महाराज असुरपुत्रों को यह बताना चाहते थे कि यद्यपि ऐसा ज्ञान केवल नारद जैसे सन्त पुरुष के द्वारा समझा जाता है, किन्तु उन्हें निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि कोई भौतिक गुरुओं के बजाय नारद की शरण ग्रहण करता है, तो इस ज्ञान को समझना सम्भव हो जाता है। इसे समझना उच्चकुलीनता पर निर्भर नहीं है। जीव निश्चय ही आध्यात्मिक पद पर शुद्ध होता है, अतएव जो कोई गुरु की कृपा से आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर लेता है, वह गुह्य ज्ञान को भी समझ लेता है।

श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद्देवदर्शनात् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्रुतम्—सुना गया; एतत्—यह; मया—मेरे द्वारा; पूर्वम्—इसके पहले; ज्ञानम्—गुह्य ज्ञान; विज्ञान-संयुतम्—अपने व्यावहारिक सम्प्रयोग से संयुक्त; धर्मम्—दिव्य धर्म; भागवतम्—भगवान् से सम्बद्ध; शुद्धम्—शुद्ध, जिसे भौतिक कार्यों से कुछ लेना-देना नहीं है; नारदात्—महान् सन्त नारद से; देव—भगवान् का; दर्शनात्—जो सदैव दर्शन करने वाले।

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : मैंने यह ज्ञान भक्ति में सदैव तल्लीन रहने वाले परम सन्त नारद से प्राप्त किया है। यह ज्ञान भागवत धर्म कहलाता है, जो अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह तर्क तथा दर्शन पर आधारित है और समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त है।

श्रीदैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्लाद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम् ।
एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥ २९ ॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः ।

छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद्विस्त्रम्भकारणम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-दैत्य-पुत्राः ऊचुः—दैत्य पुत्रों ने कहा; प्रह्राद—हे मित्र प्रह्लाद; त्वम्—तुम; वयम्—हम सब; च—तथा; अपि—भी; न—नहीं; ऋते—सिवाय; अन्यम्—अन्य; विद्महे—जानते हैं; गुरुम्—गुरु को; एताभ्याम्—इन दोनों; गुरु-पुत्राभ्याम्—शुक्राचार्य के पुत्रों से; बालानाम्—बच्चों के; अपि—यद्यपि; हि—निस्सन्देह; ईश्वरौ—दो नियन्ता; बालस्य—बच्चों का; अन्तःपुर-स्थस्य—घर या महल के भीतर रहते हुए; महत्-सङ्गः—नारद-जैसे महापुरुष की संगति; दुरन्वयः—अत्यन्त कठिन; छिन्धि—कृपया दूर करो; नः—हमारा; संशयम्—संशय, शंका; सौम्य—हे भद्र; स्यात्—हो सके; चेत्—यदि; विस्त्रम्भ-कारणम्—तुम्हारे वचनों में श्रद्धा का कारण।

दैत्य पुत्रों ने उत्तर दिया: प्रह्लाद, न तुम और न ही हम शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क के अतिरिक्त अन्य किसी अध्यापक या गुरु को जानते हैं। अन्ततः हम बच्चे हैं और वे हमारे नियंत्रक हैं। तुम जैसे सदैव महल के भीतर रहने वाले के लिए ऐसे महापुरुष की संगति कर पाना अत्यन्त कठिन है। हे परम भद्र मित्र, क्या तुम यह बतलाओगे कि तुम्हारे लिए नारद से सुन पाना कैसे सम्भव हो सका? इस सम्बन्ध में हमारी शंका को दूर करो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत "प्रह्लाद द्वारा अपने असुर सहपाठियों को उपदेश" नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सात

प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा

इस अध्याय में प्रह्लाद महाराज अपने असुर सहपाठियों के संशयों को दूर करने के लिए बताते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि के मुख से उपदेश किये गये भागवत धर्म को सुना।

जब हिरण्यकशिपु अपना राज्य छोड़कर कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चला गया तो सारे असुर (दैत्य) तितर-बितर हो गये। उस समय हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु गर्भवती थी और देवताओं ने इस धोखे से कि उसके गर्भ में एक दूसरा असुर है उसे बन्दी बना लिया। उनकी योजना थी कि जैसे ही बालक उत्पन्न होगा वे उसे मार डालेंगे। जब वे कयाधु को स्वर्गलोक ले जा रहे थे तो रास्ते में नारद मुनि से भेंट हुई जिन्होंने उसे स्वर्गलोक ले जाने से रोक दिया और उसे हिरण्यकशिपु के वापस आने तक अपने आश्रम में ले जाकर रखा। नारद मुनि के आश्रम में कयाधु ने अपने गर्भस्थ बालक की रक्षा के लिए प्रार्थना की। नारद मुनि ने उसे आश्वस्त किया और आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी

उपदेश दिये। यद्यपि प्रह्लाद महाराज अभी छोटे बच्चे के रूप में गर्भ में ही थे, किन्तु उन्होंने इन उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुना:—आत्मा सदैव शरीर से पृथक् रहता है। जीव के आध्यात्मिक स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोई भी व्यक्ति जो देहात्मबुद्धि से परे होता है, वह शुद्ध है और दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह दिव्य ज्ञान भक्ति है और प्रह्लाद महाराज ने अपनी माता के गर्भ में रहते हुए नारद मुनि से भक्ति सम्बन्धी उपदेश प्राप्त किये। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के उपदेशों के माध्यम से भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और माया के पाश से छूटकर सारे अज्ञान से तथा भौतिक इच्छाओं से छुट्टी पा लेता है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह परमेश्वर की शरण ग्रहण करे और इस प्रकार समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो ले। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी पद पर क्यों न हो इस सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। भक्ति तपस्या, योग या पवित्रता के भौतिक कार्यकलापों पर आश्रित नहीं होती। इनके न होने पर भी शुद्ध भक्त की कृपा से मनुष्य को भक्ति प्राप्त हो सकती है।

श्रीनारद उवाच
एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः ।
उवाच तान्स्मयमानः स्मरन्मदनुभाषितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **दैत्य-सुतैः**—दैत्य को पुत्रों द्वारा; **पृष्टः**—पूछे जाने पर; **महा-भागवतः**—भगवान् के महान् भक्त ने; **असुरः**—दैत्यों के वंश में उत्पन्न; **उवाच**—कहा; **तान्**—उनसे (असुर पुत्रों से); **स्मयमानः**—हँसते हुए; **स्मरन्**—स्मरण करते हुए; **मत्-अनुभाषितम्**—मेरे द्वारा कहा गया।.

नारद मुनि ने कहा : यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुरों के परिवार में जन्मे थे, किन्तु वे समस्त भक्तों में सबसे महान् थे। इस प्रकार अपने असुर सहपाठियों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने मेरे द्वारा कहे गये शब्दों का स्मरण किया और अपने मित्रों से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में थे तो उन्होंने नारद मुनि के शब्द सुने थे। कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि गर्भस्थ बालक ने किस तरह नारद के शब्द सुने होंगे, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन है। आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं सकती। यह *अहैतुक्यप्रतिहता* कहलाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के अर्जन को कोई भी भौतिक दशा रोक नहीं पाती। इस तरह प्रह्लाद महाराज बचपन से ही अपने मित्रों को अध्यात्म-ज्ञान बतलाते रहे। इसका प्रभाव भी पड़ता रहा, यद्यपि वे सभी बालक थे।

श्रीप्रह्राद उवाच
पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् ।
युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान्प्रति ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्रादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; पितरि—असुर पिता हिरण्यकशिपु के; प्रस्थिते—यहाँ से जाने पर; अस्माकम्—हमारे; तपसे—तपस्या करने के लिए; मन्दर-अचलम्—मन्दराचल नामक पर्वत पर; युद्ध-उद्यमम्—युद्ध करने का उद्योग; परम्—महान्; चक्रुः—सम्पन्न किया; विबुधाः—इन्द्र इत्यादि देवताओं ने; दानवान्—असुरों के; प्रति—प्रति।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : जब हमारे पिता हिरण्यकशिपु कठिन तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर्वत चले गये तो उनकी अनुपस्थिति में इन्द्र इत्यादि देवताओं ने युद्ध में सारे असुरों का दमन करने का घोर प्रयास किया।

पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः ।
पापेन पापोऽभक्षीति वदन्तो वासवादयः ॥ ३॥

शब्दार्थ

पिपीलिकैः—छोटी-छोटी चीटियों के द्वारा; अहिः—साँप; इव—सदृश; दिष्ट्या—ओह; लोक-उपतापनः—सदैव सबों का उत्पीड़न करने वाला; पापेन—अपने ही पाप कर्मों से; पापः—पापी हिरण्यकशिपु; अभक्षि—खा लिया गया; इति—इस प्रकार; वदन्तः—कहते हुए; वासव-आदयः—राज इन्द्र आदि देवता।

''ओह! जिस प्रकार साँप को छोटी-छोटी चींटियाँ खा जाती हैं उसी प्रकार कष्टदायक हिरण्यकशिपु जो सभी प्रकार के लोगों पर कहर ढहाता था अपने ही पापकर्मों के कारण पराजित किया जा चुका है।'' ऐसा कहकर इन्द्रादि देवताओं ने असुरों से लड़ने की योजना बनाई।

तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः ।
वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥ ४॥
कलत्रपुत्रवित्ताप्तान्गृहान्पशुपरिच्छदान् ।
नावेक्ष्यमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५॥

शब्दार्थ

तेषाम्—इन्द्र आदि देवताओं का; अतिबल-उद्योगम्—अत्यधिक शक्ति तथा उद्योग; निशम्य—सुन कर; असुर-यूथपाः—असुरों के महन नायक; वध्यमानाः—एक के बाद एक मारे जाकर; सुरैः—देवताओं द्वारा; भीताः—भयभीत; दुद्रुवुः—भाग गये; सर्वतः—समस्त; दिशम्—दिशाओं में; कलत्र—पत्नियाँ; पुत्र-वित्त—लड़के तथा सम्पत्ति; आप्तान्—सम्बन्धी; गृहान्—घरों को; पशु-परिच्छदान्—पशु तथा गृहस्थी के सामान को; न—नहीं; अवेक्ष्यमाणाः—देखते हुए; त्वरिताः—जल्दी-जल्दी; सर्वे—सभी; प्राण-परीप्सवः—जीवित रहने की अत्यधिक इच्छा करते हुए।

एक के बाद एक मारे जाने पर जब असुरों के महान् नायकों ने लड़ाई में देवताओं का

अभूतपूर्व पराक्रम देखा, तो वे तितर-बितर होकर सभी दिशाओं में भागने लगे। अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वे अपने घरों, पत्नियों, बच्चों, पशुओं तथा घर के सारे साज-समान को छोड़कर जल्दी-जल्दी भाग गये। उन्होंने इन सबकी परवाह नहीं की और मात्र भागना आरम्भ कर दिया।

व्यलुम्पन् राजशिबिरममरा जयकाङ्क्षिणः ।
इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

व्यलुम्पन्—लूटा; राज-शिबिरम्—मेरे पिता हिरण्यकशिपु के महल को; अमराः—देवताओं ने; जय-काङ्क्षिणः—विजयी होने के लिए उत्सुक; इन्द्रः—देवताओं के प्रमुख राजा इन्द्र ने; तु—लेकिन; राज-महिषीम्—रानी; मातरम्—माता को; मम—मेरी; च—भी; अग्रहीत्—पकड़ लिया।

विजयी देवताओं ने असुरराज हिरण्यकशिपु के महल को लूट लिया और उसके भीतर की सारी वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट कर दीं। तब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मेरी माता को बन्दी बना लिया।

नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव ।
यदृच्छयागतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

नीयमानाम्—ले जाई जाती हुई; भय-उद्विग्नाम्—उद्विग्न तथा भयभीत; रुदतीम्—रोती हुई; कुररीम् इव—कुररी पक्षी की तरह; यदृच्छया—दैववश; आगतः—आये हुए; तत्र—उस स्थान पर; देव-ऋषिः—परम सन्त नारद ने; ददृशे—देखा; पथि—रास्ते में।

जब इस प्रकार वे गृद्ध द्वारा पकड़ी गई कुररी पक्षी की भाँति भय से चिल्लाती हुई ले जाई जा रही थीं तो देवर्षि महर्षि नारद जो उस समय किसी भी कार्य में व्यस्त नहीं थे, घटनास्थल पर प्रकट हुए और उन्होंने उस अवस्था में उन्हें देखा।

प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम् ।
मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

प्राह—कहा; न—नहीं; एनाम्—इसको; सुर-पते—हे देवताओं के राजा; नेतुम्—घसीटने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; अनागसम्—पापरहित, निर्दोष; मुञ्च मुञ्च—छोड़ दो, छोड़ दो; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सतीम्—सती; पर-परिग्रहम्—पराये पुरुष की पत्नी को।

नारद मुनि ने कहा : हे देवराज इन्द्र, यह स्त्री निश्चय ही पापरहित है। तुम्हें इसे इस तरह क्रूरतापूर्वक घसीटना नहीं चाहिए। हे परम सौभाग्यशाली, यह सती स्त्री किसी दूसरे की पत्नी

है। तुम इसे तुरन्त छोड़ दो।

श्रीइन्द्र उवाच
आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः ।
आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; आस्ते—है; अस्याः—उसके; जठरे—उदर में; वीर्यम्—वीर्य; अविषह्यम्—असहनीय; सुर-द्विषः—देवताओं के शत्रु का; आस्यताम्—इसे रहने दें (हमारी कैद में); यावत्—जब तक; प्रसवम्—बच्चे का जन्म; मोक्ष्ये—मैं छोड़ दूँगा; अर्थ-पदवीम्—मेरे लक्ष्य का मार्ग; गतः—प्राप्त हुआ।

राजा इन्द्र ने कहा : इस असुरपत्नी के गर्भ में उस असुर हिरण्यकशिपु का वीर्य है। अतएव इसे तब तक हमारे संरक्षण में रहने दें जब तक बच्चा उत्पन्न नहीं हो जाता। तब हम इसे छोड़ देंगे।

तात्पर्य : स्वर्ग के राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज की माता को इसलिए बन्दी बनाना चाहा, क्योंकि उसने सोचा कि उसके गर्भ में दूसरा असुर, दूसरा हिरण्यकशिपु बैठा है। अतएव सर्वोत्तम उपाय यही होगा कि जब यह बच्चा उत्पन्न हो तो उसे मार डाला जाये और तब स्त्री को मुक्त कर दिया जाये।

श्रीनारद उवाच
अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् ।
त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—महान् सन्त नारद मुनि ने कहा; अयम्—यह (गर्भस्थ बालक); निष्किल्बिषः—पूर्णतया पापरहित; साक्षात्—प्रत्यक्ष; महा-भागवतः—सन्त भक्त; महान्—महान्; त्वया—तुम्हारे द्वारा; न प्राप्स्यते—नहीं प्राप्त करेगा; संस्थाम्—अपनी मृत्यु; अनन्त—भगवान् का; अनुचरः—दास; बली—अत्यन्त शक्तिशाली।

नारद मुनि ने उत्तर दिया: इस स्त्री के गर्भ में स्थित बालक निर्दोष या निष्पाप है। निस्सन्देह, वह महान् भक्त तथा भगवान् का शक्तिशाली दास है। अतएव तुम उसे मार पाने में सक्षम नहीं होगे।

तात्पर्य : ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जब असुरों या अभक्तों ने भक्त को मारने का प्रयास किया है, किन्तु वे भगवान् के महान् भक्त को कभी मार नहीं पाये। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३१) में वचन देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*। यह भगवान् की घोषणा है कि उनका भक्त असुरों द्वारा नहीं मारा जा सकता। प्रह्लाद महाराज इस वचन की सत्यता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। नारद मुनि ने

स्वर्ग के राजा से कहा "भले ही तुम देवता क्यों न हो, तुम्हारे लिए और अन्यों के लिए भी इस बालक को मार पाना असम्भव होगा।"

इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन्वचः ।
अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—सम्बोधित होकर; ताम्—उसको; विहाय—छोड़ कर; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा; देव-ऋषेः—नारद मुनि के; मानयन्—मानते हुए, सम्मान करते हुए; वचः—शब्दों का; अनन्त-प्रिय—भगवान् के प्रिय; भक्त्या—भक्ति से; एनाम्—इसको (स्त्री को); परिक्रम्य—परिक्रमा करके; दिवम्—स्वर्ग लोक को; ययौ—वापस चला गया।

जब परम सन्त नारद मुनि ने इस प्रकार कहा तो राजा इन्द्र ने नारद के वचनों का सम्मान करते हुए तुरन्त ही मेरी माता को छोड़ दिया। चूँकि मैं भगवद्भक्त था, अतएव सब देवताओं ने मेरी माता की परिक्रमा की और तब वे सभी अपने अपने स्वर्गधाम को वापस चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि राजा इन्द्र तथा अन्य देवता महापुरुष हैं, किन्तु वे नारद मुनि के इतने आज्ञाकारी हैं कि राजा इन्द्र ने प्रह्लाद महाराज सम्बन्धी मुनि के वचनों को तुरन्त स्वीकार कर लिया। यह परम्परा पद्धति द्वारा समझना कहलाता है। इन्द्र तथा देवता यह नहीं जानते थे कि हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु के गर्भ में एक महान् भक्त है, किन्तु उन्होंने नारद मुनि के प्रामाणिक कथन को स्वीकार कर लिया और तुरन्त ही उस गर्भिणी स्त्री की परिक्रमा करके उस भक्त को सम्मान प्रदान किया। परम्परा पद्धति द्वारा भगवान् तथा भक्त को समझना ज्ञान की विधि है। ईश्वर तथा उनके भक्त के विषय में सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक भक्त के कथनों को स्वीकार करे और समझने का प्रयत्न करे।

ततो मे मातरमृषिः समानीय निजाश्रमे ।
आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत्ते भर्तुरागमः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मे—मेरी; मातरम्—माता को; ऋषिः—नारद ऋषि ने; समानीय—लाकर; निज-आश्रमे—अपने आश्रम में; आश्वास्य—आश्वासन देकर; इह—यहाँ; उष्यताम्—निवास करो; वत्से—मेरी बेटी; यावत्—जब तक; ते—तुम्हारे; भर्तुः—पति का; आगमः—आगमन, आना।

प्रह्लाद महाराज ने आगे बताया: परम सन्त नारद मुनि मेरी माता को अपने आश्रम ले गये और यह कहकर सभी प्रकार से सुरक्षा का आश्वासन दिया "मेरी बेटी, तुम मेरे आश्रम में अपने

पति के वापस आने तक रहो।''

तथेत्यवात्सीद्देवर्षेरन्तिके साकुतोभया ।
यावद्दैत्यपतिर्घोरात्तपसो न न्यवर्तत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहती रही; देव-ऋषेः—देवर्षि नारद के; अन्तिके—निकट; सा—वह (मेरी माता); अकुतो-भया—किसी भी प्रकार के भय के बिना; यावत्—जब तक; दैत्य-पतिः—मेरे पिता असुरराज हिरण्यकशिपु ने; घोरात्—अत्यन्त कठिन; तपसः—तपस्या; न—नहीं; न्यवर्तत—बन्द कर दिया।.

देवर्षि नारद के उपदेशों को मानकर मेरी माता बिना किसी प्रकार के भय के उनकी देख-रेख में तब तक रहती रही जब तक मेरे पिता दैत्यराज अपनी घोर तपस्या से मुक्त नहीं हो गये।

ऋषिं पर्यचरत्तत्र भक्त्या परमया सती ।
अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥ १४॥

शब्दार्थ

ऋषिम्—नारद मुनि की; पर्यचरत्—सेवा करती रही; तत्र—वहाँ (आश्रम में); भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक; परमया—परम; सती—आज्ञाकारी स्त्री; अन्तर्वत्नी—गर्भवती; स्व-गर्भस्य—अपने गर्भ के; क्षेमाय—कल्याण के लिए; इच्छा—इच्छानुसार; प्रसूतये—सन्तान उत्पन्न करने के लिए।.

मेरी माता गर्भवती होने के कारण अपने गर्भ की सुरक्षा चाहती थीं और चाहती थीं कि पति के आगमन के बाद सन्तान उत्पन्न हो। इस तरह वे नारद मुनि के आश्रम पर रहती रहीं जहाँ वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नारद मुनि की सेवा करती रहीं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (९.१९.१७) में में कहा गया है—

मात्रा स्वस्रा दुहिता वा नाविविक्तासनो भवेत्।

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

''मनुष्य को चाहिए कि वह स्त्री के साथ, चाहे उसकी माता, बहन या पुत्री ही क्यों न हो, एकान्त में न रहे।'' यद्यपि एकान्त स्थान में पुरुष को स्त्री के साथ रहने के लिए पूरी तरह वर्जित किया गया है फिर भी नारद मुनि ने प्रह्लाद महाराज की तरुणी माता को आश्रय दिया जो अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उनकी सेवा करती रहीं। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि नारद मुनि ने वैदिक आदेशों का उल्लंघन किया? निश्चय ही नहीं। ऐसे आदेश संसारी प्राणियों के लिए हैं, नारद तो संसारी श्रेणी से परे हैं। वे महान् सन्त हैं और दिव्य पद पर स्थित हैं। अतएव स्वयं तरुण होते हुए भी वे एक तरुणी स्त्री को

शरण देकर उसकी सेवा स्वीकार कर सकते थे। हरिदास ठाकुर ने भी एक वेश्या तरुणी से रात्रि के गहन अंधकार में बातें की थीं, लेकिन वह स्त्री उनके मन को विचलित न कर पाई। उल्टे, वह हरिदास ठाकुर के आशीर्वाद से शुद्ध भक्तिन या वैष्णवी बन गई। किन्तु सामान्य लोगों को ऐसे महान् भक्तों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उन्हें स्त्रियों की संगति से दूर रहकर विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। किसी को नारद मुनि या हरिदास ठाकुर का अनुकरण नहीं करना चाहिए। कहा गया है—*वैष्णवेर क्रिया-मुद्रा विज्ञे ना बुझय।* बड़ा से बड़ा विद्वान भी वैष्णव के आचरण को नहीं समझ सकता। कोई भी बिना भय के किसी वैष्णव की शरण में जा सकता है। अतएव पिछले श्लोक में स्पष्ट कहा गया है *देवर्षेरन्तिके साकुतोभया*—प्रह्लाद महाराज की माता कयाधु सभी प्रकार के भय से रहित होकर नारद मुनि के संरक्षण में रहती रहीं। इसी तरह नारद मुनि अपने दिव्य पद के कारण उस तरुणी के साथ अविचल भाव से रहते रहे। नारद मुनि, हरिदास ठाकुर तथा ऐसे ही आचार्य जिन्हें भगवान् के यश का प्रचार करने की विशेष शक्ति प्राप्त है कभी भौतिक पद तक नीचे नहीं उतर सकते। अतएव यह सर्वथा वर्जित है कि आचार्य को सामान्य मनुष्य माना जाये (*गुरुषु नरमतिः*)।

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः ।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—नारद मुनि; कारुणिकः—पतितों पर अत्यधिक स्नेहिल या कृपालु; तस्याः—उसको; प्रादात्—उपदेश दिया; उभयम्—दोनों को; ईश्वरः—शक्तिमान नियन्ता नारद मुनि जो चाहे सो कर दे; धर्मस्य—धर्म का; तत्त्वम्—सत्य; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; माम्—मुझको; अपि—विशेष रूप से; उद्दिश्य—इंगित करके; निर्मलम्—भौतिक कल्मष से रहित।

नारद मुनि ने गर्भ में स्थित मुझे तथा अपनी सेवा में लगी मेरी माता दोनों को उपदेश दिया। चूँकि वे स्वभाव से पतितों पर अत्यन्त दयालु हैं, अतएव अपनी दिव्य स्थिति के कारण उन्होंने धर्म तथा ज्ञान के विषय में उपदेश दिये। ये उपदेश भौतिक कल्मष से रहित थे।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च...निर्मलम्। निर्मलम्* शब्द निष्कलंक धर्म का सूचक है या यों कहें कि *भागवत धर्म* का सूचक है। सामान्यतया कर्मकाण्ड कल्मषग्रस्त धर्म के अंग होते हैं जिनसे लोग अपनी सम्पत्ति तथा समृद्धि बढ़ाकर लाभ उठाते हैं, लेकिन कल्मषहीन शुद्ध धर्म में ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना एवं तदनुसार कर्म करना निहित रहते हैं जिससे जीवन का सर्वोच्च मन्तव्य तथा भगवद्धाम की वापसी दोनों पूरे होते हैं। प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया कि

जीवन के प्रारम्भ से मनुष्य को *भागवतधर्म* के स्तर तक ऊपर उठना चाहिए (*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*)। भगवान् स्वयं भी शुद्ध कल्मषरहित धर्म की बात करते हैं जब वे *भगवद्गीता* (१८.६६) में कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों का परित्याग करके मेरी शरण में आ जाओ। मनुष्य को ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना चाहिए और तब उसी के अनुसार कर्म करना चाहिए। यही *भागवत धर्म* है। भागवत धर्म का अर्थ है *भक्तियोग*।

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

"भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त ही अहैतुकी ज्ञान तथा संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।" (*भागवत* १.२.७) शुद्ध धर्म के पद पर स्थित होने के लिए मनुष्य को वासुदेव कृष्ण से सम्बन्धित भक्ति करनी चाहिए।

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह (धर्म तथा ज्ञान विषयक उपदेश); तु—निस्सन्देह; कालस्य—समय के; दीर्घत्वात्—दीर्घ होने के कारण; स्त्रीत्वात्—स्त्री होने के कारण; मातुः—मेरी माता का; तिरोदधे—लुप्त हो गया; ऋषिणा—ऋषि द्वारा; अनुगृहीतम्—आशीर्वाद से; माम्—मुझको; न—नहीं; अधुना—आज; अपि—भी; अजहात्—छोड़ पाई; स्मृतिः—स्मृति (नारद मुनि के उपदेशों की)।

अधिक काल बीत जाने तथा स्त्री होने से अल्पज्ञ होने के कारण मेरी माता उन सारे उपदेशों को भूल गईं, किन्तु ऋषि नारद ने मुझे आशीर्वाद दिया था, अतएव मैं नहीं भूल पाया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय: ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

"हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण में आ जाते हैं—वे भले ही निम्नकुल में उत्पन्न स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों—परम गति को प्राप्त होते हैं।" *पापयोनि* शब्द उन लोगों के लिए आया है, जो शूद्रों से भी निम्न हैं। किन्तु भले ही स्त्री *पापयोनि* न हो, लेकिन अल्पज्ञ होने के कारण वह कभी-कभी भक्ति के उपदेशों को भूल जाती है। परन्तु जो पर्याप्त बलवान् हैं उनके भूलने का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्यतया स्त्रियाँ भौतिक भोग के प्रति आसक्त होती हैं जिसके कारण वे कभी-कभी भक्ति के उपदेश

भूल जाती हैं। किन्तु चाहे वह स्त्री ही क्यों न हो, यदि विधिवत् भक्ति का पूर्ण अभ्यास करती है, तो भगवान् के ही कथन के अनुसार वह भगवद्धाम वापस जा सकती है (*तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करके विधि-विधानों का कड़ाई से पालन करना चाहिए। तब बिना भेदभाव के वह भगवद्धाम वापस जा सकेगा। प्रह्लाद महाराज की माता गर्भस्थ शिशु की रक्षा के प्रति अधिक चिन्तित थीं और अपने पति को वापस आते देखने के लिए उत्सुक थीं। अतएव वे नारद मुनि के भव्य उपदेशों पर गम्भीरता से विचार नहीं कर सकीं।

भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः ।
वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥ १७॥

शब्दार्थ

भवताम्—तुम लोगों की; अपि—भी; भूयात्—हो सकता है; मे—मेरा; यदि—यदि; श्रद्दधते—तुम विश्वास करो; वचः—शब्द; वैशारदी—अत्यन्त दक्ष, या परमेश्वर के प्रति; धीः—बुद्धि; श्रद्धातः—दृढ़ श्रद्धा के कारण; स्त्री—स्त्रियों के; बालानाम्—बालकों के; च—भी; मे—मेरा; यथा—जिस तरह।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे मित्रों, यदि तुम मेरी बातों पर श्रद्धा करो तो तुम भी उसी श्रद्धा से मेरे ही समान दिव्य ज्ञान को समझ सकते हो, भले ही तुम सभी छोटे-छोटे बालक क्यों न हो। इसी प्रकार एक स्त्री भी दिव्य ज्ञान को समझ सकती है और यह जान सकती है कि आत्मा क्या है तथा भौतिक पदार्थ क्या है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के ये शब्द परम्परा से चले आने वाले ज्ञान के प्रसंग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रह्लाद महाराज अपनी माता के गर्भ में शिशु रूप में रहते हुए भी नारद के शक्तिशाली उपदेश को सुनकर परम शक्ति के अस्तित्व के विषय में पूर्णतः आश्वस्त थे और समझ गये थे किस प्रकार भक्तियोग द्वारा जीवन-सिद्धि प्राप्त की जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य हैं।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

"जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर निश्चित श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वतः प्रकट हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद:॥

"कोई भी व्यक्ति अपनी स्थूल भौतिक इन्द्रियों द्वारा कृष्ण को यथारूप में नहीं समझ सकता। वे भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर अपने आपको प्रकट करते हैं।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२३४)

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"मनुष्य परम पुरुष को उनके यथारूप में केवल भक्ति द्वारा समझ सकता है। और जब वह ऐसी भक्ति से परमेश्वर की पूर्ण भावना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।" (*भगवद्गीता* १८.५५)

ये वैदिक आदेश हैं। मनुष्य को गुरु के शब्दों में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए और भगवान् में भी ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए। तब आत्मा तथा परमात्मा का असली ज्ञान एवं भौतिक पदार्थ तथा आत्मा के मध्य का अन्तर स्वत: प्रकट हो जाएगा। यह *आत्मतत्त्व* या आध्यात्मिक ज्ञान भक्त के अन्तस्तल में प्रकट होगा, क्योंकि उसने प्रह्लाद महाराज जैसे *महाजन* के चरणकमलों की शरण ले ली है।

इस श्लोक में आगत *भूयात्* शब्द का अर्थ "जो हो सो" लिया जा सकता है। प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को यह कहकर आशीर्वाद देते हैं "तुम भी मेरे समान श्रद्धावान् बनो। प्रामाणिक वैष्णव बनो।" प्रत्येक भगवद्भक्त चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। किन्तु दुर्भाग्यवश कभी-कभी लोगों को परम्परा से चले आ रहे गुरु के शब्दों में प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं होती, अतएव वे दिव्य ज्ञान को समझ पाने में अक्षम रह जाते हैं। गुरु को प्रह्लाद महाराज की भाँति वैध परम्परा की श्रेणी में से होना चाहिए जिन्होंने नारद से ज्ञान प्राप्त किया। यदि असुरों के पुत्रों एवं प्रह्लाद महाराज के सहपाठियों को प्रह्लाद से सत्य का पाठ सीखना होता तो वे निश्चित रूप से दिव्य ज्ञान से अवगत हो गये होते।

वैशारदी धी: शब्द भगवान् विषयक बुद्धि को सूचित करने वाले हैं, क्योंकि भगवान् अत्यधिक दक्ष हैं। उन्होंने अपनी दक्षता से अलौकिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि की है। अत्यन्त दक्ष हुए बिना कोई भी परम दक्ष (पटु) की दक्ष-व्यवस्था को समझ नहीं सकता है। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि

उसे ब्रह्मा, शिव, माता लक्ष्मी या कुमारों से चली आ रही परम्परा का प्रामाणिक गुरु मिल जाये तो वह इसे समझ सकता है। ज्ञान तथा अध्यात्म के ये चार *सम्प्रदाय* क्रमश: ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय, श्री सम्प्रदाय तथा कुमार सम्प्रदाय कहलाते है। *सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता:*—ऐसे सम्प्रदाय या परम्परा से प्राप्त भगवद्ज्ञान मनुष्य को प्रबुद्ध कराने वाला है। यदि वह परम्परा मार्ग का अनुसरण नहीं करता तो भगवान् को समझ पाना असम्भव है। यदि कोई परम्परा में श्रद्धा के साथ भक्ति द्वारा परमेश्वर को समझता है और फिर आगे बढ़ता है, तो वह ईश्वर के प्रति अपने प्राकृतिक प्रेम को जागृत करता है। तब जीवन में उसकी सफलता निश्चित है।

जन्माद्या: षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मन: ।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

जन्म-आद्या:—जन्म से लेकर; षट्—छ: (जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु); इमे—ये सब; भावा:—शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ; दृष्टा:—देखे जाते हैं; देहस्य—शरीर के; न—नहीं; आत्मन:—आत्मा के; फलानाम्—फलों के; इव—सदृश; वृक्षस्य—वृक्ष के; कालेन—काल क्रम से; ईश्वर-मूर्तिना—जिसका स्वरूप रूपान्तर करने या शारीरिक कार्यकलापों को वश में करने की क्षमता है।.

जिस प्रकार वृक्ष के फलों तथा फूलों में कालक्रम से छ: प्रकार के परिवर्तन—जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, रूपान्तर, क्षय तथा अन्त में मृत्यु—होते हैं उसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में आत्मा को जो भौतिक शरीर प्राप्त होता है उसमें भी ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। किन्तु आत्मा में ऐसे परिवर्तन नहीं होते।

तात्पर्य : आत्मा तथा भौतिक शरीर का अन्तर समझने के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा शाश्वत है, जैसाकि *भगवद्गीता* (२.२०) में कहा गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।

अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

''आत्मा का न तो जन्म होता है न मृत्यु। न ही एक बार अस्तित्व में आने पर कभी इसका विनाश होता है। यह अजन्मा, शाश्वत, सदा विद्यमान रहने वाला, न मरने वाला तथा सनातन है। इस शरीर का

वध किये जाने पर इसका वध नहीं होता।'' आत्मा क्षय तथा परिवर्तन से मुक्त होने के कारण शाश्वत है, जबकि शरीर में क्षय तथा परिवर्तन होते रहते हैं। वृक्ष तथा उसके फल-फूलों का उदाहरण अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है। वृक्ष अनेकानेक वर्षों तक खड़ा रहता है, किन्तु ऋतु-परिवर्तन के साथ इसके फूलों तथा फलों में छः परिवर्तन होते हैं। आधुनिक रसायनविदों का मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त कि जीवन रासायनिक अन्तक्रियाओं से उत्पन्न किया जा सकता है सच नहीं माना जा सकता। मनुष्य के भौतिक शरीर का जन्म शुक्र तथा रज के मिश्रण से होता है, किन्तु जन्म का इतिहास तो यह है कि कभी-कभी मैथुन के बाद रज तथा वीर्य के मिलने के बाद भी गर्भधारण नहीं होता। जब तक इस मिश्रण में आत्मा प्रवेश नहीं करता तब तक गर्भधारण की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु मिश्रण में आत्मा का आश्रय मिलते ही शरीर का जन्म होता है, उसका अस्तित्व होता है, वह बढ़ता है, रूपान्तरित होता है, क्षीण होता है और अन्त में विनष्ट हो जाता है। वृक्ष में फल-फूल तो ऋतुओं के अनुसार आते-जाते रहते हैं, किन्तु वृक्ष खड़ा रहता है। इसी प्रकार देहान्तरशील जीव विविध शरीर स्वीकार करते हैं जिनमें छः परिवर्तन होते हैं, किन्तु आत्मा स्थायी रूप से वैसे का वैसा ही रहता है (*अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे*)। आत्मा शाश्वत है तथा सदा विद्यमान रहता है, किन्तु आत्मा द्वारा ग्रहीत शरीर बदलते रहते हैं।

आत्मा के दो प्रकार हैं—परमात्मा (भगवान्) तथा जीवात्मा (जीव)। जिस तरह जीवात्मा में विविध शारीरिक परिवर्तन होते रहते हैं उसी तरह परमात्मा में सृष्टि के विभिन्न कल्प घटित होते हैं। इस सम्बन्ध में मध्वाचार्य कहते हैं—

षड् विकाराः शरीरस्य न विष्णोस्तद्गतस्य च।

तदधीनं शरीरं च ज्ञात्वा तन् ममतां त्यजेत्॥

चूँकि शरीर आत्मा का बाह्य रूप है अतएव आत्मा शरीर पर आश्रित नहीं है, प्रत्युत शरीर आत्मा पर आश्रित है। जो इस सत्य को समझता है, वह अपने शरीर के पोषण के प्रति अधिक चिन्तित नहीं होता। शरीर को स्थायी रूप या शाश्वत रूप से धारण किये रहने की कोई सम्भावना नहीं है। *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।* यह *भगवद्गीता* (२.१८) का कथन है। भौतिक शरीर अन्तवन्त (नाशवान) है, किन्तु शरीर के भीतर का आत्मा शाश्वत है (*नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। भगवान् विष्णु

तथा उनके अंश रूप सारे जीव शाश्वत हैं। *नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् विष्णु मुख्य जीव हैं जबकि व्यक्तिगत जीव भगवान् विष्णु के अंश हैं। शरीर की सभी कोटियाँ—विराट् रूप से लेकर क्षुद्र चींटी तक नाशवान हैं, किन्तु परमात्मा तथा आत्मा गुण में एक से होने के कारण नित्य विद्यमान रहते हैं। अगले श्लोक में इसकी अधिक व्याख्या हुई है।

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥ १९ ॥
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा, भगवान् का अंश; नित्यः—जन्म या मृत्यु से रहित; अव्ययः—क्षीण होने की सम्भावना से रहित; शुद्धः—आसक्ति तथा विरक्ति के भौतिक कल्मष से रहित; एकः—अकेला; क्षेत्र-ज्ञः—जानने वाला अतएव भौतिक शरीर से पृथक्; आश्रयः—मूल आधार; अविक्रियः—शरीर की तरह परिवर्तन नहीं होते; स्व-दृक्—आत्म-प्रकाशित; हेतुः—समस्त कारणों के कारण; व्यापकः—चेतना के रूप में सारे शरीर में फैला हुआ; असङ्गी—शरीर पर आश्रित न रहकर (एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करने के लिए मुक्त); अनावृतः—भौतिक कल्मष के द्वारा आच्छादित नहीं; एतैः—इन सबों के द्वारा; द्वादशभिः—बारह; विद्वान्—व्यक्ति जो मूर्ख नहीं हैं, अपितु वस्तुओं के यथारूप से परिचित हैं; आत्मनः—आत्मा के; लक्षणैः—लक्षणों से; परैः—दिव्य; अहम्—मैं (मैं यह शरीर हूँ); मम—मेरा (इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है); इति—इस प्रकार; असत्-भावम्—जीवन की मिथ्या धारणा; देह-आदौ—अपनी पहचान भौतिक देह से और फिर अपनी पत्नी, सन्तान, परिवार, या जाति, राष्ट्र आदि से करना; मोह-जम्—मोहमय ज्ञान से उत्पन्न; त्यजेत्—त्याग देना चाहिए।

'आत्मा' परमेश्वर या जीवों का सूचक है। ये दोनों ही आध्यात्मिक हैं, जन्म-मृत्यु से मुक्त हैं तथा क्षय से रहित एवं भौतिक कल्मष से भी मुक्त हैं। ये व्यष्टि हैं, ये बाह्य शरीर के ज्ञाता हैं, प्रत्येक वस्तु के आश्रय या आधार हैं। ये भौतिक परिवर्तन से मुक्त हैं, ये आत्मप्रकाशित हैं, ये समस्त कारणों के कारण हैं तथा सर्वव्यापी हैं। इन्हें भौतिक शरीर से कोई सरोकार नहीं रहता, अतएव ये सदैव अनाकृष्ट रहते हैं। इस दिव्य गुणों से युक्त जो मनुष्य वास्तव में विद्वान है उसे जीवन की भ्रान्त धारणा का परित्याग करना चाहिए जिसमें वह सोचता है ''मैं यह भौतिक शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है।''

Footnote starts Here:

१.आत्मा के आश्रय बिना भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता।

२.जैसाकि पहले बताया जा चुका है वृक्ष में फल-फूल जन्म लेते हैं, लगे रहते हैं, बढ़ते हैं, रूपान्तरित होते हैं, क्षीण होते हैं और ऋतु-परिवर्तन के अनुसार विनष्ट होते हैं, किन्तु इतने सारे

परिवर्तनों के होते हुए भी वृक्ष वैसे का वैसा रहता है। इसी प्रकार आत्मा समस्त परिवर्तनों से मुक्त है।

३.किसी को आत्मा को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह स्वयं प्रकट है। मनुष्य सरलता से समझ सकता है कि जीवित शरीर में आत्मा है।

Footnote Ends Here.

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं— *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः*— सारे जीव मेरे अंश हैं। अतएव सारे जीव गुणात्मक रूप से भगवान् के ही समान हैं, जो समस्त जीवों के नायक या श्रेष्ठ हैं। वेदों में कहा गया है— *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*—भगवान् प्रधान जीव हैं, अधीन जीवों के नायक हैं। चूँकि सारे जीव ईश्वर के प्रतिरूप या अंश हैं अतएव उनके गुण परमेश्वर के गुणों से भिन्न नहीं होते। जीवों के गुण भगवान् जैसे होते हैं जिस प्रकार समुद्र की एक बूँद की रासायनिक संरचना स्वयं विशाल समुद्र जैसी होती है। इस तरह गुण में एकत्व किन्तु मात्रा में अन्तर होता है। कोई व्यक्ति नमूने के रूप में जीव को समझकर भगवान् को समझ सकता है क्योंकि ईश्वर के सारे गुण जीवों में सूक्ष्म मात्रा में पाये जाते हैं। वैसे तो एकत्व होता है, किन्तु ईश्वर महान् है, जबकि जीव अत्यन्त क्षुद्र हैं। *अणोरणीयान् महतो महीयान्* (कठोपनिषद् १.२.२०)। सारे जीव परमाणु से भी छोटे हैं किन्तु ईश्वर महानतम से भी महान् है। महानता सम्बन्धी हमारी धारणा को आकाश द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि हम आकाश को असीमरूप से विशाल मानते हैं, किन्तु ईश्वर आकाश से भी विशाल है। इसी प्रकार हमें ज्ञात है कि सारे जीव अणुओं से भी छोटे हैं—आकार में बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य—फिर भी जीव तथा भगवान् दोनों में समस्त कारणों के परम कारण होने का गुण पाया जाता है। निस्सन्देह, जीव की उपस्थिति के कारण ही शरीर का अस्तित्व है और उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के भीतर परमेश्वर के होने से ही भौतिक नियमों द्वारा नियंत्रित परिवर्तन घटित होते हैं।

एकः शब्द महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.४) में बताया गया है— *मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।* प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, जिसमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तथा जीव सम्मिलित हैं, आत्मा के पद पर स्थित है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु भगवान् से

उद्‌भूत है किन्तु कोई यह न सोचे कि भगवान् किसी अन्य वस्तु पर निर्भर हैं।

ईश्वर तथा जीव दोनों ही पूर्णतया सचेत हैं। जीवों के रूप में हम अपने शारीरिक अस्तित्व के प्रति सचेत हैं। इसी प्रकार भगवान् विराट दृश्य जगत के प्रति सचेत हैं। इसकी पुष्टि वेदों से होती है। *यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षम्। विज्ञातारम् अधिकेन विजानीयात्। एकमेवाद्वितीयम्। आत्मज्योतिः सम्राड् इहोवाच। स इमान् लोकान् असृजत। सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्। असङ्गो ह्ययं पुरुषः। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।* ये सारे वैदिक आदेश सिद्ध करते हैं कि भगवान् तथा लघु आत्मा दोनों व्यष्टि हैं। एक महान् है और दूसरा क्षुद्र किन्तु दोनों ही समस्त कारणों के कारण हैं—शरीर से सीमित किन्तु विश्व की दृष्टि से असीम।

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि हम गुण में भगवान् के समान हैं किन्तु मात्रा में कभी भी उनके तुल्य नहीं हैं। अल्पज्ञ व्यक्ति अपने आपको गुण में ईश्वर के समान पाकर मूर्खतावश यह सोचने लगते हैं कि मात्रा में भी वे उन्हीं के तुल्य हैं। उनकी बुद्धि *अविशुद्ध बुद्धयः* अर्थात् असंस्कृत या कल्मषग्रस्त बुद्धि कहलाती है। जब ऐसे लोग अनेक जन्मों तक परम कारण को समझने का प्रयास करने के बाद वासुदेव कृष्ण का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, तो वे उनकी शरण में जाते हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। इस प्रकार वे महात्मा बन जाते हैं। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लेता है—यह जान लेता है कि ईश्वर महान् हैं (विभु) और आत्मा लघु (अणु) है, तो वह पूर्ण ज्ञान को प्राप्त माना जाता है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह भौतिक शरीर है और शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उसकी है, तो वह अंधकार में रहता है। यह *अहं मम* (*जनस्य मोहोऽयमहं ममेति*) है। यह मोह है। उसे अपनी भ्रान्त धारणा त्याग कर हर एक वस्तु से पूर्णतः अवगत हो जाना चाहिए।

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात् ।
क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगै-
रध्यात्मविद्ब्रह्मगतिं लभेत ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्वर्णम्—सोने को; **यथा**—जिस प्रकार; **ग्रावसु**—स्वर्ण खनिज के पत्थरों में; **हेम-कारः**—स्वर्ण के विषय में जानने वाला, विशेषज्ञ; **क्षेत्रेषु**—सोने की खानों में; **योगैः**—विभिन्न विधियों द्वारा; **तत्-अभिज्ञः**—जानकार जो यह जानता है कि सोना कहाँ

है; आप्नुयात्—सरलता से प्राप्त कर लेता है; क्षेत्रेषु—भौतिक खेतों में; देहेषु—मनुष्य शरीरों तथा शेष चौरासी लाख योनियों में; तथा—उसी प्रकार; आत्म-योगैः—आध्यात्मिक विधियों से; अध्यात्म-वित्—आत्मा तथा पदार्थ के अन्तर को समझने में पटु; ब्रह्म-गतिम्—आध्यात्मिक जीवन में सिद्धि; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

एक दक्ष भूविज्ञानी समझ सकता है कि सोना कहाँ पर है और वह उसे स्वर्णखनिज में से विविध विधियों द्वारा निकाल सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। फिर भी जिस प्रकार एक अनाड़ी यह नहीं समझ पाता कि सोना कहाँ पर है, उसी प्रकार जिस मूर्ख व्यक्ति ने आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन नहीं किया वह यह नहीं समझ सकता कि शरीर के भीतर आत्मा किस तरह विद्यमान रह सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया गया है। मूर्ख लोग, जिनमें तथाकथित ज्ञानी, दार्शनिक तथा विज्ञानी सम्मिलित हैं, शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकते क्योंकि उनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव रहता है। वेदों का आदेश है—*तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—आध्यात्मिक ज्ञान समझने के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए। जब तक कोई भूगर्भविज्ञान में प्रशिक्षित न हुआ हो, वह पत्थर में सोने की पहचान नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य गुरु द्वारा प्रशिक्षित नहीं हो जाता वह आत्मा तथा पदार्थ के विषय में कुछ नहीं समझ सकता। यहाँ पर कहा गया है—*योगैस्तद् अभिज्ञः।* इससे सूचित होता है कि जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से रहता है, वह समझ सकता है कि शरीर के भीतर आध्यात्मिक आत्मा है। किन्तु जिसमें पशु-बुद्धि रहती है और आध्यात्मिक संस्कृति रहती ही नहीं वह इसे नहीं समझ सकता। एक दक्ष खनिजवेत्ता या भूगर्भशास्त्री यह समझ सकता है कि सोना कहाँ-कहाँ है और उसे निकालने के लिए वह धन लगा सकता है, एवं खनिज में से रासायनिक विधि से सोना निकाल लेता है। उसी तरह दक्ष अध्यात्मविद् (तत्त्ववेत्ता) भी समझ सकता है कि पदार्थ के भीतर आत्मा कहाँ है। जिसे प्रशिक्षण प्राप्त नहीं हुआ होता वह सोना तथा पत्थर में अन्तर नहीं बता सकता। इसी प्रकार जिन मूर्खों तथा धूर्तों ने दक्ष गुरु से यह नहीं सीखा कि आत्मा क्या है और पदार्थ क्या है, वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता। ऐसे ज्ञान को समझने के लिए उस मनुष्य को योग प्रणाली में या अन्ततः भक्ति योग प्रणाली में प्रशिक्षित होना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५५) में

कहा गया है— *भक्त्या मामभिजानाति*। जब तक कोई भक्तियोग की शरण नहीं ग्रहण करता तब तक वह शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नहीं समझ सकता, अतएव *भगवद्गीता* (२.१३) निम्नलिखित शिक्षा सिखाने से प्रारम्भ होती है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार आत्मा मृत्यु के समय दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध जीव ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।" इस प्रकार पहला उपदेश है कि शरीर के भीतर आत्मा रहता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान का यह शुभारम्भ है। जो व्यक्ति इस ज्ञान को समझने में दक्ष नहीं होता अथवा इसे समझने की परवाह नहीं करता वह देहात्मबुद्धि में पाशविक जीवन की विचारधारा में पड़ा रहता है, जिसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में की गई है (*यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके...स एव गोखरः*)। मानव समाज के प्रत्येक व्यक्ति को *भगवद्गीता* के उपदेशों को समझा चाहिए क्योंकि यही एक साधन है, जिससे कोई आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और स्वतः इस मिथ्या भ्रामक ज्ञान को त्याग सकता है, जिसके कारण वह सोचता है "मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ मेरी हैं (*अहं ममेति*)।" कूकरों की सी इस धारणा को अविलम्ब त्यागना होगा। मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा या ईश्वर को समझने के लिए तैयार रहना चाहिए, क्योंकि ये परम्परा सम्बन्धित हैं। इस प्रकार जीवन की समस्याएँ हल करके मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सकता है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः ।
विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥ २२॥

शब्दार्थ

अष्टौ—आठ; प्रकृतयः—भौतिक शक्तियाँ; प्रोक्ताः—कही गयी हैं; त्रयः—तीन; एव—निश्चय ही; हि—निश्चित; तत्-गुणाः—भौतिक शक्ति के गुण; विकाराः—रूपान्तर, दोष; षोडश—सोलह; आचार्यैः—अधिकारियों द्वारा; पुमान्—जीव; एकः—एक; समन्वयात्—समन्वय से।

भगवान् की आठ भिन्न भौतिक शक्तियों, प्रकृति के तीन गुणों तथा सोलह विकारों (ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच स्थूल तत्त्व यथा पृथ्वी तथा जल) के अन्तर्गत एक ही आत्मा साक्षी के रूप में

विद्यमान रहता है। अतएव सारे महान् आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा इन्हीं भौतिक तत्त्वों द्वारा बद्ध है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया जा चुका है—*क्षेत्रेषु देहेषु तथात्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत*—आध्यात्मिक रूप से अग्रसर व्यक्ति यह समझ सकता है कि शरीर के भीतर किस तरह आध्यात्मिक कण विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जो बुद्धिमान पुरुष शरीर के भीतर आत्मा का अनुसन्धान करने में पटु है उसे उन आठ बहिरंगा शक्तियों को समझना चाहिए जो *भगवद्गीता* (७.४) में सूचीबद्ध हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मेरी भिन्न भौतिक शक्तियाँ हैं। *भूमि* में सारे इन्द्रियबोध के विषय सम्मिलित हैं—रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श। गुलाब की सुगंध, मीठे फल का स्वाद तथा अन्य जो कुछ हम चाहते हैं, वह सब भूमि के ही अन्तर्गत आता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१०.४) में कहा गया है—*सर्वकामदुघा मही*—पृथ्वी (मही) में हमारी सारी आवश्यक वस्तुएँ हैं। इस प्रकार *भूमि* या पृथ्वी में सारे इन्द्रियबोध के विषय हैं। स्थूल भौतिक तत्त्व तथा सूक्ष्मतत्त्व (मन, बुद्धि तथा अहंकार) मिलकर सम्पूर्ण भौतिक शक्ति बनाते हैं।

इसी सम्पूर्ण भौतिक शक्ति में तीन गुण हैं। ये हैं—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। ये आत्मा से नहीं, अपितु भौतिक शक्ति से सम्बद्ध हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा उनका नियंत्रक मन प्रकट होते हैं। तब इन गुणों के अनुसार जीवात्मा विभिन्न प्रकार के कर्मों को विभिन्न प्रकार के ज्ञान, विचार, अनुभूति तथा इच्छा से सम्पन्न करने का अवसर प्राप्त करता है। इस प्रकार शारीरिक यंत्र कार्य करना प्रारम्भ करता है।

इसका समुचित विश्लेषण बड़े-बड़े आचार्यों द्वारा, विशेष रूप से देवहूति-पुत्र भगवान् कृष्ण के अवतार कपिल द्वारा, *सांख्य योग* में हुआ है। यहाँ पर इसका संकेत *आचार्यै* शब्द से हुआ है। हमें चाहिए कि जो वैध आचार्य न हो उसका अनुगमन न करें। *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—दक्ष आचार्य की शरण ग्रहण करने पर ही सत्य को पूरी तरह समझा जा सकता है।

जीव अकेला है लेकिन शरीर कई भौतिक तत्त्वों का संघटन है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ज्योंही जीव भौतिक तत्त्वों के इस संघटन को छोड़ देता है त्योंही वह पदार्थ का निरा संघट्ट बन जाता है। गुणात्मक रूप से पदार्थ एक है और आत्मा भी परमात्मा के साथ एक है। परमात्मा एक है तथा आत्मा (जीव) भी एक है, किन्तु आत्मा को व्यष्टि भौतिक शक्ति के संयोग का नियन्ता माना जाता है, जबकि परमेश्वर समग्र भौतिक शक्ति का नियंत्रक है। जीव अपने शरीर विशेष का स्वामी है और अपने कर्मों के अनुसार विविध सुख-दुख भोगता है, किन्तु परम पुरुष परमात्मा यद्यपि एक है, किन्तु वह विभिन्न शरीरों में व्यष्टि के रूप में उपस्थित है।

भौतिक शक्ति वस्तुतः चौबीस तत्त्वों में विभाजित है। आत्मा अथवा शरीर का स्वामी पच्चीसवाँ तत्त्व है और इन सबों के ऊपर परमात्मा रूप में भगवान् विष्णु हैं, जो छब्बीसवें तत्त्व हैं। जब कोई इन छब्बीसों तत्त्वों को जान लेता है, तो वह *अध्यात्मवित्* बन जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१३.३) में कहा गया है—*क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्*—क्षेत्र (शरीर) तथा आत्मा और परमात्मा मिलकर असली ज्ञान की सृष्टि करते हैं। जब तक मनुष्य यह नहीं समझ लेता कि आत्मा से भगवान् का नित्य सम्बन्ध है तब तक उसका ज्ञान अधूरा रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१९) में हुई है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्मों तथा मृत्युओं के बाद जो वास्तव में ज्ञानी है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण जानते हुए मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।" प्रत्येक वस्तु, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, उन वासुदेव की विभिन्न शक्तियों से युक्त है जिनके अधीन आत्मा है, जो परमेश्वर का ही अंश है। इस पूर्ण ज्ञान को समझ लेने पर मनुष्य भगवान् की शरण ग्रहण करता है (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)।

देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत्तस्थुरिति द्विधा ।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत्त्यजन् ॥ २३॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; तु—लेकिन; सर्व-सङ्घातः—चौबीसों तत्त्वों का मेल; जगत्—चलायमान दिखने वाला चर; तस्थुः—तथा एक स्थान पर खड़ा, अचर; इति—इस प्रकार; द्विधा—दो प्रकार; अत्र एव—इस पदार्थ में; मृग्यः—खोजा जाना चाहिए; पुरुषः—

जीव, आत्मा; न—नहीं; इति—इस प्रकार; न—नहीं; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; अतत्—जो आत्मा नहीं है; त्यजन्—त्यागते हुए।.

प्रत्येक जीवात्मा के दो प्रकार के शरीर होते हैं—पाँच स्थूल तत्त्वों से बना स्थूल शरीर तथा तीन सूक्ष्म तत्त्वों से बना सूक्ष्म शरीर। किन्तु इन्हीं शरीरों में आत्मा है। मनुष्य को चाहिए कि वह ''यह नहीं है, यह नहीं है,'' कहकर विश्लेषण द्वारा आत्मा का अनुसन्धान करे। इस तरह उसे आत्मा को पदार्थ से पृथक् कर लेना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा गया है—*स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकार: क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।* जो मिट्टी के अध्ययन में दक्ष हैं वह ज्ञात कर लेता है कि सोना कहाँ पर है और फिर वहीं खोदता है। तब वह पत्थर का विश्लेषण कर सकता है और सोने की परीक्षा नाइट्रिक अम्ल से कर सकता है। इसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा ढूँढने के लिए मनुष्य को सारे शरीर का विश्लेषण करना चाहिए। अपने शरीर का विश्लेषण करते समय मनुष्य को अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या उसका सिर आत्मा है, क्या उसकी अँगुलियाँ आत्मा हैं, क्या हाथ आत्मा हैं, आदि-आदि। इस प्रकार उसे एक-एक करके सारे भौतिक तत्त्वों एवं शरीर में इन तत्त्वों के मेलों को नकार देना चाहिए। तब यदि कोई पटु है और आचार्य का अनुगमन करता है, तो वह समझ सकता है कि वह शरीर के भीतर रहने वाला आत्मा है। *भगवद्गीता* (२.१३) में सर्वोच्च आचार्य कृष्ण अपनी शिक्षाएँ इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

''जिस तरह इस शरीर में देहधारी आत्मा निरन्तर बचपन से युवावस्था में और फिर वृद्धावस्था में जाता है उसी प्रकार मृत्यु के समय आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहग्रस्त नहीं होता।'' आत्मा के शरीर होता है और वह शरीर के भीतर रहता है। यही असली विश्लेषण है। आत्मा कभी शारीरिक तत्त्वों में मिल नहीं पाता। यद्यपि आत्मा शरीर के भीतर रहता है, किन्तु यह पृथक् और सदैव शुद्ध रहने वाला है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विश्लेषण करे और अपने आपको समझे। यही आत्म-साक्षात्कार है। *नेति-नेति* पदार्थ को नकारने की विश्लेषण विधि है। मनुष्य को चाहिए कि दक्षतापूर्वक ऐसा विश्लेषण करके यह समझे कि आत्मा कहाँ है। किन्तु जो दक्ष नहीं है, वह न तो सोना तथा मिट्टी में अन्तर कर सकता है, न ही शरीर तथा आत्मा में।

अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशतात्मना ।
स्वर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अन्वय—प्रत्यक्षतः; व्यतिरेकेण—तथा अप्रत्यक्ष रूप से; विवेकेन—प्रौढ़ विवेकता; उशता—शुद्ध हुआ; आत्मना—मन से; स्वर्ग—सृष्टि; स्थान—पालन; समाम्नायैः—तथा विनाश द्वारा; विमृशद्भिः—गम्भीर विश्लेषण करने वालों के द्वारा; असत्-वरैः—अत्यन्त धीर।

धीर तथा दक्ष पुरुषों को चाहिए कि आत्मा का अनुसन्धान वैश्लेषिक अध्ययन के द्वारा शुद्ध हुए मनों से करें जो सृष्टि, पालन तथा संहार होने वाली सारी वस्तुओं से आत्मा के सम्बन्ध तथा अन्तर के रूप में किया गया हो।

तात्पर्य : धीर व्यक्ति वैश्लेषिक अध्ययन द्वारा स्वयं ही शरीर तथा आत्मा के अन्तर को जान सकता है। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति अपने शरीर में अपने हाथ, सिर इत्यादि पर विचार करता है, वह निश्चय ही आत्मा तथा शरीर के अन्तर को समझ सकता है। कोई यह नहीं कहता ''मैं सिर हूँ।'' सभी यह कहते हैं ''मेरा सिर।'' अतएव दो संज्ञाएँ हैं—'सिर तथा मैं।' वे एक नहीं हैं, यद्यपि वे एक संघट्ट प्रतीत होते हैं।

कोई यह तर्क कर सकता है ''जब हम शरीर का विश्लेषण करते हैं, तो उसमें हमें सिर, हाथ, पाँव, पेट, रक्त, अस्थियाँ, मूत्र, मल इत्यादि मिलते हैं किन्तु जब सबों पर विचार हो चुका होता है, तो फिर आत्मा कहाँ है?'' किन्तु गम्भीर मनुष्य इस वैदिक उपदेश का लाभ उठाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१.१)

इस प्रकार वह समझ सकता है कि सिर, हाथ तथा पूरा शरीर आत्मा के आधार पर बड़ा हुआ है। यदि आत्मा भीतर है, तो शरीर, सिर, हाथ, पैर बढ़ते हैं, अन्यथा नहीं। मृत बालक नहीं बढ़ता क्योंकि उसमें आत्मा विद्यमान नहीं है। यदि शरीर के सतर्क विश्लेषण के बाद भी किसी को आत्मा का अस्तित्व न दिखे, तो यह अज्ञान ही है। भला भौतिकतावादी कार्यकलापों में पूरी तरह संलग्न व्यक्ति किस प्रकार उस आत्मा को समझ सकता है, जो एक बाल के अगले भाग के दस हजारवें भाग जितना छोटा है? ऐसा व्यक्ति मूर्खतावश सोचता है कि भौतिक शरीर रसायनों के मेल से बड़ा हुआ है, यद्यपि वह इन तत्त्वों को ढूँढ़ नहीं पाता। किन्तु वेद हमें बताते हैं कि रासायनिक मेल से प्राण नहीं बनता;

प्राण तो आत्मा तथा परमात्मा है और शरीर उसी प्राण के ही आधार पर बढ़ता है। वृक्ष में लगा फल वृक्ष की उपस्थिति के कारण ही बढ़ता है और उसमें छह प्रकार के परिवर्तन होते हैं। यदि वृक्ष न हो तो फल के बढ़ने तथा परिपक्व होने का प्रश्न ही न उठे। अतएव शरीर के अस्तित्व के परे शरीर के भीतर परमात्मा तथा आत्मा है। *भगवद्गीता* में बताये गये आध्यात्मिक ज्ञान की यह पहली जानकारी है। *देहिनोऽस्मिन् यथा देहे*—शरीर का अस्तित्व परमेश्वर तथा उन्हीं के अंशस्वरूप जीव की उपस्थिति के कारण होता है। इसकी आगे व्याख्या *भगवद्गीता* (९.४) में स्वयं भगवान् ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" परमात्मा सर्वत्र उपस्थित है। वेदों का आदेश है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है या कि ब्रह्म की शक्ति का विस्तार है। *सूत्रे मणिगणा इव*—प्रत्येक वस्तु भगवान् पर अवलम्बित है, जिस प्रकार मोती सूत्र द्वारा गूँथे रहते हैं। यह सूत्र प्रधान ब्रह्म है। यह परम कारण परमेश्वर है, जिस पर प्रत्येक वस्तु आधारित है (*मत्तः परतरं नान्यत*)। इस प्रकार हमें चाहिए कि आत्मा तथा परमात्मा का अध्ययन करें जिस पर यह सारा भौतिक विराट् जगत आश्रित है। इसकी व्याख्या इस वैदिक कथन से हो जाती है—
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः ।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥ २५॥

शब्दार्थ

बुद्धेः—बुद्धि का; जागरणम्—जागरण या स्थूल इन्द्रियों की सक्रिय अवस्था; स्वप्नः—स्वप्न (स्थूल शरीर के बिना ही इन्द्रियों की सक्रियता); सुषुप्तिः—प्रगाढ़, निद्रा या सारे कार्यकलापों का बन्द होना (यद्यपि जीव दर्शक होता है); इति—इस प्रकार; वृत्तयः—विभिन्न कार्यकलाप; ताः—वे; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; अनुभूयन्ते—अनुभव किये जाते हैं; सः—वह; अध्यक्षः—साक्षी (जो कार्यकलापों से भिन्न है); पुरुषः—भोक्ता; परः—दिव्य।

सक्रियता की तीन अवस्थाओं (वृत्तियों) में बुद्धि की अनुभूति की जा सकती है—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जो व्यक्ति इन तीनों का अनुभव करता है उसे ही मूल स्वामी या शासक, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : बुद्धि के बिना न तो कोई इन्द्रियों के प्रत्यक्ष कार्यकलापों को समझ सकता है, न स्वप्न

को और न समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म कार्यकलापों की समाप्ति को समझ सकता है। साक्षी तथा नियन्ता तो परमात्मा है, जिसके निर्देश से आत्मा जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त अवस्था में समझ सकता है। भगवान् *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति प्राप्त होती है। सारे जीव अपनी बुद्धि के कारण जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त इन तीन अवस्थाओं में लीन रहते हैं। यह बुद्धि उन भगवान् द्वारा प्रदत्त होती है, जो मित्र के रूप में आत्मा के साथ रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि जब जीव की बुद्धि सुख-दुख को कार्यकलापों के ऊपर अनुभव करके सक्रिय होती है, तो कभी-कभी उसे *सत्त्व बुद्धि* कहा जाता है। स्वप्न की अवस्था में भगवान् से ही ज्ञान प्राप्त होता है (*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*)। भगवान् या परमात्मा परम नियन्ता हैं और सारे उपनिदेशक उन्हीं के निर्देशन में हैं। मनुष्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि से भगवान् को समझे।

एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः ।
स्वरूपमात्मनो बुध्येद्गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एभिः—इन; त्रि-वर्णैः—तीन गुणों के द्वारा निर्मित; पर्यस्तैः—पूर्णतया तिरस्कृत (प्राण का स्पर्श न करने से); बुद्धि—बुद्धि के; भेदैः—प्रकारों से; क्रिया-उद्भवैः—विभिन्न कार्यकलापों से उत्पन्न; स्वरूपम्—स्वाभाविक स्थिति; आत्मनः—आत्मा की; बुध्येत्—समझना चाहिए; गन्धैः—गन्ध से; वायुम्—वायु को; इव—ठीक उसी तरह; अन्वयात्—घनिष्ठ सम्बन्ध से।

जिस प्रकार वायु की उपस्थिति उसके द्वारा ले जाई जाने वाली सुगन्धियों के द्वारा जानी जाती है उसी तरह भगवान् के निर्देशन में मनुष्य बुद्धि के इन तीन विभागों द्वारा जीवात्मा को समझ सकता है। किन्तु ये तीन विभाग आत्मा नहीं हैं, वे तीन गुणों से बने होते हैं और क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं में हमारे अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। इस तरह आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। वास्तव में शरीर की क्रियाएँ आत्मा की क्रियाएँ नहीं हैं। आत्मा शरीर से पृथक् है। जिस प्रकार सुगन्ध उस भौतिक माध्यम से भिन्न होती है, जिस में उसे ले जाया जाता है उसी प्रकार आत्मा भौतिक क्रियाओं से अनासक्त रहता है। ऐसा विश्लेषण वही कर सकता है, जो परमेश्वर के चरणकमलों में शरणागत है। इसकी पुष्टि इस वैदिक आदेश द्वारा होती है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं*

विज्ञातं भवति। यदि कोई भगवान् को समझ सकता है, तो वह अन्य बातें स्वत: ही समझ सकता है। भगवान् के चरणारविन्दों की शरण न ग्रहण करने के कारण बड़े-बड़े विद्वान, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा धर्मवेत्ता भी सदैव मोहग्रस्त रहते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में हुई है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्

त्वय्यस्तभावाद् अविशुद्धबुद्धय:।

भले ही कोई अपने को भव-कल्मष से मुक्त क्यों न समझे, किन्तु यदि उसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं की है, तो उसकी बुद्धि दूषित रहती है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.४२) में कहा गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:॥

इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। अन्तत: जब मनुष्य की बुद्धि भक्ति द्वारा शुद्ध हो जाती है, तो वह *बुद्धि योग* में स्थित हो जाता है। इसकी भी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है (*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*)। भक्ति के विकसित होने तथा मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होने पर वह अपनी बुद्धि का उपयोग भगवद्धाम वापस जाने में कर सकता है।

एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धन: ।
अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंस: स्वप्न इवार्प्यते ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; द्वार:—जिसका द्वार; हि—निस्सन्देह; संसार:—भौतिक जगत जिसमें मनुष्य तीन प्रकार के कष्ट पाता है; गुण-कर्म-निबन्धन:—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा बन्दी बनना; अज्ञान-मूल:—जिसकी जड़ अज्ञान है; अपार्थ:—निरर्थक; अपि—यद्यपि; पुंस:—जीव का; स्वप्न:—स्वप्न; इव—सदृश; अर्प्यते—रखा जाता है।

दूषित बुद्धि के कारण मनुष्य को प्रकृति के गुणों के अधीन रहना पड़ता है और इस प्रकार वह भवबन्धन में पड़ जाता है। इस संसार को, जिसका कारण अज्ञान है, उसी प्रकार अवांछित तथा नश्वर मानना चाहिए जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मनुष्य को झूठे ही कष्ट भोगना पड़ता है।

तात्पर्य : नश्वर जीवन की अवांछित दशा को ही अज्ञान कहते हैं। मनुष्य यह आसानी से समझ सकता है कि भौतिक देह नश्वर है, क्योंकि यह एक निश्चित तिथि पर सृजित होती है और जन्म, मृत्यु, वृद्धि, पालन, रूपान्तरण तथा क्षय इन छ: अवस्थाओं को पार करके निश्चित तिथि पर इसका अन्त हो

जाता है। शाश्वत आत्मा की यह दशा उसके अज्ञान के कारण है और यद्यपि यह नश्वर है तथापि यह अवांछित है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य को एक नश्वर शरीर के बाद दूसरे में रखा जाता है। किन्तु आत्मा को ऐसे नश्वर शरीर में प्रविष्ट होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह अपने अज्ञान के कारण या कृष्ण को विस्मृत करने के कारण ही ऐसा करता है। अतएव इस मानव जीवन में, जिसमें बुद्धि विकसित रहती है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण को समझने का प्रयास करते हुए अपनी भावना को बदले। तभी वह मुक्त हो सकेगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को त्यागने के बाद पुन: इस संसार में जन्म नहीं लेता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" जब तक मनुष्य कृष्ण को समझता नहीं और कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह भव-बन्धन में पड़ा रहता है। इस बद्ध जीवन को समाप्त करने के लिए उसे *भगवान्* की शरण ग्रहण करनी चाहिए। निस्सन्देह, भगवान् यही चाहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।*

जैसाकि महाराज ऋषभदेव ने उपदेश दिया है—*न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देह:।* मनुष्य को इतना समझदार तो होना ही चाहिए कि वह यह समझे कि यद्यपि यह शरीर नश्वर है और बहुत काल तक नहीं रहेगा, किन्तु जब तक यह शरीर है तब तक कष्ट भोगना होगा। अतएव यदि वह अच्छी संगति से किसी प्रामाणिक गुरु के उपदेशों से कृष्णभावनामृत ग्रहण कर ले तो उसके बद्ध जीवन का अन्त हो सकता है और उसकी मूल भावना, जो कि कृष्णभावनामृत कहलाती है, पुन: जागृत हो सकती है। जब कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह समझ सकता है कि यह जीवन, चाहे जाग्रत अवस्था में हो या स्वप्न अवस्था में हो, स्वप्नवत् ही रहता है और उसका वास्तविक महत्त्व नहीं रहता। यह अनुभूति भगवान् की कृपा से सम्भव है। यह कृपा *भगवद्गीता* के उपदेशों के रूप में उपलब्ध है। अतएव हर एक के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है कि वह मानव समाज के हर एक मूर्ख व्यक्ति को जाग्रत करने के लिए कल्याण कार्यों में लग जाये जिससे वह भी कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त कर सके और बद्ध जीवन से मुक्ति-लाभ कर सके।

इस सम्बन्ध में श्री मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्‌धृत किये हैं—

दुःखरूपोऽपि संसारो बुद्धिपूर्वम् अवाप्यते।

यथा स्वप्ने शिरश्छेदं स्वयं कृत्वात्मनो वशः॥

ततो दुःखमवाप्येत तथा जागरितोऽपि तु।

जानन्नप्यात्मनो दुःखमवशस्तु प्रवर्तते॥

मनुष्य को समझना चाहिए कि भौतिक जीवन दुखों से पूर्ण है, इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा ही समझा जा सकता है। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है, तो वह यह समझ सकता है कि अवांछित नश्वर भौतिक जीवन स्वप्नतुल्य है। जिस प्रकार स्वप्न में सिर काटे जाने पर मनुष्य को पीड़ा का अनुभव होता है, उसी प्रकार अज्ञान में वह न केवल स्वप्न में, अपितु जाग्रत अवस्था में भी कष्ट पाता है। भगवान् की कृपा बिना वह अज्ञान में पड़ा रहता है और नाना प्रकार के भौतिक कष्टों को भोगता है।

तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ।
बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; भवद्भिः—तुम लोगों द्वारा; कर्तव्यम्—करणीय; कर्मणाम्—सारे भौतिक कार्यकलापों का; त्रि-गुण-आत्मनाम्—प्रकृति के तीन गुणों द्वारा; बीज-निर्हरणम्—बीज का जलना; योगः—परमेश्वर से जुड़ने की विधि; प्रवाह—जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के रूप में निरन्तर धारा की; उपरमः—समाप्ति; धियः—बुद्धि का।.

अतएव हे मित्रो, हे असुर पुत्रो, तुम्हारा कर्तव्य है कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करो जो प्रकृति के गुणों द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न सकाम कर्मों के बीज को जला सकता है और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्त अवस्था में बुद्धि के प्रवाह को रोक सकता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत ग्रहण करने पर मनुष्य का अज्ञान तुरन्त विनष्ट हो जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।'' भक्तियोग कि अभ्यास द्वारा मनुष्य तुरन्त ही आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के कार्य-कारणों से परे है। अज्ञान की जड़

भौतिक चेतना है, जिसे आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत द्वारा काटा जा सकता है। *बीजनिर्हरणम्* शब्द भौतिक जीवन के मूल कारण को भस्मसात करने को बताता है। *मेदिनी कोश* में मोह की परिभाषा उसके फल के रूप में दी गई है—*योगेऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।* जब कोई अज्ञान के कारण विषम परिस्थिति में फँस जाता है, तो वह जिस विधि से इससे मुक्त हो पाता है, वह योग है। इसे ही मुक्ति भी कहते हैं। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। मुक्ति* का अर्थ है अज्ञान या मोह की उस स्थिति का परित्याग जिससे वह अपनी स्वाभाविक स्थिति के विपरीत सोचता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में लौट आने को *मुक्ति* कहते हैं और जिस विधि से यह किया जाता है, वह *योग* है। इस प्रकार योग कर्म, ज्ञान तथा सांख्य से बढ़कर है। निस्सन्देह, योग जीवन का चरम लक्ष्य है इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी कि वह योगी बन जाये (*तस्माद् योगी भवार्जुन*)। भगवान् कृष्ण ने आगे भी *भगवद्गीता* (६.४७) में उपदेश दिया है कि उच्च श्रेणी का योगी वह है, जिसने भक्ति का पद प्राप्त कर लिया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दिव्य प्रेमाभक्ति में मेरी पूजा करते हुए सदैव मुझी में लगा रहता है, वह मुझसे योग द्वारा घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा रहता है और सबों में श्रेष्ठ होता है।" अतएव जो व्यक्ति अपने हृदय में कृष्ण का सदैव चिन्तन करता है, वह *सर्वश्रेष्ठ* योगी है। इस सर्वश्रेष्ठ योग प्रणाली का अभ्यास करके वह भौतिक दशा से मुक्त हो जाता है।

तत्रोपायसहस्त्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उस सम्बन्ध में (भवबन्धन से छूटने में); उपाय—विधियों में; सहस्त्राणाम्—हजारों; अयम्—यह; भगवता उदितः—भगवान् द्वारा प्रदत्त; यत्—जो; ईश्वरे—ईश्वर में; भगवति—भगवान् में; यथा—जिस प्रकार; यैः—जिसके द्वारा; अञ्जसा—तेजी से; रतिः—प्रेम तथा स्नेह से आसक्ति।

भौतिक जीवन से छूटने के लिए जितनी विधियाँ संस्तुत हैं उनमें से उस एक को जिसे स्वयं भगवान् ने बताया है और स्वीकार किया है, सभी तरह से पूर्ण समझना चाहिए। वह विधि है कर्तव्य का सम्पन्न किया जाना जिससे परमेश्वर के प्रति प्रेम विकसित होता है।

तात्पर्य : उन अनेक योग विधियों में से जो मनुष्य को भव-कल्मष के बन्धन से ऊपर उठाती हैं उस एक विधि को जिसे भगवान् ने संस्तुत किया है सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में स्पष्टत: बतलाई गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण ग्रहण करो। यह विधि सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् आश्वस्त करते हैं—*अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:*—मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम डरो मत। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे अपने भक्त की रखवाली करेंगे और उसे पापकर्मों के फलों से बचा लेंगे। भवबन्धन पापकर्मों का ही फल है। इसलिए चूँकि भगवान् आश्वस्त कर रहे हैं कि वे सकाम कर्मों के फलों को दूर कर देंगे, अतएव चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। इसीलिए आत्मा के रूप में अपनी स्थिति को समझने तथा अपने को भक्ति में लगाने की विधि सर्वोत्तम है। सम्पूर्ण वैदिक कार्यक्रम इसी सिद्धान्त पर टिका है और मनुष्य इसे वेदों में संस्तुत की गई विधि से समझ सकता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:॥

"जो महापुरुष भगवान् तथा गुरु दोनों पर गूढ़ श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक ज्ञान का सारा आशय स्वत: प्रकट हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३) मनुष्य को चाहिए कि ईश्वर के प्रतिनिधि स्वरूप शुद्ध भक्त को अपना गुरु मान ले और उसे भगवान् के ही समान आदर प्रदान करे। यही सफलता का रहस्य है। जो इस विधि को ग्रहण करता है उसे पूरी विधि ज्ञात हो जाती है। इस श्लोक में *यैरञ्जसा रति:* शब्द यह बताते हैं कि गुरु की सेवा करने तथा उसकी शरण ग्रहण करने से मनुष्य को भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति करने से वह धीरे-धीरे भगवान् में आसक्त हो जाता है। भगवान् के प्रति इस आसक्ति के कारण वह भगवान् को समझ सकता है। दूसरे शब्दों में, वह यह समझ सकता है कि भगवान् की स्थिति क्या है, हमारी स्थिति क्या है और हमारा सम्बन्ध क्या है? भक्तियोग की सरल विधि द्वारा यह सब सरलता से समझा जा सकता है। ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद को प्राप्त होता है त्योंहि उसके कष्ट तथा उसके भव-बन्धन का मूल कारण नष्ट हो जाता हैं। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगले श्लोक में की गई है, जो सफलता के रहस्य को बताता है।

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च ।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥ ३० ॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गुरु-शुश्रूषया—प्रामाणिक गुरु की सेवा द्वारा; भक्त्या—श्रद्धा तथा भक्ति से; सर्व—समस्त; लब्ध—भौतिक लाभों के; अर्पणेन—अर्पण से (गुरु को या गुरु के माध्यम से कृष्ण को); च—तथा; सङ्गेन—संगति से; साधु-भक्तानाम्—भक्तों तथा साधु पुरुषों की; ईश्वर—भगवान् की; आराधनेन—पूजा से; च—तथा; श्रद्धया—अत्यन्त श्रद्धापूर्वक; तत्-कथायाम्—भगवान् की कथाओं में; च—तथा; कीर्तनैः—यशोगान द्वारा; गुण-कर्मणाम्—भगवान् के दिव्य गुणों तथा कर्मों का; तत्—उसके; पाद-अम्बुरुह—चरणकमलों पर; ध्यानात्—ध्यान से; तत्—उसका; लिङ्ग—स्वरूप (अर्चाविग्रह); ईक्ष—दर्शन; अर्हण-आदिभिः—तथा पूजा द्वारा।

मनुष्य को प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए और अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धा से उसकी सेवा करनी चाहिए। उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को अर्पित करना चाहिए और सन्त पुरुषों तथा भक्तों की संगति में भगवान् की पूजा करनी चाहिए, श्रद्धापूर्वक भगवान् के यश का श्रवण करना चाहिए, भगवान् के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों का यशोगान करना चाहिए, सदैव भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए तथा शास्त्र एवं गुरु के आदेशानुसार भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जिस विधि से भगवान् के प्रति प्रेम तथा स्नेह तुरन्त बढ़े वह इस भव-बन्धन से मुक्त होने के हजारों उपायों में सर्वश्रेष्ठ है। कहा गया है—*धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्*—वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों का सत्य अत्यन्त गुह्य होता है। फिर भी यदि कोई धर्म के नियमों को वास्तव में स्वीकार कर ले तो इसे सरलता से समझा जा सकता है। जैसाकि कहा गया है—*धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्*—धर्म की विधि परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित है, क्योंकि वे परमसत्ता हैं। पिछले श्लोक में भी इसे *भगवतोदितः* शब्द द्वारा सूचित किया गया है। भगवान् के आदेश अच्युत हैं और उनके लाभ पूर्णतः निश्चित हैं। उनके आदेशनुसार धर्म का पूर्ण स्वरूप भक्तियोग है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है।

भक्तियोग का अभ्यास करने के पूर्व प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.७४-७५) में उपदेश दिया है—

गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादिशिक्षणम्।

विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्तनम् ॥

सद्धर्म पृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे।

मनुष्य का पहला कर्तव्य है कि प्रामाणिक गुरु स्वीकार करे। छात्र या शिष्य को अत्यन्त जिज्ञासु होना चाहिए, उसे सनातन धर्म के विषय में पूर्ण सत्य जानने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। *गुरु शुश्रूषया* शब्दों का अर्थ है कि वह स्वयं गुरु को शारीरिक सुविधाएँ प्रदान करके जैसे स्नान करते, वस्त्र बदलते, सोते, खाते समय सहायता पहुँचा कर उनकी सेवा करे। यह *गुरु शुश्रूषणम्* कहलाता है। शिष्य दास की भाँति गुरु की सेवा करे और उसके पास जो कुछ भी हो उसे गुरु को समार्पित कर दे। *प्राणैः अर्थैर्धिया वाचा।* प्रत्येक व्यक्ति के पास जीवन, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी होती है और इन सबों को गुरु के माध्यम से भगवान् को अर्पित कर देना चाहिए। गुरु को सब कुछ कर्तव्य के रूप में अर्पित कर देना चाहिए, किन्तु यह भेंट भौतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए बनावटी ढंग से नहीं, अपितु हृदय से की जानी चाहिए। यह भेंट *अर्पण* कहलाती है। इसके साथ ही शिष्टाचार सीखने तथा भक्ति का समुचित आचरण करने के लिए उसे भक्तों तथा सन्त पुरुषों के साथ रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि गुरु को जो कुछ भी अर्पित किया जाये वह प्रेम तथा स्नेहपूर्वक किया जाये, भौतिक स्तवन के लिए नहीं। इसी प्रकार यह भी संस्तुति की गई है कि मनुष्य भक्तों की संगति करे, किन्तु उसे तनिक विवेक से काम लेना होगा। वास्तव में *साधु* को अपने आचरण में सन्त जैसा होना चाहिए (*साधवः सदाचाराः*)। जब तक वह आदर्श आचरण में दृढ़ नहीं रहता उसका *साधु* पद पूर्ण नहीं है। अतएव एक वैष्णव या साधु को आदर्श आचरण में दृढ़ और पूर्ण रहना चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि वैष्णव का सम्मान वैष्णव के योग्य होना चाहिए जिसका अर्थ है कि उसकी सेवा की जानी चाहिए तथा स्तवन किया जाना चाहिए। किन्तु यदि वह संगति के उपयुक्त व्यक्ति नहीं है, तो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः ।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हरिः—भगवान्; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; भगवान्—परम पुरुष; आस्ते—स्थित है; ईश्वरः—सर्वश्रेष्ठ नियन्ता; इति—इस प्रकार; भूतानि—सारे जीव; मनसा—ऐसी समझ से; कामैः—इच्छाओं से; तैः—उन; साधु मानयेत्—मनुष्य को चाहिए कि अत्यधिक आदर करे।

मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को उनके अन्तर्यामी प्रतिनिधि स्वरूप में परमात्मा को सदैव स्मरण करे, जो प्रत्येक जीव के अंतःकरण में स्थित हैं। इस प्रकार उसे जीव की स्थिति या स्वरूप के अनुसार प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए।

तात्पर्य : *हरिः सर्वेषु भूतेषु*—कभी-कभी ढोंगी लोग इस कथन को ठीक से न समझने के कारण यह झूठा निष्कर्ष निकालते हैं कि चूँकि हरि अर्थात् भगवान् प्रत्येक जीव में स्थित हैं, अतएव प्रत्येक जीव हरि है। ऐसे मूर्ख लोग प्रत्येक शरीर में स्थित आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर नहीं कर पाते। आत्मा तो जीव है और परमात्मा भगवान् हैं, किन्तु जीव परमात्मा या परमेश्वर से भिन्न है। अतएव *हरिः सर्वेषु भूतेषु* का अर्थ यह हुआ कि हरि परमात्मा के रूप में स्थित हैं, आत्मा के रूप में नहीं, यद्यपि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। प्रत्येक जीव को आदर देने का अर्थ प्रत्येक जीव में स्थित परमात्मा का आदर करना है। प्रत्येक जीव को परमात्मा नहीं मान लेना चाहिए। कभी-कभी ढोंगी लोग जीव को *दरिद्र नारायण,* स्वामी नारायण, यह नारायण, वह नारायण जैसे नाम प्रदान करते हैं। हमें यह स्पवृतः समझ लेना चाहिए कि यद्यपि नारायण प्रत्येक जीव के हृदय में विराजमान हैं, किन्तु जीव कभी नारायण नहीं बन सकता।

एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे ।
वासुदेवे भगवति यया संलभ्यते रतिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; निर्जित—दमन किया गया; षट्-वर्गैः—इन्द्रियों के छह लक्षणों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर) से; क्रियते—की जाती है; भक्तिः—भक्ति; ईश्वरे—परम नियन्ता में; वासुदेवे—भगवान् वासुदेव में; भगवति—भगवान्; यया—जिससे; संलभ्यते—प्राप्त की जाती है; रतिः—आसक्ति।

इन (उपर्युक्त) कार्यकलापों द्वारा मनुष्य शत्रुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या—के प्रभाव को दमन करने में समर्थ होता है और ऐसा कर लेने पर वह भगवान् की सेवा कर सकता है। इस प्रकार वह भगवान् की प्रेमाभक्ति को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३०-३१ में उल्लेख किया जा चुका है, मनुष्य का पहला काम है कि वह भगवान् के प्रतिनिधि, गुरु, की सेवा प्रारम्भ करने के लिए उनके के पास पहुँचे। प्रह्लाद महाराज ने

प्रस्ताव रखा कि छोटे बालक को (*कौमार आचरेत् प्राज्ञ:*) प्रारम्भ से ही गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करने की शिक्षा दी जाये। *ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्* (*भागवत* ७.१२.१)। यह आध्यात्मिक जीवन का सूत्रपात है। गुरुपादाश्रम: साधु,-वर्तमानवर्ततम्, सद्धर्भ-पृच्छ गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों का पालन करते हुए शिष्य भक्ति प्राप्त करता है और सम्पत्ति से अनासक्त हो जाता है। उसके पास जो कुछ होता है, उसे वह अपने गुरु को अर्पित कर देता है और वह उसे *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* में प्रवृत्त करता है और शिष्य दृढ़तापूर्वक आज्ञापालन करके अपनी इन्द्रियों को वश में करना सीखता है। फिर अपनी शुद्ध बुद्धि का प्रयोग करके वह धीरे-धीरे भगवान् का प्रेमी बन जाता है, जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्ट किया है (*आदौ श्रद्धा तत: साधुसङ्ग:*)। इस प्रकार मनुष्य-जीवन पूर्ण बन जाता है और कृष्ण के प्रति उसकी आसक्ति प्रकट हो जाती है। इस अवस्था में वह आनन्द को प्राप्त होता है और *भाव* तथा *अनुभाव* की अनुभूति करता है जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभि: कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्‌गदं
प्रोत्कण्ठ उद्‌गायति रौति नृत्यति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; कर्माणि—दिव्य कार्यकलापों को; गुणान्—आध्यात्मिक गुणों का; अतुल्यान्—असामान्य (जो सामान्य पुरुष में नहीं दिखते); वीर्याणि—अत्यन्त शक्तिमान; लीला-तनुभि:—अनेक लीला स्वरूपों के द्वारा; कृतानि—किये गये; यदा—जब; अतिहर्ष—अत्यन्त प्रसन्नता के कारण; उत्पुलक—रोमांच; अश्रु—आँखों में आँसू; गद्‌गदम्—अवरुद्ध कण्ठ; प्रोत्कण्ठ:—खुले स्वर से; उद्‌गायति—उच्च स्वर से कीर्तन करता है; रौति—रोता है; नृत्यति—नाचता है।

जो भक्ति के पद पर आसीन हो जाता है, वह निश्चय ही इन्द्रियों का नियंत्रक है और इस तरह वह एक मुक्त पुरुष हो जाता है। जब ऐसा मुक्त पुरुष या शुद्ध भक्त विभिन्न लीलाएँ करने के लिए भगवान् के अवतारों के दिव्य गुणों तथा कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो उसके शरीर में रोमांच हो आता है, उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं और आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है। कभी वह नाचता है, तो कभी जोर-जोर से गाता है और कभी रोने लगता है। इस प्रकार वह अपने दिव्य हर्ष को व्यक्त करता है।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यकलाप असामान्य होते हैं। उदाहरणार्थ, जब वे रामचन्द्र के रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने समुद्र पर पुल बनाने का असामान्य कार्य किया। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण प्रकट

हुए तो उन्होंने सात वर्ष की ही अवस्था में गोवर्धन पर्वत उठा लिया। ये असामान्य कार्य हैं। मूर्ख तथा धूर्त दिव्य पद को प्राप्त नहीं हुए होते लोग जो वे भगवान् के इन असामान्य कार्यों को पौराणिक या काल्पनिक मानते हैं। किन्तु जब मुक्त व्यक्ति या भक्त भगवान् के इन असामान्य कार्यकलापों के विषय में सुनता है, तो वह तुरन्त ही आनन्द-विभोर हो उठता है और कीर्तन करने, नाचने तथा जोर-जोर से प्रसन्न होकर रोने के लक्षण प्रकट करता है। भक्त तथा अभक्त के बीच यही अन्तर है।

यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; ग्रह-ग्रस्तः—प्रेत द्वारा सताया गया; इव—सदृश; क्वचित्—कभी; हसति—हँसता है; आक्रन्दते—जोर से चिल्लाता है (भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण करके); ध्यायति—ध्यान करता है; वन्दते—नमस्कार करता है; जनम्—सारे जीवों को (उन्हें भगवान् की सेवा में प्रवृत्त सोचकर); मुहुः—निरन्तर; श्वसन्—तेजी से साँस लेते; वक्ति—बोलता है; हरे—हे प्रभु; जगत्-पते—हे सम्पूर्ण संसार के स्वामी; नारायण—हे नारायण; इति—इस प्रकार; आत्म-मतिः—भगवान् के विचारों में पूर्णतया मग्न; गत-त्रपः—लज्जारहित।

जब भक्त प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान बन जाता है, तो वह हँसता है और उच्च स्वर से भगवान् के गुणों के विषय में कीर्तन करता है। कभी वह ध्यान करने बैठता है और कभी प्रत्येक जीव को भगवान् का भक्त मानते हुए प्रणाम करता है। लगातार तेज साँस लेता हुआ वह सामाजिक शिष्टाचार के प्रति बेपरवाह हो जाता है और पागल व्यक्ति की तरह जोर-जोर से " हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, हे भगवान्, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी," का उच्चारण करता है।

तात्पर्य : जब कोई बाह्य सामाजिक रीतियों की परवाह न करते हुए हर्ष में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो यह समझा जाता है कि वह *आत्ममति* है। दूसरे शब्दों में, उसकी चेतना भगवान् की ओर मुड़ जाती है।

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; पुमान्—जीव; मुक्त—मुक्त; समस्त-बन्धनः—भक्ति पथ के समस्त अवरोधों से; तत्-भाव—भगवान् के कार्यकलापों की स्थिति के; भाव—चिन्तन से; अनुकृत—उसी प्रकार का बनाया हुआ; आशय-आकृतिः—जिसका मन तथा शरीर; निर्दग्ध—पूर्णतया जला हुआ; बीज—बीज या जगत का मूल कारण; अनुशयः—इच्छा; महीयसा—अत्यन्त शक्तिशाली; भक्ति—भक्ति का; प्रयोगेण—सम्प्रयोग से; समेति—प्राप्त करता है; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो मन तथा ज्ञान की पहुँच से परे हैं।.

तब भक्त सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, क्योंकि वह निरन्तर भगवान् की लीलाओं के विषय में सोचता रहता है और उसका मन तथा शरीर आध्यात्मिक गुणों में बदल चुके होते हैं। उसकी उत्कट भक्ति के कारण उसका अज्ञान, भौतिक चेतना तथा समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाएँ जलकर पूर्णतया भस्म हो जाती हैं। यही वह अवस्था है जब मनुष्य भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त कर सकता है।

तात्पर्य : जब भक्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो वह *अन्याभिलाषिताशून्य* बन जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी सारी इच्छाएँ जलकर भस्म हो जाती हैं और वह भगवान् के दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में रहने लगता है। इस प्रकार से निरन्तर सोचते रहने के कारण उसके वर्तमान शरीर तथा मन पूर्णतया आध्यात्मिक बन जाते हैं और उसके भौतिक शरीर की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। यदि लोहे की शलाका को आग में रख दिया जाये तो वह गरम होती जाती है और जब वह पूर्णतया लाल हो जाती है, तो वह शलाका नहीं रहती, अपितु आग बन जाती है। इसी प्रकार जब कोई भक्त निरन्तर भक्ति में लगा रहता है और अपनी मूल कृष्णचेतना में भगवान् का चिन्तन करता रहता है, तो उसके सारे भौतिक कार्यकलाप समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि उसका शरीर आध्यात्मिक हो जाता है। कृष्णभावनामृत में प्रगति अत्यन्त शक्तिशाली होती है अतएव इसी जीवन में ऐसे भक्त को भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त हो जाती है। भक्त की यह दिव्य आनन्दमयी (भावविभोर) स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य लिखते हैं—

तद्भावभावः तद् यथा स्वरूपं भक्तिः

केचिद् भक्ता विनृत्यन्ति गायन्ति य यथेप्सितम्

केचित् तूष्णीं जपन्त्येव केचित् शोभयकारिणः।

भक्ति की आनन्दमयी स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु में पूर्णतया प्रकट थी जो कभी नाचते थे, तो कभी चिल्लाते, कभी गाते, कभी मौन हो जाते और कभी भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करते थे। यही पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति है।

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अधोक्षज—भगवान् से, जो भौतिकतावादी मन या प्रायोगिक ज्ञान की पहुँच से परे हैं; आलम्भम्—निरन्तर सम्पर्क में रहते हुए; इह—इस भौतिक जगत में; अशुभ-आत्मनः—जिसका मन भौतिकता से कलुषित है; शरीरिणः—देहधारी जीव का; संसृति—संसार का; चक्र—चक्कर; शातनम्—पूर्णतया रोकते हुए; तत्—वह; ब्रह्म-निर्वाण—परब्रह्म या परम सत्य से जुड़ा हुआ; सुखम्—दिव्य सुख; विदुः—समझो; बुधाः—आध्यात्मिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए; ततः—इसलिए; भजध्वम्—भक्ति में लग जाओ; हृदये—हृदय के भीतर; हृत्-ईश्वरम्—हृदय के भीतर परमात्मा को।

जीवन की असली समस्या जन्म-मृत्यु का चक्कर है, जो पहिये (चक्र) की भाँति बारम्बार ऊपर-नीचे चलता रहता है। किन्तु जब कोई भगवान् के सम्पर्क में रहता है, तो यह चक्र पूरी तरह रुक जाता है। दूसरे शब्दों में, भक्ति में निरन्तर मग्न रहने से जो दिव्य आनन्द मिलता है उससे वह इस संसार से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। सारे विद्वान व्यक्ति इसे जानते हैं। अतएव हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम सभी लोग तुरन्त अपने-अपने हृदय में स्थित परमात्मा का ध्यान और पूजन प्रारम्भ कर दो।

तात्पर्य : सामान्यतया यह समझा जाता है कि परम सत्य के निराकार ब्रह्म स्वरूप में लीन होने से मनुष्य पूर्णतया सुखी हो जाता है। *ब्रह्म निर्वाण* शब्द परम सत्य से जुड़ने के लिए द्योत्तक हैं जिसे तीन स्वरूपों में अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* मनुष्य को निराकार ब्रह्म में लीन होने पर *ब्रह्मसुख* का अनुभव होता है, क्योंकि *ब्रह्मज्योति* भगवान् का तेज है। *यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि। यस्य प्रभा* या निराकार ब्रह्म कृष्ण के दिव्य शरीर की किरणें है। अतएव मनुष्य को ब्रह्म में लीन होने से जो भी सुख मिलता है, वह कृष्ण के सम्पर्क के कारण है। कृष्ण से सम्पर्क पूर्ण *ब्रह्मसुख* है। जब मन निराकार ब्रह्म के सम्पर्क में रहता है, तो मनुष्य प्रसन्न होता है, किन्तु मनुष्य को भगवान् की सेवा करने के लिए और आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि वह ब्रह्मज्योति में लीन रहे ही। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः*—कोई भले ही परम सत्य के ब्रह्म स्वरूप से तदाकार हो ले किन्तु सम्भावना बनी रहती है कि वह अधोक्षज वासुदेव से परिचित न होने के कारण च्युत हो जाये। निस्सन्देह, ऐसे *ब्रह्मसुख* से

भौतिक सुख विलग हो जाता है किन्तु जब कोई निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा से होता हुआ दास, मित्र, पिता या प्रेमी के रूप में भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसका सुख सर्वव्यापी बन जाता है। तब उसे स्वत: दिव्य आनन्द का अनुभव होता है, जिस तरह कि चमकते चन्द्रमा को देखकर सुख होता है। चन्द्रमा को देखकर मनुष्य को प्राकृतिक सुख प्राप्त होता है, किन्तु जब वह भगवान् का दर्शन करता है, तो उसका दिव्य सुख सैकड़ों-हजारों गुणा बढ़ जाता है। ज्योंही वह भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाता है त्योंही वह सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। *या निर्वृतिस्तनुभृताम्।* समस्त भौतिक सुख की समाप्ति *निर्वृति* या *निर्वाण* कहलाती है। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.१.३८) में कहते हैं—

ब्रह्मानन्दो भवेद् एष चेत् परार्धगुणीकृत:।

नैति भक्तिसुखाम्भोधे: परमाणुतुलामपि॥

"यदि ब्रह्मानन्द को, अर्थात् ब्रह्मज्योति में लीन होने से आनन्द को १०० करोड़ गुना कर दिया जाय, तो भी वह भक्ति में अनुभव किये गये दिव्य आनन्द के सागर के एक परमाणु के बराबर भी नहीं होगा।"

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्॥

"जो आध्यात्मिक पद पर स्थित होता है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। न तो वह शोक प्रकट करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर सम भाव रखता है। इस दशा में उसे भगवान् की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है" (*भगवद्गीता* १८.५४)। यदि कोई *ब्रह्मनिर्वाण* पद से आगे बढ़ता है, तो वह भक्ति अवस्था को प्राप्त होता है (*मद्भक्तिं लभते पराम्*)। *अधोक्षजालम्भम्* शब्द मन को उन परम सत्य में लगाये रखने का सूचक है, जो मन तथा भौतिक चिन्तन के परे हैं। *स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:।* यह अर्चाविग्रह पूजा का फल है। निरन्तर भगवान् की सेवा करते रहने तथा उनके चरणकमलों का ही चिन्तन करने से मनुष्य स्वत: सारे भौतिक कल्मष से छूट जाता है। इस प्रकार *ब्रह्म-निर्वाण-सुखम्* शब्द यह बताता है कि जब कोई परम सत्य के सम्पर्क में रहता है, तो *विषय-वासना पूर्णतया* समाप्त हो जाती है।

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

कः—क्या; अति-प्रयासः—कठिन प्रयास; असुर-बालकाः—हे असुरपुत्रो; हरेः—भगवान् की; उपासने—भक्ति करने में; स्वे—अपने; हृदि—हृदय में; छिद्र-वत्—अवकाश की तरह; सतः—सदैव विद्यमान; स्वस्य—अपना या जीव का; आत्मनः—परमात्मा का; सख्युः—शुभचिन्तक मित्र; अशेष—असीम; देहिनाम्—देहधारी जीवों का; सामान्यतः—सामान्य रूप से; किम्—क्या आवश्यकता है; विषय-उपपादनैः—इन्द्रियभोग के लिए इन्द्रिय प्रदान करने वाली क्रियाओं से।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, परमात्मा रूप में भगवान् सदैव समस्त जीवों के अंतःकरण में विद्यमान रहते हैं। निस्सन्देह, वे सारे जीवों के शुभचिन्तक तथा मित्र हैं और भगवान् की पूजा करने में कोई कठिनाई भी नहीं है। तो फिर, लोग उनकी भक्ति क्यों नहीं करते? वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कृत्रिम साज-सामान बनाने में व्यर्थ ही क्यों लिप्त रहते हैं?

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। फिर भी, यदि कोई भगवान् का भक्त हो तो भगवान् उसे सहज ही प्राप्य हैं। भगवान् की तुलना आकाश से की जाती है, क्योंकि आकाश विस्तृत होकर भी सबों की, मनुष्यों की क्या पशुओं तक की, पहुँच में है। भगवान् परमात्मा रूप में श्रेष्ठ हितैषी तथा सखा के रूप में विद्यमान रहते हैं। जैसी कि वेदों में पुष्टि की गई है—*सयुजौ सखायौ।* भगवान् परमात्मा रूप में सदैव जीव के साथ हृदय में स्थित रहते हैं। वे जीव के इतने घनिष्ठ मित्र होते हैं कि हृदय के भीतर रहते जाते हैं जिससे कोई भी बिना किसी कठिनाई के उनसे सदा सम्पर्क स्थापित कर सकता है। इसे कोई भी भक्ति के द्वारा कर सकता है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्*)। ज्योंही मनुष्य भगवान् का श्रवण करता है (*कृष्णकीर्तन*) त्योंही भगवान् से उसका सम्पर्क स्थापित हो जाता है। भक्ति की किसी एक या सभी विधियों से भक्त तुरन्त ही भगवान् के सम्पर्क में आता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्॥

अतः भगवान् से सम्पर्क होने में कोई कठिनाई नहीं होती (*कोऽति प्रयासः*)। दूसरी ओर, नरक जाने में काफी प्रयत्न करना होता है। यदि कोई अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्यसेवन

द्वारा नरक जाना चाहे तो उसे इतनी सारी चीजें ग्रहण करनी होती हैं। अवैध यौन के लिए वेश्यालय जाने के लिए धन का प्रबन्ध करना होगा, मांसाहार के लिए अनेक कसाईघर खोलने होंगे, द्यूतक्रीड़ा के लिए नाचघरों तथा होटलों की व्यवस्था करनी होगी तथा मादकद्रव्य सेवन के लिए अनेक हौलियाँ खोलनी होंगी। स्पष्ट है कि यदि कोई नरक जाना चाहता है, तो उसे काफी परिश्रम करना होगा, किन्तु यदि वह भगवद्धाम जाना चाहे तो किसी भी कठिन प्रयास की आवश्यकता नहीं होगी। भगवद्धाम जाने लिए वह कहीं भी एकान्त में किसी भी दशा में रह कर, भूमि पर बैठ कर परमात्मा का ध्यान धर सकता है और भगवान् के विषय में कीर्तन तथा श्रवण कर सकता है। भगवान् के पास जाने में कोई कठिनाई नहीं होती। *अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रम्।* इन्द्रियों को वश में न कर पाने के कारण नरक जाने के लिए अनेक प्रयास करने होंगे, किन्तु यदि वह विचारवान् हो तो सरलता से भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है, क्योंकि भगवान् निरन्तर उसके साथ रहते है। भगवान् तो *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* की सरल विधि से प्रसन्न होते हैं। निस्सन्देह, भगवान् का कहना है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः॥

''यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक एक पत्ता, फूल, फल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।'' (*भगवद्गीता* ९.२६) भगवान् का ध्यान कहीं भी और सर्वत्र किया जा सकता है। इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्र असुरपुत्रों को उपदेश दिया कि वे बिना कठिनाई के भगवद्धाम लौट जाने का मार्ग ग्रहण करें।

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

रायः—सम्पत्ति; कलत्रम्—अपनी पत्नी तथा सखियाँ; पशवः—गाय, घोड़े, गधे, बिल्ली, कुत्ते जैसे घरेलू पशु; सुत-आदयः—पुत्र इत्यादि; गृहाः—बड़े-बड़े महल तथा आवास; मही—भूमि; कुञ्जर—हाथी; कोश—खजाना; भूतयः—तथा इन्द्रियतृप्ति एवं भोगविलास की अन्य सामग्रियाँ; सर्वे—सभी; अर्थ—आर्थिक विकास; कामाः—तथा इन्द्रियतृप्ति; क्षण-भङ्गुर—क्षण भर में विनाश-शील; आयुषः—आयु वाले का; कुर्वन्ति—करते हैं या लाते हैं; मर्त्यस्य—मरने वाले का; कियत्—कितना; प्रियम्—आनन्द; चलाः—क्षणिक या चलायमान।

मनुष्य का धन, सुन्दर स्त्री तथा सखियाँ, उसके पुत्र तथा पुत्रियाँ, उसका घर, उसके घरेलू पशु जैसे गाएँ, हाथी तथा घोड़े, उसका खजाना, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति, यहाँ तक कि उसकी आयु जिसमें वह इन भौतिक ऐश्वर्यों का भोग कर सकता है निश्चित रूप से क्षणभंगुर एवं नश्वर हैं। चूँकि मनुष्य जीवन का अवसर अस्थायी है अतएव ये सारे भौतिक ऐश्वर्य ऐसे समझदार व्यक्ति को कौन सा लाभ पहुँचा सकते हैं जिसने अपने आपको शाश्वत समझ रखा है?

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि आर्थिक विकास का दम भरने वाले किस प्रकार प्रकृति के नियमों द्वारा निराश होते हैं। जैसाकि पिछले श्लोक में पूछा गया है कि *विषयोपपादनै*—तथाकथित आर्थिक विकास का वास्तविक लाभ क्या है? विश्व इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भौतिक सभ्यता के विकास द्वारा शारीरिक सुविधा के लिए आर्थिक विकास करने के प्रयत्नों से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग की अनिवार्यता का उपचार नहीं हो पाया। हर एक को विश्व इतिहास के बड़े-बड़े साम्राज्यों, यथा रोम, मुगल या ब्रिटिश साम्राज्यों का ज्ञान है, किन्तु ऐसे आर्थिक विकास में लगे रहने वाले ये सारे समाज (*सर्वेऽर्थकामाः*) बारम्बार होने वाले युद्धों, बीमारियों, दुर्भिक्षों इत्यादि के माध्यम से प्रकृति के नियमों द्वारा ध्वस्त होते रहे हैं। इस तरह उनके सारे प्रयास क्षणभंगुर तथा अस्थायी हैं। अतएव इस श्लोक में कहा गया है—*कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः*—भले ही कोई अपने विशाल साम्राज्य होने का कितना ही गर्व क्यों न करे, लेकिन ये साम्राज्य अस्थायी होते हैं; १०० या २०० वर्षों के बाद सब कुछ नष्ट हो जाता है। ऐसे सारे आर्थिक विकास यद्यपि अत्यन्त कठिनाई तथा प्रयत्न से सम्पन्न होते हैं, किन्तु तुरन्त ही समाप्त हो जाते हैं, इसीलिए इन्हें *चलाः* कहा गया है। बुद्धिमान व्यक्ति को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भौतिक आर्थिक विकास तनिक भी सुखकर नहीं होता। *भगवद्गीता* में सम्पूर्ण जगत को *दुःखालयम् अशाश्वतम्* अर्थात् दुखमय तथा नश्वर कहा गया है। आर्थिक विकास भले ही कुछ काल तक सुखकर लगे किन्तु बहुत दिनों तक नहीं टिकता। इस प्रकार अनेक बड़े-बड़े उद्योगपति अब अत्यन्त संतप्त हैं क्योंकि लूटने वाली विभिन्न सरकारें उन्हें तंग करती हैं। निष्कर्ष यह है कि तथाकथित आर्थिक विकास के लिए अपना समय क्यों व्यर्थ किया जाये जो न तो स्थायी है, न आत्मा के लिए सुखकर है?

दूसरी ओर, भगवान् कृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध शाश्वत है। *नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम।* शुद्ध आत्माएँ

कृष्ण से निरन्तर प्रेम करती हैं और ऐसा स्थायी प्रेम, जो दास, सखा, माता-पिता या प्रेमी के रूप में हो सकता है, सरलता से पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इस युग के लिए विशेष छूट है कि मनुष्य केवल हरे कृष्ण कीर्तन करके ईश्वर के साथ अपने मूल सम्बन्ध को फिर से जीवित कर सकता है (*हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्*) और इस तरह वह इतना सुखी हो सकता है कि उसे किसी भौतिक वस्तु की इच्छा नहीं रह जाती। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने घोषित किया है—*न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।* कृष्णभावनामृत में प्रगत भक्त धन, अनुयायी, सम्पत्ति कुछ भी नहीं चाहता। *रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।* भौतिक ऐश्वर्यों के स्वामित्व से उत्पन्न तृप्ति शूकरों-कूकरों के जीवन में भी देखी जाती है, भले ही वह दूसरे स्तर की हो किन्तु वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को पुन:जागृत नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य जीवन में कृष्ण के साथ हमारे सुप्त शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित कर पाना सम्भव है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने इस जीवन को *अर्थदम्* कहा है। फलस्वरूप यदि हम अपना जीवन आर्थिक विकास में व्यर्थ न बिताकर कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करने में लगाएँ तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं
भक्त्योक्तयेशं भजतात्मलब्धये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इसी प्रकार (जिस तरह सांसारिक सम्पत्ति तथा कुटुम्बी नश्वर हैं); हि—निश्चय ही; लोकाः—उच्चतरलोक, यथा स्वर्ग, चन्द्रमा, सूर्य तथा ब्रह्मलोक; क्रतुभिः—बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न करने से; कृताः—प्राप्त किया; अमी—ये सब; क्षयिष्णवः—अस्थायी, नश्वर; सातिशयाः—यद्यपि अधिक आरामदेह तथा भाने वाले; न—नहीं; निर्मलाः—शुद्ध (उत्पातों से रहित); तस्मात्—इसलिए; अदृष्ट-श्रुत—न तो देखा हुआ, न सुना गया; दूषणम्—जिसकी त्रुटि; परम्—परम; भक्त्या—अत्यन्त भक्तिपूर्वक; उक्तया—जिस तरह वैदिक साहित्य में वर्णित है (ज्ञान कर्म मिश्रित नहीं); ईशम्—भगवान् को; भजत—पूजा करो; आत्म-लब्धये—आत्म-साक्षात्कार के लिए।

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्गादि लोक तक ऊपर उठ सकता है। किन्तु स्वर्गलोक का जीवन पृथ्वी के जीवन की अपेक्षा सैकड़ों-हजारों गुना अधिक सुखकर होने पर भी स्वर्गलोक न तो शुद्ध (निर्मल) हैं, न भौतिक जगत के दोष से रहित हैं। सारे स्वर्गलोक भी नश्वर हैं, अतएव ये जीवन के लक्ष्य नहीं हैं। किन्तु यह न तो कभी देखा गया, न ही सुना गया कि भगवान् में उन्माद होता है। फलस्वरूप तुम्हें अपने निजी लाभ

तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए शास्त्रोक्त विधि से अत्यन्त भक्ति के साथ भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—यहाँ तक कि यदि कोई पशुओं की बलि देकर पापपूर्ण कृत्यों को सपन्न करके बड़े-बड़े यज्ञ करके स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाये तो भी स्वर्गलोक में सुख का स्तर कभी निरापद नहीं रहता। स्वर्ग के राजा इन्द्र को भी ऐसा ही जीवन-संघर्ष करना होता है। इस प्रकार स्वर्ग प्राप्त कर लेने में कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है। निस्सन्देह, पुण्यकर्मों के फल क्षीण होने पर मनुष्य को इसी पृथ्वी पर लौटना होता है। वेदों का कथन है—*तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।* जिस प्रकार कठिन श्रम से अर्जित यहाँ का भौतिक पद कालक्रम में समाप्त हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य का स्वर्ग-वास भी अन्तोगत्वा समाप्त हो जाता है। मनुष्य अपने पुण्य कर्मों की मात्रा के अनुसार विभिन्न प्रकार की योनियाँ प्राप्त करता है, किन्तु उनमें से एक भी स्थायी नहीं होती, अतएव वे सब अशुद्ध होती हैं। फलस्वरूप मनुष्य को चाहिए कि वह स्वर्गलोक जाने के लिए प्रयास न करे, क्योंकि उससे या तो पृथ्वी पर लौटना होगा या इससे भी नीचे नरक लोकों को जाना होगा। ऊपर जाने तथा नीचे आने के इस चक्कर को समाप्त करने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

(*चैतन्य-चरितामृत, मध्य* १९.१५१)

जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्र में घूम रहा है, कभी स्वर्गलोक जाता है, तो कभी अधोलोकों में जाता है, किन्तु यह तो जीवन की समस्याओं का कोई हल नहीं हुआ। हाँ, यदि कृष्णकृपा से किसी को कृष्णप्रतिनिधि, गुरु, मिल जाये तो वह आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करके भगवद्धाम जाने का संकेत पा सकता है। वास्तव में यही वांछनीय है। *भजतात्म-लब्धये*—मनुष्यों को आत्म-साक्षात्कार के लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण करना चाहिए।

यदर्थ इह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः ।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; अर्थे—लिए; इह—इस भौतिक जगत में; कर्माणि—अनेक कार्य (फैक्टरियों, उद्योगों, चिन्तन आदि में); विद्वत्—ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा; मानी—मानने वाला; असकृत्—पुनः पुनः; नरः—पुरुष; करोति—करता है; अतः—इससे; विपर्यासम्—विपरीत; अमोघम्—ध्रुव; विन्दते—प्राप्त करता है; फलम्—फल।

भौतिकतावादी मनुष्य अपने को अत्यन्त बुद्धिमान समझ कर निरन्तर आर्थिक विकास के लिए कर्म करता रहता है। किन्तु जैसाकि वेदों में बताया गया है, वह या तो इसी जीवन में या अगले जीवन में भौतिक कर्मों द्वारा बार-बार निराश होता रहता है। निस्सन्देह, उसे अपनी इच्छाओं से सर्वथा विपरीत फल मिलते हैं।

तात्पर्य : किसी को आज तक भौतिक कर्मों से मनवांछित फल नहीं प्राप्त हो सका। उल्टे, वह पुनः पुनः निराश होता रहा है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह न तो इस जीवन में और न अगले जीवन में ऐसे इन्द्रिय सुख-कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाए। अनेक राष्ट्रवादियों, अर्थशास्त्रियों तथा अन्य महत्त्वकांक्षी पुरुषों ने अकेले या सामूहिक रूप से सुख के लिए प्रयत्न किए हैं किन्तु इतिहास से यह प्रकट है कि वे सब निराश हुए हैं। हमने अर्वाचीन इतिहास में अनेकानेक राजनीतिक नेताओं को व्यक्तिगत तथा सामूहिक आर्थिक विकास के लिए कठिन कार्य करते देखा है किन्तु वे सभी असफल रहे हैं। यह तो प्रकृति का नियम है, जैसाकि अगले श्लोक में स्पष्ट बताया गया है।

सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः ।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सुखाय—जीवन के तथाकथित उच्चतर स्तर के द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए; दुःख-मोक्षाय—दुख से छुटकारा पाने के लिए; सङ्कल्पः—संकल्प; इह—इस संसार में; कर्मिणः—आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील जीव का; सदा—सदैव; आप्नोति—प्राप्त करता है; ईहया—कर्म या महत्त्वाकांक्षा द्वारा; दुःखम्—केवल दुख; अनीहायाः—आर्थिक विकास न चाहते हुए; सुख—सुख से; आवृतः—ढका हुआ।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक भौतिकतावादी सुख का इच्छुक रहता है और अपने दुख कम करना चाहता है, अतएव वह तदनुसार कर्म करता है। किन्तु वास्तव में कोई तभी तक सुखी रहता है जब तक वह सुख के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। ज्योंही वह सुख के लिए कार्य प्रारम्भ कर देता है त्योंही उसकी दुख की अवस्था प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णन हुआ है (*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः*),

प्रत्येक बद्धजीव प्रकृति के नियमों से बँधा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों को घुमा रहे हैं मानो वे भौतिक शक्ति से बने यंत्र पर आरूढ़ हों।" (*भगवद्गीता* १८.६१) भगवान् परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं और जीव जैसी इच्छा करता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विभिन्न शरीरों में अपनी आकांक्षाओं के अनुसार कर्म करने की सुविधा प्रदान करते हैं। यह शरीर एक यंत्र के समान है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख की मिथ्या इच्छा के अनुसार घूमता रहता है और जीवन के विभिन्न स्तरों में जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित होता रहता है। प्रत्येक प्राणी किसी न किसी योजना तथा कामना से अपने कार्य प्रारम्भ करता है, किन्तु उसे अपनी योजना के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कोई सुख प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत ज्योंही वह अपनी योजना के अनुसार कार्य प्रारम्भ करता है त्योंही उसका कष्टमय जीवन शुरू हो जाता है। अतएव मनुष्य को जीवन की कष्टप्रद अवस्था को दूर करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसके लिए कोई कुछ नहीं कर सकता। *अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।* यद्यपि मनुष्य अपनी मिथ्या कामना के अनुसार कर्म करता रहता है, तथापि वह सोचता है कि अपने कर्मों से वह अपनी भौतिक स्थिति सुधार सकता है। वेदों का आदेश है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सुख बढ़ाने का, न ही दुखों को कम करने का प्रयास करे, क्योंकि यह सब व्यर्थ होता है। *तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः*—मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के लिए कार्य करना चाहिए न कि आर्थिक विकास के लिए जिसको सुधार पाना असम्भव है। बिना प्रयास के ही उसके भाग्य में लिखा सुख तथा दुख मिलेगा। कोई इसे बदल नहीं सकता। अतएव श्रेयस्कर यही होगा कि मनुष्य अपना समय कृष्णभावनामृतमय आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में लगाए। मनुष्य होकर उसे अपने समय का अपव्यय नहीं करना चाहिए। यह अच्छा होगा कि तथाकथित सुख की कामना किये बिना कृष्णभावनामृत को विकसित करने में इस जीवन का उपयोग किया जाये।

कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः ।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कामान्—इन्द्रिय तृप्ति की वस्तुओं को; कामयते—इच्छा करता है; काम्यैः—विभिन्न अभिलिषित कार्यों द्वारा; यत्—जिस; अर्थम्—के लिए; इह—इस भौतिक जगत में; पूरुषः—जीवात्मा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; देहः—शरीर; तु—लेकिन; पारक्यः—अन्यों का (कुत्ता, चील्हों इत्यादि का) ; भङ्गुरः—नश्वर; याति—चला जाता है; उपैति—आत्मा का आलिंगन करता है; च—तथा।

जीवात्मा अपने शरीर के लिए सुख चाहता है और इस उद्देश्य से वह अनेक योजनाएँ बनाता है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह शरीर तो दूसरों की सम्पत्ति होता है। निस्सन्देह, नश्वर शरीर जीवात्मा को गले लगाता है और फिर उसे छोड़कर चल देता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर के लिए सुविधा चाहता है और इसके लिए वह उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न करता है, किन्तु वह यह भूल जाता है कि वह शरीर कुत्तों, सियारों अथवा कीटों के भक्षण के लिए है और यह व्यर्थ मल-राख अथवा मिट्टी में परिणत हो जाता है। जीवात्मा प्रत्येक जन्म में एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की सुविधा के लिए भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के व्यर्थ प्रयासों में अपना समय गँवाता है।

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः ।
राज्यकोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

किम् उ—क्या कहा जाये; व्यवहित—पृथक् किया गया; अपत्य—सन्तानें; दार—पत्नियाँ; अगार—निवासस्थान; धन—सम्पत्ति; आदयः—इत्यादि; राज्य—राज्य; कोश—खजाना; गज—बड़े बड़े हाथी तथा घोड़े; अमात्य—मंत्री; भृत्य—नौकर-चाकर; आप्ताः—सम्बन्धी; ममता-आस्पदाः—घनिष्ठ सम्बन्धियों के झूठे स्थान या घर (अपने लोग)।

चूँकि शरीर को अन्ततः मल या मिट्टी में बदल जाना है अतएव इस शरीर से सम्बन्धित साज-सामान—यथा पत्नियाँ, घर, धन, बच्चे, सम्बन्धी, नौकर-चाकर, मित्र, राज्य, खजाने, पुश तथा मंत्रियों—से क्या प्रयोजन? ये सभी नश्वर हैं। इनके विषय में और अधिक क्या कहा जा सकता है?

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः ।
अनर्थैरर्थसङ्काशैर्नित्यानन्दरसोदधेः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; एतैः—इन सबों से; आत्मनः—अपने को; तुच्छैः—जो प्रायः नगण्य हैं; सह—साथ; देहेन—शरीर के; नश्वरैः—नाशवान; अनर्थैः—अनिच्छित; अर्थ-सङ्काशैः—ऐसा प्रतीत होता है मानो आवश्यक हों; नित्य-आनन्द—नित्य सुख के; रस—अमृत के; उदधेः—समुद्र के लिए।

ये सारे साज-सामान तभी तक अत्यन्त प्रिय लगते हैं जब तक यह शरीर है किन्तु ज्योंही यह शरीर नष्ट हो जाता है त्योंही शरीर से सम्बद्ध ये सारी वस्तुएँ भी समाप्त हो जाती हैं। अतएव वास्तव में किसी को इनसे कुछ लेना-देना नहीं रहता है किन्तु वह अज्ञानवश ही इन्हें मूल्यवान समझ बैठता है। शाश्वत सुख के सागर की तुलना में ये सारी वस्तुएँ अत्यन्त नगण्य हैं। शाश्वत जीव के लिए ऐसे नगण्य सम्बन्धों से क्या लाभ है?

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत या कृष्णभक्ति शाश्वत आनन्द का सागर है। इस शाश्वत आनन्द की तुलना में समाज के तथाकथित सुख, मित्रता तथा प्रेम व्यर्थ तथा नगण्य हैं। अतएव मनुष्य को अस्थायी वस्तुओं के लिए आसक्त नहीं होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनामृत स्वीकार करके सदा के लिए सुखी बन जाये।

निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान्देहभृतोऽसुराः ।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

निरूप्यताम्—निश्चित हो जाने दें; इह—इस संसार में; स्व-अर्थः—निजी लाभ; कियान्—कितना; देह-भृतः—शरीरधारी जीव का; असुराः—हे असुरपुत्रो; निषेक-आदिषु—मैथुन आदि से प्राप्त होने वाले सुख इत्यादि; अवस्थासु—नश्वर दशाओं में; क्लिश्यमानस्य—घोर कठिनाइयों को भोगने वाले का; कर्मभिः—पूर्वकर्मों के द्वारा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, जीव को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। इस तरह वह अपने विशिष्ट जीवन की सभी स्थितियों में—गर्भ में प्रवेश करने से लेकर अपने इस विशेष शरीर तक—कष्ट ही कष्ट भोगता प्रतीत होता है। अतएव तुम लोग पूरी तरह विचार करके मुझे बतलाओ कि जीव का ऐसे सकाम कर्मों में वास्तविक स्वार्थ क्या है, जबकि ये दुख तथा कष्ट प्रदान करने वाले हैं?

तात्पर्य : *कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।* मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर मिलता है। इस संसार में मनुष्य के विशेष प्रकार के शरीर से प्राप्त होने वाला भौतिक आनन्द विषय-भोग पर आधारित है—*यन्मैथुनादिगृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* सारा संसार केवल मैथुन-सुख के लिए कठिन श्रम कर रहा है। मैथुन-सुख भोगने और भौतिक जीवन को बनाये रखने के लिए उसे

अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और ऐसे कार्यों के कारण वह दूसरे भौतिक शरीर के लिए तैयारी करता रहता है। प्रह्लाद महाराज इस विषय को अपने असुर मित्रों के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं। सामान्यतया असुर लोग यह नहीं समझ सकते कि भौतिक जीवन का तथाकथित आनन्द अर्थात् मैथुन-सुख की सारी वस्तुएँ अत्यधिक कठिन श्रम पर निर्भर करती हैं।

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना ।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—प्रारम्भ करता है; देही—देहधारी जीव; देहेन—उस शरीर से; आत्म-अनुवर्तिना—अपनी इच्छा तथा पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाला; कर्मभिः—ऐसे कर्मों के द्वारा; तनुते—विस्तीर्ण करता है; देहम्—दूसरा शरीर; उभयम्—दोनों; तु—निस्सन्देह; अविवेकतः—अज्ञान के कारण।

वह जीव, जिसे यह वर्तमान शरीर अपने विगत कर्म के कारण प्राप्त हुआ है, अपने इस जीवन में ही अपने कर्म के फलों को समाप्त कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह शरीर के बन्धन से मुक्त हो गया है। जीव को एक प्रकार का शरीर मिलता है और वह इस शरीर से कर्म करके दूसरे शरीर को जन्म देता है। इस प्रकार वह अपने अज्ञान के कारण जन्म-मरण के चक्र द्वारा एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता रहता है।

तात्पर्य : विभिन्न शरीरों से होकर जीव का विकास प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः चलता रहता है, मनुष्य को छोड़कर। दूसरे शब्दों में, जीव प्रकृति के नियमों द्वारा (*प्रकृतेः क्रियमाणानि*) निम्न योनियों से विकसित होकर मनुष्य योनि प्राप्त करता है। किन्तु अपनी विकसित चेतना के कारण मनुष्य को जीव की स्वाभाविक स्थिति समझनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि वह भौतिक शरीर क्यों स्वीकार करे। उसे यह अवसर प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है किन्तु यदि इतने पर भी वह पशु की ही तरह कार्य करता है, तो उसके मनुष्य-जीवन से क्या लाभ? इस जीवन में मनुष्य को जीवन-लक्ष्य चुनकर उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए। उसे गुरु तथा शास्त्रों से उपदेश ग्रहण करके काफी बुद्धिमान बन जाना चाहिए। मनुष्य जीवन में उसे मूर्ख तथा अज्ञानी नहीं बने रहना चाहिए अपितु उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति के विषय में जिज्ञासा करनी चाहिए। यह *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा* कहलाता है। मानव मनोविज्ञान से अनेक प्रश्न उठते हैं जिन पर विविध विचारकों ने मनन किया है और ज्ञान के आधार पर अनेक प्रकार के उत्तर दिये हैं। यह मोक्ष की विधी नहीं है। वैदिक आदेश है—*तद्विज्ञानार्थं*

स गुरुमेवाभिगच्छेत्—जीवन की समस्याओं का हल निकालने के लिए गुरु बनाना चाहिए। *तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमं*—यदि कोई भौतिक जीवन की समस्या के विषय में जानने के लिए सचमुच उत्सुक है, तो उसे प्रामाणिक गुरु के पास जाना चाहिए।

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

''गुरु के निकट जाकर सत्य जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत भाव से प्रश्न करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकता है क्योंकि उसने सत्य का दर्शन किया है।'' (*भगवद्गीता* ४.३४) मनुष्य को चाहिए कि *प्रणिपातेन* अर्थात् शरण में जाकर तथा सेवा करके प्रामाणिक गुरु के निकट तक पहुँचे। बुद्धिमान मनुष्य को गुरु से जीवन-लक्ष्य के विषय में प्रश्न पूछना चाहिए। एक प्रामाणिक गुरु ऐसे समस्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता है क्योंकि उसने असली सत्य को देखा है। हम अपने सामान्य कार्यकलापों तक में हानि-लाभ पर विचार करके ही सब कर्म करते हैं। इसी तरह बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करे और तब प्रामाणिक गुरु के आदेशानुसार बुद्धिमत्तापूर्वक कर्म करे।

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; अर्थाः—आर्थिक विकास के लिए आकांक्षाएँ; च—तथा; कामाः—इन्द्रिय तृप्ति के लिए आकाक्षाएँ; च—भी; धर्माः—धर्म के कर्तव्य; च—तथा; यत्—जिस पर; अपाश्रयाः—आश्रित; भजत—पूजा करो; अनीहया—उनके लिए किसी प्रकार की इच्छा से रहित; आत्मानम्—परमात्मा को; अनीहम्—विरस; हरिम्—भगवान् को; ईश्वरम्—ईश्वर को।

आध्यात्मिक जीवन के चार सिद्धान्त—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—भगवान् की रुचि पर आश्रित हैं। अतएव हे मित्रो, भक्तों के चरणचिन्हों का अनुगमन करो। बिना किसी प्रकार की इच्छा किये (निष्काम भाव से) परमेश्वर पर आश्रित रहकर भक्तिपूर्वक परमात्मा की पूजा करो।

तात्पर्य : ये बुद्धिमानी के शब्द हैं। हर व्यक्ति को यह जान लेना चाहिए कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में हम भगवान् पर आश्रित हैं। अतएव हम जिस धर्म को स्वीकार करते हैं वह *भावगत धर्म* होना चाहिए जिसकी संस्तुति प्रह्लाद महाराज कर रहे हैं। यही कृष्ण का उपदेश है—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* कृष्ण के चरणकमलों में शरण ग्रहण करने का अर्थ है भागवत धर्म या भक्ति के

विधि-विधानों के अनुसार कर्म करना। जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है हमें अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने चाहिए, किन्तु उनके फलों के लिए भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णरूपेण आश्रित रहना चाहिए। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—तुम्हें अपने वृत्तिपरक कर्तव्य करने का अधिकार तो है, किन्तु कर्म के फलों का अधिकार तुम्हें नहीं है। मनुष्य को अपने पद के अनुसार अपने कर्तव्य करने चाहिए किन्तु फल के लिए कृष्ण पर पूरी तरह आश्रित रहना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं कि हमारी एकमात्र कामना यही होनी चाहिए कि हम कृष्णभावनामृत के कार्यों को सम्पन्न करें। हमें *कर्म-मीमांसा* दर्शन से भ्रमित नहीं होना चाहिए जिसके अनुसार यदि हम गम्भीरतापूर्वक अपना कर्तव्य करते रहें तो उसका फल स्वतः प्राप्त हो जाएगा। यह तथ्य नहीं है। अन्तिम फल तो भगवान् की इच्छा पर निर्भर करता है। अतएव भक्ति में भक्त भगवान् पर पूर्णतः आश्रित रहता है और दम्भहीन होकर अपने वृत्तिपरक कर्तव्य सम्पन्न करता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने अपने मित्रों को सलाह दी कि वे कृष्ण पर पूरी तरह निर्भर रहें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें।

सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः ।
भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सर्वेषाम्—समस्त; अपि—निश्चय ही; भूतानाम्—जीवों में से; हरिः—भगवान् जो जीव के कष्टों को शमन करने वाले हैं; आत्मा—जीवन का आदि स्रोत; ईश्वरः—पूर्ण नियन्ता; प्रियः—प्रिय; भूतैः—पाँच भौतिक तत्त्वों द्वारा; महद्भिः—समग्र भौतिक शक्ति महत् तत्त्व से उद्भूत; स्व-कृतैः—जो स्वतः प्रकट होते हैं; कृतानाम्—उत्पन्न; जीव-संज्ञितः—जीव के नाम से ज्ञात, क्योंकि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति के अंश हैं।

भगवान् हरि समस्त जीवों के आत्मा तथा परमात्मा हैं। प्रत्येक जीव जीवित आत्मा तथा भौतिक शरीर के रूप में उनकी शक्ति का प्राकट्य है। अतएव भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं और परम नियन्ता हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर अपनी विविध शक्तियों—भौतिक, आध्यात्मिक था तटस्था शक्तियों—द्वारा प्रकट होते हैं। वे इस भौतिक जगत में समस्त जीवों के आदि स्रोत हैं और हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान हैं। यद्यपि जीव अपने विभिन्न प्रकार के शरीरों का कारण है, किन्तु शरीर तो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदान किया जाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

"हे अर्जुन! भगवान् प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन सबको घुमा रहे हैं, जो मानो भौतिक शक्ति से बने एक यंत्र पर आरूढ़ हैं।" (*भगवद्गीता* १८.६१) यह शरीर एक यंत्र या कार के समान है, जिसमें जीव को बैठाकर इच्छानुसार घूमने का अवसर प्रदान किया जाता है। भगवान् भौतिक शरीर तथा आत्मा के आदि कारण हैं, जो उनकी तटस्था शक्ति के कारण विस्तार करता है। परमेश्वर समस्त जीवों के सर्वाधिक प्रिय हैं। अतएव प्रह्लाद महाराज अपने सहपाठियों को, जो असुरों के पुत्र हैं, सलाह देते हैं कि वे पुन: परमेश्वर की शरण ग्रहण करें।

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान्स्याद्यथा वयम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

देव:—देवता; असुर:—असुर; मनुष्य:—मनुष्य; वा—अथवा; यक्ष:—यक्ष (आसुरी योनि का सदस्य); गन्धर्व:—गन्धर्व; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; भजन्—सेवा करते हुए; मुकुन्द-चरणम्—मुक्तिदाता मुकुन्द या भगवान् कृष्ण के चरणकमलों पर; स्वस्ति-मान्—समस्त कल्याण से ओत-प्रोत; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार; वयम्—हम (प्रह्लाद महाराज)।

यदि देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व या अन्य कोई इस संसार के भीतर मुक्तिदाता मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा करता है, तो वह हमारे (प्रह्लाद महाराज जैसे महाजनों के) ही समान जीवन की सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी स्थितियों कल्याण का भाजन होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने अपना ही जीता-जागता उदाहरण देते हुए अपने मित्रों से अनुरोध किया कि वे भक्ति में लग जाँए। चाहे कोई देव समाज का हो या असुर समाज, मानव समाज या गन्धर्व समाज का, प्रत्येक जीव को मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए और सौभाग्य में पूर्ण बनना चाहिए।

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजा: ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥ ५१ ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अलम्—पर्याप्त; द्विजत्वम्—अत्यन्त पूर्ण एवं योग्य ब्राह्मण होना; देवत्वम्—देवत्व; ऋषित्वम्—साधु पुरुष होना; वा—अथवा; असुर-आत्म-जा:—हे असुरों के वंशजो; प्रीणनाय—प्रसन्न करने के लिए; मुकुन्दस्य—भगवान् मुकुन्द का; न

वृत्तम्—बुरा आचरण; न—नहीं; बहु-ज्ञता—पाण्डित्य; न—न तो; दानम्—दान; न—न तो; तपः—तपस्या; न—न तो; इज्या—पूजा; न—न तो; शौचम्—स्वच्छता; न व्रतानि—न व्रतों का पालन; च—भी; प्रीयते—प्रसन्न किया जाता है; अमलया—निष्कलंक; भक्त्या—भक्ति द्वारा; हरिः—भगवान्; अन्यत्—अन्य वस्तुएँ; विडम्बनम्—मात्र दिखावा।

हे मित्रो, हे असुरपुत्रो, तुम लोग न तो पूर्ण ब्राह्मण, देवता या महान् सन्त बनकर, न ही सदाचरण या प्रकाण्ड ज्ञान के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हो। इनमें से किसी भी योग्यता से भगवान् प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। न ही दान, तपस्या, यज्ञ, शुद्धता या व्रतों से उन्हें कोई प्रसन्न कर सकता है। भगवान् तो तभी प्रसन्न होते हैं जब मनुष्य उनकी अविचल अनन्य भक्ति करता है। एकनिष्ठ भक्ति के बिना सब कुछ दिखावा मात्र है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमेश्वर की सभी प्रकार से निष्ठापूर्वक सेवा करने पर ही कोई पूर्ण बन सकता है। ईश्वर-प्रेम विकसित करने के लिए ब्राह्मण, देवता, ऋषि जैसे भौतिक उच्च पद कारणस्वरूप नहीं हैं किन्तु यदि कोई निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो उसकी कृष्ण-चेतना पूरी हो जाती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा (९.३०) होती है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

''भले ही कोई अत्यन्त निन्दनीय कार्य क्यों न करे, किन्तु यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से अवस्थित होता है।'' जीवन की पूर्णता इसी में है कि कृष्ण के लिए अनन्य प्रेम उत्पन्न किया जाये। इसमें अन्य विधियाँ भी सहायक हो सकती हैं, किन्तु यदि कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता तो अन्य सारी विधियाँ समय का अपव्यय मात्र हैं।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विष्वक्सेनकथासु यः।

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

''मनुष्यों के द्वारा किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित किये गये कर्तव्य (धर्म) व्यर्थ श्रम होते हैं यदि वे भगवान् के प्रति आकर्षण न उत्पन्न कर सकें।'' (*भागवत* १.२.८) किसी की पूर्णता की परीक्षा भगवान् के प्रति उसकी अनन्य भक्ति है।

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥

शब्दार्थ

ततः—अतएव; हरौ—भगवान् हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्तिम्—भक्ति; कुरुत—करो; दानवाः—मेरे मित्रों, असुरपुत्रों; आत्म-औपम्येन—अपनी ही तरह; सर्वत्र—सभी जगह; सर्व-भूत-आत्मनि—जो समस्त जीवों में आत्मा तथा परमात्मा के रूप में स्थित है; ईश्वरे—नियन्ता भगवान् में।

हे मित्र असुरपुत्रो, जिस प्रकार तुम सब अपने आपको देखते हो और अपनी देखभाल करते हो उसी तरह समस्त जीवों में परमात्मा के रूप में सर्वत्र विद्यमान रहने वाले भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति स्वीकार करो।

तात्पर्य : *आत्मौपम्येन* शब्द का अर्थ है अपने ही समान अन्यों को समझना। मनुष्य आसानी से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि बिना भक्ति के, बिना कृष्णभावनाभावित हुए कोई सुखी नहीं रह सकता। अतएव भक्तों का कर्तव्य है कि विश्व भर में सर्वत्र कृष्णभावनामृत का प्रचार करें, क्योंकि कृष्णभावनामृत के अभाव में सारे जीव सांसारिक यातनाएँ झेल रहे हैं। कृष्णभावनामृत का प्रचार सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। निस्सन्देह, श्री चैतन्य महाप्रभु ने इसे *पर-उपकार* कहा है। जिन लोगों ने भारत भूमि में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उन्हें *पर-उपकार* करने का कार्य भार विशेषरूप में सौंपा गया है।

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

सारा संसार कृष्णभावनामृत के अभाव से पीड़ित है (चै.च. आदि ९.४१) अतएव चैतन्य महाप्रभु ने भारत में जन्म लेने वाले सारे मनुष्यों को उपदेश दिया है कि कृष्णभावनामृत द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बनाएँ और फिर सारे विश्व में इस दिव्य सन्देश का उपदेश दें जिससे अन्य लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन करके सुखी बन सकें।

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः ।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥५४॥

शब्दार्थ

दैतेयाः—हे असुरो; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस कहलाने वाले; स्त्रियः—स्त्रियाँ; शूद्राः—श्रमिक वर्ग; व्रज-ओकसः—ग्रामीण ग्वाले; खगाः—पक्षी; मृगाः—पशु; पाप-जीवाः—पापी जीव; सन्ति—हो सकते हैं; हि—निश्चय ही; अच्युतताम्—अच्युत भगवान् के गुण को; गताः—प्राप्त।

हे मित्रो! हे असुरपुत्रो, प्रत्येक व्यक्ति जिसमें तुम भी शामिल हो, (यक्ष तथा राक्षस) अज्ञानी

स्त्रियाँ, शूद्र, ग्वाले, पक्षी, निम्नतर पशु तथा पापी जीव अपना-अपना मूल शाश्वत आध्यात्मिक जीवन पुनः प्राप्त कर सकते हैं और भक्तियोग के सिद्धान्तों को स्वीकार करने मात्र से सदा-सदा इसी तरह बने रह सकते हैं।

तात्पर्य : भक्तों को *अच्युत गोत्र* अर्थात् भगवान् का वंश कहा जाता है। भगवान् *अच्युत* कहलाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में इंगित किया गया है (*सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत्*)। भगवान् इस जगत में अच्युत हैं क्योंकि वे परम आध्यात्मिक पुरुष हैं। इसी प्रकार भगवान् के अंश होने के कारण जीव भी अच्युत बन सकते हैं। यद्यपि प्रह्लाद की माता बद्ध अवस्था में थीं और असुर की पत्नी थीं, लेकिन यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र यहाँ तक कि पक्षी तथा अन्य निम्नतर जीव भी *अच्युत गोत्र* को प्राप्त हो सकते हैं। यही सर्वोच्च सिद्धि है। जिस प्रकार कृष्ण कभी च्युत नहीं होते उसी प्रकार जब हम अपनी आध्यात्मिक चेतना, कृष्णभावनामृत, को पुनः जाग्रत कर लेते हैं, तो हम पुनः भवसागर में नहीं गिरते। मनुष्य को चाहिए कि परम अच्युत श्रीकृष्ण की स्थिति को समझे जिन्होंने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है :

जन्म कर्म च में दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह अपना शरीर त्यागने के बाद इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।" मनुष्य को चाहिए कि अच्युत को समझे और यह भी समझे कि हम उनसे किस प्रकार सम्बद्ध हैं। उसे भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही जीवन की पूर्णता है। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*अच्युततां च्युतिवर्जनम्। अच्युतता* शब्द उस मनुष्य का सूचक है, जो इस जगत में कभी नहीं गिरता, अपितु भगवान् की सेवा में सदा लगा हुआ वैकुण्ठ लोक में रहता आ रहा है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—निश्चय ही; लोके अस्मिन्—इस जगत में; पुंसः—जीव का; स्व-अर्थः—असली हित; परः—दिव्य; स्मृतः—माना जाने वाला; एकान्त-भक्तिः—अनन्य भक्ति; गोविन्दे—गोविन्द के प्रति; यत्—जो; सर्वत्र—सभी तरह; तत्-ईक्षणम्—गोविन्द या कृष्ण के साथ सम्बन्ध को देखना।

इस भौतिक जगत में समस्त कारणों के कारण गोविन्द के चरणकमलों के प्रति सेवा करना और सर्वत्र उनका दर्शन करना ही एकमात्र जीवन-लक्ष्य है। जैसाकि समस्त शास्त्रों ने बतलाया है मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य इतना ही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *सर्वत्र तदीक्षणम्* शब्द भक्ति की चरम सिद्धि को बताते हैं जिसमें प्रत्येक वस्तु गोविन्द के कार्यकलापों से सम्बद्ध दिखती है। अतएव उच्च भक्त (महाभागवत) कभी भी किसी वस्तु को गोविन्द से असम्बद्ध नहीं देखता।

स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय निज इष्टदेव-स्फूर्ति॥

"*महाभागवत* प्रत्येक चल तथा अचल वस्तु को देखता है लेकिन वह उनके वास्तविक रूपों को नहीं देखता। प्रत्युत वह जहाँ कहीं भी देखता है, वहीं उसे परमेश्वर का रूप प्रकट दिखता है।" (*चैतन्य-चरितामृत,* मध्य ८.२७४) यहाँ तक कि इस जगत में भी भक्त भौतिकरूप से प्रकट होने वाली वस्तुओं को नहीं देखता, इसके बदले में वह हर वस्तु में गोविन्द के दर्शन करता है। जब कोई भक्त किसी वृक्ष या मनुष्य को देखता है, तो वह उन्हें गोविन्द रूप में देखता है। *गोविन्दमादिपुरुषम्*—गोविन्द प्रत्येक वस्तु के आदि स्रोत हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहलाने वाले कृष्ण परम नियन्ता है। सच्चिदानन्द रूप हैं। वे सबों के उद्‌गम हैं। उनका कोई अन्य उद्‌गम नहीं हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) एक पूर्ण भक्त की पहचान यही है कि वह इस ब्रह्माण्ड में गोविन्द के सर्वत्र दर्शन करता है, यहाँ तक कि एक परमाणु में भी (*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*)। भक्त की यही पूर्ण दृष्टि है। इसीलिए कहा गया है—

नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थिनः।

जगद् धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्॥

भक्त हर एक को नारायण रूप में देखता है (*नारायणमयम्*)। प्रत्येक वस्तु नारायण की शक्ति का विस्तार है। जिस प्रकार लोभी को प्रत्येक वस्तु कमाई का साधन प्रतीत होती है और जिस प्रकार कामी को सारी वस्तु काम के लिए अनुकूल लगती हैं उसी तरह परम पूर्ण भक्त प्रह्लाद महाराज ने एक एत्थर के ख भे के भीतर भी नारायण को देखा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी भ्रष्ट व्यक्ति द्वारा गढ़े गये *दरिद्र नारायण* शब्द को स्वीकार करें। वास्तव में जो नारायण का सर्वत्र दर्शन करता है, वह दरिद्र तथा धनी में कोई अन्तर नहीं करता। *दरिद्र नारायण* को चुनना और *धनी नारायण* का परित्याग—भक्त की यह दृष्टि नहीं होती प्रत्युत यह भौतिकतावादी व्यक्तियों की अपूर्ण दृष्टि है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रह्लाद ने गर्भ में क्या सीखा'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

भगवान् नृसिंह द्वारा असुरराज का वध

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है, हिरण्यकशिपु अपने ही पुत्र प्रह्लाद महाराज को मार डालने के लिए उद्यत था, किन्तु उस असुर के समक्ष भगवान् श्री नृकेशरी, अर्ध-सिंह, अर्ध-मनुष्य के रूप में प्रकट हुए और उसका वध कर दिया।

प्रह्लाद महाराज के उपदेशों का पालन करने से असुरों के सारे पुत्र भगवान् विष्णु के प्रति अनुरक्त हो उठे। जब यह अनुराग प्रकट हो गया तो षण्ड तथा अमर्क नामक उनके शिक्षक अत्यन्त भयभीत हो उठे कि ये सारे बालक भगवान् के प्रति अधिकाधिक अनुरक्त हो उठेंगे। अतएव अपने को असहाय पाकर वे हिरण्यकशिपु के पास गये और प्रह्लाद की शिक्षा के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करने लगे। यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को मारने का निश्चय किया। हिरण्यकशिपु इतना क्रुद्ध था कि प्रह्लाद महाराज उसके पैरों पर गिर पड़े और उसे शान्त करने के लिए अनेक बातें कहीं, किन्तु वे अपने असुर पिता हिरण्यकशिपु को प्रसन्न नहीं कर पाये। असुर की भाँति हिरण्यकशिपु अपने को

भगवान् से बड़ा विज्ञापित करने लगा, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने यह कहते हुए उसे चुनौती दी कि वह ईश्वर नहीं है। उन्होंने घोषित किया कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, प्रत्येक वस्तु उनके अधीन है, कोई न तो उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। इस प्रकार वे भगवान् का गुणगान करने लगे। उन्होंने अपने पिता से प्रार्थना की कि वे सर्वशक्तिमान परमेश्वर के सामने झुकें।

प्रह्लाद महाराज जितना ही भगवान् का गुणगान करते गए वह राक्षस उतना ही अधिक क्रुद्ध तथा विचलित होता गया। हिरण्यकशिपु ने अपने वैष्णव पुत्र से पूछा कि क्या तेरा ईश्वर महल के ख भों में विद्यमान है? प्रह्लाद महाराज ने तुरन्त ही स्वीकार किया कि चूंकि वे सर्वत्र विद्यमान हैं, अतएव वे इन ख भों में भी हैं। जब हिरण्यकशिपु ने अपने नन्हें पुत्र से यह दर्शन सुना तो उसने इसे बचकानी बात कहते हुए उसे चिढ़ाया और जोर से अपनी मुट्ठी ख भे पर दे मारी।

ज्योंही हिरण्यकशिपु ने ख भे पर प्रहार किया कि उससे एक भीषण ध्वनि उत्पन्न हुई। पहले तो असुरराज हिरण्यकशिपु को ख भे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखा किन्तु प्रह्लाद महाराज के वचनों को सत्य करने के लिए भगवान् उस ख भे में से नृसिंह देव के अद्‌भुत अवतार के रूप में प्रकट हुए, जिनका आधा भाग शेर का और आधा मनुष्य का था। हिरण्यकशिपु तुरन्त समझ गया कि भगवान् का यह अद्वितीय अद्‌भुत रूप उसकी मृत्यु के लिए ही है अतएव वह नृसिंह देव से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गया। भगवान् कुछ काल तक उस असुर से लड़ने की लीला करते रहे। दिन तथा रात के संधिकाल में संध्या समय उन्होंने उस असुर को पकड़ कर अपनी गोद में रख लिया और नाखूनों से उसका पेट विदीर्ण कर डाला। भगवान् ने न केवल असुरराज हिरण्यकशिपु को मारा, अपितु उसके अनेक अनुयायियों का भी वध कर दिया। जब वहाँ पर उनसे लड़ने के लिए कोई न रह गया तो वे गर्जना करते हुए उसके सिंहासन पर जा बैठे।

इस प्रकार सारा ब्रह्माण्ड हिरण्यकशिपु के शासन से मुक्त हो गया और दिव्य आनन्द के मारे हर व्यक्ति अत्यन्त हर्षित हो उठा। तब सारे देवता ब्रह्माजी को आगे करके भगवान् के समीप आये। इनमें बड़े-बड़े साधु पुरुष, पितरगण, सिद्धगण, विद्याधर, नाग, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वैतालिक, किन्नर तथा अनेक प्रकार के मनुष्य रूप के जीव सम्मिलित थे। वे सब भगवान्

के निकट ही खड़े होकर उनकी प्रार्थना करने लगे। भगवान् सिंहासन पर आरूढ़ थे और उनका आध्यात्मिक तेज चमक रहा था।

श्रीनारद उवाच
अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम् ।
जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; **अथ**—तत्पश्चात्; **दैत्य-सुताः**—असुरों के पुत्र (प्रह्लाद महाराज के सहपाठी); **सर्वे**—सभी; **श्रुत्वा**—सुनकर; **तत्**—उससे (प्रह्लाद से); **अनुवर्णितम्**—भक्तिमय जीवन के विषय में कथन; **जगृहुः**—स्वीकार किया; **निरवद्यत्वात्**—उस उपदेश के श्रेष्ठ उपयोग के कारण; **न**—नहीं; **एव**—निस्सन्देह; **गुरु-अनुशिक्षितम्**—जो उनके गुरुओं ने पढ़ाया था।

नारद मुनि ने आगे कहा : सारे असुरपुत्रों ने प्रह्लाद महाराज के दिव्य उपदेशों की सराहना की और उन्हें अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया। उन्होंने षण्ड तथा अमर्क नामक अपने गुरुओं द्वारा दिये गये भौतिकतावादी उपदेशों का तिरस्कार कर दिया।

तात्पर्य : यह प्रह्लाद महाराज जैसे शुद्ध भक्त के उपदेश का प्रभाव है। यदि भक्त योग्य हो, सत्यनिष्ठ हो और कृष्णभावनामृत के प्रति गम्भीर हो तथा यदि वह प्रामाणिक गुरु के उपदेशों का उसी तरह पालन करे जिस तरह प्रह्लाद महाराज नारद मुनि से प्राप्त उपदेशों का पालन अपना उपदेश देते समय कर रहे थे तो ऐसा उपदेश प्रभावशाली होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (३.२५.२५) में कहा गया है :

सतां प्रसङ्गान् मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।

यदि कोई सत् अर्थात् शुद्ध भक्त द्वारा दिये गये प्रवचन को समझने का प्रयास करता है, तो वे उपदेश अत्यन्त कर्णप्रिय तथा हृदय को भले लगेंगे। इस तरह यदि कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करने के लिए प्रेरित होता है और अपने जीवन में इस विधि का अभ्यास करता है, तो वह निश्चित रूप से भगवद्धाम लौट जाने में सफल होता है। प्रह्लाद महाराज की कृपा से उनके सारे सहपाठी असुर–पुत्र वैष्णव हो गये। उन्हें अपने तथाकथित गुरुओं, षण्ड तथा अमक की बातें सुननी पसन्द नहीं आई जो उन्हें केवल कुटूनीति, राजनीति, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसे ही विषयों की शिक्षा दे रहे थे।

अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम् ।
आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद्यथा ॥ २॥

शब्दार्थ

अथ—तदुपरान्त; आचार्य-सुतः—शुक्राचार्य के पुत्र; तेषाम्—उन (असुर पुत्रों) की; बुद्धिम्—बुद्धि; एकान्त-संस्थिताम्—केवल एक ही विषय, भक्ति, में स्थिर; आलक्ष्य—देखकर; भीतः—भयभीत होकर; त्वरितः—तुरन्त; राज्ञे—राजा (हिरण्यकशिपु) से; आवेदयत्—कह सुनाया; यथा—उचित ढंग से।

जब शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड तथा अमर्क ने देखा कि सारे विद्यार्थी असुर पुत्र प्रह्लाद महाराज की संगति से कृष्णभक्ति में आगे बढ़ रहे हैं, तो वे डर गये। अतएव वे असुरराज के पास गये और उनसे सारी स्थिति वर्णन कर दी।

तात्पर्य : *बुद्धिम् एकान्त संस्थिताम्* शब्द सूचित करते हैं कि प्रह्लाद महाराज के उपदेशों से सारे विद्यार्थी, जिन्होंने उनका उपदेश सुना था, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत है। तथ्य यह है कि जो भी शुद्ध भक्त की संगति करता है और उसके उपदेश सुनता है, वह कृष्णभावनामृत में स्थिर हो जाता है और भौतिक चेतना से विक्षिप्त नहीं होता। शिक्षकों ने अपने विद्यार्थियों में इसे विशेषतः देखा, अतएव वे डर गये, क्योंकि सारा विद्यार्थीवर्ग धीरे-धीरे कृष्णभावनाभावित होता जा रहा था।

कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ।
क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् ।
आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा ॥ ३॥
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम् ।
सर्पः पदाहत इव श्वसन्प्रकृतिदारुणः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कोप-आवेश—अत्यन्त क्रुद्ध मुद्रा में; चलत्—काँपता हुआ; गात्रः—पूरा शरीर; पुत्रम्—अपने पुत्र को; हन्तुम्—मारने के लिए; मनः—मन को; दधे—स्थिर किया; क्षिप्त्वा—डाँटते हुए; परुषया—अत्यन्त कटु; वाचा—वाणी से; प्रह्लादम्—महाराज प्रह्लाद को; अ-तत्-अर्हणम्—(अपने उत्तम चरित्र तथा कोमल आयु के कारण) प्रताड़ना के अयोग्य; आह—कहा; ईक्षमाणः—क्रोध में उसे देखते हुए; पापेन—अपने पापकर्मों के कारण; तिरश्चीनेन—टेढ़ी; चक्षुषा—आँखों से; प्रश्रय-अवनतम्—अत्यन्त विनम्रता से; दान्तम्—संयमित; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; अवस्थितम्—स्थित; सर्पः—साँप; पद-आहतः—पाँव से कुचला जाकर; इव—सदृश; श्वसन्—फुफकारते; प्रकृति—प्रकृति से; दारुणः—अत्यन्त दुष्ट।

जब हिरण्यकशिपु सारी स्थिति समझ गया तो वह इतना अधिक क्रुद्ध हुआ कि उसका सारा शरीर काँपने लगा। इस तरह उसने अन्ततः अपने पुत्र प्रह्लाद को मार डालने का निश्चय कर लिया। वह स्वभाव से अत्यन्त क्रूर था और अपने को अपमानित हुआ जानकर वह पाँव से

कुचले सर्प की भाँति फुफकारने लगा। उसका पुत्र प्रह्लाद शान्त, विनम्र तथा उदार था, वह इन्द्रियसंयमी था और हिरण्यकशिपु के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा था। वह अपनी आयु तथा आचरण के अनुसार प्रताड़ना के योग्य न था। फिर भी हिरण्यकशिपु ने टेढ़ी नजर से उसे घूरते हुए निम्नलिखित कटु शब्दों के द्वारा फटकारा।

तात्पर्य : जब कोई परम अधिकारी भक्त के प्रति धृष्ट बन जाता है, तो उसे प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है। उसकी आयु क्षीण हो जाती है, उस पर गुरुजनों का *आशीर्वाद* नहीं रह जाता और उसके पुण्यों का फल जाता रहता है। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपु ने भौतिक जगत में इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि वह स्वर्गलोक समेत लगभग ब्रह्माण्ड के सारे लोकों को जीत सकता था। किन्तु अब प्रह्लाद जैसे वैष्णव के प्रति अपने दुर्व्यवहार के कारण उसकी तपस्या के सभी फल घट गए। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.४.४६) में कहा गया है—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकान् आशिष एव च।

हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥

''जब कोई किसी महात्मा के साथ दुर्व्यवहार करता है, तो उसकी आयु, ऐश्वर्य, यश, धर्म, सम्पत्ति तथा सौभाग्य सभी नष्ट हो जाते हैं।''

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
हे दुर्विनीत मन्दात्मन्कुलभेदकराधम ।
स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—वरदान प्राप्त हिरण्यकशिपु ने कहा; हे—अरे; दुर्विनीत—अत्यन्त बेशर्म, धृष्ट; मन्द-आत्मन्—अरे मूर्ख; कुल-भेद-कर—परिवार को फोड़ने वाले; अधम—अरे नीच; स्तब्धम्—अत्यन्त हठी; मत्-शासन—मेरी आज्ञा का; उद्वृत्तम्—उल्लंघन करके; नेष्ये—मैं भेजूँगा; त्वा—तुमको; अद्य—आज; यम-क्षयम्—मृत्यु के अधीक्षक यमराज के पास।

हिरण्यकशिपु ने कहा : अरे उद्दण्ड, निपट दुर्बुद्धि, परिवार को फोड़ने वाले! अरे नीच! तुमने अपने ऊपर शासन करने वाली शक्ति का उल्लघंन किया है, अतएव तू हठी मूर्ख है। आज मैं तुझे यमराज के घर भेजूंगा।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु ने अपने वैष्णव पुत्र की भर्त्सना उसके *दुर्विनीत* अर्थात् असभ्य, उद्दण्ड या बेशर्म होने के कारण की। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस *दुर्विनीत* शब्द का अर्थ सरस्वती

देवी की कृपा लगाया है। उनका कहना है कि *दु:* का अर्थ यह भौतिक जगत है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* में दिये गये उपदेश से होती है कि यह भौतिक जगत *दु:खालयम्* है अर्थात् भौतिक दशाओं से ओत-प्रोत है। *वि* का अर्थ *विशेष* होता है और *नीत* का अर्थ है 'लाया गया'। भगवान् की कृपा से प्रह्लाद महाराज को भौतिक जगत के लोगों को यह शिक्षा देने के लिए लाया गया था कि वे सब किस तरह इस भव-सागर से बाहर निकलें। भगवान् कृष्ण कहते हैं—*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।* जब सारी जनता या कुछ लोग अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं, तो भगवान् कृष्ण प्रकट होते हैं। जब कृष्ण उपस्थित नहीं रहते तो उनका भक्त उपस्थित रहता है, लेकिन ध्येय एक ही होता है—बेचारे बद्धजीवों को माया के चंगुल से मुक्त करना जो उन्हें दुख देती रहती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर और भी बताते हैं कि *मन्दात्मन्* शब्द का अर्थ है *मन्द*—अत्यन्त बुरा या आध्यात्मिक अनुभूति में अत्यन्त कमजोर। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.१.१०) में कहा गया है—*मन्दा: सुमनन्दमतयो मन्दभाग्या।* प्रह्लाद महाराज उन सभी *मन्दों* अर्थात् मायावशीभूत जीवों के पथ-प्रदर्शक हैं। वे इस जगत में मन्द तथा दुष्ट जीवों के भी उपकारी हैं। *कुलभेदकराधम्*—प्रह्लाद महाराज अपने कार्यों से उन महापुरुषों को मात कर गये जिन्होंने बड़े-बड़े कुल स्थापित किये थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही परिवार में तथा अपने वंश को विख्यात बनाने में रुचि रखता है, किन्तु प्रह्लाद महाराज इतने उदार थे कि उन्होंने जीव जीव में कोई भेदभाव नहीं बरता। अतएव वे उन *प्रजापतियों* से भी महान् थे जिन्होंने अपने वंशों को स्थापित किया था। *स्तब्धम्* शब्द हठी या जिद्दी का सूचक है। भक्त असुरों के आदेशों की कभी परवाह नहीं करता। जब वे आदेश देते हैं, तो वह शान्त रहता है। भक्त तो कृष्ण के आदेशों की परवाह करता है, असुरों या अभक्तों की नहीं। वह असुरों का सम्मान नहीं करता भले ही वह उसका पिता क्यों न हो। *मच्छासनोद् वृत्तम्*—प्रह्लाद महाराज अपने असुर पिता के प्रति आज्ञाकारी न थे। *यम-क्षयम्*—प्रत्येक बद्धजीव यमराज के वश में है, किन्तु हिरण्यकशिपु कहता था कि वह प्रह्लाद महाराज को ही अपना मोक्षदाता मानता है, क्योंकि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु को जन्म-मरण चक्कर से मुक्त करने वाले थे। वे एक महान् भक्त होने के नाते एक योगी से बढ़कर थे, अतएव हिरण्यकशिपु को *भक्तियोगियों* के समाज में लाया जाना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने

इन शब्दों की अत्यन्त रोचक व्याख्या की है, जिससे वे विद्या की देवी सरस्वती के पक्ष से समझे जा सके।

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः ।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किं बलोऽत्यगाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

क्रुद्धस्य—क्रुद्ध होने पर; यस्य—जिसके; कम्पन्ते—काँपते हैं; त्रयः लोकाः—तीनों लोक; सह-ईश्वराः—अपने-अपने नायकों समेत; तस्य—उस; मे—मेरे (हिरण्यकशिपु के); अभीत-वत्—निर्भीक; मूढ—धूर्त; शासनम्—आदेश; किम्—क्या; बलः—बल; अत्यगाः—अति हो गई है।

मेरे दुष्ट पुत्र प्रह्लाद! तुम जानते हो कि जब मैं क्रुद्ध होता हूँ तो तीनों लोक अपने-अपने नायकों सहित काँपने लगते हैं। तो फिर तुम किसके बल पर इतने धृष्ट हो गये हो कि तुम निर्भीक होकर मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो?

तात्पर्य : शुद्ध भक्त तथा भगवान् के मध्य अत्यन्त मधुर सम्बन्ध होता है। भक्त कभी भी अपने को शक्तिशाली नहीं मानता, उल्टे उसे इतना दृढ़ विश्वास रहता है कि समस्त संकटों से कृष्ण अपने भक्तों की रक्षा करेंगे, अतएव वह कृष्ण के चरणकमलों पर पूरी तरह समर्पित हो जाता है। भगवान् कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—हे कुन्ती पुत्र! तुम निर्भीक होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी मरता नहीं। भगवान् ने स्वयं यह घोषणा न करके अर्जुन से घोषित करने का अनुरोध किया, क्योंकि कभी-कभी कृष्ण अपना विचार बदल देते हैं, अतएव लोग उन पर विश्वास नहीं भी कर सकते थे। इस तरह कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि वह यह घोषित करे कि भगवद्भक्त कभी विनष्ट नहीं होता।

हिरण्यकशिपु हैरान था कि उसका पाँच वर्ष का बालक इतना निर्भीक कैसे हो सकता है कि वह अपने इतने महान् तथा शक्तिशाली पिता के आदेश की परवाह न करे। भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी के आदेश का पालन नहीं कर सकता। ऐसी है भक्त की स्थिति। हिरण्यकशिपु समझ गया कि यह बालक हो न हो अत्यन्त शक्तिशाली है, क्योंकि वह उसके आदेशों की परवाह नहीं कर रहा था। अतएव हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र से पूछा—*किम् बलः*—तुमने मेरे आदेश का उल्लंघन कैसे किया? तुमने किसके बल पर ऐसा किया है?

श्रीप्रह्राद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्रादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया; न—नहीं; केवलम्—केवल; मे—मेरा; भवतः—आपका; च—तथा; राजन्—हे राजा; सः—वह; वै—निस्सन्देह; बलम्—बल; बलिनाम्—बलियों के; च—तथा; अपरेषाम्—अन्यों का; परे—सम्माननीय; अवरे—अधीन; अमी—वे; स्थिर-जङ्गमाः—चल या अचल जीव; ये—जो; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; येन—जिसके द्वारा; वशम्—वश में; प्रणीताः—लाया गया।

प्रह्लाद महाराज ने कहा, हे राजन्, आप जिस बल के मेरे स्त्रोत को जानना चाह रहे हैं वह आपके बल का भी स्त्रोत है। निस्सन्देह, समस्त प्रकार के बलों का मूल स्त्रोत एक ही है। वह न केवल आपका या मेरा बल है, अपितु सबों का एकमात्र बल है। उसके बिना किसी को कोई बल नहीं मिल सकता। चाहे चल हो या अचल, उच्च हो या नीच, ब्रह्मा समेत सारे जीव भगवान् के बल द्वारा नियंत्रित हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहते हैं—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

"जान लो कि सारी सुन्दर, यशस्वी तथा शक्तिशाली सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग से प्रकट होती हैं।" प्रह्लाद महाराज द्वारा इस की पुष्टि की जा रही है। यदि कोई मनुष्य कहीं कोई अद्वितीय बल या शक्ति देखता है, तो वह भगवान् से उद्भूत हुई है। उदाहरणार्थ, अग्नि की कई कोटियाँ हैं, किन्तु वे सभी सूर्य से ऊष्मा तथा प्रकाश प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार सारे जीव, चाहे बड़े हों या छोटे, भगवान् की दया पर निर्भर हैं। मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह उनकी शरण में जाये, क्योंकि वह दास है और कभी भी स्वामी का स्वतंत्र पद प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य स्वामी का पद स्वामी की दया से ही प्राप्त कर सकता है, स्वतंत्र रूप से नहीं जब तक कोई इस दर्शन को समझ नहीं लेता तब तक वह *मूढ* बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह बुद्धिमान नहीं होता। जिन *मूढों* या गधों में बुद्धि नहीं होती वे भगवान् की शरण में नहीं जा सकते।

जीव की अधीन अवस्था समझने में लाखों जन्म लग जाते हैं, किन्तु जब कोई वास्तव में विज्ञ हो जाता है, तो वह भगवान् की शरण में जाता है। भगवान् *भगवद्गीता* (७.१९) में कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"जो जीव वास्तव में ज्ञानी होता है, वह अनेक जन्म-जन्मांतरों के बाद मुझे समस्त कारणों का कारण समझ कर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" प्रह्लाद महाराज *महात्मा* थे, अतएव उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि उनके कृष्ण समस्त परिस्थितियों में उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे।

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); ईश्वरः—परम नियन्ता; कालः—काल; उरुक्रमः—भगवान् जिनके सारे कार्य असाधारण होते हैं; असौ—वे ही; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; सहः—मन की शक्ति; सत्त्व—स्थैर्य; बल—शारीरिक शक्ति; इन्द्रिय—तथा इन्द्रियों का; आत्मा—आत्मा; सः—वह; एव—निस्सन्देह; विश्वम्—सारा विश्व; परमः—परम; स्व-शक्तिभिः—अपनी विविध दिव्य शक्तियों से; सृजति—सृजन करता है; अवति—पालन करता है; अत्ति—संहार कर देता है; गुण-त्रय-ईशः—तीनों गुणों का स्वामी।

परम नियन्ता एवं काल रूप भगवान् इन्द्रियों के बल, मन के बल, शरीर के बल तथा इन्द्रियों के प्राण हैं। उनका प्रभाव असीम है। वे समस्त जीवों में श्रेष्ठ तथा प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं। वे अपनी शक्ति से इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

तात्पर्य : चूँकि यह भौतिक जगत तीनों गुणों द्वारा चलायमान होता है और चूँकि भगवान् उनका स्वामी है अतएव भगवान् इस भौतिक जगत का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथे स्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत्समर्हणम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

जहि—त्याग दो; आसुरम्—आसुरी; भावम्—प्रवृत्ति को; इमम्—इस; त्वम्—तुम (मेरे पिता); आत्मनः—अपने; समम्—बराबर; मनः—मन; धत्स्व—बनाओ; न—नहीं; सन्ति—हैं; विद्विषः—शत्रु; ऋते—के अतिरिक्त; अजितात्—अनियंत्रित; आत्मनः—मन; उत्पथे—अवांछित प्रवृत्तियों के कुमार्ग पर; स्थितात्—स्थित होकर; तत् हि—वह (प्रवृत्ति); हि—निस्सन्देह; अनन्तस्य—असीम भगवान् की; महत्—सर्वश्रेष्ठ; समर्हणम्—पूजा-विधि।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे पिता, आप अपनी आसुरी प्रवृत्ति त्याग दें। आप अपने हृदय में शत्रु-मित्र में भेदभाव न लाएँ, आप अपने मन को सबों के प्रति समभाव बनाएँ। इस संसार में अनियंत्रित तथा पथभ्रष्ट मन के अतिरिक्त कोई शत्रु नहीं है। जब कोई मनुष्य प्रत्येक व्यक्ति को समता के पद पर देखता है तभी वह भगवान् की ठीक से पूजा करने की स्थिति में होता है।

तात्पर्य : जब तक मन को भगवान् के चरणकमलों में स्थिर नहीं कर लिया जाता तब तक मन को वश में कर पाना असम्भव है। जैसाकि अर्जुन *भगवद्गीता* (६.३४) में कहता है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

''हे कृष्ण! मन चंचल, उद्दंड, जिद्दी तथा अत्यन्त प्रबल होता है और मेरी समझ में इसे दमित कर पाना वायु को नियंत्रित करने की अपेक्षा अधिक कठिन है।'' मन को नियंत्रित करने की प्रामाणिक विधि है मन को भगवान् की सेवा में स्थिर कर देना। हम अपने मन के आदेशानुसार शत्रु तथा मित्र बनाते हैं, किन्तु वास्तव में न तो मित्र होते हैं और न शत्रु। *पण्डिताः समदर्शिनः। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।* इसे समझना ही भक्ति के राज्य में प्रवेश करने की पहली शर्त है।

दस्यून्पुरा षण्न विजित्य लुम्पतो
मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां
साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दस्यून्—लुटेरे; पुरा—प्रारम्भ में; षट्—छह; न—नहीं; विजित्य—जीत कर; लुम्पतः—किसी की सारी सम्पत्ति चुराते हुए; मन्यन्ते—मानते हैं; एके—कुछ; स्व-जिताः—जीता हुआ; दिशः दश—दसों दिशाएँ; जित-आत्मनः—जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, इन्द्रियजित; ज्ञस्य—विद्वान का; समस्य—समदर्शी; देहिनाम्—समस्त जीवों के प्रति; साधोः—ऐसे साधु पुरुष का; स्व-मोह-प्रभवाः—अपने ही मोह से उत्पन्न; कुतः—कहाँ; परे—शत्रु या विरोधी तत्त्व।

प्राचीन काल में आपके समान ही अनेक मूढ हुए हैं जिन्होंने उन छह शत्रुओं को नहीं जीता जो शरीर रूपी सम्पत्ति को चुरा ले जाते हैं। ये मूढ यह सोचकर गर्वित होते हैं ''मैंने तो दसों दिशाओं के सारे शत्रुओं को जीत लिया है।'' किन्तु यदि कोई व्यक्ति इन छह शत्रुओं पर विजयी

होता है और सारे जीवों पर समभाव रखता है, तो उसके लिए शत्रु नहीं होते। शत्रु की कल्पना मूर्खतावश की जाती है।

तात्पर्य : इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने अपने शत्रुओं को जीत लिया है, किन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि उसके शत्रु तो उसका अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियाँ हैं (*मनः षष्टानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति*)। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का दास बन चुका है। मूलतः प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का दास होता है, किन्तु अज्ञानवश वह इसे भूल जाता है और इस तरह वह कामेच्छा, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता तथा ईर्ष्यावश माया की सेवा में लग जाता है। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति भौतिक नियमों के परिणामों पर आश्रित है फिर भी वह अपने को स्वतंत्र समझता है और सोचता है कि उसने सारी दिशाएँ जीत ली हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि उसके अनेक शत्रु हैं वह अज्ञानी है जब कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जानता है कि मनुष्य के भीतर के शत्रुओं—अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियों—के अतिरिक्त कोई अन्य शत्रु नहीं है।

श्रीहिरण्यकशिपुरुवाच
व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे ।
मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन्ननु स्युर्विक्लवा गिरः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-हिरण्यकशिपुः उवाच—वर प्राप्त हिरण्यकशिपु ने कहा; **व्यक्तम्**—स्पष्ट रूप से; **त्वम्**—तुम; **मर्तु-कामः**—मृत्यु के इच्छुक; **असि**—हो; **यः**—जो; **अतिमात्रम्**—असीम; **विकत्थसे**—डींग मार रहे हो (मानो तुमने इन्द्रियों जीत ली हों और तुम्हारे पिता ने न जीती हों); **मुमूर्षूणाम्**—तुरन्त ही मरने वाले व्यक्तियों का; **हि**—निस्सन्देह; **मन्द-आत्मन्**—हे मूर्ख; **ननु**—निश्चय ही; **स्युः**—हो जाते हैं; **विक्लवाः**—ऊटपटाँग; **गिरः**—शब्द।

हिरण्यकशिपु ने उत्तर दियाः रे मूर्ख! तू मेरे महत्त्व को घटाने का प्रयास कर रहा है मानो तू मुझसे अधिक इन्द्रिय-संयमी है। यह अति-बुद्धिमत्ता है। अतएव मैं समझ रहा हूँ कि तुम मेरे हाथों मरना चाहते हो, क्योंकि ऐसी बेसिर-पैर की (ऊटपटाँग) बातें वे ही करते हैं, जो मरणासन्न होते हैं।

तात्पर्य : *हितोपदेश* में कहा गया है—*उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।* यदि किसी मूर्ख व्यक्ति को अच्छा उपदेश दिया जाता है, तो वह उसका लाभ न उठा कर उल्टे और अधिक क्रुद्ध होता है। प्रह्लाद महाराज के प्रामाणिक उपदेशों को उसके पिता हिरण्यकशिपु ने सत्य करके नहीं माना प्रत्युत वह शुद्ध भक्त एवं महान् पुत्र पर अधिकाधिक क्रुद्ध हो उठा। ऐसी कठिनाई हमेशा उत्पन्न हो जाती है

जब कोई भक्त हिरण्यकशिपु जैसे व्यक्तियों को, जो धन तथा स्त्रियों द्वारा आकृष्ट होते हैं, कृष्णभावनामृत का उपदेश देता है (*हिरण्य* का अर्थ है ''सोना'' तथा *कशिपु* का अर्थ है ''बढ़िया गद्दा'')। यही नहीं, पिता कभी नहीं चाहता कि उसका पुत्र उसे उपदेश दे, विशेष रूप से यदि पिता असुर हो। किन्तु प्रह्लाद महाराज का वैष्णव उपदेश अप्रत्यक्षत: उनके आसुरी पिता पर फलित हो रहा था, क्योंकि हिरण्यकशिपु कृष्ण तथा उनके भक्त के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या के कारण अपने मारे जाने के लिए नृसिंहदेव को शीघ्रता से बुला रहा था। इस प्रकार वह साक्षात् भगवान् द्वारा मारे जाने के लिए तेजी ला रहा था। यद्यपि हिरण्यकशिपु असुर था, किन्तु यहाँ उसे *श्री* शब्द से पुकारा गया है। क्यों? इसका उत्तर यह है कि सौभाग्यवश उनका पुत्र प्रह्लाद महाराज जैसा महाभागवत था। इस प्रकार असुर होते हुए भी उसे मोक्ष प्राप्त होगा और वह भगवद्धाम लौटेगा।

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः ।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; त्वया—तेरे द्वारा; मन्द-भाग्य—अरे अभागे; उक्तः—कहा गया; मत्-अन्यः—मेरे अतिरिक्त; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड का परम नियन्ता; क्व—कहाँ; असौ—वही; यदि—यदि; सः—वह; सर्वत्र—सभी जगह (सर्वव्यापी); कस्मात्—क्यों; स्तम्भे—मेरे समक्ष के ख भे में; न दृश्यते—नहीं दिखता।

अरे अभागे प्रह्लाद! तूने सदैव मेरे अतिरिक्त किसी परम पुरुष का वर्णन किया है, जो हर एक के ऊपर है, हर एक का नियन्ता है तथा जो सर्वव्यापी है। लेकिन वह है कहाँ? यदि वह सर्वत्र है, तो वह मेरे समक्ष के इस ख भे में क्यों उपस्थित नहीं है?

तात्पर्य : कभी-कभी असुरगण यह घोषित करते हैं कि वे ईश्वर के अस्तित्व को इसलिए नहीं मानते, क्योंकि वे उन्हें देख नहीं सकते। किन्तु असुर जो कुछ नहीं जानता उसका वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.२५) में किया है—*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*—''मैं कभी मूर्ख तथा अज्ञानी के समक्ष प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं योगमाया से आवृत रहा करता हूँ।'' भगवान् केवल भक्तों द्वारा देखे जाने के लिए अनावृत रहते हैं, लेकिन अभक्त उन्हें नहीं देख सकते। भगवान् के दर्शन पाने की योग्यता का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में किया गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।* जिस भक्त ने भगवान् कृष्ण के प्रति सच्चा प्रेम विकसित कर लिया है, वह उन्हें सर्वत्र सदा देख सकता है, किन्तु असुर उन्हें नहीं देख सकता, क्योंकि उसे परमेश्वर का

स्पष्ट ज्ञान नहीं है। जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद महाराज को मार डालने की धमकी दे रहा था तो प्रह्लाद ने निश्चित रूप से अपने तथा अपने पिता के समक्ष खड़े हुए ख भे को देखा और यह भी देखा कि भगवान् उसे अपने आसुरी पिता के शब्दों से न डरने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु उस ख भे में उपस्थित हैं। भगवान् उसकी रक्षा करने के लिए उपस्थित थे। हिरण्यकिशपु ने प्रह्लाद महाराज के कथन पर ध्यान देते हुए उससे पूछा ''बोल, तेरा ईश्वर कहाँ है?'' प्रह्लाद महाराज ने उत्तर दिया, ''वे सर्वत्र हैं।'' तब हिरण्यकशिपु ने फिर पूछा ''तो वह मेरे सामने वाले ख भे में क्यों नहीं है?'' इस तरह भक्त समस्त परिस्थितियों में परमेश्वर का सदैव दर्शन कर सकता है, जबकि अभक्त ऐसा नहीं कर पाता।

यहाँ पर प्रह्लाद महाराज के पिता ने उसे 'सर्वाधिक अभागा' कहकर सम्बोधित किया है। हिरण्यकशिपु अपने आपको सर्वाधिक भाग्यशाली समझता है, क्योंकि वह ब्रह्माण्ड की सम्पत्ति का स्वामी था उसके वैध पुत्र प्रह्लाद महाराज को ही यह विशाल सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिलनी थी, किन्तु वह अपनी धृष्टता के कारण अपने पिता के हाथों से मरने जा रहा था। अतएव प्रह्लाद महाराज के असुर पिता ने उसे अत्यन्त अभागा समझा, क्योंकि वह उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त नहीं कर सकेगा। हिरण्यकशिपु को ज्ञात न था कि प्रह्लाद महाराज तीनों लोकों में सर्वाधिक भाग्यशाली पुरुष थे, क्योंकि उनकी रक्षा परमेश्वर कर रहे थे। ऐसी होती है अज्ञानता असुरों की। वे यह नहीं जानते कि भक्त समस्त परिस्थितियों में भगवान् द्वारा रक्षित होता है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*)।

सोऽहं विकत्थमानस्य शिर: कायाद्धरामि ते ।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; अहम्—मैं; विकत्थमानस्य—ऐसे अनर्गल प्रलाप करने वालों का; शिर:—सिर; कायात्—शरीर से; हरामि—छिन्न कर दूँगा; ते—तुम्हारा; गोपायेत—वह तुम्हारी रक्षा करे; हरि:—भगवान् हरि; त्वा—तुमको; अद्य—अब; य:—जो; ते—तुम्हारा; शरणम्—रक्षक; ईप्सितम्—वांछित।

चूँकि तुम इतना अधिक अनर्गल प्रलाप कर रहे हो अतएव अब मैं तुम्हारे शरीर से तुम्हारा शिर छिन्न कर दूँगा। अब मैं देखूँगा कि तुम्हारा परमाराध्य ईश्वर तुम्हारी रक्षा किस तरह करता है। मैं उसे देखना चाहता हूँ।

तात्पर्य : असुरगण सदैव सोचते हैं कि भक्तों का ईश्वर काल्पनिक है। वे यह सोचते हैं कि ईश्वर है ही नहीं और ईश्वर के प्रति भक्ति की तथाकथित धार्मिक भावना मात्र निद्राजनक है। यह एक तरह

का व्यामोह है, जैसाकि एल० एस० डी० तथा अफीम से उत्पन्न होता है। जब प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु को कह रहे थे कि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, तो हिरण्यकशिपु को उस पर विश्वास नहीं हो रहा था। चूँकि एक आदर्शमय असुर होने के कारण हिरण्यकशिपु को विश्वास था कि कहीं ईश्वर नहीं है और कोई प्रह्लाद की रक्षा नहीं कर सकेगा, अतएव वह अपने पुत्र को मारने के लिए प्रोत्साहित हुआ। उसने इस विचार को चुनौती दी कि भक्त सदैव परमेश्वर द्वारा रक्षित है।

एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः ।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥ १४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दुरुक्तैः—कटु वचनों से; मुहुः—निरन्तर; अर्दयन्—प्रताड़ित किया जाकर; रुषा—अनावश्यक क्रोध सहित; सुतम्—अपने पुत्र को; महा-भागवतम्—महान् भक्त; महा-असुरः—महान् असुर हिरण्यकशिपु ने; खड्गम्—तलवार; प्रगृह्य—ग्रहण करके; उत्पतितः—उठकर; वर-आसनात्—अपने अत्यन्त उच्च सिंहासन से; स्तम्भम्—ख भे को; तताड—प्रहार किया; अति-बलः—बलशाली; स्व-मुष्टिना—अपनी मुट्ठी या घूँसे से।

अतिशय क्रोध के कारण अत्यन्त बलशाली हिरण्यकशिपु ने अपने महाभागवत पुत्र को अत्यन्त कटु वचन कहे और उसकी भर्त्सना की। उसे बारम्बार श्राप देते हुए हिरण्यकशिपु ने अपनी तलवार निकाली, अपने राजसी सिंहासन से उठ खड़ा होकर और अत्यन्त क्रोध के साथ ख भे पर मुष्टिका-प्रहार किया।

तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा स्वधामात्ययमङ्ग मेनिरे ॥ १५॥

शब्दार्थ

तदा—उसी समय; एव—ठीक; तस्मिन्—उस (ख भे) के भीतर; निनदः—ध्वनि; अति-भीषणः—अत्यन्त भयावनी; बभूव—हुई; येन—जिससे; अण्ड-कटाहम्—ब्रह्माण्ड आवरण (कोश); अस्फुटत्—चिटखता प्रतीत हुआ; यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; स्व-धिष्ण्य-उपगतम्—अपने-अपने घर पहुँच कर; तु—लेकिन; अज-आदयः—ब्रह्माजी इत्यादि देवतागण; श्रुत्वा—सुनकर; स्व-धाम-अत्ययम्—अपने-अपने निवासों का ध्वंस; अङ्ग—हे राजा युधिष्ठिर; मेनिरे—सोचा।

तब उस ख भे से एक भयानक आवाज आई जिससे ब्रह्माण्ड का आवरण विदीर्ण होता प्रतीत हुआ। हे युधिष्ठिर, यह आवाज ब्रह्मा आदि देवताओं के निवासों तक पहुँच गई और जब देवताओं ने इसे सुना तो उन्होंने सोचा ''ओह! अब हमारे लोकों का विनाश होने जा रहा है।''

तात्पर्य : जिस प्रकार हम वज्रपात की ध्वनि से कभी कभी अत्यधिक भयभीत हो उठते हैं और यह सोचने लगते हैं कि शायद हमारे घर विनष्ट हो जायेंगे उसी प्रकार ब्रह्मा आदि देवता हिरण्यकशिपु के समक्ष ख भे से उत्पन्न गर्जन सुनकर भयभीत हो उठे।

स विक्रमन्पुत्रवधेप्सुरोजसा
निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम् ।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं
वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); विक्रमन्—अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए; पुत्र-वध-ईप्सुः—अपने ही पुत्र का वध करने का इच्छुक; ओजसा—अत्यन्त बलपूर्वक; निशम्य—सुनकर; निर्ह्रादम्—भयानक ध्वनि को; अपूर्वम्—पहले कभी न सुनी गई; अद्भुतम्—अत्यन्त अद्भुत; अन्तः-सभायाम्—सभा के भीतर; न—नहीं; ददर्श—देखा; तत्-पदम्—उस भयानक आवाज के स्रोत को; वितत्रसुः—भयभीत हुए; येन—जिस ध्वनि से; सुर-अरि-यूथ-पाः—असुरों के अन्य नेता (हिरण्यकशिपु ही नहीं)।

अपने पुत्र को मारने के इच्छुक हिरण्यकशिपु ने जो इस तरह अपना अद्वितीय शौर्य दिखला रहा था जब एक अद्भुत भीषण (घोर) ध्वनि सुनी जिसे इसके पूर्व उसने कभी नहीं सुना था। इसी ध्वनि को सुनकर अन्य असुरनायक भी भयभीत हुए। उस सभा में इस ध्वनि के उद्गम को कोई नहीं ढूँढ़ पाया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.८) में कृष्ण यह कहकर अपनी व्याख्या करते हैं—

रसोऽमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

"हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मैं ही जल का स्वाद, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश, वैदिक मंत्रों का ऊँ शब्द तथा आकाश एवं मनुष्य के पुरुषार्थ की ध्वनि हूँ।" यहाँ पर भगवान् ने आकाश में भीषण ध्वनि द्वारा (*शब्दः खे*) सर्वत्र अपनी उपस्थिति प्रकट की। अब हिरण्यकशिपु जैसे असुर भगवान् की परम नियंत्रक शक्ति का अनुभव कर सके और इस प्रकार हिरण्यकशिपु भयभीत हो गया। मनुष्य चाहे कितना बलशाली क्यों न हो, वह वज्रपात की ध्वनि से सदैव भयभीत होता है। इसी प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके सारे संगी असुर उस ध्वनि के रूप में उपस्थित भगवान् की उपस्थिति से भयभीत थे, यद्यपि वे उस ध्वनि के उद्गम का पता नहीं लगा पाये।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सच; विधातुम्—सिद्ध करने के लिए; निज-भृत्य-भाषितम्—अपने दास के ही शब्दों को (प्रह्लाद महाराज द्वारा कहे गये शब्द कि भगवान् सर्वव्यापी हैं); व्याप्तिम्—उपस्थिति; च—तथा; भूतेषु—जीवों तथा तत्त्वों के मध्य; अखिलेषु—समस्त; च—तथा; आत्मनः—अपना; अदृश्यत—दिखाई पड़ा; अति—अत्यन्त; अद्भुत—अद्‌भुत; रूपम्—रूप को; उद्वहन्—धारण करके; स्तम्भे—ख भे में; सभायाम्—सभा के भीतर; न—नहीं; मृगम्—पशु; न—न तो; मानुषम्—मनुष्य ।

अपने दास प्रह्लाद महाराज के वचनों को सिद्ध करने के लिए कि वे सत्य हैं—अर्थात् यह सिद्ध करने के लिए कि भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, यहाँ तक कि सभा भवन के ख भे के भीतर भी हैं—भगवान् श्री हरि ने अपना अभूतपूर्व अद्भुत रूप प्रकट किया। यह रूप न तो मनुष्य का था, न सिंह का। इस प्रकार भगवान् उस सभाकक्ष में अपने अद्भुत रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य : जब हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद महाराज से पूछा ''तुम्हारा भगवान् कहाँ है ? क्या वह इस ख भे में उपस्थित है ?'' तो प्रह्लाद महाराज ने निर्भीक होकर उत्तर दिया, ''हाँ, मेरे भगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं।'' अतएव हिरण्यकशिपु को यह विश्वास दिलाने के लिए कि प्रह्लाद महाराज का कथन निर्भ्रान्त था, भगवान् उस ख भे से प्रकट हो गये। वे आधा सिंह तथा आधा मनुष्य के रूप में प्रकट हुए जिससे हिरण्यकशिपु यह नहीं जान पाया कि यह विराट दैव सिंह है या मनुष्य। प्रह्लाद के कथन की पुष्टि करके भगवान् ने सिद्ध कर दिया कि उनका भक्त कभी विनष्ट नहीं होता, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। यद्यपि प्रह्लाद का असुर पिता उन्हें मार डालने की बार-बार धमकियाँ दे चुका था, किन्तु प्रह्लाद को विश्वास था कि वे मारे नहीं जा सकते, क्योंकि उनकी रक्षा करने वाले भगवान् हैं। ख भे से प्रकट होकर भगवान् ने मानो यह कहते हुए अपने भक्त को प्रोत्साहित किया हो ''मत चिन्तित होओ। मैं यहाँ उपस्थित हूँ।'' नृसिंह देव के रूप में प्रकट होकर भगवान् ने ब्रह्माजी के वचनों को भी रख लिया कि हिरण्यकशिपु का वध न तो किसी पशु के द्वारा होगा, न मनुष्य द्वारा। भगवान् ऐसे रूप में प्रकट हुए जो न तो पूरी तरह मनुष्य का, न सिंह का कहा जा सकता था।

स सत्त्वमेनं परितो विपश्यन्

स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम् ।
नायं मृगो नापि नरो विचित्र-
महो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (दैत्यराज हिरण्यकशिपु); सत्त्वम्—सजीव प्राणी को; एनम्—इस; परितः—चारों ओर; विपश्यन्—देखते हुए; स्तम्भस्य—ख भे के; मध्यात्—बीच से; अनुनिर्जिहानम्—निकल कर; न—नहीं; अयम्—यह; मृगः—पशु; न—नहीं; अपि—निस्सन्देह; नरः—मनुष्य; विचित्रम्—अत्यन्त अद्भुत; अहो—ओह; किम्—किया; एतत्—यह; नृ-मृग-इन्द्र-रूपम्—मनुष्य तथा पशुओं के राजा सिंह का रूप।

जब हिरण्यकशिपु उस ध्वनि का स्रोत ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर देख रहा था तो उस ख भे से भगवान् का एक अद्भुत रूप प्रकट हुआ जो न तो मनुष्य का था और न सिंह का माना जाता था। हिरण्यकशिपु आश्चर्यचकित हुआ, ''यह कैसा प्राणी है, जो आधा पुरुष तथा आधा सिंह है?''

तात्पर्य : असुर कभी भी परमेश्वर की असीम शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकता। जैसाकि वेदों में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी-ज्ञान बलक्रिया च*—भगवान् की विविध शक्तियाँ सदैव उनके ज्ञान के स्वत: प्राकट्य के रूप में कार्य करती हैं। असुर के लिए निस्सन्देह, यह आश्चर्यजनक बात है कि मनुष्य तथा सिंह के रूप संयुक्त हो सकते हैं, क्योंकि उसे भगवान् की अजेय शक्ति का कोई अनुभव नहीं रहता जिसके कारण अहं सर्वशक्तिमान कहा जाता है। असुरगण भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को नहीं जान सकते। वे सदैव भगवान् की तुलना अपने से करते हैं (*अवजानन्तिमां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*)। ये मूढ़ अर्थात् धूर्त सोचते हैं कि कृष्ण एक सामान्य मनुष्य हैं, जो अन्य मनुष्यों के हित के लिए प्रकट होते हैं। *परं भावम् अजानन्तः*—मूर्ख, धूर्त तथा असुरगण भगवान् की परम शक्ति की अनुभूति नहीं कर पाते, किन्तु भगवान् सब कुछ कर सकते हैं। निस्सन्देह, वे जो भी चाहें कर सकते हैं। जब हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वर प्राप्त हुआ था तो वह सोच रहा था कि वह सुरक्षित है, क्योंकि उसे वर प्राप्त था कि वह न तो किसी पशु द्वारा मारा जा सकेगा, न मनुष्य द्वारा। उसने कभी सोचा भी नहीं था कि पशु तथा मनुष्य संयुक्त होकर उसे आश्चर्यचकित कर देंगे। भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का यही अर्थ है।

मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो ।
नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम् ॥ १९ ॥

प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेशरजृम्भिताननम् ।
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ॥ २० ॥

स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुत-
व्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ।
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवर-
ग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ॥ २१ ॥

चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहै-
र्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ।
दुरासदं सर्वनिजेतरायुध-
प्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मीमांसमानस्य—भगवान् के अद्‌भुत रूप के विषय में उधेड़-बुन करने वाले हिरण्यकशिपु के; समुत्थितः—प्रकट हुआ; अग्रतः—समक्ष; नृसिंह-रूपः—नृसिंह देव (आधा सिंह तथा आधा मनुष्य) के रूप; तत्—वह; अलम्—विलक्षण रीति से; भयानकम्—अत्यन्त भयावना; प्रतप्त—पिघला हुआ; चामीकर—सोना; चण्ड-लोचनम्—भयानक आँखों वाला; स्फुरत्—चमकाते हुए; सटा-केशर—अपनी गरदन के बाल; जृम्भित-आननम्—मुँह फैलाये; कराल—भयानक; दंष्ट्रम्—दाँतों से युक्त; करवाल-चञ्चल—पैनी तलवार जैसी हिलती; क्षुर-अन्त—तथा छुरे के समान तेज; जिह्वम्—अपनी जीभ को; भ्रुकुटी-मुख—अपने क्रोध-पूर्ण मुख के कारण; उल्बणम्—डरावना; स्तब्ध—स्थिर; ऊर्ध्व—ऊपर की ओर फैले; कर्णम्—कान; गिरि-कन्दर—पर्वत की गुफाओं के सदृश; अद्भुत—अत्यन्त भयानक; व्यात्तास्य—मुँह फैलाये; नासम्—तथा नथुने; हनु-भेद-भीषणम्—जबड़े अलग होने से भय उत्पन्न करता; दिवि-स्पृशत्—आकाश को छूता हुआ; कायम्—शरीर; अदीर्घ—लघु; पीवर—मोटी; ग्रीव—गर्दन; उरु—चौड़ा; वक्षः-स्थलम्—सीना; अल्प—छोटा; मध्यमम्—शरीर का मध्य भाग; चन्द्र-अंशु—चन्द्रमा की किरणों की तरह; गौरैः—गौर वर्ण के; छुरितम्—आवृत; तनूरुहैः—बालों से; विष्वक्—सभी दिशाओं में; भुज—भुजाओं का; अनीक-शतम्—एक सौ पंक्तियों वाला; नख—नाखून; आयुधम्—घातक हथियार के रूप में; दुरासदम्—जीत पाना कठिन; सर्व—समस्त; निज—स्वयं; इतर—तथा अन्य; आयुध—हथियारों का; प्रवेक—सर्वश्रेष्ठ (हथियार) के प्रयोग द्वारा; विद्रावित—दौने लगा; दैत्य—असुरों; दानवम्—तथा धूर्तों (नास्तिकों) को।

हिरण्यकशिपु ने अपने समक्ष खड़े नृसिंह देव के रूप का निश्चय करने के लिए भगवान् के रूप को ध्यान से देखा। भगवान् का रूप पिघले सोने के सदृश था। उनकी क्रुद्ध आँखों के कारण जो पिघले स्वर्ण से मिलती थी वह रूप अत्यन्त भयानक लग रहा था; उनके चमकीले अयाल (गर्दन के बाल) उनके भयानक मुखमण्डल के आकार को फैला रहे थे; उनके दाँत मृत्यु-जैसे भयानक थे, उनकी उस्तरे जैसी तीक्ष्ण जीभ लड़ाई में तलवार के समान इधर-उधर चल रही थी; उनके कान खड़े तथा स्थिर थे और उनके नथुने तथा खुला मुख पर्वत की गुफा-जैसे लग रहे थे। उनके जबड़े फैले हुए थे जिससे भय उत्पन्न हो रहा था और उनका समूचा शरीर आसमान को छू रहा था। उनकी गर्दन अत्यन्त छोटी तथा मोटी थी; उनकी छाती चौड़ी थी तथा कमर पतली थी। उनके शरीर के रोएँ चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत लग रहे थे। उनकी

भुजाएं चारों दिशाओं में फैले सैनिकों की टुकड़ियों से मिलती जुलती थी, जब वे असुरों धूर्तों तथा नास्तिकों का अपने शंख, चक्र, गदा, कमल तथा अन्य प्राकृतिक अस्त्र-शस्त्रों से वध कर रहे थे।

प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ।
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो
नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ॥ २३॥

शब्दार्थ

प्रायेण—शायद; मे—मेरा; अयम्—यह; हरिणा—भगवान् द्वारा; उरु-मायिना—अत्यधिक योग शक्ति वाले; वधः—मृत्यु; स्मृतः—आयोजित; अनेन—इस; समुद्यतेन—प्रयास के साथ; किम्—क्या लाभ; एवम्—इस प्रकार; ब्रुवन्—मन ही मन कहा; तु—निस्सन्देह; अभ्यपतत्—आक्रमण किया; गदा-आयुधः—अपने गदा रूपी आयुध से युक्त; नदन्—जोर से गर्जना करते हुए; नृ-सिंहम्—आधा सिंह तथा आधा मनुष्य के रूप में प्रकट होने वाले भगवान्; प्रति—के प्रति; दैत्य-कुञ्जरः—हाथी के तुल्य असुर हिरण्यकशिपु ने।.

हिरण्यकशिपु ने मन ही मन कहा : "अत्यधिक योग शक्ति वाले भगवान् विष्णु ने मेरा वध करने के लिए यह योजना बनाई है, किन्तु ऐसा प्रयास करने से क्या लाभ है? भला ऐसा कौन है, जो मुझसे युद्ध कर सकता है?" ऐसा सोचते हुए हाथी के समान हिरण्यकशिपु ने अपनी गदा उठाकर भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

तात्पर्य : कभी कभी जंगल में सिंहों तथा हाथियों के मध्य युद्ध होता है। यहाँ पर भगवान् सिंह रूप में प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु ने निडर हाथी की तरह उन पर आक्रमण कर दिया। सामान्यत: हाथी सिंह से हार जाता है अतएव इस श्लोक में दी गई उपमा युक्तियुक्त है।

अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो
यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा ।
न तद्विचित्रं खलु सत्त्वधामनि
स्वतेजसा यो नु पुरापिबत्तमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

अलक्षितः—अदृश्य; अग्नौ—अग्नि में; पतितः—गिरा हुआ; पतङ्गमः—पतंगा; यथा—जिस तरह; नृसिंह—भगवान् नृसिंह देव का; ओजसि—तेज में; सः—वह; असुरः—हिरण्यकशिपु; तदा—उस समय; न—नहीं; तत्—वह; विचित्रम्—अद्भुत; खलु—निस्सन्देह; सत्त्व-धामनि—सतोगुणी भगवान् में; स्व-तेजसा—अपने तेज से; यः—जो भगवान्; नु—निस्सन्देह; पुरा—प्राचीन काल में; अपिबत्—निगल लिया; तमः—भौतिक सृष्टि के भीतर अंधकार।.

जिस तरह एक बेचारा छोटा पतंगा बरबस अग्नि में गिरकर अदृश्य हो जाता है उसी तरह जब हिरण्यकशिपु ने तेजोमय भगवान् पर आक्रमण किया तो वह अदृश्य हो गया। यह आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि भगवान् सदैव सतोगुण की स्थिति में रहते हैं। प्राचीन काल में सृष्टि के समय वे अंधकारपूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये थे और उसे उन्होंने अपने आध्यात्मिक तेज से प्रकाशित कर दिया था।

तात्पर्य : भगवान् सदैव शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं। यह भौतिक जगत सामान्यत: तमोगुण द्वारा नियंत्रित होता है किन्तु आध्यात्मिक जगत भगवान् तथा उनके तेज की उपस्थिति के कारण तमो, रजो या दूषित सतोगुण के द्वारा होने वाले समस्त कल्मष से सर्वथा रहित है। यद्यपि इस जगत में भी ब्राह्म गुणों के रूप में सतोगुण का रंचमात्र पाया जाता है किन्तु कभी-कभी ऐसे गुण रजो तथा तमो गुणों के प्राबल्य के कारण अदृश्य हो जाते हैं। किन्तु भगवान् सदैव दिव्यत: स्थिर रहते हैं, अतएव रजो तथा तमोंगुण उनका स्पर्श भी नहीं कर पाते। जब भी भगवान् विद्यमान रहते हैं, तो तमोगुण के कारण कोई भी अज्ञान वहाँ टिक नहीं सकता। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३१) में कहा गया है—

कृष्ण—सूर्य-सम, माया हय अन्धकार।

याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार॥

''भगवान् प्रकाश हैं और अविद्या अंधकार है। जहाँ भगवान् रहते हैं वहाँ अविद्या नहीं रहती।'' यह भौतिक जगत तमोगुण से और आध्यात्मिक जीवन के अज्ञान से पूर्ण है, किन्तु भक्तियोग से यह अज्ञान जाता रहता है। भगवान् का प्राकट्य इसलिए हुआ, क्योंकि प्रह्लाद महाराज ने भक्तियोग प्रदर्शित किया और ज्योंही भगवान् प्रकट हुए त्योंही हिरण्यकशिपु के रजो तथा तमोंगुण का प्रभाव जाता रहा, क्योंकि भगवान् का शुद्ध सतोगुण या ब्रह्मतेज प्रधान हो गया। उस प्रखर तेज के समक्ष हिरण्यकशिपु अदृश्य हो गया, अर्थात् उसका प्रभाव नगण्य हो गया। शास्त्र में यह बताने के लिए कि भौतिक जगत का अंधकार किस प्रकार भाग जाता है उदाहरण प्राप्त है। जब ब्रह्मा गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से निकले—कमल से उत्पन्न हुए तो उन्होंने देखा कि सब कुछ अंधकारमय है, किन्तु जब उन्हें भगवान् से ज्ञान प्राप्त हो गया तो सब कुछ स्पष्ट हो गया जिस तरह रात्रि से सूर्य प्रकाश में आने पर प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखने लगती है। मुख्य बात तो यह है कि जब तक हम प्रकृति के गुणों में रहते हैं तब तक हम

सदैव अंधकार में होते हैं। यह अंधकार भगवान् की उपस्थिति के बिना दूर नहीं हो पाता जिस का आवाहन भक्तियोग विधि से किया जाता है। भक्तियोग से कल्मषविहीन दिव्य स्थिति उत्पन्न होती है।

ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ।
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अभिपद्य—आक्रमण करके; अभ्यहनत्—प्रहार किया; महा-असुरः—महान् असुर (हिरण्यकशिपु) ने; रुषा—क्रुद्ध होकर; नृसिंहम्—भगवान् नृसिंह देव पर; गदया—अपनी गदा से; उरु-वेगया—अत्यधिक बलपूर्वक; तम्—उसे (हिरण्यकशिपु को); विक्रमन्तम्—अपना पराक्रम दिखाते हुए; स-गदम्—उसकी गदा सहित; गदा-धरः—हाथ में गदा लिए भगवान् नृसिंह देव ने; महा-उरगम्—विशाल सर्प को; तार्क्ष्य-सुतः—तार्क्ष्य पुत्र गरुड़; यथा—जिस तरह; अग्रहीत्—पकड़ ले।

तत्पश्चात् अत्यन्त क्रुद्ध उस महान् असुर हिरण्यकशिपु ने तेजी से नृसिंह देव पर अपनी गदा से आक्रमण कर दिया और उन्हें मारने लगा। किन्तु भगवान् नृसिंह देव ने उस महान् असुर को उसकी गदा समेत उसी तरह पकड़ लिया जिस तरह गरुड़ किसी साँप को पकड़ ले।

स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो
विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः ।
असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा
घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (हिरण्यकशिपु); तस्य—उस दिव्य (भगवान् नृसिंह) के; हस्त—हाथों से; उत्कलितः—छूट गया; तदा—उस समय; असुरः—दैत्यराज हिरण्यकशिपु; विक्रीडतः—खेलते हुए; यद्वत्—के सदृश; अहिः—सर्प; गरुत्मतः—गरुड़ का; असाधु—बुरा; अमन्यन्त—मान लिया; हृत-ओकसः—जिनके धाम हिरण्यकिशपु ने छीन लिये थे; अमराः—देवगण; घन-च्छदाः—बादलों के पीछे स्थित; भारत—हे भरतपुत्र; सर्व-धिष्ण्य-पाः—समस्त स्वर्गलोकों के शासक।

हे भरत के महान् पुत्र युधिष्ठिर, जब नृसिंह देव ने हिरण्यकशिपु को अपने हाथ से छूट जाने का अवसर दे दिया, जिस तरह से कभी-कभी गरुड़ साँप के साथ खिलवाड़ करते हुए उसे अपने मुँह से सरक जाने देता है, तो सारे देवताओं ने, जिनके निवास स्थान उनके हाथों से निकल चुके थे और जो असुर के भय से बादलों के पीछे छिपे थे, इस घटना को शुभ नहीं माना। निस्सन्देह, वे अत्यधिक विचलित थे।

तात्पर्य : जब हिरण्यकिशपु नृसिंह के चंगुल में था और मार डाला जाने वाला था तो भगवान् ने उसे अपने चंगुल से सरक जाने का एक अवसर दिया। देवताओं ने इस घटना को पसन्द नहीं किया,

क्योंकि वे हिरण्यकशिपु से अत्यधिक डरे हुए थे। वे जानते थे कि यदि किसी तरह हिरण्यकशिपु भगवान् के हाथों से छूट निकला और उसने यह देख लिया कि देवता उसकी मृत्यु की अत्यन्त हर्ष के साथ प्रतीक्षा कर रहे हैं, तो वह उनसे बदला लेगा। इसलिए वे अत्यधिक भयभीत थे।

तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं
यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः ।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी
प्रगृह्य वेगेन गतश्रमो मृधे ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (नृसिंह देव को); मन्यमानः—सोचते हुए; निज-वीर्य-शङ्कितम्—अपने शौर्य से भयभीत; यत्—क्योंकि; हस्त-मुक्तः—भगवान् के चंगुल से मुक्त; नृ-हरिम्—भगवान् नृसिंह देव को; महा-असुरः—महान् असुर ने; पुनः—फिर से; तम्—उस पर; आसज्जत—आक्रमण किया; खड्ग-चर्मणी—अपनी ढाल-तलवार; प्रगृह्य—लेकर; वेगेन—अत्यन्त वेग के साथ; गत-श्रमः—थकान से मुक्त; मृधे—युद्ध भूमि में।

जब हिरण्यकशिपु नृसिंह देव के हाथों से छूट गया तो उसे यह मिथ्या विचार हुआ कि भगवान् उसके शौर्य से डर गये हैं। अतएव युद्ध से थोड़ा विश्राम करके उसने अपनी ढाल-तलवार निकाली और फिर से अत्यन्त बलपूर्वक भगवान् पर आक्रमण कर दिया।

तात्पर्य : जब पापी व्यक्ति भौतिक सुविधाएँ भोगता है, तो मूर्ख लोग कभी-कभी सोचते हैं "यह कैसी बात है कि यह पापी तो आनन्द कर रहा है, जबकि पुण्यात्मा कष्ट पा रहा है?" परमेश्वर की इच्छा से कभी-कभी पापी व्यक्ति को भौतिक जगत का भोग करने का अवसर प्रदान किया जाता है मानो वह प्रकृति के चंगुल में है ही नहीं। इस तरह वह मूर्ख बन जाता है। पापी व्यक्ति की जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कार्य करता है दण्ड मिलना चाहिए, किन्तु कभी-कभी उसे उसी तरह क्रीड़ा करने का अवसर प्रदान किया जाता है, जिस तरह नृसिंह देव के चंगुल से मुक्त होने पर हिरण्यकशिपु को दिया गया। हिरण्यकशिपु को अन्ततः नृसिंह देव के हाथों मरना था, किन्तु कौतुक देखने के लिए ही उन्होंने उसे अपने हाथों से छूटने का अवसर प्रदान किया।

तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्
चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः ।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं
निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (हिरण्यकशिपु को); श्येन-वेगम्—बाज जैसी गति वाले; शत-चन्द्र-वर्त्मभिः—अपनी तलवार तथा एक सौ चन्द्रमा जैसे चिह्नों से युक्त ढाल को भाँजते हुए; चरन्तम्—गति करते हुए; अच्छिद्रम्—किसी तरह का स्थान छोड़े बिना; उपरि-अधः—ऊपर तथा नीचे; हरिः—भगवान्; कृत्वा—करते हुए; अट्ट-हासम्—जोर की हँसी; खरम्—अत्यन्त तीखी; उत्स्वन-उल्बणम्—इस तीव्र गर्जन से अत्यन्त भयभीत; निमीलित—बन्द; अक्षम्—आँखें; जगृहे—पकड़ लिया; महा-जवः—अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् ने।

अट्टहास करते हुए अत्यन्त प्रबल तथा शक्तिशाली भगवान् नारायण ने हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया जो किसी प्रकार का वार करने की संभावना छोड़े बिना अपनी तलवार-ढाल से अपनी रक्षा कर रहा था। वह कभी बाज की गति से आकाश में चला जाता और कभी पृथ्वी पर चला आता था। वह नृसिंहदेव की हँसी के भय से अपनी आखें बन्द किये था।

विष्वक्स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि-
व्यालो यथाखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

विष्वक्—चारों ओर; स्फुरन्तम्—अपने अंग हिलाते हुए; ग्रहण-आतुरम्—पकड़े जाने से पीड़ित; हरिः—भगवान्, नृसिंह देव ने; व्यालः—साँप; यथा—जिस तरह; आखुम्—चूहे को; कुलिश-अक्षत—जो इन्द्र के वज्र द्वारा भी न काटी जा सके; त्वचम्—त्वचा या खाल को; द्वारि—देहली पर; ऊरुम्—अपनी जाँघ पर; आपत्य—रखकर; ददार—फाड़ डाला; लीलया—सरलता से; नखैः—अपने नाखूनों से; यथा—जिस प्रकार; अहिम्—साँप को; गरुडः—गरुड़, विष्णु का वाहन; महा-विषम्—अत्यन्त विषधर।

जिस प्रकार कोई साँप किसी चूहे को या कोई गरुड़ किसी अत्यन्त विषैले सर्प को पकड़ ले उसी तरह भगवान् नृसिंहदेव ने उस हिरण्यकशिपु को पकड़ लिया जिसकी त्वचा में इन्द्र का वज्र भी नहीं घुस सकता था। ज्योंही पकड़े जाने पर वह अत्यन्त पीड़ित होकर अपने अंग इधर-उधर तथा चारों ओर हिलाने लगा त्योंही नृसिंहदेव ने उस असुर को अपनी गोद में रख लिया और अपनी जांघों का सहारा देकर उस सभा भवन की देहली पर अपने हाथ के नाखूनों से सरलतापूर्वक उस असुर को छिन्न-भिन्न कर डाला।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त था कि वह न तो स्थल पर मरेगा, न आकाश में। अतएव ब्रह्माजी के वचन को अक्षत बनाये रखने के लिए नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु के शरीर को अपनी गोद में रख लिया जो न तो स्थल था न आकाश। उसे यह भी वरदान मिला था कि वह न तो रात्रि में मरेगा, न दिन में। अतएव ब्रह्मा के इस वचन को रखने के लिए भगवान् ने हिरण्यकशिपु को

सन्ध्या-समय मारा जो दिन का अवसान था तथा रात्रि का शुभारम्भ, किन्तु जो न तो दिन था न रात। उसने ब्रह्माजी से यह भी वर प्राप्त कर रखा था कि वह न तो किसी हथियार से मरे, न ही किसी मृत या जीवित व्यक्ति के द्वारा। अतएव ब्रह्मा के वचन को रखने के लिए भगवान् नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु के शरीर में अपने नाखून घुसेड़ दिये जो न तो हथियार थे न ही मृत या जीवित थे। निस्सन्देह, नाखूनों को मृत कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही उन्हें जीवित भी कहा जा सकता है। ब्रह्मा के समस्त वरदानों को अक्षत बनाये रखने के लिए भगवान् नृसिंहदेव ने उस महान् असुर हिरण्यकशिपु को अत्यन्त विषम स्थिति में किन्तु अत्यन्त सरलता से मार डाला।

संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो
व्यात्ताननान्तं विलिहन्स्वजिह्वया ।
असृग्लवाक्तारुणकेशराननो
यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संरम्भ—अत्यन्त क्रोध के कारण; दुष्प्रेक्ष्य—अत्यन्त कठिनाई से दिखने वाला; कराल—अत्यन्त भयावह; लोचनः—आँखें; व्यात्त—फैली हुई; आनन-अन्तम्—मुँह की कोरों को; विलिहन्—चाटते हुए; स्व-जिह्वया—अपनी जीभ से; असृक्-लव—रक्त के धब्बों से; आक्त—पुता हुआ; अरुण—लाल-लाल; केशर—गरदन के बाल; आननः—तथा मुख; यथा—जिस तरह; अन्त्र-माली—आँतों की माला से विभूषित; द्विप-हत्यया—किसी हाथी को मारने से; हरिः—सिंह।

भगवान् नृसिंहदेव के मुख तथा गरदन के बाल रक्त के छींटों से सने थे और क्रोध से पूर्ण होने के कारण उनकी भयानक आँखों की ओर देख पाना असम्भव था। वे अपने मुँह की कोरों को जीभ से चाट रहे थे तथा हिरण्यकशिपु के उदर से निकली आँतों की माला से सुशोभित थे। वे उस सिंह की भाँति प्रतीत हो रहे थे जिस ने अभी-अभी किसी हाथी को मारा हो।

तात्पर्य : भगवान् नृसिंहदेव के मुखमंडल के बाल रक्त के छींटों से लाल-लाल हो गये थे और वे अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उन्होंने अपने नाखूनों से हिरण्यकशिपु के पेट को फाड़ डाला, उस असुर की आँतें निकाल लीं और उन्हें माला की तरह पहन लिया जिससे उनकी सुन्दरता बढ़ गई। इस प्रकार भगवान् अत्यन्त भयानक बन गये मानो कोई सिंह किसी हाथी से भिड़ा हो।

नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं
विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान् ।
अहन्समस्तान्नखशस्त्रपाणिभि-

दोर्दण्डयूथोऽनुपथान्सहस्रशः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नख-अङ्कुर—नुकीले नाखूनों से; उत्पाटित—चीरा गया; हृत्-सरोरुहम्—कमल पुष्प जैसे हृदय को; विसृज्य—एक तरफ फेंक कर; तस्य—उसके; अनुचरान्—अनुयायियों (सैनिक तथा अंगरक्षकों) को; उदायुधान्—हथियार उठाते हुए; अहन्—मार डाला; समस्तान्—सभी; नख-शस्त्र-पाणिभिः—अपने नाखूनों तथा हाथ के अन्य हथियारों से; दोर्दण्ड-यूथः—असंख्य बाहुओं वाले; अनुपथान्—हिरण्यकशिपु के अनुचरों को; सहस्रशः—हजारों।

अनेकानेक भुजाओं वाले भगवान् ने सर्वप्रथम हिरण्यकशिपु का हृदय निकाल लिया और उसे एक ओर फेंक दिया। फिर वे असुर के सैनिकों की ओर मुड़े। ये सैनिक हजारों के झुंड में भगवान् से लड़ने आये थे और हाथों में हथियार उठाए थे। ये हिरण्यकशिपु के अत्यन्त स्वामिभक्त अनुचर थे, किन्तु नृसिंह देव ने उन्हें अपने नाखून की नोकों से ही मार डाला।

तात्पर्य : इस जगत की सृष्टि के समय से ही दो प्रकार के मनुष्य होते रहे हैं—*देव* तथा *असुर*। देवगण सदैव भगवान् के प्रति स्वामिभक्त होते हैं जबकि असुरगण नास्तिक होते हैं, जो भगवान् की श्रेष्ठता को ललकारते हैं। इस समय सारे विश्व में नास्तिकों का बोलबाला है। वे यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि ईश्वर नहीं है और हर घटना भौतिक तत्त्वों के संयोग से घटित होती है। इस प्रकार यह जगत अधिकाधिक ईश्वरविहीन होता जा रहा है, फलस्वरूप सब कुछ अस्त-व्यस्त है। यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही तो भगवान् निश्चित रूप से कार्यवाही करेंगे जैसाकि हिरण्यकशिपु के साथ किया। उन्होंने क्षण भर में हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायियों को विनष्ट कर डाला। इसी तरह यदि यह ईश्वरविहीन सभ्यता चलती रही तो भगवान् की एक उँगुली के हिलाने से यह क्षण भर में नष्ट हो जाएगी। इसलिए असुरों को सावधान रहना चाहिए और अपनी ईश्वरविहीन सभ्यता में कटौती करनी चाहिए। उन्हें कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठाना चाहिए और भगवान् के प्रति आज्ञाकारी बनना चाहिए, अन्यथा विनाश निश्चित है। जिस प्रकार हिरण्यकशिपु का विनाश क्षण भर में हो गया उसी प्रकार ईश्वरविहीन सभ्यता किसी भी क्षण नष्ट हो सकती है।

सटावधूता जलदाः परापतन्
ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः ।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभु-
र्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सटा—नृसिंह देव की जटा से; अवधूताः—हिले हुए; जलदाः—बादल; परापतन्—बिखरे हुए; ग्रहाः—चमकीले ग्रह; च—तथा; तत्-दृष्टि—पैनी दृष्टि से; विमुष्ट—निकाल ली गई; रोचिषः—जिसका तेज; अम्भोधयः—समुद्रों का जल; श्वास-हताः—नृसिंह देव के श्वास से प्रताड़ित; विचुक्षुभुः—क्षुब्ध हो उठा; निर्ह्राद-भीताः—नृसिंह देव की गर्जना से भयभीत; दिग्गिभाः—दिशाओं की रखवाली करने वाले सारे हाथी; विचुक्रुशुः—चिग्घाड़ उठे।

नृसिंह देव के सिर के बालों से बादल हिलकर इधर-उधर बिखर गये। उनकी जलती आँखों से आकाश के नक्षत्रों का तेज मंद पड़ गया और उनके श्वास से समुद्र क्षुब्ध हो उठे। उनकी गर्जना से संसार के सारे हाथी भय से चिग्घाड़ने लगे।

तात्पर्य : जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.४१) में कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

"तुम जान लो कि समस्त सुन्दर गौरवशाली तथा शक्तिशाली सृष्टि मेरे तेज के एक स्फुलिंग से ही प्रकट होती है।" आकाश में ग्रहों तथा नक्षत्रों का प्रकाश भगवान् के तेज का आंशिक प्राकट्य है। विभिन्न जीवों में अनेक अद्भुत गुण पाये जाते हैं, किन्तु जितनी भी अद्वितीय वस्तुएँ पाई जाती हैं, वे भगवान् के *तेजस्* की अंश मात्र हैं। समुद्रों की उत्ताल तरंगें तथा भगवान् की सृष्टि के अनेक आश्चर्य उस समय नगण्य बन जाते हैं जब वे अपने विशेष रूप में इस जगत में अवतरित होते हैं। उनके साकार सर्वविजयी दिव्य गुणों की तुलना में सारी वस्तुएँ तुच्छ हैं।

द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला
प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदाभिपीडिता ।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा
तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥ ३३॥

शब्दार्थ

द्यौः—बाह्य आकाश; तत्-सटा—उनके बालों से; उत्क्षिप्त—बाहर फेंका हुआ; विमान-सङ्कुला—विमानों से पूरित; प्रोत्सर्पत—स्थान से सरक गया; क्ष्मा—पृथ्वी; च—भी; पद-अभिपीडिता—भगवान् के चरणकमलों के गुरु भार से पीड़ित; शैलाः—पर्वत; समुत्पेतुः—ऊपर उठ गया; अमुष्य—उस (भगवान्) के; रंहसा—असह्य बल से; तत्-तेजसा—उसके तेज से; खम्—आकाश; ककुभः—दसों दिशाएँ; न रेजिरे—नहीं चमकीं।

नृसिंह देव के सिर के बालों से वायुयान (विमान) बाह्य आकाश तथा उच्च लोकों में जा गिरे। भगवान् के चरणकमलों के दबाव से पृथ्वी अपनी स्थिति से छिटकती प्रतीत हुई और उनके असह्य बल से सारे पर्वत ऊपर उछल गये। भगवान् के शारीरिक तेज से आकाश तथा समस्त दिशाओं का प्राकृतिक प्रकाश घट गया।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि बहुत समय पहले आकाश में विमान उड़ा करते थे। *श्रीमद्भागवत* की रचना पाँच हजार वर्ष पूर्व हुई और इस श्लोक के कथन से सिद्ध होता है कि उस समय उच्चलोकों में तथा अधोलोकों में भी अत्यन्त विकसित सभ्यता विद्यमान थी। आधुनिक विज्ञानी तथा दार्शनिक मूर्खतावश यह बताते हैं कि तीन हजार वर्ष पूर्व कोई सभ्यता न थी, किन्तु इस श्लोक के कथन से ऐसे अटपटे निर्णय निरस्त हो जाते हैं। वैदिक सभ्यता लाखों वर्ष पूर्व विद्यमान थी। वह इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के समय से ही विद्यमान थी और उसमें सारी आधुनिक सुविधाएँ तथा इससे भी अधिक व्यवस्थाएं प्राप्त थीं।

ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे
नृपासने सम्भृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं
प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सभायाम्—सभाभवन में; उपविष्टम्—बैठे हुए; उत्तमे—श्रेष्ठ; नृप-आसने—सिंहासन पर जिस पर हिरण्यकशिपु बैठता था; सम्भृत-तेजसम्—पूर्ण तेजोमय; विभुम्—परमेश्वर को; अलक्षित-द्वैरथम्—जिनका प्रतिद्वन्द्वी या शत्रु दिख नहीं रहा था; अति—अत्यन्त; अमर्षणम्—(अपने क्रोध के कारण) भयानक; प्रचण्ड—भयंकर; वक्त्रम्—मुखमंडल; न—नहीं; बभाज—पूजे; कश्चन—कोई।.

अपना पूर्ण तेज तथा भंयकर मुखमंडल दिखलाते हुए नृसिंह देव अत्यन्त क्रुद्ध होने तथा अपने बल एवं ऐश्वर्य का सामना करने वाले किसी को न पाकर सभा भवन में राजा के श्रेष्ठतम सिंहासन पर जा बैठे। भय तथा आज्ञाकारिता के कारण किसी में साहस न हुआ कि सामने आकर भगवान् की सेवा करे।

तात्पर्य : जब हिरण्यकशिपु के सिंहासन पर भगवान् बैठ गये तो किसी ने विरोध नहीं किया, यहाँ तक कि हिरण्यकशिपु की ओर से कोई शत्रु भगवान् से लड़ने नहीं आया। इसका अर्थ है कि असुरों ने भगवान् की श्रेष्ठता तुरन्त स्वीकार कर ली। दूसरी बात यह है कि यद्यपि हिरण्यकशिपु भगवान् को अपना कट्टर शत्रु मानता था, किन्तु वैकुण्ठ में वह उनका अत्यन्त आज्ञाकारी दास था, अतएव हिरण्यकशिपु द्वारा इतने श्रम से प्राप्त किये गये सिंहासन पर भगवान् बैठने से तनिक भी हिचके नहीं। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि कभी-कभी बड़े-बड़े सन्त तथा ऋषि वैदिक मंत्रों तथा तंत्रों के द्वारा भगवान् को महत्त्वपूर्ण आसन प्रदान करते हैं, किन्तु तो भी भगवान् उन आसनों

पर नहीं विराजते। चूँकि हिरण्यकशिपु पहले वैकुण्ठ-द्वार का रक्षक जय के रूप में था और यद्यपि वह ब्राह्मणों के शाप से पतित होकर असुर बना था और यद्यपि हिरण्यकशिपु के रूप में उसने भगवान् को कभी कोई वस्तु अर्पित नहीं की थी तो भी भगवान् अपने भक्त तथा दास के प्रति इतने वत्सल थे कि उन्होंने हिरण्यकशिपु द्वारा स्थापित सिंहासन पर प्रसन्नतापूर्वक आसन ग्रहण किया। इस प्रसंग में यह समझ लेना होगा कि भक्त अपने जीवन की किसी भी परिस्थिति में भाग्यशाली होता है।

निशाम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं
तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे ।
प्रहर्षवेगोत्कलितानना मुहुः
प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

निशाम्य—सुनकर; लोक-त्रय—तीनों लोकों का; मस्तक-ज्वरम्—सिर दर्द; तम्—उसको; आदि—मूल; दैत्यम्—असुर को; हरिणा—भगवान् द्वारा; हतम्—मारा गया; मृधे—युद्ध में; प्रहर्ष-वेग—प्रसन्नता के मारे; उत्कलित-आननाः—खिले हुए चेहरों वाली; मुहुः—पुनः पुनः; प्रसून-वर्षैः—फूलों की वर्षा से; ववृषुः—वर्षा की; सुर-स्त्रियः—देवताओं की स्त्रियों ने।

हिरण्यकशिपु तीनों लोकों का सिर दर्द बना हुआ था। अतएव जब स्वर्गलोक में देवताओं की पत्नियों ने देखा कि इस महान् असुर का वध भगवान् के हाथों से हो गया है, तो उनके चेहरे प्रसन्नता के मारे खिल उठे। देवताओं की स्त्रियों ने स्वर्ग से भगवान् नृसिंह देव पर पुनः पुनः फूलों की वर्षा की।

तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं
दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम् ।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे
गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; विमान-आवलिभिः—विभिन्न प्रकार के विमानों से; नभस्तलम्—आकाश को; दिदृक्षताम्—देखने के इच्छुक; सङ्कुलम्—समूहबद्ध; आस—हो गया; नाकिनाम्—देवातओं के; सुर-आनकाः—देवताओं के ढोल; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; अथ—तथा; जघ्निरे—बजायी गईं; गन्धर्व-मुख्याः—गन्धर्वों के प्रमुख; ननृतुः—नाचने लगीं; जगुः—गाने लगे; स्त्रियः—स्वर्ग की स्त्रियाँ।

उस समय भगवान् नारायण का दर्शन करने के इच्छुक देवताओं के विमानों से आकाश पट गया। देवतागण ढोल तथा नगाड़े बजाने लगे जिन्हें सुनकर देव लोक की स्त्रियाँ नाचने लगीं और गन्धर्वों के मुखिया मधुर गान गाने लगे।

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः ।
ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ।
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः ॥ ३७॥
यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सहकिन्नराः ।
ते विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः ॥ ३८॥
मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम् ।
ईडिरे नरशार्दुलं नातिदूरचराः पृथक् ॥ ३९॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ (आकाश में); उपव्रज्य—(अपने-अपने विमानों से) आकर; विबुधाः—सारे देवता; ब्रह्म-इन्द्र-गिरिश-आदयः—ब्रह्मा, इन्द्र, शिव आदि; ऋषयः—ऋषिगण; पितरः—पितृलोक के निवासी; सिद्धाः—सिद्धलोक के निवासी; विद्याधर—विद्याधर लोक के निवासी; महा-उरगाः—सर्प लोक के वासी; मनवः—मनुष्यगण; प्रजानाम्—(विभिन्न लोक के) जीवों के; पतयः—प्रमुख; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सर—अप्सरा लोक के वासी; चारणाः—चारण लोक के वासी; यक्षाः—यक्षगण; किम्पुरुषाः—किम्पुरुषगण; तात—हे प्रिय; वेतालाः—वेतालगण; सह-किन्नराः—किन्नरों समेत; ते—वे; विष्णु-पार्षदाः—(विष्णु लोक में) भगवान् विष्णु के निजी सहयोगी; सर्वे—सभी; सुनन्द-कुमुद-आदयः—सुनन्द तथा कुमुद आदि; मूर्ध्नि—अपने सिरों पर; बद्ध-अञ्जलि-पुटाः—हाथ जोड़े; आसीनम्—सिंहासन पर बैठे हुए; तीव्र-तेजसम्—अपना आध्यात्मिक तेज बिखेरते हुए; ईडिरे—सादर पूजा की; नर-शार्दुलम्—आधा मनुष्य तथा आधा सिंह के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् को; न अति-दूरचराः—पास आकर; पृथक्—अलग-अलग।

हे राजा युधिष्ठिर, तब सारे देवता भगवान् के निकट आ गये। उनमें ब्रह्माजी, इन्द्र तथा शिव जी प्रमुख थे और उनके साथ बड़े-बड़े साधु पुरुष एवं पितृलोक, सिद्धलोक, विद्याधर लोक तथा नागलोक के निवासी भी थे। वहीं सारे मनु तथा अन्य लोकों के प्रजापति भी पहुँच गये। अप्सराओं के साथ-साथ गन्धर्व, चारण, यक्ष, किन्नर, बेताल, किम्पुरुष लोक के वासी तथा विष्णु के पार्षद सुनन्द एवं कुमुद आदि भी पहुँचे। ये सभी भगवान् के निकट आये जो अपने तीव्र प्रकाश से चमक रहे थे। इन सबों ने अपने-अपने सिरों के ऊपर हाथ जोड़कर नमस्कार किया और स्तुतियाँ कीं।

श्रीब्रह्मोवाच
नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये
विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे ।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान्गुणैः
स्वलीलया सन्दधतेऽव्ययात्मने ॥ ४०॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; नतः—नतमस्तक; अस्मि—हूँ; अनन्ताय—अनन्त भगवान् को; दुरन्त—जिसका अन्त ढूँढ़ पाना कठिन है; शक्तये—विभिन्न शक्तियों से युक्त; विचित्र-वीर्याय—नाना प्रकार के पराक्रम से युक्त; पवित्र-कर्मणे—जिनके कर्म का फल नहीं होता (चाहे बुरा ही कर्म क्यों न करें, वे भौतिक गुण से दूषित नहीं होते); विश्वस्य—विश्व की; सर्ग—सृष्टि;

स्थिति—पालन; संयमान्—तथा संहार; गुणैः—गुणों से; स्व-लीलया—आसानी से; सन्दधते—सम्पन्न करता है; अव्यय-आत्मने—जिनके व्यक्तित्व का ह्रास नहीं होता।.

ब्रह्माजी ने प्रार्थना की: हे प्रभु, आप अनन्त हैं और आपकी शक्ति का कोई अन्त नहीं है। कोई भी आपके पराक्रम तथा अद्भुत प्रभाव का अनुमान नहीं लगा सकता, क्योंकि आपके कर्म माया द्वारा दूषित नहीं होते। आप भौतिक गुणों से सहज ही ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं लेकिन तो भी आप अव्यय बने रहते हैं। अतएव मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के कार्यकलाप सदैव अद्भुत होते हैं। यद्यपि जय तथा विजय उनके पार्षद और विश्वस्त मित्र थे, किन्तु उन्हें शापवश असुरों का शरीर धारण करना पड़ा। यही नहीं, ऐसे ही एक असुर-परिवार में प्रह्लाद महाराज को महाभावगत का आचरण प्रदर्शित करने के लिए जन्म धारण करना पड़ा और तब भगवान् को उसी असुर का वध करने के लिए नृसिंह देव का रूप धारण करना पड़ा जिसने भगवान् की इच्छा से असुर-कुल में जन्म लिया था। अतएव ऐसा कौन होगा जो भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझ सके? उनके कार्यकलापों की कौन कहे, उनके दासों के कार्यकलापों तक को समझना कठिन है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य २३.३९) में कहा गया है *ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञेह ना बुझय*—भगवान् के दासों के कार्यकलापों को कोई नहीं जान सकता। अतएव भगवान् के कार्यकलापों के विषय में क्या कहा जा सकता है? यह कौन समझ सकता है कि कृष्ण किस तरह सम्पूर्ण जगत को लाभान्वित कर रहे हैं। भगवान् को *दुरन्त शक्ति* कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति उनकी शक्तियों को तथा उनकी कार्यविधि को नहीं समझ सकता।

श्रीरुद्र उवाच
कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः ।
तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्री-रुद्रः उवाच—शिवजी ने स्तुति की; कोप-कालः—(ब्रह्माण्ड का संहार करने के लिए) आपके क्रोध का उचित समय; युग-अन्तः—कल्प का अन्त; ते—तुम्हारे द्वारा; हतः—मारा गया; अयम्—यह; असुरः—महान् दैत्य; अल्पकः—नगण्य; तत्-सुतम्—उसके पुत्र (प्रह्लाद महाराज) की; पाहि—रक्षा करो; उपसृतम्—शरणागत होकर पास ही खड़ा; भक्तम्—भक्त; ते—तुम्हारा; भक्त-वत्सल—हे भक्तों के प्रति अत्यन्त वत्सल प्रभु!.

शिव जी ने कहा : कल्प का अन्त ही आपके क्रोध का समय होता है। अब जबकि यह नगण्य असुर हिरण्यकशिपु मारा जा चुका है, हे भक्तवत्सल प्रभु, कृपा करके उसके पुत्र प्रह्लाद महाराज की रक्षा करें जो आपके निकट पूर्ण शरणागत भक्त के रूप में खड़ा हुआ है।

तात्पर्य : भगवान् इस भौतिक जगत के स्रष्टा हैं। सृष्टि में तीन प्रक्रम होते हैं—सृजन, पालन तथा अन्त में संहार। संहार के समय, प्रत्येक युग के अन्त में भगवान् क्रुद्ध होते हैं और यह क्रुद्ध होने का कार्य शिवजी द्वारा सम्पन्न होता है, अतएव वे रुद्र कहलाते हैं। जब भगवान् हिरण्यकशिपु को मारने के लिए अत्यन्त क्रुद्ध हुए तो सभी लोग उनके रुख को देखकर भयभीत थे, लेकिन शिवजी भयभीत नहीं हुए, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि भगवान् का क्रोध भी एक लीला है। उन्हें पता था कि उन्हें ही भगवान् के क्रोध की भूमिका निभानी पड़ेगी। *काल* का अर्थ है शिवजी (भैरव) तथा *कोप* का अर्थ है भगवान् का क्रोध। इन दोनों के संयोग से निर्मित *कोप-काल* का प्रयोग प्रत्येक कल्प के अन्त के लिए हुआ है। भगवान् भले ही अत्यन्त क्रुद्ध क्यों न प्रतीत हों, वास्तव में वे अपने भक्तों के प्रति सदा वत्सल रहते हैं। चूँकि वे *अव्ययात्मा* हैं अर्थात् वे कभी च्युत नहीं होते, अतएव वे क्रुद्ध रहने पर भी भक्तों के प्रति वत्सल बने रहते हैं। अतएव शिवजी ने भगवान् को याद दिलाया कि वे प्रह्लाद महाराज के प्रति पितृतुल्य वत्सल बनें जो उनकी बगल में विनीत शरणागत भक्त की तरह खड़े थे।

श्रीइन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं तद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-इन्द्रः उवाच—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने कहा; प्रत्यानीताः—लौटना है; परम—हे परम; भवता—आपके द्वारा; त्रायता—रक्षा किये जाकर; नः—हम; स्व-भागाः—यज्ञ का अंश; दैत्य-आक्रान्तम्—दैत्य से पीड़ित; हृदय-कमलम्—अपने कमल रूपी हृदय; तत्-गृहम्—जो आपका वास्तविक धाम है; प्रत्यबोधि—प्रकाशित किया जा चुका; काल-ग्रस्तम्—समय द्वारा कवलित; कियत्—नगण्य; इदम्—यह (संसार); अहो—ओह; नाथ—हे स्वामी; शुश्रूषताम्—सेवा में लगे रहने वालों के लिए; ते—तुम्हारा; मुक्तिः—भवबन्धन से मोक्ष; तेषाम्—उनका (शुद्ध भक्तों का); न—नहीं; हि—निस्सन्देह; बहुमता—बहुत आवश्यक समझा; नार-सिंह—हे नृसिंह देव; अपरैः किम्—अन्य किसी सम्पत्ति से क्या लाभ?.

राजा इन्द्र ने कहा : हे परमेश्वर, आप हमारे उद्धारक तथा रक्षक हैं। आपने दैत्य से हमारे वास्तविक यज्ञ भाग जो वास्तव में आपके हैं लौटाये हैं। चूँकि असुरराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त

भयानक था, अतः आपके स्थायी निवास हमारे हृदय उसके द्वारा विजित हो चुके थे। अब आपकी उपस्थिति से हमारे हृदयों से निराशा तथा अंधकार दूर हो गये हैं। हे प्रभु, जो लोग आपकी सेवा में सदैव लगे रहते हैं उनके लिए सारा भौतिक ऐश्वर्य तुच्छ है, क्योंकि आपकी सेवा मोक्ष से भी बढ़कर है। वे जब मोक्ष की भी परवाह नहीं करते तो काम, अर्थ तथा धर्म के विषय में क्या कहा जाये?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में दो प्रकार के लोग हैं—देवतागण तथा असुर। यद्यपि देवता भी भौतिक भोग के प्रति आसक्त होते हैं, लेकिन वे होते हैं भगवान् के भक्त जो वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं। हिरण्यकशिपु के राज्य काल में प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक सभ्यता के नित्य कर्तव्यों को निबाहने में अवरोध होता था। जब हिरण्यकशिपु मार डाला गया तो देवताओं को अपने सामान्य जीवन यापन में विशेष उसासी हुई, क्योंकि वे हिरण्यकशिपु द्वारा विचलित रहते थे।

चूँकि कलियुग में सरकार असुरों से पूर्ण रहती है, अतएव भक्तों का जीवन संकट में रहता है। वे यज्ञ नहीं कर सकते, अतएव भगवान् विष्णु की पूजा के लिए किये जाने वाले यज्ञ का प्रसाद ग्रहण नहीं कर सकते। देवताओं के हृदयों में सदैव असुरों का भय समाया रहता है, अतएव वे भगवान् के विषय में सोच भी नहीं पाते। देवताओं का कार्य है अपने हृदयों में भगवान् का सदैव चिन्तन करना। भगवान् *भगवद्गीता* (६.४७) में कहते हैं—

योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में जो दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करते हुए सदैव श्रद्धापूर्वक मुझमें निवास करता है, वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक बँध जाता है और सर्वोच्च होता है।" देवतागण पूर्ण योगी बनने के लिए सदैव भगवान् के ध्यान में लीन रहते हैं, लेकिन असुरों की उपस्थिति के कारण उनके हृदय सदैव असुरों के कार्यकलापों से भरे रहते हैं। इस तरह उनके हृदय, यद्यपि परमेश्वर के वास के निमित्त हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप से वे शत्रुओं द्वारा आच्छन्न रहते हैं। अतएव जब हिरण्यकशिपु मर गया तो देवताओं को उसासी हुई, क्योंकि अब वे भगवान् के विषय में आसानी से सोच सकेंगे। अब उन्हें यज्ञ-फल प्राप्त हो सकेगा और इस भौतिक जगत में भी सुखी बन सकेंगे।

श्रीऋषय ऊचुः
त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो
येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससक्थ ।
तद्विप्रलुप्तममुनाद्य शरणयपाल
रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; त्वम्—तुम; नः—हमारी; तपः—तपस्या; परमम्—सर्वोच्च; आत्थ—उपदेश दिया; यत्—जो; आत्म-तेजः—आपकी आध्यात्मिक शक्ति; येन—जिससे; इदम्—यह (भौतिक जगत); आदि-पुरुष—हे परम आदि भगवान्; आत्म-गतम्—आपके भीतर लीन; ससक्थ—(आपने) उत्पन्न किया; तत्—तप की वह विधि; विप्रलुप्तम्—चुराई गई; अमुना—उस दैत्य (हिरण्यकशिपु) द्वारा; अद्य—अब; शरण्य-पाल—शरणागत के परम पालक; रक्षा-गृहीत-वपुषा—आपके शरीर द्वारा जिसे आप रक्षा प्रदान करने के लिए धारण करते हैं; पुनः—फिर; अन्वमंस्थाः—आपने अनुमोदित किया है।

सारे उपस्थित ऋषियों ने उनकी इस प्रकार स्तुति की: हे प्रभु, हे शरणागत पालक, हे आदि पुरुष, आपने हमें पहले जिस तपस्या की विधि का उपदेश दिया है, वह आपकी ही आध्यात्मिक शक्ति है। आप तपस्या से ही भौतिक जगत का सृजन करते हैं। यह तपस्या आपमें सुप्त रहती है। इस दैत्य ने अपने कार्यकलापों से इसी तपस्या को रोक सा रखा था, किन्तु अब हम लोगों की रक्षा करने के लिए आप जिस नृसिंह देव के रूप में प्रकट हुए हैं उससे तथा इस असुर को मारने से तपस्या की विधि का फिर से अनुमोदन हुआ है।

तात्पर्य : सारे जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए आत्म-साक्षात्कार का अवसर मनुष्य रूप में प्राप्त करते हैं और तब धीरे-धीरे देवता, किन्नर तथा चारण के पद को पाते हैं जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। मनुष्य जीवन से ऊपर सभी उच्च स्तरों पर मुख्य कर्तव्य तपस्या है। जैसाकि ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था—*तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येत्।* अपने भौतिक जीवन को सुधारने के लिए तपस्या परमावश्यक है, किन्तु जब सामान्य लोग असुर के अधीन हो जाते ह, या आसुरी शासन के नियंत्रण में आ जाते हैं, तो वे इस प्रक्रिया को आगे भूल जाते है और क्रमशः आसुरी बन जाते हैं। अतएव सारे ऋषि जो सामान्यतया तपस्या में लगे थे नृसिंह देव द्वारा हिरण्यकशिपु के मारे जाने पर चिन्तामुक्त हो गये। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान् द्वारा मानव जीवन सम्बन्धी मूल उपदेश की—कि यह आत्म-साक्षात्कार हेतु तपस्या करने के लिए है—पुनः पुष्टि की गई जब उन्होंने हिरण्यकशिपु का वध कर दिया।

श्रीपितर ऊचुः
श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजै-
र्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत्तिलाम्बु ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद्य आर्च्छत्
तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥ ४४॥

शब्दार्थ

श्री-पितरः ऊचुः—पितृलोक के वासियों ने कहा; श्राद्धानि—श्राद्ध कर्म (मृत पुरुखों को एक विशेष विधि से प्रदत्त भोज्य सामग्री); नः—हमारा; अधिबुभुजे—भोग किया; प्रसभम्—बल द्वारा; तनूजैः—अपने पुत्रों-पौत्रों द्वारा; दत्तानि—प्रदत्त; तीर्थ-समये—तीर्थ स्थानों में स्नान करते समय; अपि—भी; अपिबत्—पिया; तिल-अम्बु—तिल के साथ जलांजलि; तस्य—उस असुर के; उदरात्—पेट से; नख-विदीर्ण—नाखून से फाड़ा गया; वपात्—जिसकी आँतों की चमड़ी; यः—जिस (भगवान्) ने; आर्च्छत्—प्राप्त किया; तस्मै—उसको (भगवान् को); नमः—नमस्कार; नृ-हरये—नृहरि को जो आधे सिंह तथा आधे पुरुष के रूप में प्रकट हुए; अखिल—विश्वजनीन; धर्म—धार्मिक नियम; गोप्त्रे—पालन करने वाले।

पितृलोक के वासियों ने प्रार्थना की: हम ब्रह्माण्ड के धार्मिक नियमों के पालनकर्ता भगवान् नृसिंह देव को सादर नमस्कार करते हैं। आपने उस असुर को मार डाला है, जो हमारे श्राद्ध के अवसर पर हमारे पुत्रों-पौत्रों द्वारा अर्पित बलि को छीनकर खा जाता था और तीर्थस्थलों पर अर्पित की जाने वाली तिलांजलि को पी जाता था। हे प्रभु, आपने इस असुर को मारकर अपने नाखूनों से इसके पेट को विदीर्ण करके उसमें से समस्त चुराई हुई सामग्री निकाल ली है। अतएव हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : समस्त गृहस्थों का कर्तव्य है कि अपने दिवंगत पूर्वजों को अन्न की बलि दें, किन्तु हिरण्यकशिपु के काल में यह प्रथा रोक दी गई थी, कोई भी व्यक्ति अपने पितरों को श्राद्ध पिण्डदान नहीं दे सकता था। अतएव जब आसुरी शासन होता है, तो सारे वैदिक नियम अस्त-व्यस्त कर दिये जाते हैं, सारे यज्ञोत्सव रोक दिये जाते हैं और यज्ञ के सारे साधन आसुरी सरकार द्वारा छीन लिए जाते हैं। इससे अव्यवस्था फैल जाती है और फलस्वरूप सारा संसार नरक बन जाता है। अतएव जब सारे असुर नृसिंह देव द्वारा मार डाले जाते हैं, तो हर व्यक्ति को चैन मिलता है, चाहे वह किसी भी लोक का वासी हो।

श्रीसिद्धा ऊचुः
यो नो गतिं योगसिद्धामसाधु-
रहार्षीद्योगतपोबलेन ।
नाना दर्पं तं नखैर्विददार
तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥ ४५॥

शब्दार्थ

श्री-सिद्धाः ऊचुः—सिद्धलोक के वासियों ने कहा; यः—जिस व्यक्ति ने; नः—हमारी; गतिम्—सिद्धि को; योग-सिद्धाम्—योग द्वारा प्राप्त; असाधुः—अत्यन्त असभ्य तथा असत्यनिष्ठ; अहार्षीत्—चुरा लिया; योग—योग; तपः—तथा तप का; बलेन—बलपूर्वक; नाना दर्पम्—सम्पत्ति, ऐश्वर्य तथा शक्ति के कारण घमंडी; तम्—उसको; नखैः—नाखूनों से; विददार—फाड़ डाला; तस्मै—उस; तुभ्यम्—तुम्हें; प्रणताः—नतमस्तक; स्मः—हम हैं; नृसिंह—हे नृसिंहदेव।

सिद्धलोक के वासियों ने प्रार्थना की: हे भगवान् नृसिंह देव, हम लोग सिद्धलोक के निवासी होने के कारण अष्टांग योग में स्वतःसिद्ध होते हैं। तो भी हिरण्यकशिपु इतना धूर्त था कि उसने अपने बल तथा तपस्या से हमारी सारी शक्तियाँ छीन ली थीं। इस तरह वह अपने योग-बल के प्रति घमंडी हो गया था। अब आपके नखों से इस दुष्ट का वध हो जाने के कारण हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : पृथ्वी पर ऐसे अनेक योगी हैं, जो जादू की तरह सोने के कुछ टुकड़े निर्मित करके कुछ-कुछ योगशक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं, किन्तु सिद्धलोक के वासी सचमुच ही योगशक्ति में अत्यन्त प्रबल होते हैं। वे वायुयानों के बिना ही एक लोक से दूसरे लोक तक उड़कर जा सकते हैं। यह *लघिमा-सिद्धि* कहलाती हैं। वे सचमुच ही बहुत हल्के हो सकते हैं और आकाश में उड़ सकते हैं। किन्तु हिरण्यकशिपु घोर तपस्या के द्वारा सिद्धलोक के भी वासियों को मात कर गया और उनके लिए उत्पात खड़ा करने लगा। सिद्धलोक के ये वासी हिरण्यकशिपु द्वारा परास्त भी कर दिये गये थे। अब जबकि हिरण्यकशिपु का वध भगवान् ने कर दिया है सिद्धलोक के वासियों को भी राहत का अनुभव हुआ।

श्रीविद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां
न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।
स येन सङ्ख्ये पशुवद्धतस्तं
मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-विद्याधराः ऊचुः—विद्याधर लोक के निवासियों ने प्रार्थना की; विद्याम्—जो विद्याएँ (जिनसे प्रकट तथा अप्रकट हुआ जा सकता है); पृथक्—भिन्न-भिन्न; धारणया—मन के भीतर विविध ध्यानों से; अनुराद्धाम्—प्राप्त किया गया; न्यषेधत्—रोक दिया; अज्ञः—इस मूर्ख ने; बल-वीर्य-दृप्तः—शारीरिक शक्ति तथा हर एक को जीत लेने की सामर्थ्य से फूल कर; सः—वह (हिरण्यकशिपु); येन—जिसके द्वारा; सङ्ख्ये—युद्ध में; पशु-वत्—पशु के समान; हतः—मारा गया; तम्—उसको; माया-नृसिंहम्—अपनी माया के प्रभाव द्वारा नरसिंह रूप में प्रकट होने वाले नृसिंह देव को; प्रणताः—विनत; स्म—निश्चय ही; नित्यम्—शाश्वत।

विद्याधर के निवासियों ने प्रार्थना की: उस मूर्ख हिरण्यकशिपु ने विविध प्रकार के ध्यान के अनुसार प्रकट तथा अप्रकट होने की हमारी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, क्योंकि उसे अपनी श्रेष्ठ शारीरिक शक्ति तथा अन्यों को जीत लेने की सामर्थ्य का घमण्ड था। अब भगवान् ने उसका उसी तरह वध कर दिया है जैसे वह असुर कोई पशु हो। हम भगवान् नृसिंह देव के उस लीला रूप को सादर प्रणाम करते हैं।

श्रीनागा ऊचुः
येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः ।
तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥ ४७॥

शब्दार्थ

श्री-नागाः ऊचुः—नागलोक के वासी, जो नाग सदृश दिखते हैं; येन—जिस व्यक्ति से; पापेन—अत्यन्त पापी (हिरण्यकशिपु); रत्नानि—हमारे सिरों की मणियाँ; स्त्री-रत्नानि—सुन्दर स्त्रियाँ; हृतानि—हर ली गईं; नः—हमारी; तत्—उसका; वक्षः-पाटनेन—वक्षस्थल को चीर कर; आसाम्—समस्त स्त्रियों का (जिनका अपहरण हुआ था); दत्त-आनन्द—हे आनन्द के स्रोत; नमः—हमारा सादर नमस्कार; अस्तु—हो; ते—तुम्हारे प्रति।

नागलोक के वासियों ने कहा : अत्यन्त पापी हिरण्यकशिपु ने हम सबके फणों की मणियाँ तथा हम सबकी सुन्दर पत्नियाँ छीन ली थीं। अब चूँकि उसके वक्षस्थल को आपने अपने नाखूनों से विदीर्ण कर दिया है, अतएव आप हमारी पत्नियों की परम प्रसन्नता के कारण हैं। इस तरह हम सभी मिलकर आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : यदि किसी की सम्पत्ति तथा पत्नी बलपूर्वक छीन ली जाये तो वह शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता। पृथ्वीलोक के नीचे बसे नागलोक के सभी वासी अत्यन्त चिन्तित थे, क्योंकि हिरण्यकशिपु द्वारा उनकी सम्पत्ति चुरा ली गई थी और पत्नियों का अपहरण हो चुका था। अब हिरण्यकशिपु के मारे जाने से उनकी सम्पत्ति तथा उनकी पत्नियाँ वापस मिल चुकी थीं जिससे उनको परम प्रसन्नता हुई। विभिन्न लोकों के निवासियों ने भगवान् को सादर नमस्कार किया, क्योंकि हिरण्यकशिपु की मृत्यु से उन्हें उसासी मिली थी। अब हिरण्यकशिपु द्वारा किये गये उत्पातों की ही तरह सारे संसार में उत्पात हो रहे हैं, क्योंकि सरकारें आसुरी हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के बारहवें स्कन्ध में बताया गया है, कलियुग के सरकारी कर्मचारी धूर्तों तथा लुटेरों जैसे होंगे। इस तरह एक ओर प्रजा खाद्यान्नों के अभाव से पीड़ित होगी और दूसरी ओर सरकार उस पर भारी कर लगाएगी। दूसरे शब्दों में, इस युग में विश्व के अधिकांश भागों में लोग हिरण्यकशिपु के शासन-सिद्धान्तों द्वारा उत्पीड़ित होंगे।

श्रीमनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो
दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो
करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

श्री-मनवः ऊचुः—सभी मनुओं ने यह कहकर नमस्कार किया; मनवः—संसारी कार्यों के नेता (विशेष रूप से भगवान् की सुरक्षा में विधिपूर्वक रहने के लिए मानवता को ज्ञान प्रदान करने में); वयम्—हम; तव—आपके; निदेश-कारिणः—आज्ञापालक; दिति-जेन—दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु द्वारा; देव—हे प्रभु; परिभूत—अवहेलना करके; सेतवः—मानव समाज में वर्णाश्रम पद्धति सम्बन्धी नैतिक नियम; भवता—आपके द्वारा; खलः—दुष्ट; सः—वह; उपसंहृतः—मारा गया; प्रभो—हे प्रभु; करवाम—हम करें; ते—तुम्हारा; किम्—क्या; अनुशाधि—कृपया आदेश दें; किङ्करान्—अपने शाश्वत सेवकों को।

समस्त मनुओं ने इस प्रकार प्रार्थना कीः हे प्रभो, हम सारे मनु आपके आज्ञापालक के रूप में मानव समाज के लिए विधि प्रदान करते हैं किन्तु इस महान् असुर हिरण्यकशिपु की क्षणभंगुर श्रेष्ठता के कारण वर्णाश्रम धर्म पालन विषयक हमारे नियम नष्ट हो गये थे। हे स्वामी, अब आपके द्वारा इस महान् असुर का वध हो जाने से हम अपनी सहज स्थिति में हैं। कृपया अपने इन शाश्वत दासों को आज्ञा दें कि अब वे क्या करें।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में अनेक स्थलों पर *वर्णाश्रम धर्म* का उल्लेख किया है। वे लोगों को इस वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा इसलिए देते हैं जिससे वे चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के नियमों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक मानव जीवन बिता सकें। और इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति कर सकें। मनुओं ने *मनुसंहिता* का संकलन किया। *संहिता* का अर्थ है वैदिक ज्ञान तथा *मनु* शब्द यह बताता है कि इस ज्ञान को देने वाले मनु हैं। ये मनु कभी तो भगवान् के अवतार होते हैं और कभी शक्त्याविष्ट जीव। बहुत काल पूर्व भगवान् कृष्ण ने सूर्य को उपदेश दिया था। ये मनु सामान्यतः सूर्यदेव के पुत्र होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से *भगवद्गीता* की महत्ता बताते हुए कहा—*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम् विवस्वान् मनवे प्राह*—''यह उपदेश विवस्वान सूर्यदेव को दिया गया जिन्होंने इसे अपने पुत्र मनु को दिया।'' मनु ने जो विधि प्रदान की वह *मनुसंहिता* कहलाती है और जिसमें मनुष्य किस तरह जीवन-यापन करें इसके विषय में वर्ण तथा आश्रम पर आधारित आदेश हैं। ये अत्यन्त वैज्ञानिक जीवन-विधियाँ हैं, लेकिन हिरण्यकशिपु जैसे असुरों के शासन में मानव समाज छिन्न होकर निम्न से निम्नतर होता जाता है। इस तरह विश्व में कहीं शान्ति नहीं रह जाती। निष्कर्ष यह

निकला कि यदि हम मानव समाज में शान्ति तथा व्यवस्था चाहते हैं, तो हमें *मनुसंहिता* में दिये गये नियमों का पालन करना चाहिए जिसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने की है।

श्रीप्रजापतय ऊचु:

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा
न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते
जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रजापतयः ऊचुः—विभिन्न प्राणियों को उत्पन्न करने वाले महापुरुषों ने यह कहकर प्रार्थनाएँ कीं; प्रजा-ईशाः—जीवों की अनेक पीढ़ियों को जन्म देने वाले ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न सारे प्रजापति; वयम्—हम सभी; ते—तुम्हारे; पर-ईश—हे परमेश्वर; अभिसृष्टाः—उत्पन्न; न—नहीं; येन—जिस (हिरण्यकशिपु) से; प्रजाः—सारे जीव; वै—निस्सन्देह; सृजामः—हम उत्पन्न करते हैं; निषिद्धाः—मना किया गया; सः—वह (हिरण्यकशिपु); एषः—यह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; भिन्न-वक्षाः—जिसका वक्षस्थल विदीर्ण किया जा चुका है; नु—निस्सन्देह; शेते—शयन करता है; जगत्-मङ्गलम्—सारे जगत के कल्याण के लिए; सत्त्व-मूर्ते—शुद्ध सतोगुण के दिव्य रूप में; अवतारः—यह अवतार।

प्रजापतियों ने इस प्रकार स्तुति की: हे परमेश्वर, हे ब्रह्मा तथा शिव जी के भी पूज्य प्रभु, हम सारे प्रजापति आपके द्वारा दी गई आज्ञा के पालन के लिए उत्पन्न किये गये थे, किन्तु हिरण्यकशिपु ने हमें और उत्तम सन्तान उत्पन्न करने से रोक दिया। अब यह असुर हमारे समक्ष मृत पड़ा है, जिसके वक्षस्थल को आपने विदीर्ण कर दिया है। अतएव हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि इस शुद्ध सात्विक रूप में आपका यह अवतार समग्र ब्रह्माण्ड के कल्याण के निमित्त है।

श्रीगन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका
येनात्मसाद्वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष नीतो भवता दशामिमां
किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-गन्धर्वाः ऊचुः—गन्धर्वलोक के निवासी (जो सामान्यतः स्वर्ग के गायक होते हैं) बोले; वयम्—हम; विभो—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; नट-नाट्य-गायकाः—नाटक के नर्तक तथा गायक; येन—जिससे; आत्मसात्—पराधीन; वीर्य—उसके पराक्रम; बल—तथा शारीरिक शक्ति के; ओजसा—प्रभाव से; कृताः—बने (लाये हुए); सः—वह (हिरण्यकशिपु); एषः—यह; नीतः—लाया गया; भवता—आपके द्वारा; दशाम् इमाम्—इस दशा को; किम्—क्या; उत्पथस्थः—कुमार्गगामी; कुशलाय—कल्याण के लिए; कल्पते—समर्थ है।

गन्धर्वलोक के निवासियों ने प्रार्थना की: हे भगवान्, हम नाच तथा अभिनय में गायन द्वारा आपकी सेवा में लगे रहते थे, किन्तु इस हिरण्यकशिपु ने अपनी शारीरिक शक्ति तथा पराक्रम से हमें अपने अधीन बना लिया था। अब आपके द्वारा यह इस अधम दशा को प्राप्त हुआ है। भला हिरण्यकशिपु जैसे कुमार्गगामी के कार्यकलापों से हमें क्या लाभ हो सकता है?

तात्पर्य : भगवान् का अत्यन्त आज्ञाकारी सेवक बनकर मनुष्य अत्यन्त शक्तिशाली, प्रभावशाली तथा तेजवान् बन जाता है, किन्तु कुमार्गगामी असुरों का पतन हिरण्यकशिपु के समान होता है। भले ही हिरण्यकशिपु जैसे व्यक्ति कुछ काल तक अत्यन्त शक्तिमान रहते रहे, किन्तु भगवान् के आज्ञाकारी दास—यथा देवता—सदैव शक्तिशाली बने रहते हैं। भगवत्कृपा से वे हिरण्यकशिपु के प्रभाव पर विजय पाते हैं।

श्रीचारणा ऊचुः
हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः ।
यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-चारणाः ऊचुः—चारणलोक के निवासियों ने कहा; हरे—हे भगवान्; तव—तुम्हारे; अङ्घ्रि-पङ्कजम्—चरणकमल; भव-अपवर्गम्—संसार के कल्मष से मुक्त होने के लिए एकमात्र शरण; आश्रिताः—शरणागत; यत्—क्योंकि; एषः—यह; साधु-हृत्-शयः—समस्त ईमानदार मनुष्यों के हृदयों में संकट; त्वया—आपके द्वारा; असुरः—असुर (हिरण्यकशिपु); समापितः—मार डाला गया।

चारणलोक के निवासियों ने कहा : हे प्रभु, आपने उस असुर हिरण्यकशिपु को विनष्ट कर दिया जो सारे निष्कपट पुरुषों के हृदयों में आतंक बना हुआ था। अब हमें शान्ति मिली है। हम सभी आपके उन चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं, जो बद्धजीव को भौतिक कल्मष से मुक्ति दिलानेवाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने नरहरि या नृसिंह देव रूप में उन दुष्टों का वध करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, जो निष्कपट भक्तों के मनों में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। भक्तों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने के लिए संसार भर में अनेक संकटों तथा अवरोधों का सामना करना होता है किन्तु जो आज्ञाकारी दास भक्तिपूर्वक भगवान् का उपदेश देता है उसे यह जान लेना चाहिए कि नृसिंह देव सदैव उसके रक्षक होते हैं।

श्रीयक्षा ऊचुः
वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञै-
स्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते
नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

श्री-यक्षाः ऊचुः—यक्षलोक के निवासियों ने प्रार्थना की; वयम्—हम; अनुचर-मुख्याः—आपके प्रमुख सेवक; कर्मभिः—सेवाओं से; ते—तुम्हारे; मनो-ज्ञैः—अत्यन्त अच्छे लगने वाले; ते—वे; इह—इस समय; दिति-सुतेन—दिति पुत्र हिरण्यकशिपु द्वारा; प्रापिताः—बलात् लगाये गये; वाहकत्वम्—कहार के कार्य में; सः—वह; तु—लेकिन; जन-परितापम्—मनुष्य की दयनीय स्थिति; तत्-कृतम्—उसके द्वारा की गई; जानता—जानते हुए; ते—तुम्हारे द्वारा; नर-हर—हे नृसिंह रूप; उपनीतः—प्राप्त, लाया गया है; पञ्चताम्—मृत्यु को; पञ्च-विंश—हे पच्चीसवें सिद्धान्त (अन्य चौबीस तत्त्वों के नियंत्रक)।

यक्षलोक के निवासियों ने प्रार्थना की: हे चौबीस तत्त्वों के नियामक, हम आपको भाने वाली सेवाएँ करने के कारण आपके सर्वश्रेष्ठ सेवक माने जाते हैं फिर भी दितिपुत्र हिरण्यकशिपु के आदेश पर हमसे पालकी ढोने का कार्य लिया जाता था। हे नृसिंह देव, आप यह जानते हैं कि इस असुर ने किस तरह सबों को कष्ट पहुँचाया है, किन्तु अब आपने इसका वध कर दिया है और इसका शरीर पंच तत्त्वों में मिल गया है।

तात्पर्य : परमेश्वर दस इन्द्रियों, पाँचों भौतिक तत्त्वों, पाँच इन्द्रियविषयों, मन, बुद्धि-अहंकार तथा आत्मा के नियामक हैं, अतएव उन्हें *पंचविंश* अर्थात् पच्चीसवां तत्त्व कहा गया है। यक्ष लोक के वासी समस्त सेवकों में श्रेष्ठ माने जाते हैं, किन्तु हिरण्यकशिपु उनसे पालकी ढोवाता था। सारा ब्रह्माण्ड हिरण्यकशिपु से संतप्त था, किन्तु अब जब उसका शरीर मृत्यु को प्राप्त हो चुका था तो सबों को शान्ति हुई। हिरण्यकशिपु की मृत्यु से यक्ष पुनः भगवान् की सेवा में लग गये। इस तरह उन सबों ने भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और उनसे प्रार्थना की।

श्रीकिम्पुरुषा ऊचुः
वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः ।
अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

श्री-किम्पुरुषाः ऊचुः—किम्पुरुष लोक के निवासियों ने कहा; वयम्—हम; किम्पुरुषाः—किम्पुरुष लोक के वासी अथवा क्षुद्र प्राणी; त्वम्—आप; तु—फिर भी; महा-पुरुषः—परमेश्वर; ईश्वरः—परम नियन्ता; अयम्—यह; कु-पुरुषः—अत्यन्त पापी पुरुष, हिरण्यकशिपु; नष्टः—वध किया गया; धिक्-कृतः—तिरस्कृत होकर; साधुभिः—साधु पुरुषों द्वारा; यदा—जब।

किम्पुरुषलोक के वासियों ने कहा : हम क्षुद्र जीव हैं और आप परम नियामक महापुरुष हैं। अतएव हम आपकी समुचित स्तुति कैसे कर सकते हैं? जब भक्तों ने तंग आकर इस असुर का तिरस्कार कर दिया तो आपने इसका वध कर दिया।

तात्पर्य : भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (४.७-८) में इस धरा पर अपने प्राकट्य का कारण बतलाया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

"जब-जब धार्मिक सिद्धान्तों का ह्रास होता है और अधर्म में उल्लेखनीय वृद्धि होती है उस समय मैं स्वयं अवतार लेता हूँ। मैं पवित्रात्माओं का उद्धार करने तथा दुष्टों का संहार करने तथा साथ ही धार्मिक सिद्धान्तों को पुन:स्थापित करने के लिए युग-युग में अवतरित होता हूँ।" भगवान् दो प्रकार के कार्य करने के लिए अवतरित होते हैं—असुरों को मारने तथा भक्तों की रक्षा करने। जब भक्त असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, तो भक्तों की रक्षा करने के लिए भगवान् विविध अवतारों में प्रकट होते हैं। प्रह्लाद महाराज के चरण-चिह्नों पर चलने वाले भक्तों को अभक्तों के आसुरी कार्यकलापों से कभी विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु उन्हें भगवान् के सत्यनिष्ठ भक्त के रूप में अपने नियमों पर अटल रहना चाहिए और आश्वस्त रहना चाहिए कि आसुरी कार्यकलापों से उनकी भक्ति रुकेगी नहीं।

श्रीवैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो
गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे ।
यस्तामनैषीद्वशमेष दुर्जनो
द्विष्ट्या हतस्ते भगवन्यथामयः ॥५४॥

शब्दार्थ

श्री-वैतालिकाः ऊचुः—वैतालिकलोक के वासियों ने कहा; सभासु—सभाओं में; सत्रेषु—यज्ञ-स्थल में; तव—तुम्हारा; अमलम्—किसी प्रकार के भी कल्मष से रहित, निर्मल; यशः—यश, कीर्ति; गीत्वा—गाते हुए; सपर्याम्—सम्माननीय पद;

महतीम्—महान्; लभामहे—हमने प्राप्त किया; यः—जो; ताम्—उस (आदरणीय पद) को; अनैषीत्—ले आया; वशम्—अपने वश में; एषः—यह; दुर्जनः—कुटिल व्यक्ति; द्विष्ट्या—सौभाग्य से; हतः—मारा गया; ते—तुम्हारे द्वारा; भगवन्—हे भगवान्; यथा—जिस तरह; आमयः—रोग।

वैतालिकलोक के निवासियों ने कहा : हे प्रभु, सभाओं तथा यज्ञस्थलों में आपके निर्मल यश का गायन करने के कारण प्रत्येक व्यक्ति हमें आदर प्रदान करता था। किन्तु इस असुर ने हमारे उस पद को छीन लिया था। अब हमारा बड़ा भाग्य है कि आपने इस महान् असुर का उसी तरह वध कर दिया जिस प्रकार कोई भीषण रोग को अच्छा कर देता है।

श्रीकिन्नरा ऊचुः
वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा
दितिजेन विष्टिममुनानुकारिताः ।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो
नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

श्री-किन्नराः ऊचुः—किन्नर लोक के निवासियों ने कहा; वयम्—हम सभी; ईश—हे ईश्वर; किन्नर-गणाः—किन्नर लोक के वासी; तव—तुम्हारे; अनुगाः—आज्ञाकारी दास; दिति-जेन—दिति पुत्र द्वारा; विष्टिम्—बिना किसी प्रकार के पारिश्रमिक के सेवा, बेगार; अमुना—उससे; अनुकारिताः—कराया गया; भवता—आपके द्वारा; हरे—हे भगवान्; सः—वह; वृजिनः—अत्यन्त पापी; अवसादितः—विनष्ट; नरसिंह—हे नृसिंह देव; नाथ—हे स्वामी; विभवाय—सुख तथा ऐश्वर्य के लिए; नः—हमारे; भव—हों।

किन्नरों ने कहा : हे परम नियन्ता, हम आपके सतत सेवक हैं, लेकिन आपकी सेवा में युक्त न होकर हम सभी इस असुर की बेगार में लगाये गये थे। अब आपने इस पापी का वध कर दिया है, अतएव हे नृसिंहदेव, हे स्वामी, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं। कृपा करके हमारे संरक्षक बने रहें।

श्रीविष्णुपार्षदा ऊचुः
अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते
दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म ।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

श्री-विष्णु-पार्षदाः ऊचुः—वैकुण्ठलोक के भगवान् विष्णु के पार्षदों ने कहा; अद्य—आज; एतत्—यह; हरि-नर—आधा सिंह तथा आधा पुरुष; रूपम्—रूप को; अद्भुतम्—अद्भुत; ते—तुम्हारा; दृष्टम्—देखा हुआ; नः—हमारा; शरण-द—शाश्वत शरण प्रदान करने वाला; सर्व-लोक-शर्म—विभिन्न लोकों में सौभाग्य लाने वाला; सः—वह; अयम्—यह; ते—तुम्हारा; विधिकरः—आज्ञापालक (दास); ईश—हे ईश्वर; विप्र-शप्तः—ब्राह्मण द्वारा शापित; तस्य—उसका; इदम्—यह; निधनम्—वध; अनुग्रहाय—विशेष कृपा के लिए; विद्मः—हम समझते हैं।

विष्णु के वैकुण्ठलोक के पार्षदों ने यह प्रार्थना की: हे स्वामी, हे शरणदाता, आज हमने नृसिंहदेव के रूप में आपके अद्भुत रूप का दर्शन किया है, जो समस्त जगत में सौभाग्य लाने वाला है। हे भगवान्, हम यह समझते हैं कि हिरण्यकशिपु आपकी सेवा में रत रहने वाला जय ही था, किन्तु उसे ब्राह्मणों ने शाप दे दिया था जिससे उसे असुर का शरीर प्राप्त हुआ था। हम समझते हैं कि उसका मारा जाना उस पर आपकी विशेष कृपा है।

तात्पर्य : हिरण्यकशिपु का इस धरा पर आविर्भाव तथा भगवान् के शत्रु के रूप में कार्यशील रहना पूर्वनियोजित था। जय तथा विजय को सनक, सनत्कुमार, सनन्दन तथा सनातन नामक ब्राह्मणों ने शाप दिया था, क्योंकि इन दोनों ने चारों कुमारों को रोका था। भगवान् ने अपने इन सेवकों को दिये गये शाप को स्वीकार किया। वे भौतिक जगत में जाने और शाप से मुक्त होने पर वैकुण्ठलोक वापस आने के लिए राजी हो गये। यद्यपि जय तथा विजय अत्यन्त उद्विग्न थे, लेकिन भगवान् ने उन्हें सलाह दी कि वे शत्रु की तरह कार्य करें जिससे तीन जन्मों के बाद वे वापस आ सकें, अन्यथा सामान्य तौर पर सात जन्म लेने पड़ते हैं। इस आदेश पर जय तथा विजय ने भगवान् के शत्रुओं की भूमिका निभाई और अब जब वे दोनों मृत थे तो समस्त विष्णु दूतों ने समझा कि भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु का वध एक प्रकार से उस पर विशेष कृपा थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् नृसिंहदेव द्वारा असुरराज का वध'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter नौ

प्रह्लाद द्वारा नृसिंह देव का प्रार्थनाओं से शान्त किया जाना

जैसाकि इस अध्याय में बताया गया है, प्रह्लाद महाराज ने ब्रह्माजी के आदेशानुसार भगवान् नृसिंहदेव को शान्त किया, क्योंकि हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भगवान् क्रुद्ध बने रहे और ब्रह्माजी समेत सारे देवता उन्हें शान्त नहीं कर सके। यहाँ तक कि नारायण की चिरसंगिनी लक्ष्मी जी को भी नृसिंह भगवान् के सामने आने का साहस नहीं हुआ। तब ब्रह्माजी ने प्रह्लाद महाराज से कहा कि वे भगवान् के समक्ष जाएं और

उनके क्रोध को शान्त करें। प्रह्लाद महाराज अपने प्रभु भगवान् नृसिंहदेव की वत्सलता के प्रति आश्वस्त थे, अतएव उन्हें उनसे तनिक भी भय नहीं हुआ। वे अत्यन्त गम्भीर होकर भगवान् के चरणकमलों के समक्ष गये और उन्हें प्रणाम किया। भगवान् नृसिंहदेव प्रह्लाद महाराज पर अत्यन्त वत्सल थे, अतएव उन्होंने उनके सिर पर अपना हाथ रखा। इस स्पर्श से प्रह्लाद महाराज को तुरन्त ही *ब्रह्मज्ञान* उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मज्ञान से तथा पूर्ण भक्तिमय आह्लाद से पूरित होकर प्रार्थना की। उन्होंने अपनी प्रार्थना में जो उपदेश दिये वे निम्न प्रकार हैं—

प्रह्लाद ने कहा—"मुझे इसका गर्व नहीं है कि मैं भगवान् से प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं तो भगवान् की कृपा शरण ले रहा हूँ, क्योंकि बिना भक्ति के कोई भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। कोई उच्च कुल में जन्म लेकर या मात्र महान् ऐश्वर्य से या विद्या, तपस्या, या योग शक्ति से उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता। सचमुच ही ये सब उन्हें प्रिय नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध भक्ति के अतिरिक्त उन्हें अन्य कुछ भी प्रसन्न नहीं कर सकता। यहाँ तक कि बारह ब्राह्मण-गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण जाति का व्यक्ति भी उन्हें उतना प्रिय नहीं जितना कि चण्डाल के भी घर में उत्पन्न हुआ भक्त प्रिय होता है, वे उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हैं। भगवान् को किसी की प्रार्थनाओं की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि कोई भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है, तो इससे उसे काफी लाभ पहुँचता है। अतएव निम्न कुल में उत्पन्न अज्ञानी व्यक्ति हृदय से भगवान् की प्रार्थना कर सकते हैं और ये प्रार्थनाएँ भगवान् को स्वीकार होती हैं। ज्योंही कोई भगवान् से प्रार्थना करता है, वह ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

भगवान् नृसिंहदेव अकेले प्रह्लाद के निजी लाभ के लिए नहीं, अपितु सारे मानव समाज के लाभ हेतु प्रकट हुए थे। अभक्त को नृसिंहदेव का भयावह रूप भले ही अत्यन्त भयानक लगे, किन्तु भक्त के लिए तो भगवान् अन्य रूपों की ही भाँति सदैव वत्सल रहते हैं। इस भौतिक जगत में बद्ध जीवन सचमुच ही अत्यन्त भयावह है, किन्तु भक्त को किसी चीज का भय नहीं रहता। संसार का भय मिथ्या अहंकार के कारण है, अतएव प्रत्येक जीव के जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् के दासानुदास पद को प्राप्त करना है। इस जगत में जीवों की दीन दशा का उपचार मात्र भगवत्कृपा ही है। यद्यपि ब्रह्मा तथा अन्य देवता, यहाँ तक कि अपना पिता भी, तथाकथित भौतिक रक्षक हैं, किन्तु वे भी किसी के लिए कुछ नहीं कर सकते, यदि कोई भगवान् द्वारा उपेक्षित हो। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की शरण

ग्रहण करने पर वह भौतिक प्रकृति के प्रहार से बच सकता है। अतएव प्रत्येक जीव को तथाकथित भौतिक सुख के प्रति अनाकृष्ट रहकर यथासम्भव भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मानव जीवन का यही उद्देश्य है। मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति आकृष्ट होना मूर्खता होगी। भगवद्भक्त या अभक्त के लिए उच्च या निम्नकुल में उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा लक्ष्मी जी तक उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त नहीं कर पाते जब कि भक्त को सरलता से ऐसी भक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान् की कृपा सबों पर समान रूप से वितरित होती है चाहे वह उच्चकुल में उत्पन्न हो या निम्नकुल में। चूंकि प्रह्लाद महाराज को नारद मुनि का आशीर्वाद प्राप्त था, प्रह्लाद एक महान् भक्त हो गए। भगवान् निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों से सदैव अपने भक्तों को बचाते हैं। भगवान् जीव की रक्षा करने तथा उसे लाभ पहुँचाने के लिए सदैव उसके हृदय में परमात्मा रूप में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार भगवान् कभी त्राता बनते हैं, तो कभी संहर्ता। मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् को किसी प्रकार का दोष न दे। उनकी ही योजना से इस जगत में जीवन की विविधता दिख रही है। ये सभी अन्ततोगत्वा उनकी कृपाएँ हैं।

यद्यपि सारा विराट जगत अभिन्न है, तो भी भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत से भिन्न है। केवल भगवत्कृपा से ही समझा जा सकता है कि अद्भुत प्रकृति किस प्रकार कार्य करती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि ब्रह्माजी गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से निकले कमल के आसन से प्रकट हुए, किन्तु प्रकट होने के बाद उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। उन पर मधु एवं कैटभ नामक दो असुरों ने आक्रमण कर दिया और उनसे वैदिक ज्ञान छीन लिया, किन्तु भगवान् ने उन्हें मारकर ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान वापस दिलाया। इस प्रकार भगवान् प्रत्येक युग में देवों, मनुष्यों, पशुओं, सन्तों तथा जलचरों के बीच प्रकट होते रहते हैं। ऐसे सारे अवतार भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के निमित्त होते हैं, किन्तु इस वध करने तथा रक्षा करने में भगवान् कोई पक्षपात नहीं बरतते। बद्धजीव सदैव बहिरंगा शक्ति के प्रति आकृष्ट होता है, अतएव उसमें लोभ तथा काम पाया जाता है और इस तरह वह कष्ट भोगता है। भक्त के प्रति भगवान् की अहैतुकी कृपा ही वह एकमात्र साधन है, जिससे संसार से बाहर निकला जा सकता है। जो भी व्यक्ति भगवान् के कार्यकलापों का गायन करता है, वह इस भौतिक जगत से निर्भय हो जाता है किन्तु जो ऐसा नहीं करता वह सदैव कष्ट उठाता है।

जो लोग एकान्त में भगवान् की पूजा करने में रुचि रखते हैं, वे भले ही मोक्ष पा लें किन्तु शुद्ध भक्त अन्यों का कष्ट देखकर सदैव दुखी रहता है। अतएव वह अपने मोक्ष की परवाह न करके सदैव भगवान् की महिमा का उपदेश करता रहता है। इसलिए प्रह्लाद महाराज ने अपने सहपाठियों को उपदेश देकर उनका उद्धार करने का प्रयास किया और इसीलिए वे कभी शान्त नहीं रहे। यद्यपि शान्त रहना, तपस्या करना, वैदिक साहित्य को समझना, अनुष्ठान करना, एकान्त वास करना तथा जप और दिव्य ध्यान करना मोक्ष के जाने-माने साधन हैं, किन्तु ये सब उन अभक्त-वञ्चकों के लिए हैं, जो अन्यों पर आश्रित रहना चाहते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त ऐसे वंचक कार्यों से परे रहकर भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकता है।

विराट जगत की संरचना का परमाणुवाद तथ्यपरक नहीं है। भगवान् प्रत्येक वस्तु के कारणस्वरूप हैं अतएव वे इस सृष्टि के भी कारण हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को नमस्कार द्वारा, प्रार्थना द्वारा, मन्दिर में पूजा द्वारा, सदैव उनके स्मरण तथा उनके दिव्य कार्यकलापों के श्रवण द्वारा उनकी भक्ति में लगा रहे। इन छह प्रकार के कर्मों के बिना उसे भक्ति नहीं मिल सकती।

इस प्रकार प्रह्लाद महाराज ने पग-पग पर उनकी कृपा की याचना करते हुए उनकी प्रार्थना की। भगवान् नृसिंहदेव उनकी प्रार्थनाओं से प्रसन्न हो गये, अतएव उन्होंने प्रह्लाद महाराज को वर देना चाहा जिससे उन्हें सारी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकें। किन्तु प्रह्लादमहाराज ऐसी भौतिक सुविधाओं से दिग्भ्रमित होने वाले न थे। वे तो भगवान् के दासानुदास बने रहना चाहते थे।

श्रीनारद उवाच
एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरः सराः ।
नोपैतुमशकन्मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारद उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सुर-आदयः—देवताओं का समूह; सर्वे—सारे; ब्रह्म-रुद्र-पुरः सराः—ब्रह्मा तथा शिव द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाकर; न—नहीं; उपैतुम्—भगवान् के समक्ष जाने के लिए; अशकन्—समर्थ; मन्यु-संरम्भम्—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; सु-दुरासदम्—जिन तक पहुँच पाना दुष्कर है (नृसिंहदेव), उन्हें।

नारद मुनि ने आगे कहा : ब्रह्मा, शिव इत्यादि अन्य बड़े-बड़े देवताओं का साहस न हुआ कि वे भगवान् के समक्ष जायँ, क्योंकि उस समय वे अत्यन्त क्रुद्ध थे।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने *प्रेम-भक्ति-चन्द्रिका* में गाया है—*'क्रोध' भक्त-द्वेषि-जने*—क्रोध का प्रयोग उस असुर को दण्डित करने के लिए किया जाना चाहिए जो भक्तों से ईर्ष्या करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य इन सबों का भगवान् तथा उनके भक्त के लिए समुचित उपयोग है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् या अन्य भगवद्भक्तों की निन्दा नहीं सहन कर सकता और न भगवान् ही भक्त की निन्दा सह सकते हैं। इस प्रकार नृसिंहदेव इतने अधिक क्रुद्ध थे कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े-बड़े देवता और लक्ष्मी जी तक, जो कि भगवान् की नित्य संगिनी हैं, उनकी प्रशंसा तथा यशोगान द्वारा उन्हें शान्त नहीं कर सके। कोई भी भगवान् के क्रोध को शान्त नहीं कर सका, किन्तु क्योंकि भगवान् अपना प्यार प्रह्लाद महाराज को जताना चाहते थे, इसलिए सारे देवताओं तथा भगवान् के समक्ष उपस्थित अन्य जनों ने प्रह्लाद महाराज को ही उन्हें शान्त करने के लिए आगे कर दिया।

साक्षात्श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महदद्भुतम् ।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात्सा नोपेयाय शङ्किता ॥ २ ॥

शब्दार्थ

साक्षात्—प्रत्यक्ष; श्रीः—लक्ष्मी जी; प्रेषिता—भगवान् के समक्ष जाने के लिए प्रार्थना की गईं; देवैः—सारे देवताओं (ब्रह्मा, शिव इत्यादि) द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (नृसिंहदेव) को; महत्—अत्यन्त विशाल; अद्भुतम्—अद्भुत; अदृष्ट—कभी न देखा गया; अश्रुत—कभी न सुना गया; पूर्वत्वात्—कभी पहले; सा—वह लक्ष्मी; न—नहीं; उपेयाय—भगवान् के समक्ष गई; शङ्किता—अत्यधिक भयभीत।

वहाँ पर उपस्थित भयभीत सारे देवताओं ने लक्ष्मी जी से प्रार्थना की कि वे भगवान् के समक्ष जाएँ। किन्तु उन्होंने भी भगवान् का ऐसा अद्भुत तथा असामान्य रूप कभी नहीं देखा था, अतएव वे उनके पास नहीं जा सकीं।

तात्पर्य : भगवान् के असंख्य शारीरिक रूप हैं (*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*)। ये सारे रूप वैकुण्ठलोक में रहते हैं, तो भी *लीला शक्ति* से प्रेरित लक्ष्मी जी भगवान् के इस अद्वितीय रूप को नहीं जान पाईं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य *ब्रह्माण्ड पुराण* से निम्नलिखित श्लोक सुनाते हैं—

अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वाद् अन्यैः साधारणैर्जनैः ।

नृसिंहं शंकितेव श्रीर्लोकमोहायनो ययौ ॥

प्रह्लादे चैव वात्सल्यदर्शनाय हरेरपि ।

ज्ञात्वा मनस्तथा ब्रह्मा प्रह्लादं प्रेषयत् तदा॥

एकत्रैकस्य वात्सल्यं विशेषाद्दर्शयेद्धरि: ।

अवरस्यापि मोहाय क्रमेणैवापि वत्सल: ॥

दूसरे शब्दों में, सामान्य व्यक्ति के लिए नृसिंहदेव के रूप में भगवान् अदृष्ट तथा अद्‌भुत होते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज जैसे भक्त के लिए भगवान् का ऐसा भयावह रूप किञ्चिदपि असामान्य नहीं होता। भगवत्कृपा से ही भक्त आसानी से समझ सकता है कि भगवान् जिस रूप में चाहें उसमें वे प्रकट हो सकते हैं। अतएव भक्त कभी भी ऐसे रूप से भयभीत नहीं होता। चूँकि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज पर विशेष कृपा की थी, अतएव वे शान्त तथा निर्भय बने रहे, यद्यपि सारे देवतागण, यहाँ तक कि लक्ष्मी जी भी, भगवान् नृसिंहदेव से भयभीत थीं। *नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति* (*भागवत* ६.१७.२८)। न केवल प्रह्लाद महाराज जैसा नारायण-भक्त भौतिक जीवन की भयावह दशा से निर्भीक बना रहता है, अपितु भक्त के भय को दूर करने के लिए भगवान् के प्रकट होने पर भी भक्त सभी परिस्थितियों में अपनी निर्भीक स्थिति बनाये रखता है।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके ।
तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥ ३॥

शब्दार्थ

प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज से; प्रेषयाम् आस—अनुरोध किया; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; अवस्थितम्—स्थित; अन्तिके—अत्यन्त निकट; तात—मेरे प्रिय पुत्र; प्रशमय—शान्त कराने का प्रयास करो; उपेहि—पास जाओ; स्व-पित्रे—तुम्हारे पिता के आसुरी कार्यों के कारण; कुपितम्—अत्यधिक क्रुद्ध; प्रभुम्—भगवान् को ।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपने पास ही खड़े प्रह्लाद महाराज से अनुरोध किया—हे पुत्र, भगवान् नृसिंहदेव तुम्हारे आसुरी पिता पर अत्यधिक क्रुद्ध हैं। अतएव तुम आगे जाकर भगवान् को शान्त करो।

तथेति शनकै राजन्महाभागवतोऽर्भक: ।
उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलि: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार ब्रह्माजी के वचनों को मानकर; शनकै:—धीरे-धीरे; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); महा-भागवत:—अत्यन्त महान् भक्त (प्रह्लाद महाराज); अर्भक:—यद्यपि छोटे बालक ही थे; उपेत्य—धीरे-धीरे निकट जाकर; भुवि—पृथ्वी पर; कायेन—अपने शरीर से; ननाम—प्रणाम किया; विधृत-अञ्जलि:—हाथ जोड़े हुए।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा, यद्यपि महान् भक्त प्रह्लाद महाराज केवल छोटे से बालक थे, लेकिन उन्होंने ब्रह्माजी की बातें मान लीं। वे धीरे-धीरे भगवान् नृसिंहदेव की ओर बढ़े और हाथ जोड़कर पृथ्वी पर गिर कर उन्हें सादर नमस्कार किया।

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं
विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात्कराम्बुजं
कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूले—अपने चरणकमलों पर; पतितम्—गिरा हुआ; तम्—उस (प्रह्लाद महाराज); अर्भकम्—छोटे से बालक को; विलोक्य—देखकर; देवः—नृसिंहदेव ने; कृपया—अपनी अहैतुकी कृपा से; परिप्लुतः—भावविभोर होकर; उत्थाप्य—उठा कर; तत्-शीर्ष्णि—उसके सिर पर; अदधात्—रख दिया; कर-अम्बुजम्—अपना कर कमल; काल-अहि—काल रूपी सर्प का (जो तुरन्त ही मार सकता है); वित्रस्त—डरा हुआ; धियाम्—उन सबों के जिनके मन; कृत-अभयम्—निर्भय बनाता है।

जब नृसिंहेदव ने देखा कि छोटे से बालक प्रह्लाद महाराज ने चरमकमलों पर साष्टांग प्रणाम किया है, तो वे अपने भक्त के प्रति अत्यधिक भाव-विभोर हो उठे। प्रह्लाद को उठाते हुए उन्होंने अपना कर-कमल उस बालक के सिर पर रख दिया। उनका हाथ उनके समस्त भक्तों को अभय-दान करने वाला है।

तात्पर्य : भौतिक जगत की चार आवश्यकताएँ हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति सदैव भयभीत रहता है (*सदा समुद्विग्न-धियाम्*) और प्रत्येक व्यक्ति को निर्भय बनाने का एकमात्र साधन है कृष्णभावनामृत। जब भगवान् नृसिंहदेव प्रकट हुए तो सारे भक्त निर्भय हो गये। भक्त के निर्भय होने की आशा है भगवान् नृसिंहदेव के पवित्र नाम का कीर्तन करना। *यतो यतो यामि ततो नृसिंहः*—हम जहाँ-जहाँ भी जाँय, सदैव नृसिंह भगवान् का चिन्तन करें। इस तरह भगवद्भक्त को कोई भय नहीं रह जाएगा।

स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः
सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ
हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (प्रह्लाद महाराज); तत्-कर-स्पर्श—नृसिंहदेव के कर कमल द्वारा स्पर्श किये जाने पर; धुत—पवित्र होकर; अखिल—सम्पूर्ण; अशुभः—अशुभ या भौतिक इच्छाएँ; सपदि—तुरन्त; अभिव्यक्त—प्रकट; पर-आत्म-दर्शनः—परमात्मा का साक्षात्कार; तत्-पाद-पद्मम्—नृसिंहदेव के चरणकमल को; हृदि—हृदय में; निर्वृतः—दिव्य आनन्द से पूरित; दधौ—बन्दी बना लिया; हृष्यत्-तनुः—शरीर में दिव्य आनन्द का प्रकट्य; क्लिन्न-हृत्—दिव्य आनन्द के कारण मृदु हुए हृदय वाला; अश्रु-लोचनः—अपनी आँखों में आँसू भर कर।

भगवान् नृसिंहदेव द्वारा प्रह्लाद महाराज का सिर स्पर्श करने से प्रह्लाद के समस्त भौतिक कल्मष तथा इच्छाएँ पूर्णतया धुल गईं। अतएव वे दिव्य पद को प्राप्त हो गये और उनके शरीर में आनन्द के सारे लक्षण प्रकट हो गए। उनका हृदय प्रेम से पूरित हो उठा, उनकी आँखों में आँसू आ गये और उन्होंने अपने हृदय में भगवान् के चरणकमलों को बन्दी बना लिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो भक्ति में पूरी तरह लगा रहता है और किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।" भगवान् ने अन्यत्र *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे चाहे निम्नतर जन्म के अर्थात् स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र क्यों न हों परम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं।"

भगवद्गीता के इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रह्लाद महाराज असुर-कुल में उत्पन्न हुए थे और उनकी रगो में आसुरी रक्त प्रवाहित हो रहा था, किन्तु भक्त के दिव्य पद के कारण उनके सारे भौतिक शारीरिक कल्मष धुल गये थे। दूसरे शब्दों में, अध्यात्म पथ के ऐसे अवरोध उन्हें प्रगति करने से नहीं रोक सके थे, क्योंकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। जो लोग तन तथा मन से नास्तिकता से दूषित हैं, वे कभी भी दिव्य पद पर स्थित नहीं हो सकते, किन्तु ज्योंही ऐसे लोग भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाते हैं त्योंही वे भक्ति के पद पर स्थित होने के योग्य हो जाते हैं।

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः ।

प्रेमगद्‌गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अस्तौषीत्—वह प्रार्थना करने लगा; हरिम्—भगवान् की; एकाग्र-मनसा—भगवान् के चरणकमलों पर अपने मन को स्थिर करके; सु-समाहितः—अत्यन्त मनोयोग से; प्रेम-गद्‌गदया—दिव्य आनन्द की अनुभूति के कारण बोल सकने में असमर्थ; वाचा—वाणी से; तत्-न्यस्त—उन (नृसिंहदेव) पर पूर्णतया समर्पित; हृदय-ईक्षणः—हृदय तथा दृष्टि सहित।

प्रह्लाद महाराज ने पूर्ण समाधि में पूरे मनोयोग से अपने मन तथा दृष्टि को भगवान् नृसिंहदेव पर स्थिर कर दिया। तब वे स्थिर मन से अवरुद्ध वाणी से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करने लगे।

तात्पर्य : *सुसमाहितः* शब्द का अर्थ है ''अत्यन्त ध्यानपूर्वक'' या ''पूर्णतया स्थिर होकर''। *योगसिद्धि* के फलस्वरूप ही इस प्रकार मन को स्थिर किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१) में कहा गया है— *ध्यानावस्थिततद्‌गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* मनुष्य को योगसिद्धि तभी मिल सकती है जब वह समस्त भौतिक विक्षेपों से मुक्त होता है और उसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर हो जाता है। यह *समाधि* कहलाती है। प्रह्लाद महाराज ने यह अवस्था प्राप्त कर ली थी। चूँकि वे सेवा में लगे रहते थे, अतएव वे अपने को अध्यात्म पद पर स्थित अनुभव करते थे। उनका मन तथा ध्यान स्वभावतः अध्यात्म में लीन रहता था। उसी स्थिति में उन्होंने निम्न प्रकार से प्रार्थना करनी शुरू की।

श्रीप्रह्लाद उवाच
ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानगतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥ ८॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना की; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्माजी तथा अन्यों ने; सुर-गणाः—उच्च लोक के निवासी; मुनयः—परम साधु व्यक्ति; अथ—भी (यथा चारों कुमार इत्यादि); सिद्धाः—जिन्होंने सिद्धि या पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है; सत्त्व—आध्यात्मिक स्थिति के लिए; एकतान-गतयः—जिन्होंने बिना विचलन के किसी भी भौतिक कार्यकलाप को ग्रहण कर लिया है; वचसाम्—वृत्तान्तों या वचनों का; प्रवाहैः—धाराओं के द्वारा; न—नहीं; आराधितुम्—प्रसन्न करने के लिए; पुरु-गुणैः—यद्यपि पूर्णतया योग्य; अधुना—अब तक; अपि—भी; पिप्रुः—समर्थ थे; किम्—क्या; तोष्टुम्—प्रसन्न करने के लिए; अर्हति—समर्थ है; सः—वह (भगवान्); मे—मेरा; हरिः—भगवान्; उग्र-जातेः—असुर परिवार में जन्मा।

प्रह्लाद महाराज ने प्रार्थना कीः असुर परिवार में जन्म लेने के कारण यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उपयुक्त प्रार्थना कर सकूँ? आज तक ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता तथा समस्त मुनिगण उत्तमोत्तम वाणी से भगवान् को प्रसन्न नहीं कर पाये,

यद्यपि ये सारे व्यक्ति सतोगुणी एवं परम योग्य हैं, तो फिर मेरे विषय में क्या कहा जाये? मैं तो बिल्कुल ही अयोग्य हूँ।

तात्पर्य : एक पूर्ण योग्य वैष्णव भगवान् की प्रार्थना करते समय अपने को अत्यन्त तुच्छ समझता है। उदाहरणार्थ, *चैतन्य-चरितामृत* के लेखक कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—

जगाइ माधाइ हैते मुञि से पापिष्ठ।

पुरीषेर कीट हैते मुञि से लघिष्ठ॥

(*चैतन्य-चरितामृत, आदि* ५.२०५)

इस तरह वह अपने को विष्ठा के कीड़े से भी तुच्छ तथा जगाइ एवं माधाइ से भी अधिक पापी मानता है। शुद्ध वैष्णव अपने विषय में ऐसा ही सोचता है। इसी तरह यद्यपि प्रह्लाद महाराज अत्यन्त शुद्ध उच्च वैष्णव थे किन्तु वे अपने को भगवान् की प्रार्थना के लिए परम अयोग्य समझ रहे थे। *महाजनो येन गत: स पन्था:।* प्रत्येक शुद्ध वैष्णव को इसी तरह सोचना चाहिए। उसे अपनी वैष्णव-योग्यताओं का वृथा गर्व नहीं होना चाहिए। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि:॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह अपने को पगडंडी के तिनके से भी तुच्छ माने और विनीत भाव से भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए, उसे मिथ्या प्रतिष्ठा-भाव से रहित होना चाहिए और सदैव अन्यों का आदर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मनोदशा में ही वह भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।" विनीत हुए बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर पाना अत्यन्त कठिन है।

मन्ये धनाभिजनरूपतप:श्रुतौज-
स्तेज:प्रभावबलपौरुषबुद्धियोगा: ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥ ९॥

शब्दार्थ

मन्ये—मैं मानता हूँ; धन—सम्पत्ति; अभिजन—राजसी परिवार; रूप—सुन्दरता; तपः—तपस्या; श्रुत—वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान; ओजः—इन्द्रिय पराक्रम; तेजः—शारीरिक तेज; प्रभाव—प्रभाव; बल—शारीरिक शक्ति; पौरुष—उद्यम; बुद्धि—बुद्धि; योगाः—योग शक्ति; न—नहीं; आराधनाय—प्रसन्न करने के लिए; हि—निस्सन्देह; भवन्ति—हैं; परस्य—दिव्य का; पुंसः—भगवान्; भक्त्या—केवल भक्ति से; तुतोष—तुष्ट हो गया था; भगवान्—भगवान्; गज-यूथ-पाय—हाथियों के राजा (गजेन्द्र) के हेतु।.

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : भले ही मनुष्य के पास सम्पत्ति, राजसी परिवार, सौन्दर्य, तपस्या, शिक्षा, दक्षता, कान्ति, प्रभाव, शारीरिक शक्ति, उद्यम, बुद्धि तथा योगशक्ति क्यों न हो, किन्तु मेरी समझ से इन सारी योग्यताओं से भी कोई व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न नहीं कर सकता। किन्तु भक्ति से वह ऐसा कर सकता है। गजेन्द्र ने ऐसा किया और इस तरह भगवान् उससे प्रसन्न हो गये।

तात्पर्य : कोई भी भौतिक योग्यता भगवान् को प्रसन्न करने का साधन नहीं हो सकती। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है भगवान् केवल भक्ति से जाने जा सकते हैं (*भक्त्या मामभिजानाति*)। जब तक भगवान् भक्त की सेवा से प्रसन्न नहीं हो जाते तब तक वे अपने आपको प्रकट नहीं होने देते (*नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः*)। यह समस्त शास्त्रों का अभिमत है। कोई न तो चिन्तन से, न ही योग्यताओं से भगवान् के पास जा सकता है या उन्हें समझ सकता है।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात्श्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

विप्रात्—ब्राह्मण की अपेक्षा; द्वि-षट्-गुण-युतात्—बारह ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न*; अरविन्द-नाभ—भगवान्, विष्णु, जिनकी नाभि से कमल निकला है; पाद-अरविन्द—चरणकमलों की; विमुखात्—भक्ति से विमुख; श्व-पचम्—निम्नकुल में जन्मे या चाण्डाल को; वरिष्ठम्—अत्यन्त यशस्वी; मन्ये—मानता हूँ; तत्-अर्पित—भगवान् के चरणकमलों में शरणागत; मनः—अपना मन; वचन—शब्द; ईहित—प्रत्येक प्रयास; अर्थ—सम्पत्ति; प्राणम्—तथा जीवन; पुनाति—शुद्ध करता है; सः—वह (भक्त); कुलम्—अपने परिवार को; न—नहीं; तु—लेकिन; भूरिमानः—जो झूठे ही अपने को प्रतिष्ठित पद पर सोचते हैं।.

Footnote Starts Here:

*पूर्ण ब्राह्मण के बारह गुण इस प्रकार हैं—धर्म पालन, सत्य भाषण, तपस्या द्वारा इन्द्रिय निग्रह, ईर्ष्या से रहित होना, बुद्धिमान होना, सहिष्णु होना, शत्रु न बनाना, यज्ञ करना, दान देना, स्थिर रहना, वेदाध्ययन में पारंगत होना तथा व्रत पालना। *

Footnote Ends Here.

यदि किसी ब्राह्मण में बारहों योग्यताएँ (*सनत्सुजात* ग्रन्थ में उल्लिखित) हों किन्तु यदि वह भक्त नहीं है और भगवान् के चरणकमलों से विमुख है, तो वह उस चाण्डाल भक्त से भी अधम होता है, जिसने अपना सर्वस्व मन, वचन, कर्म, सम्पत्ति तथा जीवन भगवान् को अर्पित कर दिया है। ऐसा भक्त उस ब्राह्मण से श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्त अपने सारे परिवार को पवित्र कर सकता है जब कि झूठी प्रतिष्ठा वाला तथाकथित ब्राह्मण अपने आप को आप भी शुद्ध नहीं कर पाता।

तात्पर्य : यह एक भक्त तथा एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण का अन्तर बताने वाला कथन बारह महाजनों में से एक प्रह्लाद महाराज का है। मानव समाज चार वर्णों तथा चार आश्रमों में बँटा है, किन्तु प्रधान सिद्धान्त उच्चकोटि का शुद्ध भक्त बनना है। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में कहा गया है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।

अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम्॥

''यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य जैसे उच्चकुल में उत्पन्न होता है, किन्तु यदि वह भगवद्भक्त नहीं है, तो उसके ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सारे गुण व्यर्थ हैं। निस्सन्देह, वे शव के अलंकरण जैसे माने जाते हैं।''

इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज विप्रों अर्थात् विद्वान ब्राह्मणों की बात करते हैं। चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विप्र को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु अधम चाण्डाल परिवार में जन्मा भक्त ऐसे विप्रों से श्रेष्ठ होता है—क्षत्रियों, वैश्यों इत्यादि की तो बात ही नहीं उठती। भक्त अन्य सबों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह ब्रह्म पद पर सदैव दिव्य पद पर रहता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त ही भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है'' (*भगवद्गीता* १४.२६)। *सनत्सुजात* पुस्तक में प्रथम कोटिक ब्राह्मण के बारह गुण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च

ह्यमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।

यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च

महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य॥

कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यूरोपीय तथा अमरीकी भक्तों को कभी-कभी ब्राह्मण मान लिया जाता है, किन्तु तथाकथित ब्राह्मण जाति के लोग उनसे अत्यधिक ईर्ष्या करते हैं। ऐसी ईर्ष्या के उत्तर में प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि जो ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर अपने प्रतिष्ठित पद का मिथ्या गर्व करता है, वह स्वयं को भी शुद्ध नहीं कर पाता, परिवार की तो कोई बात ही नहीं उठती। किन्तु यदि निम्नकुल में उत्पन्न चाण्डाल भक्त हो और भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतः समर्पित हो तो वह अपने पूरे परिवार को शुद्ध कर सकता है। हमें इसका वास्तविक अनुभव है कि किस तरह अमरीकियों तथा यूरोपीयों ने कृष्णभावनाभवित होकर अपने समूचे परिवारों को शुद्ध कर दिया है—यहाँ तक कि जब एक भक्त की माता मरने लगी तो उसने अपनी अन्तिम श्वास छोड़ते समय कृष्ण के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। अतएव यह सैद्धान्तिक रूप से सही है तथा व्यावहारिक रूप से सिद्ध किया जा चुका है कि भक्त अपने परिवार, जाति, समाज तथा राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सेवा कर सकता है। मूर्ख लोग भक्तों को पलायनवाद के सिद्धान्तों का पालन करने का दोषी ठहराते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि भक्त ही अपने परिवार को उठाने वाला सही व्यक्ति होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की सेवा में लगा देता है अतएव वह सदैव बढ़ा चढ़ा उन्नत व्यक्ति है।

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; **एव**—निश्चय ही; **आत्मनः**—अपने निजी लाभ के लिए; **प्रभुः**—स्वामी; **अयम्**—यह; **निज-लाभ-पूर्णः**—जो सदैव अपने में तुष्ट रहता है (अन्यों की सेवाओं द्वारा प्रसन्न किये जाने की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती); **मानम्**—आदर; **जनात्**—व्यक्ति से; **अविदुषः**—जो यह नहीं जानता कि जीवन का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है; **करुणः**—(भगवान्) जो इस मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति पर इतना दयालु है; **वृणीते**—स्वीकार करता है; **यत् यत्**—जो भी; **जनः**—व्यक्ति; **भगवते**—भगवान् पर; **विदधीत**—अर्पित करे; **मानम्**—पूजा; **तत्**—वह; **च**—निस्सन्देह; **आत्मने**—अपने लाभ के लिए; **प्रति-मुखस्य**—दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब का; **यथा**—जिस तरह; **मुख-श्रीः**—मुँह का सौन्दर्य।

भगवान् सदैव आत्मतुष्ट रहने वाले हैं, अतएव जब उन्हें कोई भेंट अर्पित की जाती है, तो भगवत्कृपा से यह भेंट भक्त के लाभ के लिए ही होती है, क्योंकि भगवान् को किसी की सेवा की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि किसी का मुख सज्जित हो तो दर्पण में उसके मुख का प्रतिबिम्ब भी सज्जित दिखता है।

तात्पर्य : भक्तियोग में भक्त को नौ सिद्धान्तों का पालन करना होता है। ये है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।* श्रवण, कीर्तन इत्यादि द्वारा भगवान् का यशोगान भगवान् के लाभ के लिए नहीं है, यह भक्त के लाभ के लिए है। भगवान् तो सदैव महिमावान है चाहे भक्त महिमागान करे या न करे। किन्तु यदि भक्त भगवान् का महिमा-गायन करता है, तो भक्त स्वयं ही स्वतः यशस्वी बनता है (*चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। भगवान् का निरन्तर यशोगान करने से जीव का अन्तस्तल शुद्ध हो जाता है, जिससे वह समझ सकता है कि वह संसारी नहीं है, अपितु आत्मा है, जिसका वास्तविक कार्य कृष्णभावनामृत को आगे बढ़ाना है, जिससे वह भव-बन्धन से छूट सके। इस प्रकार संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि शमित हो जाती है (*भवमहादावाग्निनिर्वापनम्*)। मूर्ख व्यक्ति को बड़ा आश्चर्य होता है जब कृष्ण आदेश देते हैं—*सर्वधमान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—सारे धार्मिक कार्यकलापों को त्याग दो और मेरी शरण में आओ। कुछ मूर्ख पंडित यहाँ तक कहते हैं कि ऐसी माँग करना अति है। किन्तु यह माँग भगवान् के लाभ के लिए नहीं की जाती, यह तो मानव समाज के कल्याण के लिए होती है। यदि सारे मनुष्य व्यष्टि रूप से तथा समष्टि रूप से प्रत्येक वस्तु को कृष्णभावनामृत में रखकर भगवान् को समर्पित कर दें तो इससे सारा मानव समाज लाभान्वित होगा। जो व्यक्ति भगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित नहीं करता उसे इस श्लोक में *अविदुष* या धूर्त कहा गया है। *भगवद्गीता* (७.१५) में भगवान् इसी प्रकार से कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

''ऐसे दुष्कृत लोग नितान्त मूर्ख हैं, मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा अपहृत हो चुका है और जो असुरों की भाँति नास्तिक स्वभाव के हैं; वे मेरी शरण में नहीं आते।'' अज्ञान तथा दुर्भाग्य के

कारण नास्तिक तथा *नराधम* लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते। इसलिए भगवान् कृष्ण स्वयं पूर्ण होकर भी विभिन्न युगों में बद्धजीवों से यही चाहते हैं कि वे उनके शरणागत हो लें जिससे वे भव-बन्धन से मुक्त हो सकें। सारांश यह है कि हम जितना ही अधिक कृष्णभक्ति में लगते हैं और भगवान् की सेवा करते हैं उतना ही अधिक लाभ उठाते हैं। कृष्ण को हम से किसी प्रकार की सेवा नहीं चाहिए।

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथा मनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥ १२॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; अहम्—मैं; विगत-विक्लवः—अयोग्य होने का चिन्तन छोड़कर; ईश्वरस्य—ईश्वर का; सर्व-आत्मना—पूर्ण शरणागत होकर; महि—यश; गृणामि—कीर्तन या वर्णन करूँगा; यथा मनीषम्—अपनी बुद्धि के अनुसार; नीचः—यद्यपि निम्न कुल (मेरे पिता असुर रहे और समस्त सद्गुणों से विहीन) में उत्पन्न; अजया—अज्ञान के कारण; गुण-विसर्गम्—भौतिक जगत (जिसमें जीव गुणों के कल्मष के अनुसार जन्म लेता है); अनुप्रविष्टः—के भीतर प्रविष्ट; पूयेत—शुद्ध हो; येन—जिससे (भगवान् के यश से); हि—निस्सन्देह; पुमान्—मनुष्य; अनुवर्णितेन—कीर्तन किये जाने या पाठ किये जाने पर।

अतएव यद्यपि मैंने असुरकुल में जन्म लिया है, तो भी निस्सन्देह, जहाँ तक मेरी बुद्धि जाती है मैं पूरे प्रयास से भगवान् की प्रार्थना करूँगा। जो भी व्यक्ति अज्ञान के कारण इस भौतिक जगत में प्रविष्ट होने को बाध्य हुआ है, वह भौतिक जीवन को पवित्र बना सकता है यदि वह भगवान् की प्रार्थना करे और उनके यश का श्रवण करे।

तात्पर्य : यह स्पष्ट है कि भक्त को उच्च कुल में जन्म लेने, धनी होने, राजसी वृत्ति का या सुन्दर होने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कोई भी गुण किसी को भक्ति में नहीं लगा सकता। उसे तो भक्ति में ऐसा अनुभव होना चाहिए "ईश्वर महान् हैं और मैं अत्यन्त लघु हूँ। अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैं भगवान् के प्रति प्रार्थना करूँ।" इसी आधार पर भगवान् को समझा जा सकता है और उनकी सेवा की जा सकती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१८.५५) में कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"मनुष्य केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यथारूप में समझ सकता है और जब वह ऐसी भक्ति द्वारा भगवान् की पूर्ण चेतना में होता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।" इस तरह प्रह्लाद महाराज ने अपने भौतिक पद का विचार न करते हुए भगवान् की स्तुति करने का निश्चय किया।

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; हि—निश्चय; अमी—ये; विधि-कराः—आदेश पालनकर्ता; तव—तुम्हारे; सत्त्व-धाम्नः—सदैव दिव्य जगत में स्थित रहकर; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि देवता; वयम्—हम; इव—समान; ईश—हे भगवान्; न—नहीं; च—तथा; उद्विजन्तः—भयभीत (आपके भयानक रूप से); क्षेमाय—रक्षा के लिए; भूतये—वृद्धि के लिए; उत—कहा जाता है; आत्म-सुखाय—ऐसी लीलाओं से निजी तुष्टि के लिए; च—भी; अस्य—इस (भौतिक जगत) का; विक्रीडितम्—प्रकट; भगवतः—आपके; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; अवतारैः—अवतार से।

हे भगवान, ब्रह्मा आदि सारे देवता आपके निष्ठावान् दास हैं, क्योंकि वे दिव्य पद पर स्थित हैं। अतः वे हमारी (प्रह्लाद तथा उनके असुर पिता हिरण्यकशिपु की) तरह नहीं हैं। इस भयानक रूप में आपका प्राकट्य स्वान्तःसुख के लिए आपकी लीला है। ऐसा अवतार सदा ही ब्रह्माण्ड की रक्षा तथा सुधार (अभ्युदय) के लिए होता है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज यह कहना चाह रहे थे कि उनके पिता तथा उनके परिवार के अन्य सदस्य अत्यन्त अभागे थे, क्योंकि वे सभी असुर थे जब कि भगवान् के भक्त उनके आदेशों का पालन करने के लिए सदैव सन्नद्ध रहने से अत्यन्त भाग्यशाली हैं। जब भगवान् इस धरा पर विविध अवतारों में प्रकट होते हैं, तो वे दो कार्य करते हैं—भक्तों की रक्षा तथा असुरों का विनाश (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। उदाहरणार्थ, नृसिंहदेव अपने भक्त की रक्षा के लिए प्रकट हुए थे। उन जैसी लिलीएं निश्चित रूप से भक्तों को भयभीत बनाने के लिए नहीं होती; फिर भी सारे भक्त अत्यन्त सरल एवं आज्ञाकारी होने के कारण भगवान् के भयानक अवतार से भयभीत थे। अतएव प्रह्लाद महाराज अपनी इस स्तुति में भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे अपना क्रोध त्याग दें।

तद्यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य
मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।

लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे
रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; यच्छ—कृपया त्याग दें; मन्युम्—अपना क्रोध; असुरः—मेरा पिता, महा असुर हिरण्यकशिपु; च—भी; हतः—मारा गया; त्वया—आपके द्वारा; अद्य—आज; मोदेत—प्रसन्न होते हैं; साधुः अपि—साधु पुरुष भी; वृश्चिक-सर्प-हत्या—साँप या बिच्छू मार कर; लोकाः—सारे लोक; च—निस्सन्देह; निर्वृतिम्—आनन्द; इताः—प्राप्त किया है; प्रतियन्ति—प्रतीक्षा कर रहे हैं (आपके क्रोध शान्त होने की); सर्वे—वे सभी; रूपम्—यह रूप; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विभयाय—उनका भय दूर करने के लिए; जनाः—ब्रह्माण्ड के सारे लोग; स्मरन्ति—स्मरण करेंगे।

अतएव हे नृसिंहदेव भगवान्, आप अपना क्रोध अब त्याग दें, क्योंकि मेरा पिता महा असुर हिरण्यकशिपु मारा जा चुका है। चूँकि साधु पुरुष भी साँप या बिच्छू के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं, अतएव इस असुर की मृत्यु से सारे लोकों को परम सन्तोष हुआ है। अब वे अपने सुख के प्रति आश्वस्त हैं और भय से मुक्त होने के लिए आपके इस कल्याणप्रद अवतार का सदैव स्मरण करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि साधु पुरुष कभी भी किसी जीव को मारना नहीं चाहते, किन्तु सर्प तथा बिच्छू जैसे ईर्ष्यालु जीवों का वध होने पर वे भी प्रसन्न होते हैं। हिरण्यकशिपु इसलिए मारा गया, क्योंकि वह सर्प या बिच्छू से भी निकृष्ट था और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सुखी था। अतः अब भगवान् को क्रोध करने की कोई आवश्यकता न थी। भक्तगण जब भी संकट में हो वे नृसिंहदेव के रूप का स्मरण कर सकते हैं, अतएव नृसिंहदेव का प्राकट्य तनिक भी अशुभ न था। भगवान् का प्राकट्य सदैव ही पूजनीय तथा समस्त विज्ञजनों एवं भक्तों के लिए कल्याणप्रद होता है।

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजःक्षतजकेशरशङ्कुकर्णा-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; बिभेमि—भयभीत हूँ; अजित—हे अजेय, परम विजयी पुरुष; ते—तुम्हारा; अति—अत्यन्त; भयानक—भयावना; आस्य—मुख; जिह्वा—जीभ; अर्क-नेत्र—सूर्य की तरह चमकती आँखें; भ्रुकुटी—क्रुद्ध भौहें; रभस—प्रबल; उग्र-दंष्ट्रात्—भयावने दाँत; आन्त्र-स्रजः—आँतों की माला पहने; क्षतज—रक्त से सने; केशर—गर्दन के बाल; शङ्कु-कर्णात्—बर्छे जैसे पैने कान; निर्ह्राद—गर्जना (आपके द्वारा की गई) से; भीत—डरा हुआ; दिगिभात्—जिससे बड़े-बड़े हाथी भी; अरि-भित्—शत्रु को फाड़ने वाला; नख-अग्रात्—अपने नाखून के अग्र भाग से।

हे अजित भगवान्, मैं न तो आपके भयानक मुख तथा जीभ से, न ही सूर्य के समान चमकीली आँखों से या टेढ़ी भौहों से भयभीत हूँ। मैं आपके तेज नुकीले दाँतों से, आँतों की माला से, रक्त रंजित गर्दन के बालों से या बर्छे जैसे पैने कानों से भी नहीं डर रहा हूँ। न ही मैं आपके सिंहनाद से भयभीत हूँ जिससे हाथी भाग कर दूर चले जाते हैं। न मैं आपके नाखूनों से भयभीत हूँ जो आपके शत्रु को मारने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : भगवान् नृसिंहदेव का भयङ्कर स्वरूप अभक्तों के लिए निश्चय ही अत्यन्त घातक था किन्तु प्रह्लाद महाराज ऐसे भयावह स्वरूप से तनिक भी विचलित नहीं होने वाले नहीं थे। सिंह अन्य पशुओं के लिए अत्यन्त भयावह होता है, किन्तु सिंह शावक उससे तनिक भी भयभीत नहीं होते। सागर का जल स्थल के समस्त जीवों के लिए अत्यन्त भयानक लगता है, लेकिन सागर में रहने वाली एक छोटी सी मछली भी उसमें निर्भय विचरण करती है। क्यों? क्योंकि छोटी मछली ने विशाल सागर की शरण ले रखी है। कहा जाता है कि बड़े-बड़े हाथी नदी की बाढ़ में बह जाते हैं, किन्तु छोटी मछलियाँ धारा के विरुद्ध तैरती रहती हैं। अतएव यद्यपि *दुष्कृति* लोगों को मारने के लिए भगवान् कभी-कभी भयानक रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु भक्तगण सदा उन्हें पूजते हैं। *केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे।* भक्तों को भगवान् की पूजा करने में सदैव आनन्द आता है और वे उनके किसी भी रूप का, चाहे वह मनोहर हो या भयावह, यशोगान करते हैं।

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र
संसारचक्रकदनाद्ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

त्रस्तः—डरा हुआ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; कृपण-वत्सल—पतित आत्माओं पर अत्यन्त दयालु मेरे प्रभु; दुःसह—असहनीय; उग्र—भयानक; संसार-चक्र—जन्म मृत्यु का चक्कर; कदनात्—ऐसी बुरी अवस्था से; ग्रसताम्—एक दूसरे को भक्षण करने वाले बद्धजीवों में से; प्रणीतः—फेंका जाकर; बद्धः—बँधा हुआ; स्व-कर्मभिः—अपने कर्मों के द्वारा; उशत्तम—हे दुर्जेय; ते—तुम्हारे; अङ्घ्रि-मूलम्—चरण कमलों के तलवे; प्रीतः—(मुझपर) प्रसन्न होकर; अपवर्ग-शरणम्—जो इस भयावह भौतिक संसार से मुक्ति के लिए शरण हैं; ह्वयसे—आप मुझे बुला लेंगे; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

हे पतितों पर सदय, परम शक्तिशाली दुर्जेय प्रभु, मैं अपने कर्मों के कारण असुरों की संगति में आ पड़ा हूँ, अतएव मैं इस संसार में अपनी जीवन दशा से अत्यधिक भयभीत हूँ। वह क्षण

कब होगा जब आप मुझे उन चरणकमलों की शरण में बुला लेंगे जो बद्ध जीवन से मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं?

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में रहना ही दुखमय है, किन्तु यदि किसी को असुरों अथवा नास्तिकों की संगति मिल जाये तो और भी असहनीय हो जाता है। कोई यह पूछ सकता है कि जीव को भौतिक जगत में क्यों डाल दिया जाता है? निस्सन्देह, मूर्ख लोग कभी-कभी भगवान् का उपहास करते हैं क्योंकि वे उन्हें यहाँ ले आये। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार बद्ध जीवन में रखा जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज अन्य समस्त बद्धजीवों का प्रतिनिधित्व करते हुए स्वीकार करते हैं कि उन्हें अपने कर्म के कारण असुरों के बीच में रखा गया। भगवान् *कृपणवत्सल* कहलाते हैं क्योंकि वे बद्धजीवों पर अत्यधिक दयालु हैं। अतएव जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जब-जब धर्म के पालन में त्रुटियाँ आती हैं तब-तब भगवान् अवतरित होते हैं (*यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत... तदात्मानं सृजाम्यहम्*)। भगवान् बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं, अतएव वे हम सबों को भगवद्धाम लौटने के लिए आदेश देते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। इस तरह प्रह्लाद महाराज को आशा थी कि भगवान् कृपा करके उन्हें अपने चरणकमलों की शरण में फिर से बुला लेंगे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करके भगवद्धाम लौटने के लिए उत्सुक रहना चाहिए और इसी तरह कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रशिक्षित होना चाहिए।

यस्मात्प्रियाप्रियवियोगसंयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिसके कारण (इस संसार में अस्तित्व के कारण); प्रिय—अच्छा लगने वाला; अप्रिय—न अच्छा लगने वाला; वियोग—विरह; संयोग—तथा मिलन के कारण; जन्म—जिसका जन्म; शोक-अग्निना—शोक की अग्नि से; सकल-योनिषु—किसी भी प्रकार के शरीर में; दह्यमानः—जल कर; दुःख-औषधम्—दुखी जीवन के लिए उपचार; तत्—वह; अपि—भी; दुःखम्—कष्ट; अ-तत्-धिया—शरीर को आत्मा मानकर; अहम्—मैं; भूमन्—हे महान; भ्रमामि—घूम रहा हूँ (जन्म मरण के चक्र में); वद—कृपया उपदेश दें; मे—मुझको; तव—तुम्हारा; दास्य-योगम्—सेवा कार्य।

हे महान, हे परमेश्वर, प्रिय तथा अप्रिय परिस्थितियों के संयोग से तथा उनसे बिछुड़ने के कारण मनुष्य स्वर्ग या नरक लोकों में अत्यन्त शोचनीय स्थिति को प्राप्त होता है मानो संताप की अग्नि में जल रहा हो। यद्यपि इस दुखमय जीवन से निकलने की अनेक औषधियाँ हैं किन्तु भौतिक जगत में ये औषधियाँ दुखों से भी अधिक कष्टकारक हैं। अतएव मैं सोच रहा हूँ कि इसकी एकमात्र औषधि आपकी सेवा में संलग्न होना है। कृपया मुझे ऐसी सेवा का उपदेश दें।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् के चरणकमलों की सेवा में संलग्न होने के इच्छुक थे। अपने ऐश्वर्यशाली पिता की मृत्यु के बाद प्रह्लाद महाराज को उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार ग्रहण करना था, जो सारे विश्व में फैली थी, लेकिन वे ऐसे भौतिक ऐश्वर्य को ग्रहण करना नहीं चाह रहे थे, क्योंकि कोई चाहे स्वर्ग में रहे या नरक में, चाहे वह धनी हो या निर्धन, भौतिक दशाएँ सर्वत्र ही रहती हैं। अतएव कोई भी जीवन-दशा पूर्णरूपेण प्रिय नहीं होती। यदि मनुष्य अदूषित आनन्दमय जीवन भोगना चाहता है, तो उसे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए। भौतिक ऐश्वर्य भले ही कुछ काल तक प्रिय लगने वाला हो, किन्तु इसके लिए मनुष्य को अत्यधिक कठिन श्रम करना होता है। जब निर्धन व्यक्ति धनी बन जाता है, तो उसकी दशा सुधर जाती है, किन्तु उसे इस दशा तक पहुँचने में अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। भौतिक जीवन में कोई दुखी रहे या सुखी दोनों ही अवस्थाएँ दुखमय हैं। यदि कोई वास्तव में आनन्दमय सुखी जीवन चाहता है, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना पड़ेगा और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगना होगा। यही असली औषधि है। सारा संसार इस भ्रम में है कि बद्धजीव के दुखों को दूर करने के लिए यदि भौतिकतावादी उपचारों में प्रगति की जाये तो लोग सुखी हो सकेंगे, किन्तु यह प्रयास कभी सफल होने वाला नहीं है। मानवता को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगने का प्रशिक्षण देना ही होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही उद्देश्य है। मनुष्य की भौतिक दशाओं में परिवर्तन करने से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वत्र ही कष्ट तथा दुख हैं।

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं (प्रह्लाद महाराज); प्रियस्य—अत्यन्त प्रिय की; सुहृदः—शुभचिन्तक; परदेवतायाः—भगवान् का; लीला-कथाः—लीलाओं की कथाएँ; तव—तुम्हारी; नृसिंह—हे नृसिंहदेव; विरिञ्च-गीताः—शिष्य परम्परा से ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त; अञ्जः—सरलता से; तितर्मि—पार कर लूँगा; अनुगृणन्—निरन्तर वर्णन करते हुए; गुण—प्रकृति के गुणों से; विप्रमुक्तः—विशेषतया अदूषित होने से; दुर्गाणि—जीवन की समस्त दुखमय परिस्थितियाँ; ते—तुम्हारे; पद-युग-आलय—चरणकमलों में लीन; हंस-सङ्गः—हंसों अर्थात् मुक्तात्माओं की संगति पाकर (भौतिक गुणों से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है)।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मुक्तात्माओं (हंसों) की संगति में आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहकर मैं प्रकृति के तीन गुणों के स्पर्श से पूर्णतः कल्मषहीन हो सकूँगा और अपने अत्यन्त प्रिय स्वामी आपकी महिमाओं का कीर्तन कर सकूँगा। मैं ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य परम्परा के पद-चिन्हों पर ठीक तरह से चलकर आपकी महिमाओं का कीर्तन करूँगा। इस प्रकार मैं अज्ञान के सागर को निश्चय ही पार कर सकूँगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भक्त के जीवन तथा कर्तव्य की भली-भाँति व्याख्या की गई है। ज्योंही भक्त भगवान् के पवित्र नाम तथा उसके यश का कीर्तन कर सकता है, वह निश्चय ही मुक्ति-पद पर पहूंच जाता है। भगवान् के पवित्र नाम तथा कार्यकलापों के श्रवण तथा कीर्तन के प्रति अनुराग होने से (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*) मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है जहाँ भौतिक कल्मष नहीं होता। मनुष्य को शिष्य परम्परा से प्राप्त प्रामाणिक गीतों का कीर्तन करना चाहिए। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शिष्य परम्परा के पालन से कीर्तन शक्तिशाली बनता है (*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः*)। कीर्तन की अनेक विधियाँ बनाने से कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा छोड़े गये गीत या कथा का कीर्तन (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*) अत्यन्त प्रभावशाली होता है और यह विधि सरल भी है इसलिए इस श्लोक में प्रह्लाद महाराज *अञ्जः* (सरलता से) शब्द का प्रयोग करते हैं। शिष्य परम्परा से प्राप्त महापुरुषों के विचारों को स्वीकार करना निश्चय ही उस शुष्क चिन्तन विधि से सरल होगा जिसके द्वारा मनुष्य परम सत्य को समझने के लिए कोई न कोई साधन ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। सर्वोत्तम विधि यही है कि पूर्ववर्ती आचार्यों के उपदेशों को स्वीकार करके उनका पालन किया जाये। तब ईश-साक्षात्कार तथा आत्म-साक्षात्कार अत्यन्त सरल हो जाएँगे। इस सरल विधि के पालन से मनुष्य प्रकृति के भौतिक गुणों के कल्मष से मुक्त हो जाता है और अज्ञान के उस सागर को पार कर सकता है, जो अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से पूर्ण है। महान् आचार्यों के पदचिह्नों पर चलकर मनुष्य हंसों या परमहंसों की संगति प्राप्त करता है, जो भौतिक कल्मष अनेक कष्टदायक परिस्थितियों से

पूर्णतया मुक्त हैं। निस्सन्देह, आचार्यों के उपदेशों का पालन करके मनुष्य सदा से सारे भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और इस तरह उसका जीवन सफल हो जाता है, क्योंकि वह जीवन-लक्ष्य तक पहुँच जाता है। यह भौतिक जगत दुखमय है, चाहे किसी का जीवन स्तर कैसा ही क्यों न हो। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भौतिक विधियों द्वारा संसार के दुखों को कम करने के सारे उपाय असफल होंगे। वास्तविक रूप में सुखी होने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होना चाहिए, अन्यथा सुख मिलना असम्भव है। कोई यह कह सकता है कि आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करने के लिए तपस्या करनी होती है, अर्थात् स्वेच्छा से असुविधा को स्वीकार करना होता है। किन्तु इस तरह की असुविधा उतनी घातक नहीं हैं जितनी कि सारे दुखों को कम करने के भौतिक प्रयास होते हैं।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट-
स्तावद्विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

बालस्य—छोटे बच्चों का; न—नहीं; इह—इस संसार में; शरणम्—शरण (रक्षा); पितरौ—पिता तथा माता; नृसिंह—नृसिंहदेव; न—न तो; आर्तस्य—किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति का; च—भी; अगदम्—दवा; उदन्वति—सागर के जल में; मज्जतः—डूबते व्यक्ति की; नौः—नाव; तप्तस्य—भौतिक दुख से पीड़ित व्यक्ति का; तत्-प्रतिविधिः—(जगत के दुखों को रोकने के लिए खोजी गई) शमन विधि; यः—जो; इह—इस संसार में; अञ्जसा—अत्यन्त सरलता से; इष्टः—स्वीकृत (दवा के रूप में); तावत्—उसी तरह; विभो—हे स्वामी; तनु-भृताम्—भौतिक शरीर स्वीकार करने वाले जीवों का; त्वत्-उपेक्षितानाम्—आपके द्वारा उपेक्षित तथा अस्वीकृत।

हे नृसिंहदेव, हे परमेश्वर, देहात्मबुद्धि के कारण आपके द्वारा उपेक्षित देहधारी जीव अपने कल्याण के लिए कुछ भी नहीं कर पाते। वे जो भी उपचार स्वीकार करते हैं, उन से यद्यपि कदाचित क्षणिक लाभ पहुँचता है, किन्तु वे स्थायी नहीं रह पाते। उदाहरणार्थ, माता तथा पिता अपने बालक की रक्षा नहीं कर पाते, वैद्य तथा दवा रोगी का कष्ट दूर नहीं कर पाते तथा समुद्र में कोई नाव डूबते हुए मनुष्य को नहीं बचा पाती।

तात्पर्य : माता-पिता की देख-रेख से, विभिन्न रोगों की दवा से तथा जल, स्थल और वायु में सुरक्षा के साधनों से भौतिक जगत के विभिन्न कष्टों से छुटकारा पाने का प्रयास किया जाता है, किन्तु इनमें से किसी एक के भी द्वारा सुरक्षा निश्चित नहीं है। मनुष्य को भले ही उनसे क्षणिक लाभ मिल जाए, किन्तु इनसे स्थायी लाभ नहीं पहुँचता। माता-पिता के रहते हुए बच्चों को आकस्मिक मृत्यु, रोग

तथा अन्य कष्टों से बचाया नहीं जा सकता। कोई भी, यहाँ तक कि माँ–बाप भी, उसकी सहायता नहीं कर सकते। अन्ततोगत्वा भगवान् ही शरण बनते हैं और जो कोई उनकी शरण ग्रहण करता है उसकी रक्षा हो जाती है। यह ध्रुव है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३१) में कहा है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर यह घोषित कर दो कि भगवान् का भक्त कभी मरता नहीं। अतएव जब तक कोई भगवान् की अहैतुकि कृपा द्वारा रक्षित न हो तब तक कोई उपचार सफलता पूर्वक काम नहीं करता। फलस्वरूप मनुष्य को अहैतुकी भगवत्कृपा पर पूरी तरह निर्भर रहना चाहिए। यद्यपि नैत्यिक कर्म के रूप में अन्य उपचार विधियों को स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् द्वारा उपेक्षित है उसकी रक्षा कोई नहीं कर पाता। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के आक्रमण का सामना करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा वह प्रकृति के वशीभूत हो जाता है। अतएव यद्यपि तथाकथित दार्शनिक तथा विज्ञानी भी प्रकृति के प्रहार पर विजय पाना चाहते हैं, किन्तु वे अभी ऐसा नहीं कर पाये हैं। कृष्ण *भगवद्गीता* (१३.९) में कहते हैं कि संसार के असली दुख चार हैं—*जन्ममृत्युजराव्याधि*—अर्थात् जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग। विश्व के इतिहास में कभी कोई प्रकृति के द्वारा आरोपित इन दुखों पर विजय नहीं पा सकता। *प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:। प्रकृति* इतनी प्रबल है कि कोई भी उसके कठोर नियमों पर विजय नहीं पा सकता। अतएव तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों, धर्मज्ञों तथा राजनीतिज्ञों को यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वे जनता को सुविधाएँ प्रदान नहीं कर सकते। उन्हें जनता को जाग्रत बनाने के लिए विकट प्रचार करना चाहिए और उन्हें कृष्णभावनामृत के स्तर तक उठाना चाहिए। हमारे द्वारा विश्व भर में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करने का जो विनम्र प्रयास किया जा रहा है, वह शान्तिमय एवं सुखी जीवन लाने की एकमात्र औषधि है। हम भगवत्कृपा के बिना कभी सुखी नहीं बन सकते (*त्वद् उपेक्षितानाम्*)। यदि हम अपने परम पिता को अप्रसन्न करते रहें तो न तो हम इस भौतिक जगत में, न स्वर्गलोग में, न ही अधोलोक में, कभी भी सुखी बन सकेंगे।

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपर: परो वा ।
भाव: करोति विकरोति पृथक्स्वभाव:

सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जीवन की किसी भी दशा में; यतः—किसी कारण से; यर्हि—किसी भी समय (भूत, वर्तमान या भविष्य) में; येन—किसी से; च—भी; यस्य—किसी के विषय में; यस्मात्—किसी कारण से; यस्मै—किसी के प्रति (स्थान, व्यक्ति या काल का विचार किये बिना); यथा—जिस तरह; यत्—चाहे जो भी हो; उत—निश्चय ही; यः—जो; तु—लेकिन; अपरः—दूसरा; परः—परम; वा—अथवा; भावः—प्राणी; करोति—करता है; विकरोति—बदलता है; पृथक्—भिन्न; स्वभावः—प्रकृति (प्रकृति के विभिन्न गुणों) के वशीभूत होकर; सञ्चोदितः—प्रभावित होकर; तत्—वह; अखिलम्—समस्त; भवतः—आपका; स्वरूपम्—आपकी विभिन्न शक्तियों से निस्सृत।

हे प्रभु, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों के अधीन है। सर्वोच्च व्यक्ति ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे प्राणी इन्हीं गुणों के वशीभूत हो कर कार्य करते हैं। अतएव इस जगत में सारे व्यक्ति आपकी शक्ति के वशीभूत हैं। वे जिस कारण से कर्म करते हैं, जिस स्थान में कर्म करते हैं, जिस काल में कर्म करते हैं, जिस पदार्थ के कारण कर्म करते हैं, जिस जीवन-लक्ष्य को उन्होंने अन्तिम मान रखा है तथा इस लक्ष्य को प्राप्त करने की जो विधि है—ये सभी आपकी शक्ति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। निस्सन्देह, शक्ति तथा शक्तिमान के अभिन्न होते हैं, वे सब आपकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य : कोई चाहे अपने माता-पिता द्वारा या सरकार अथवा किसी स्थान या किसी अन्य कारण से, अपने को रक्षित माने यह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के कारण है। जो कुछ भी किया जाता है, वह चाहे उच्चलोक में, मध्यलोक में अधोलोक में क्यों न किया जाये, वह परमेश्वर के अधीक्षण या नियंत्रण के कारण होता है। अतएव यह कहा जाता है—*कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।* जन-जन के हृदय में स्थित परमात्मा उसकी प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। ये सारी प्रवृत्तियाँ कर्मशील व्यक्ति के लिए कृष्ण द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ मात्र हैं। अतएव *भगवद्गीता* का कथन है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—प्रत्येक व्यक्ति परमात्मा द्वारा प्रदत्त प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवन-लक्ष्य होता है, अतएव वह परमेश्वर द्वारा पथ-प्रदर्शित होकर भिन्न-भिन्न ढंग से कर्म करता है।

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात् से सूचित होता है कि सारे कर्म, चाहे वे जैसे भी हों, परमेश्वर के विभिन्न स्वरूप ही हैं। वे सब जीव द्वारा उत्पन्न हैं और भगवत्कृपा से ही पूर्ण होते हैं। यद्यपि ऐसे समस्त कर्म भगवान् से अभिन्न हैं, तो भी भगवान् निर्देश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अन्य सारे कर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। जब हम भगवान् के इस आदेश को

स्वीकार करते हैं, तो हम वास्तव में सुखी बन सकते हैं। किन्तु जब तक हम अपनी भौतिक इन्द्रियों के अनुसार कर्म करते हैं तब तक हम भौतिक जीवन में बने रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम भगवान् के वास्तविक दिव्य आदेश के अनुसार कर्म करते हैं त्योंही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त होते हैं। भक्ति के कार्यकलाप भगवान् के प्रत्यक्ष अधीन हैं। *नारद पञ्चरात्र* का कथन है—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

जब मनुष्य भौतिक उपाधियों को त्याग कर भगवान् के अधीन् होकर कर्म करता है, तो उसमें आध्यात्मिक जीवन का पुन: संचार होता है। इसे *स्वरूपेन अवस्थिति* कहा जाता है, जिसका अर्थ है अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना। यह मुक्ति का असली विवरण है।

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत्त्वदन्यः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति; मनः*—मन; सृजति—उत्पन्न करती है; कर्म-मयम्—हजारों इच्छाएँ उत्पन्न करके उसके अनुसार कर्म करती हुई; बलीयः—अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्जेय; कालेन—समय द्वारा; चोदित-गुण—जिनके तीनों गुण विक्षुब्ध होते हैं; अनुमतेन—कृपादृष्टि से अनुमति प्राप्त (काल); पुंसः—भगवान् कृष्ण के अंश विष्णु का; छन्दः-मयम्—वेदों के निर्देशों से प्रभावित; यत्—जो; अजया—अज्ञान अंधकार के कारण; अर्पित—चढ़ाया गया; षोडश—सोलह; अरम्—तीलियाँ; संसार-चक्रम्—विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म-मृत्यु का चक्र (पहिया); अज—हे अजन्मा; कः—ऐसा कौन है; अतितरेत्—बाहर निकलने में समर्थ; त्वत्-अन्यः—आपके चरणकमलों की शरण लिए बिना।

Footnote Starts Here:

*मन सदैव योजना बनाता है कि किस तरह भौतिक जगत में रहा जाये और जीवन-संघर्ष होता रहे। यह सूक्ष्म शरीर का मुख्य अंग है। जिस शरीर में मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार रहते हैं।

Footnote Ends Here.

हे भगवान्, हे परम शाश्वत, आपने अपने स्वांश का विस्तार करके काल द्वारा क्षुब्ध होने वाली अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा जीवों के सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि की है। इस प्रकार मन जीव को अनन्त प्रकार की इच्छाओं में फाँस लेता है जिन्हें कर्मकाण्ड के वैदिक आदेशों तथा सोलह

तत्त्वों के द्वारा पूरा किया जाना होता है। भला ऐसा कौन है, जो आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना इस बन्धन से छूट सके ?

तात्पर्य : यदि हर वस्तु में भगवान् का हाथ रहे तो भौतिक बन्धन से छूटकर आध्यात्मिक आनन्दमय जीवन में जाने का प्रश्न कहाँ उठता है ? निस्सन्देह, यह तथ्य है कि कृष्ण प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं जैसाकि कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* में कहते हैं (*अहं सर्वस्य प्रभव:*) । भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों के सारे कार्यकलाप परमेश्वर के आदेशों से भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में आगे भी पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्*—भगवान् के आदेश के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती, वह स्वतंत्रतापूर्वक कार्यशील नहीं हो सकती। अतएव प्रारम्भ में जीव ने भौतिक शक्ति का भोग करना चाहा और भगवान् कृष्ण ने जीव को सारी सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से इस भौतिक जगत की सृष्टि की और जीव को सुविधा प्रदान की कि वह मन के द्वारा नाना प्रकार के विचारों तथा आयोजनों की कल्पना करे। जन्म-मरण के चक्र की सृष्टि भगवान् ने की किन्तु प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार आगे बढ़ने के लिए मोहग्रस्त जीव को निर्देशित करने के लिए वेदों (*छन्दोमयम्*) में अनेक आदेश दिये गये हैं। यदि कोई स्वर्ग जाना चाहता है, तो उसे वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रता: ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

''जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे इन्हीं के बीच जन्म ग्रहण करते हैं, जो पूर्वजों की पूजा करते हैं, वे उन्हीं के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे साथ रहते हैं।'' वेदों का असली अभिप्राय जीव को भगवद्धाम वापस जाने का मार्गनिर्देश करना है, किन्तु जीव अपने जीवन के असली लक्ष्य को न जानने के कारण कभी यहाँ जाना चाहता है, तो कभी वहाँ और कभी यह करना चाहता है, तो कभी वह। इस प्रकार वह विभिन्न योनियों में बन्दी बन कर सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है और ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होता है, जिसके फल उसे भोगने पड़ते हैं। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं (चै.च. मध्य. १९.१५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।

पतित जीवात्मा माया में फँस कर भौतिक जगत में इधर-उधर भ्रमण करता रहता है किन्तु यदि भाग्यवश उसे भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि मिल जाता है, जो उसे भक्ति का बीज प्रदान करता है और यदि वह ऐसे गुरु या ईश्वर के प्रतिनिधि का लाभ उठाता है, तो उसे *भक्ति-लता-बीज* अर्थात् भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि वह उचित रीति से कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करता है, तो वह धीरे-धीरे आध्यात्मिक जगत तक उठा दिया जाता है। इससे चरम निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को भक्तियोग के सिद्धान्तों की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि इससे उसे क्रमश: मुक्ति प्राप्त होगी। इस भौतिक संघर्ष से मुक्ति की कोई भी अन्य विधि सम्भव नहीं है।

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुण: स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्ति: ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

स:—वह (परम स्वतंत्र व्यक्ति ने अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक मन की सृष्टि की जो इस भौतिक जगत के समस्त दुख का कारण है); त्वम्—तुम (हो); हि—निस्सन्देह; नित्य—शाश्वत रूप से; विजित-आत्म—जीता गया; गुण:—जिसका बुद्धि गुण; स्व-धाम्ना—अपनी निजी आध्यात्मिक शक्ति से; काल:—काल तत्त्व (जो सृजन तथा संहार करता है); वशी-कृत—आपके अधीन; विसृज्य—जिससे सारे प्रभाव; विसर्ग—तथा सारे कारण; शक्ति:—शक्ति; चक्रे—काल चक्र में (जन्म-मृत्यु का चक्र); विसृष्टम्—फेंका जाकर; अजया—आपकी बहिरंगा शक्ति, तमोगुण से; ईश्वर—हे परम नियन्ता; षोडश-अरे—सोलह तीलियों वाले (पाँच भौतिक तत्त्व, दस इन्द्रियाँ तथा इन सबका नायक मन); निष्पीड्यमानम्—विदलित (पहिए के नीचे) होकर; उपकर्ष—कृपया मुझे ले लें (अपने चरणकमलों की शरण में); विभो—हे महानतम्; प्रपन्नम्—आपकी शरण में आया।.

हे प्रभु, हे महानतम, आपने सोलह अवयवों से इस भौतिक जगत की रचना की है, किन्तु आप उनके भौतिक गुणों से परे हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण पूर्णतया आपके वश में हैं और आप कभी भी उनके द्वारा जीते नहीं जाते। अतएव काल तत्त्व आपका प्रतिनिधित्व करता है। हे प्रभु, हे महान्, आपको कोई नहीं जीत सकता किन्तु जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो कालचक्र द्वारा पिसा जा रहा हूँ; अतएव मैं आपको पूर्ण आत्म-समर्पण करता हूँ। अब आप मुझे अपने पाद-पद्मों में संरक्षण प्रदान करें।

तात्पर्य : भौतिक दुखों का चक्र भी भगवान् की ही सृष्टि है, किन्तु वे स्वयं भौतिक शक्ति के नियंत्रण में नहीं हैं, वे भौतिक शक्ति कि नियामक हैं। जब कि हम सारे जीव उनके वश में हैं। जब हम अपनी स्वाभाविक स्थिति त्याग देते हैं (*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य-दास'*) तो भगवान् इस भौतिक शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसके वश में सारे बद्धजीव हैं। वे परम हैं और वे ही बद्धात्मा को भौतिक प्रकृति के संघात से उबार सकते हैं (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। बहिरंगा शक्ति अर्थात् माया बद्धजीवों पर तीन प्रकार के तापों को थोपती है, अतएव पिछले श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की है ''आपके अतिरिक्त अन्य कोई मेरी रक्षा नहीं कर सकता।'' उन्होंने यह भी बताया कि बच्चे के रक्षक उसके माता-पिता न तो उसे जन्म-मृत्यु के संघात से बचा सकते है न ही औषधि तथा वैद्य उसे मृत्यु से बचा सकते हैं। इसी तरह नाव या अन्य ऐसे साधन भी जल में डूब रहे व्यक्ति को नहीं बचा सकते, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के नियामक भगवान् हैं। अतएव संतप्त मानवता को चाहिए कि कृष्ण की शरण में जाये, क्योंकि *भगवद्गीता* के अन्तिम उपदेश (१८.६६) में कृष्ण स्वयं माँग करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।

''तुम सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। मैं सारे पापों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।'' सारे समाज को चाहिए कि इस घोषणा का लाभ उठाए और भुत-वर्तमान तथा भविष्य के काल-चक्र द्वारा कुचले जाने के भय से कृष्ण द्वारा रक्षित हो जाये।

निष्पीड्यमानम् (पीसा जाकर) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक जीव वस्तुत: इस भौतिक जगत में पुन: पुन: पिसता रहता है और इस दशा से बचने के लिए उसे भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तभी वह सुखी हो सकेगा। *प्रपन्नम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् की शरण में पूर्णत: जाये बिना कोई बच नहीं सकता। सरकार अपराधी को कारागार में डाल कर दण्ड देती है किन्तु वही सरकार यदि चाहे तो उसे बन्दी जीवन से मुक्त कर सकती है। इसी प्रकार, हमें यह अन्तिम रूप से जान लेना चाहिए कि हमारी यह दुखमय भौतिक अवस्था भगवान् द्वारा नियत की गई है और

यदि हम इस कष्ट से बचना चाहते हैं, तो हमें उसी नियन्ता से निवेदन करना चाहिए। इस तरह मनुष्य इस भौतिक अवस्था से बच सकता है।

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायु: श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मत्पितु: कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिता: स तु ते निरस्त: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

दृष्टा:—व्यावहारिक रूप से देखा गया; मया—मेरे द्वारा; दिवि—उच्च लोकों में; विभो—हे प्रभु; अखिल—समस्त; धिष्ण्य-पानाम्—विभिन्न राज्यों या लोकों के प्रधानों की; आयु:—आयु, उम्र; श्रिय:—ऐश्वर्य; विभव:—यश, प्रभाव; इच्छति—इच्छा करते हैं; यान्—जो सब; जन: अयम्—ये सारे लोग; ये—जो (आयु, ऐश्वर्य आदि); अस्मत् पितु:—हमारे पिता हिरण्यकशिपु के; कुपित-हास—क्रुद्ध होने पर अपनी हँसी द्वारा; विजृम्भित—फैली हुई; भ्रू—भौंहों के; विस्फूर्जितेन—केवल स्वरूप से; लुलिता:—नीचे गिराई हुई या समाप्त; स:—वह (मेरा पिता); तु—लेकिन; ते—तुम्हारे द्वारा; निरस्त:—पूर्णतया विनष्ट।

हे भगवान्, सामान्यत: लोग दीर्घ आयु, ऐश्वर्य तथा भोग के लिए उच्च लोकों में जाना चाहते हैं, किन्तु मैंने अपने पिता के कार्यकलापों से इन सबों को देख लिया है। जब मेरे पिता क्रुद्ध होते थे और देवताओं पर व्यंग्य हँसी हँसते थे तो वे उनकी भौहों की गतियों को देखने से ही तुरन्त विनष्ट हो जाते थे। तो भी मेरे इतने शक्तिशाली पिता अब एक क्षण में आपके द्वारा ध्वस्त कर दिये गये।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में मनुष्य को व्यावहारिक अनुभव द्वारा भौतिक ऐश्वर्य, दीर्घायु तथा प्रभाव का महत्त्व समझ लेना चाहिए। हमें यह वास्तविक अनुभव है कि इसी लोक में नैपोलियन, हिटलर, सुभाषचन्द्र बोस तथा गांधीजी जैसे अनेक महान् राजनीतिज्ञ तथा सेनानी हुए हैं, किन्तु उनके जीवन का अन्त होते ही उनकी लोकप्रियता, प्रभाव तथा सभी कुछ समाप्त हो गया। प्रह्लाद महाराज को अपने महान् पिता हिरण्यकशिपु के कार्यकलापों को देखकर ऐसा ही अनुभव प्राप्त हुआ था, अतएव उन्होंने इस संसार की किसी वस्तु को कोई महत्त्व प्रदान नहीं किया। कोई भी व्यक्ति न तो अपने शरीर को, न ही भौतिक उपलब्धियों को सदा बनाये रख सकता है। वैष्णव समझ सकता है कि इस भौतिक जगत में कोई भी चाहे कितना ही शक्तिशाली, ऐश्वर्यशाली या प्रभावशाली क्यों न हो, सदैव नहीं बना रह सकता। ऐसी वस्तुएँ किसी भी समय समाप्त हो सकती हैं। किन्तु उन्हें कौन समाप्त कर सकता है ? भगवान्। अतएव मनुष्य को यह अन्तिम रूप से समझ लेना चाहिए कि परमेश्वर से बड़ा कोई नहीं

है और चूँकि वे चाहते हैं—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—अतएव प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह इस प्रस्ताव को माने। उसे बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के चक्र से बचने के लिए भगवान् की शरण में जाना चाहिए।

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषोऽज्ञ
आयु: श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्च्यात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत; अमू:—इन सारे (ऐश्वर्यों); तनु-भृताम्—देहधारी जीवों के प्रसंग में; अहम्—मैं; आशिष: अज्ञ:—ऐसे आशीर्वाद के फल को भलीभाँति जानता हुआ; आयु:—दीर्घ आयु; श्रियम्—भौतिक ऐश्वर्य; विभवम्—प्रभाव तथा यश; ऐन्द्रियम्—इन्द्रियतृप्ति के सारे साधन; आविरिञ्च्यात्—ब्रह्मा से लेकर (एक क्षुद्र चींटी तक); न—नहीं; इच्छामि—चाहता हूँ; ते—तुम्हारे द्वारा; विलुलितान्—समाप्त किये जाने वाले; उरु-विक्रमेण—अत्यन्त शक्तिशाली; काल-आत्मना—काल के स्वामी के रूप में; उपनय—कृपया ले चलें; माम्—मुझको; निज-भृत्य-पार्श्वम्—अपने अत्यन्त आज्ञाकारी भक्त की संगति में।

हे भगवन्, अब मुझे सांसारिक ऐश्वर्य, योगशक्ति, दीर्घायु तथा ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक के सारे जीवों द्वारा भोग्य अन्य भौतिक आनन्दों का पूरा-पूरा अनुभव है। आप शक्तिशाली काल के रूप में इन सबों को नष्ट कर देते हैं। अत: मैं अपने अनुभव के आधार पर इन सबों को नहीं लेना चाहता। हे भगवान्, मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे अपने शुद्ध भक्त के सम्पर्क में रखें और निष्ठावान् दास के रूप में उसकी सेवा करने दें।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करते हुए प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को अध्यात्म ज्ञान के इस महान् ग्रंथ में उल्लिखित ऐतिहासिक घटनाओं से प्रह्लाद महाराज जैसा अनुभव प्राप्त हो सकता है। उसे चाहिए कि वह प्रह्लाद महाराज के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुए अनुभव द्वारा यह सीखे कि सारा भौतिक ऐश्वर्य किसी क्षण नष्ट हो सकता है। यहाँ तक कि यह शरीर जिसके लिए हम अनेक ऐन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु आत्मा शाश्वत है। *न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—आत्मा शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी कभी नष्ट नहीं होता। अत: बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मा के सुख की चिन्ता करे, इस शरीर के सुख के लिए नहीं। यदि किसी को ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं जैसी दीर्घायु वाला शरीर मिल भी जाता है, तो वह भी नष्ट हो जाएगा, अत: बुद्धिमान मनुष्य को अमर अविनाशी आत्मा की ही चिन्ता करनी चाहिए।

मनुष्य को आत्म-रक्षा के लिए शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं— *छाड़िया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा।* यदि कोई अपने आपको भौतिक प्रकृति के थपेड़ों से बचाना चाहता है, जो भौतिक शरीर से उत्पन्न होते हैं, तो उसे कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और कृष्ण को पूरी तरह समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है— *जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः।* मनुष्य को चाहिए कि सच्चाई के साथ कृष्ण को समझे और ऐसा शुद्ध भक्त की सेवा द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज नृसिंहदेव से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें भौतिक ऐश्वर्य न प्रदान करके शुद्ध भक्त तथा दास के सान्निध्य में रखें। इस जगत में प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज का अनुसरण करना चाहिए। *महाजनो येन गतः स पन्थाः।* प्रह्लाद महाराज अपने पिता के द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहते थे अपितु वे भगवान् के दास का दास बनना चाहते थे। उन्होंने उस मोहमयी मानव सभ्यता का तिरस्कार किया जो भौतिक उन्नति द्वारा सुख के लिए सदा प्रयत्नशील रहती है। उनके चरणचिह्नों पर चलने वाले भक्त भी ऐसी सभ्यता का तिरस्कार करते हैं।

भौतिक ऐश्वर्य विभिन्न प्रकार के हैं जिन्हें शास्त्रों में *भुक्ति, मुक्ति* तथा *सिद्धि* कहा गया है। *भुक्ति* का अर्थ है श्रेष्ठ पद पर स्थित होना, यथा स्वर्ग लोक में देवताओं का पद जहाँ मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति का सर्वाधिक भोग कर सकता है। *मुक्ति* का अर्थ है भौतिक उन्नति से ऊब कर भगवान् से एकाकार होने की इच्छा करना। *सिद्धि* योगियों जैसे कठिन ध्यान द्वारा आठ प्रकार की सिद्धियाँ (अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि) प्राप्त करना है। ऐसे सारे लोग जो भुक्ति, मुक्ति या सिद्धि द्वारा किसी भौतिक उन्नति के इच्छुक हैं, वे कालक्रम में दण्डनीय हैं और वे पुनः भौतिक कार्यकलापों में लौट आते हैं। प्रह्लाद महाराज ने इन सबों का तिरस्कार कर दिया वे शुद्ध भक्त के निर्देशन में मात्र एक दास की भाँति लगे रहना चाहते थे।

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥ २५॥

शब्दार्थ

कुत्र—कहाँ; आशिषः—आशीर्वाद, वर; श्रुति-सुखाः—सुनने में मधुर लगने वाले; मृगतृष्णि-रूपाः—मरुस्थल में मृगतृष्णा के समान; क्व—कहाँ; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; अशेष—असीम; रुजाम्—रोग का; विरोहः—उत्पत्ति स्थान; निर्विद्यते—तुष्ट होता है; न—नहीं; तु—लेकिन; जनः—सामान्य लोग; यत् अपि—यद्यपि; इति—इस प्रकार; विद्वान्—तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ; काम-अनलम्—कामेच्छा की प्रज्वलित अग्नि; मधु-लवैः—शहद (सुख) की बूँदों से; शमयन्—नियंत्रण करते हुए; दुरापैः—प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन।

इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीव कुछ न कुछ भावी सुख की कामना करता है, जो मरुस्थल में मृग-मरीचिका के समान है। भला मरुस्थल में जल कहाँ? दूसरे शब्दों में, इस भौतिक जगत में सुख कहाँ? जहाँ तक इस शरीर की बात है, इसका मूल्य ही क्या है? यह विभिन्न रोगों का स्रोत मात्र है। तथाकथित दार्शनिक, विज्ञानी तथा राजनीतिज्ञ इसे भली-भाँति जानते हैं फिर भी वे क्षणिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। सुख प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है लेकिन वे अपनी इन्द्रियों को वश में न रख पाने के कारण भौतिक जगत के तथाकथित सुख के पीछे दौते हैं और सही निष्कर्ष तक कभी नहीं पहुँच पाते।

तात्पर्य : एक बँगला गीत है, जिसमें बताया गया है कि "मैंने सुख के लिए यह घर बनाया, किन्तु दुर्भाग्यवश इसमें आग लग गई और अब सब कुछ जल कर राख हो गया है।" इससे भौतिक सुख की प्रकृति का चित्रण होता है। प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है फिर भी वह कुछ न कुछ प्रसन्नता प्रदान करनेवाली बात सुनना या सोचना चाहता है। दुर्भाग्यवश काल के साथ उसकी सारी योजनाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। ऐसे अनेक राजनीतिज्ञ हुए हैं जिन्होंने साम्राज्य, श्रेष्ठता तथा विश्व-नियंत्रण की योजनाएँ तो बनाईं, किन्तु कालक्रम में उनकी सारी योजनाएँ तथा साम्राज्य—यहाँ तक कि राजनीतिज्ञ स्वयं भी नष्ट हो गये। प्रत्येक व्यक्ति को प्रह्लाद महाराज से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हम किस प्रकार इन्द्रियभोग के लिए शारीरिक अभ्यासों के द्वारा तथाकथित क्षणिक सुख में लगे रहते हैं। हम सभी बारम्बार योजनाएँ बनाते हैं, जो ध्वस्त होती रहती हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि ऐसी योजनाएँ बनाना छोड़ दे।

जिस प्रकार घृत डाल कर कोई व्यक्ति प्रज्वलित अग्नि को शमित नहीं कर सकता उसी तरह कोई भी व्यक्ति अपने इन्द्रिय-भोग के लिए योजनाएँ बनाकर तुष्ट नहीं हो सकता। यह प्रज्वलित अग्नि *भव महादावाग्नि* है। जंगलों में आग स्वयमेव लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता। हम इस जगत में सुखी रहना चाहते हैं, किन्तु यह कभी सम्भव नहीं होगा, इससे तो इच्छाओं की जलती अग्नि में

वृद्धि होगी। हमारी इच्छाएँ भ्रामक विचारों तथा योजनाओं से पूरी नहीं हो सकतीं प्रत्युत हमें भगवान् कृष्ण के उपदेश का पालन करना होगा—सर्वधर्मान् *परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* तभी हम सुखी हो सकेंगे, अन्यथा सुख के नाम पर हम दुख भोगते रहेंगे।

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अहम्—मैं हूँ; रजः-प्रभवः—रजोगुणी शरीर में उत्पन्न होकर; ईश—हे ईश्वर; तमः—तमोगुण; अधिके—बढ़कर; अस्मिन्—इस; जातः—उत्पन्न; सुर-इतर-कुले—नास्तिकों या असुरों के परिवार में (जो भक्तों से निम्न कोटि हैं); क्व—कहाँ; तव—तुम्हारी; अनुकम्पा—अहैतुकी कृपा; न—नहीं; ब्रह्मणः—ब्रह्माजी का; न—नहीं; तु—लेकिन; भवस्य—शिवजी का; न—न तो; वै—ही; रमायाः—लक्ष्मी जी का; यत्—जो; मे—मेरा; अर्पितः—चढ़ाया गया; शिरसि—सिर पर; पद्म-करः—कमल जैसा हाथ; प्रसादः—कृपा का प्रतीक।

हे प्रभु, हे परमात्मा, कहाँ घोर नारकीय रजो तथा तमोगुणी परिवार में उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अहैतुकी कृपा जो ब्रह्माजी, शिव जी या लक्ष्मी जी को कभी प्राप्त नहीं हो पाई? आप कभी भी इनके सिरों पर अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखते, किन्तु आपने मेरे सिर पर इसे रखा है।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज भगवान् की अहैतुकी कृपा से आश्चर्यचकित थे, क्योंकि यद्यपि वे असुर कुल में उत्पन्न हुए थे और यद्यपि भगवान् ने ब्रह्मा, शिव या अपनी नित्यसंगिनी लक्ष्मी जी के सिर पर कभी अपना कमल जैसा हाथ नहीं रखा था तो भी भगवान् नृसिंहदेव ने प्रह्लाद महाराज के सिर पर कृपापूर्वक अपना हाथ रखा। यही अहैतुकी कृपा है। भगवान् की अहैतुकी कृपा किसी भी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है, चाहे इस जगत में वह किसी भी पद पर क्यों न हो। कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी भौतिक स्थिति कुछ भी हो, परमेश्वर की पूजा करने के लिए उपयुक्त है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूरी तरह भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार कर के ब्रह्म-पद को प्राप्त होता है।" जो कोई भगवान् की निरन्तर भक्ति करता है, वह आध्यात्मिक जगत में स्थित होता है और उसे भौतिक गुणों (सतो, रजो तथा तमो गुणों) से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

चूँकि प्रह्लाद महाराज आध्यात्मिक पद पर स्थित थे अतएव उन्हें अपने इस शरीर से कुछ भी लेना-देना नहीं था, जो रजो तथा तमो गुणों से उत्पन्न था। रजो तथा तमो गुणों के लक्षण *श्रीमद्भागवत* (१.२.१९) में काम तथा लोभ के रूप में वर्णित हैं (*तदा रजस्तमोभावा: कामलोभादयश्च ये*)। महान् भक्त होने के कारण प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता से उत्पन्न अपने शरीर को रजो तथा तमोगुणी माना, लेकिन चूँकि वे भगवान् की सेवा में लगे हुये थे, अतएव उनके शरीर का सम्बन्ध इस भौतिक जगत से न था। शुद्ध वैष्णव का शरीर इसी जीवन में अध्यात्मीकृत होता है। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह लाल हो जाता है और लोहा न रहकर अग्नि बन जाता है। इसी प्रकार भगवान् की भक्ति में संलग्न भक्तों के तथाकथित भौतिक शरीर भी आध्यात्मिक जीवन की अग्नि में निरन्तर रहने के कारण आध्यात्मिक बन जाते हैं, उन्हें भौतिक पदार्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है कि ब्रह्माण्ड-जननी लक्ष्मीजी को वैसी कृपा प्राप्त नहीं हो पाई जैसी प्रह्लाद महाराज को प्रदान की गई, क्योंकि यद्यपि लक्ष्मीजी परमेश्वर की नित्यसंगिनी हैं, किन्तु भगवान् अपने भक्तों पर अधिक ध्यान देते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्ति इतनी महान् है कि जब निम्नकुलों में उत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् की सेवा करते हैं, तो वह उसे स्वीकार्य करके लक्ष्मी जी द्वारा की गई सेवा से बढ़कर मानते हैं। स्वर्गलोकों में वास करने वाले ब्रह्मा, इन्द्र तथा अन्य देवता विभिन्न चेतना में स्थित रहते हैं, इसलिए कभी-कभी असुरों द्वारा पीड़ित होते रहते हैं। किन्तु एक भक्त निम्नलोकों में भी स्थित रहकर किसी भी परिस्थिति में कृष्णभावनामृत के जीवन का आनन्द लेता। *परत: स्वत: कर्मत:*—वह जिस तरह कर्म करता है, जिस तरह अन्यों से शिक्षा ग्रहण करता है या जिस तरह अपने भौतिक कार्यकलाप करता है, प्रत्येक दशा में जीवन का आनन्द भोगता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य ने *ब्रह्म-तर्क* में उल्लिखित निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

श्री ब्रह्मब्राह्मीवीन्द्रादित्रिकतत् स्त्रीपुरुष्टुता:।

तदन्ये च क्रमादेव सदा मुक्तौ स्मृतावपि॥

हरिभक्तौ च तज्ज्ञाने सुखे च नियमेन तु।

परतः स्वतः कर्मतो वा न कथञ्चित् तदन्यथा॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या-
ज्जन्तोर्यथात्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एषा—यह; पर-अवर—उच्च या निम्न का; मतिः—ऐसा भेद-भाव; भवतः—आपका; ननु—निस्सन्देह; स्यात्—होवे; जन्तोः—सामान्य जीवों का; यथा—जिस प्रकार; आत्म-सुहृदः—मित्र का; जगतः—समूचे संसारे का; तथापि—फिर भी (मैत्री या मतभेद का ऐसा प्रदर्शन होता है); संसेवया—भक्त द्वारा की गई सेवा की कोटि के अनुसार; सुरतरोः इव—वैकुण्ठ लोक में कल्पवृक्ष की भाँति (जो भक्त को इच्छानुसार फल देने वाला है); ते—तुम्हारा; प्रसादः—आशीर्वाद या आशीष; सेवा-अनुरूपम्—भगवान् के प्रति की गई सेवा की कोटि के अनुसार; उदयः—अभिव्यक्ति; न—नहीं; पर-अवरत्वम्—छोटे-बड़े का भेदभाव।

हे भगवान्, आप सामान्य जीवों की तरह मित्र तथा शत्रु एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल के मध्य भेदभाव नहीं बरतते, क्योंकि आप में ऊँच-नीच की कोई भावना नहीं है। फिर भी आप सेवा के स्तर के अनुसार ही अपना आशीष प्रदान करते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कल्पवृक्ष इच्छाओं के अनुसार ही फल देता है और ऊँच-नीच में भेदभाव नहीं बरतता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् स्पष्ट कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जो जिस तरह मेरी शरण में आता है, तदनुसार ही मैं उसे पुरस्कार प्रदान करता हूँ। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य-दास'*—प्रत्येक प्राणी कृष्ण का नित्य दास है। जीव अपनी सेवा के अनुसार कृष्ण से स्वतः आशीर्वाद प्राप्त करता है, क्योंकि वे यह भेदभाव नहीं बरतते कि "यह व्यक्ति मुझसे घनिष्ठतापूर्वक जुड़ा है और यह वह है, जिसे मैं नहीं चाहता।" कृष्ण हर एक को अपनी शरण में आने की सलाह देते हैं (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। भगवान् से जो सम्बन्ध बनता है, वह उनके प्रति की गई सेवा तथा शरणागति के अनुपात में होता है। इस तरह सारे विश्व में जीव स्वयं ही अपने बड़े या छोटे पद का चुनाव करते हैं। यदि कोई भगवान् को आदेश देना चाहता है कि भगवान् उसे कुछ दें तो वह अपनी इच्छानुकूल आशीर्वाद प्राप्त करता है। यदि वह चाहता है कि स्वर्ग लोक में स्थान प्राप्त करे तो उसे वह स्थान मिलता है और यदि

वह पृथ्वी पर ही शूकर के रूप में बना रहना चाहता है, तो भगवान् उसकी वह इच्छापूर्ति भी करते हैं। अतएव मनुष्य का पद उसकी इच्छाओं से निश्चित होता है। हमारे जीवन में उच्च या निम्न पदों के लिए भगवान् उत्तरदायी नहीं हैं। इसकी और अधिक व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२५) में की है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

कुछ लोग स्वर्गलोक भेजे जाना चाहते हैं, कुछ पितृलोक और कुछ इसी धरती पर बने रहना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई भगवद्धाम लौट जाने का इच्छुक होता है, तो उसे वहाँ भी भेज दिया जा सकता है। किसी विशेष भक्त की माँगों के अनुसार भगवत्कृपा से उसे फल प्राप्त होता है। भगवान् यह सोचकर भेदभाव नहीं बरतते ''यह व्यक्ति मेरे अनुकूल है और यह मेरे अनुकूल नहीं है'' अपितु वे हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। अतएव शास्त्रों का आदेश है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

''कोई चाहे निष्काम हो या सकाम या मुक्ति प्राप्त करने का इच्छुक हो, हर एक व्यक्ति को चाहिए कि पूर्ण सिद्धि के लिए, जिसकी चरम परिणति कृष्णभावनामृत में होती है, सभी तरह से भगवान् की पूजा करे।'' (*भागवत* २.३.१०) भगवान् की सेवा में पूरी तरह से लगे रहने पर हर एक को अपने पद के अनुसार मनवांछित फल मिलता है चाहे वह भक्त हो, कर्मी हो या ज्ञानी।

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसङ्गात्।
कृत्वात्मसात्सुरर्षिणा भगवन्गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्॥ २८॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; **जनम्**—सामान्य व्यक्ति को; **निपतितम्**—गिरा हुआ; **प्रभव**—भौतिक जगत के; **अहि-कूपे**—सर्पों से पूर्ण अंधे कुएँ में; **काम-अभिकामम्**—इन्द्रियविषयों की कामना; **अनु**—अनुसरण करते हुए; **यः**—जो व्यक्ति; **प्रपतन्**—(इस अवस्था में) गिर कर; **प्रसङ्गात्**—बुरी संगति के कारण या भौतिक इच्छाओं की अधिकाधिक संगति से; **कृत्वा आत्मसात्**—मुझको (अपने [नारद] जैसे आध्यात्मिक गुण प्राप्त करने के लिए) वाध्य करके; **सुर-ऋषिणा**—महान् सन्त पुरुष (नारद) द्वारा; **भगवन्**—हे भगवान्; **गृहीतः**—स्वीकार; **सः**—वह व्यक्ति; **अहम्**—मैं; **कथम्**—कैसे; **नु**—निस्सन्देह; **विसृजे**—त्याग सकता हूँ; **तव**—तुम्हारी; **भृत्य-सेवाम्**—शुद्ध भक्त की सेवा।

हे भगवान्, मैं एक-एक करके भौतिक इच्छाओं की संगति में आने से सामान्य लोगों का अनुगमन करते हुए सर्पों के अन्धे कुएँ में गिरता जा रहा था। किन्तु आपके दास नारद मुनि ने कृपा करके मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया और मुझे यह शिक्षा दी कि इस दिव्य पद को किस तरह प्राप्त किया जाये। अतएव मेरा पहला कर्तव्य है कि मैं उनकी सेवा करूँ। भला मैं उनकी यह सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ?

तात्पर्य : जैसाकि बाद के श्लोकों से पता चलेगा, यद्यपि भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को सीधे मनवांछित वर माँगने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने भगवान् की इस भेंट को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने उलट कर भगवान् से यह प्रार्थना की कि वे अपने दास नारद मुनि की सेवा में उसे लगा रहने दें। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। मनुष्य को चाहिए कि पहले गुरु की सेवा करे। ऐसा नहीं होता कि कोई अपने गुरु को छोड़कर भगवान् की सेवा करने की इच्छा करे। वैष्णव के लिए यह सिद्धान्त नहीं है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—

तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास।

जनमे जनमे हय, एइ अभिलाष॥

मनुष्य को सीधे भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के दास का दासानुदास बने (*गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*)। भगवान् तक पहुँचने की यही विधि है। पहले गुरु की सेवा की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से भगवान् की सेवा के निकट जाया जा सके। रूप गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा था—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु की कृपा से और फिर कृष्ण की कृपा से भक्ति का बीज प्राप्त किया जा सकता है। सफलता का यही रहस्य है। पहले गुरु को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए और तब भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी कहते हैं—*यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो।* मनुष्य को मनगढ़त ज्ञान द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। पहले उसे गुरु की सेवा करने के लिए तैयार होना होता है और जब वह योग्य बन जाता है, तो उसे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने का स्वत: अवसर प्राप्त कराया जाता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने प्रस्ताव रखा कि उन्हें नारद मुनि की सेवा में

लगे रहने दिया जाये। यही सही निष्कर्ष है। अतएव उन्होंने कहा—*सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्*—भला मैं अपने उन गुरु की सेवा करना कैसे त्याग दूँ जिन्होंने मुझ पर इस तरह से कृपा की कि मैं अब आपको अपने समक्ष देख रहा हूँ? प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अपने गुरु नारद मुनि की सेवा में लगे रहें।

मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च
मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सु-
स्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-प्राण-रक्षणम्—मेरे जीवन की रक्षा करके; अनन्त—हे अनन्त असीम दिव्य गुणों के आगार; पितुः—मेरे पिता का; वधः च—तथा वध; मन्ये—मानता हूँ; स्व-भृत्य—आपके अनन्य दासों का; ऋषि-वाक्यम्—तथा नारद मुनि के शब्दों को; ऋतम्—सत्य; विधातुम्—सिद्ध करने के लिए; खड्गम्—तलवार; प्रगृह्य—हाथ में धारण करके; यत्—चूँकि; अवोचत्—मेरे पिता ने कहा; असत्-विधित्सुः—बड़े ही अपवित्र ढंग से कर्म करने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; ईश्वरः—कोई परम नियामक; मत्-अपरः—मेरी अपेक्षा दूसरा कोई; अवतु—बचा ले; कम्—तुम्हारा सिर; हरामि—अब मैं छिन्न कर दूँगा।.

हे भगवान्, हे दिव्य गुणों के असीम आगार, आपने मेरे पिता हिरण्यकशिपु का वध किया है और मुझे उनकी तलवार से बचा लिया है। उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा था ''यदि मेरे अतिरिक्त कोई परम नियन्ता है, तो वह तुम्हें बचाए। अब मैं तुम्हारे सिर को तुम्हारे शरीर से काटकर अलग कर दूँगा।'' अतएव मैं सोच रहा हूँ कि मुझे बचाने तथा उन्हें मारने—दोनों ही कार्यों में आपने अपने भक्त के वचनों को सत्य करने के लिए ही कर्म किया है। इसका कोई अन्य कारण नहीं है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

भगवान् निस्सन्देह समदर्शी हैं। न तो कोई उनका मित्र है, न कोई उनका शत्रु किन्तु मनुष्य भगवान् से लाभ की कामना करते हैं, अतएव भगवान् उन्हें देने में अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। विभिन्न जीवों के उच्च तथा निम्न पद उनकी इच्छाओं के अनुसार होते हैं, क्योंकि भगवान् समदर्शी होने के कारण हर एक की इच्छापूर्ति करते हैं। हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद महाराज की रक्षा का होना भी परम नियन्ता

के कार्यकलापों के इसी नियम के अनुसार हैं। जब प्रह्लाद की माता हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु, नारद मुनि के संरक्षण में थीं तो उन्होंने अपने पुत्र की शत्रु से रक्षा के लिए प्रार्थना भी की थी और तब नारद मुनि ने आश्वासन दिया था कि प्रह्लाद महाराज की शत्रु के हाथों से सदैव रक्षा होती रहेगी। अत: जब हिरण्यकशिपु प्रह्लाद का वध करने जा रहा था तो भगवान् ने *भगवद्गीता* में दिये गये अपने वचन की पूर्ति करने (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*) तथा नारद के वचनों को सत्य सिद्ध करने के लिए प्रह्लाद महाराज को बचा लिया। भगवान् एक करनी से कई उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं। इस तरह हिरण्यकशिपु का वध तथा प्रह्लाद की रक्षा का कार्य भगवान् के भक्त की सत्यता तथा भगवान् की स्वामिभक्ति को सिद्ध करने के लिए एकसाथ किये गये। भगवान् अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं अन्यथा उन्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। जैसाकि वैदिक भाषा में कहा गया है—*न तस्य कार्यं करणं च विद्यते*—भगवान् को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता, क्योंकि सब कुछ उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा किया जाता हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। भगवान् की विविध शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा सब कुछ सम्पन्न होता है। अतएव जब वे स्वयं कुछ करते हैं, तो वह केवल अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए होता है। भगवान् *भक्तवत्सल* कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने निष्ठापूर्ण सेवक पर अत्यधिक कृपा करते हैं।

एकस्त्वमेव जगदेतममुष्य यत्त्व-
माद्यन्तयो: पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्ट: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एक:—एक; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; जगत्—दृश्य जगत; एतम्—यह; अमुष्य—उस (समग्र ब्रह्माण्ड) का; यत्—चूँकि; त्वम्—तुम; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयो:—अन्त में; पृथक्—अलग से; अवस्यसि—विद्यमान हो (कारण रूप में); मध्यत: च—बीच में भी (आदि तथा अन्त के मध्य में); सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; गुण-व्यतिकरम्—प्रकृति के तीनों गुणों का रूपान्तर; निज-मायया—अपनी निजी बहिरंगा शक्ति से; इदम्—यह; नाना इव—अनेक किस्मों की तरह; तै:—उनके (गुणों के) द्वारा; अवसित:—अनुभव किया; तत्—वह; अनुप्रविष्ट:—प्रवेश करके।

हे भगवान्, अकेले आप ही अपने आपको विराट् जगत के रूप में प्रकट करते हैं, क्योंकि आप सृष्टि के पूर्व विद्यमान थे, संहार के बाद भी विद्यमान रहते हैं और आदि तथा अन्त के बीच में पालक होते हैं। यह सब प्रकृति के तीनों गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से आपकी

बहिरंगा शक्ति द्वारा किया जाता है। अतएव भीतर तथा बाहर जो कुछ भी विद्यमान है, वह केवल आप हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन गोविन्द भगवान् की पूजा करता हूँ जो अपने किसी एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु तक में प्रवेश करते हैं और इस प्रकार अपनी अनन्त शक्ति को सारी भौतिक सृष्टि में प्रकट करते हैं।" इस विराट जगत की सृष्टि करने के लिए गोविन्द भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करते हैं और इस प्रकार वे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर, यहाँ तक कि परमाणु में भी प्रविष्ट कर जाते हैं। इस प्रकार वे पूरी भौतिक सृष्टि में विद्यमान रहते हैं। इसलिए भगवान् द्वारा अपने भक्तों के पालन में जो कार्यकलाप सम्पन्न किये जाते हैं, वे भौतिक न होकर दिव्य होते हैं। वे प्रत्येक वस्तु में कार्य-कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं फिर भी वे पृथक् होकर इस जगत के परे रहते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.४) में भी हुई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् की शक्ति का विस्तार मात्र है, प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है फिर भी वे सृजन, पालन तथा संहार से परे पृथक् रहते हैं। भाँति-भाँति की सृष्टि उनकी बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न है। चूँकि शक्ति तथा शक्तिमान एक हैं, अतएव सारी वस्तुएँ एक हैं (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*) अतएव परब्रह्म या कृष्ण के बिना कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत का अन्तर यही है कि उनकी भौतिक शक्ति भौतिक जगत में, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति आध्यात्मिक जगत में प्रकट होती है। फिर भी दोनों शक्तियों का सम्बन्ध परमेश्वर से होता है, अतएव उच्च स्तर पर भौतिक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक शक्ति होती

है। जिस शक्ति में भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति नहीं हो पाती वह भौतिक कहलाती है, अन्यथा प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक है। इसीलिए प्रह्लाद प्रार्थना करते हैं—*एकस्त्वमेव जगदेतम्*—आप सब कुछ हैं।

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद्यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद्वैतदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; वा—या तो; इदम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड; सत्-असत्—कार्य कारण से युक्त (आप कारण हैं और आपकी शक्ति कार्य है); ईश—हे ईश्वर परम नियन्ता; भवान्—आप; ततः—ब्रह्माण्ड से; अन्यः—पृथक् स्थित (भगवान् सृष्टि करते हैं फिर भी वे सृष्टि से पृथक् रहते हैं); माया—शक्ति जो पृथक् सृष्टि प्रतीत होती है; यत्—जिससे; आत्म-पर-बुद्धिः—अपने तथा पराये की धारणा; इयम्—यह; हि—निस्सन्देह; अपार्था—अर्थहीन (आप ही सब कुछ हैं अतएव 'मेरा' तथा 'तेरा' समझ पाने की आशा नहीं है); यत्—जिस वस्तु से; यस्य—जिसका; जन्म—सृजन; निधनम्—संहार; स्थितिः—पालन; ईक्षणम्—अभिव्यक्ति; च—तथा; तत्—वह; वा—या; एतत्—यह; एव—निश्चय ही; वसुकाल-वत्—पृथ्वी होने के गुण तथा उससे आगे पृथ्वी के सूक्ष्म तत्त्व (गन्ध) के समान; अष्टि-तर्वोः—बीज (कारण) तथा वृक्ष (कारण का कार्य)।

हे भगवान्, हे परमेश्वर, यह समग्र सृष्टि आपके द्वारा उत्पन्न है और विराट जगत आपकी शक्ति का परिणाम है। यद्यपि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है फिर भी आप अपने को उससे पृथक् रखते हैं। 'मेरा' तथा 'तुम्हारा' की धारणा निश्चय ही एक प्रकार का मोह (माया) है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आपसे उद्भूत होने के कारण आपसे भिन्न नहीं है। निस्सन्देह, विराट जगत आपसे अभिन्न है और संहार भी आपके द्वारा ही किया जाता है। आप तथा ब्रह्माण्ड के बीच का यह सम्बन्ध बीज तथा वृक्ष अथवा सूक्ष्म कारण तथा स्थूल अभिव्यक्ति के उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१०) में भगवान् कहते हैं—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

"हे पृथापुत्र! तुम यह जान लो कि मैं सारे जीवों का मूल बीज हूँ।" वैदिक वाङ्मय में कहा गया है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते* तथा *सर्वं खल्विदं ब्रह्म।* यह सारी वैदिक जानकारी बताती है कि केवल एक ईश्वर है और उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मायावादी विचारक इसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं, लेकिन भगवान् इस सत्य पर बल देते हैं कि वे सब कुछ होते

हुए भी प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहते हैं। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का दर्शन है, जो *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* कहलाता है। प्रत्येक वस्तु एक, अर्थात् परमेश्वर है फिर भी प्रत्येक वस्तु उनसे भिन्न है। एकत्व तथा भेद (अन्तर) की यही विचारधारा है।

यहाँ पर *वसुकालवद् अष्टितर्वो:* का उदाहरण दिया गया है, जिसे समझना अत्यन्त आसान है। प्रत्येक वस्तु काल में विद्यमान है फिर भी काल की विभिन्न अवस्थाएँ हैं—वर्तमान, भूत तथा भविष्य। ये तीनों एक हैं। प्रतिदिन हमें काल का अनुभव प्रात: दोपहर तथा संध्या के रूप में होता रहता है और यद्यपि प्रात: दोपहर से भिन्न है और दोपहर संध्या से भिन्न है फिर भी उन्हें सबको मिलाकर एक माना जाता है। काल भगवान् की शक्ति है, लेकिन भगवान् इस काल से पृथक् रहते हैं। प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन तथा संहार काल द्वारा होता है, लेकिन भगवान् का न तो आदि है और न अन्त। वे *नित्य: शाश्वत:* हैं। प्रत्येक वस्तु वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की इन अवस्थाओं से होकर गुजरती है फिर भी भगवान् सदैव वही रहते हैं। इस तरह निस्सन्देह, भगवान् तथा विराट जगत में अन्तर है, किन्तु वस्तुत: वे पृथक् नहीं हैं। उन्हें पृथक् समझना अविद्या है।

किन्तु असली एकत्व मायावादियों की धारणा के तुल्य नहीं है। वास्तविक ज्ञान तो यह है कि सारे अन्तर भगवान् की शक्ति द्वारा प्रकट होते हैं। बीज वृक्ष के रूप में प्रकट होता है, जिसमें तना, शाखें, पत्तियाँ, फूल तथा फल की विविधता दिखती है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने गाया है—*केशव तुया जगत विचित्र*—हे भगवान्! आपकी सृष्टि विविधतापूर्ण है। ये विविधताएँ एक होते हुए भी भिन्न हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व दर्शन* है। *ब्रह्म-संहिता* में जो निष्कर्ष दिया हुआ है, वह इस प्रकार है—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्द विग्रह:।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम्॥

''गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सच्चिदानन्द स्वरूप है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं है, क्योंकि वे समस्त कारणों के प्रधान कारण हैं।'' चूँकि भगवान् परम कारण हैं, अतएव प्रत्येक वस्तु उन्हीं जैसी है, किन्तु जब हम उनकी विविधताओं पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि एक वस्तु दूसरे से भिन्न है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक वस्तु तथा दूसरी वस्तु के बीच कोई अन्तर नहीं होता फिर भी उनकी किस्मों में अन्तर होता है। इस प्रसंग में मध्वाचार्य सामान्य वृक्ष तथा अग्नि में पड़े वृक्ष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि दोनों वृक्ष एक हैं, लेकिन काल के कारण वे भिन्न दिखते हैं। काल भगवान् के अधीन है इसलिए भगवान् काल से भिन्न हैं। फलस्वरूप प्रगत भक्त सुख तथा दुख में अन्तर नहीं मानता जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

जब भक्त तथाकथित दुख की स्थिति में होता है, तो वह इसे भगवान् का उपहार या आशीष मानता है। जब भक्त जीवन की किसी भी स्थिति में इसप्रकार सदा कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है, तो उसे *मुक्तिपदे स दायभाक्* अर्थात् भगवद्धाम लौटने का पूर्ण सुपात्र कहा जाता है। *दायभाक्* शब्द का अर्थ है 'उत्तराधिकार'। पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। इसी प्रकार जब भक्त द्वैत से रहित होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह निश्चित होता है कि वह भगवद्धाम जाएगा जिस प्रकार पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है।

न्यस्येदमात्मनि जगद्विलयाम्बुमध्ये
शेषेत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र-
स्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न्यस्य—फेंककर; इदम्—यह; आत्मनि—अपने आप में; जगत्—आपके द्वारा उत्पन्न विराट संसार; विलय-अम्बु-मध्ये—कारणार्णव में, जिसमें प्रत्येक वस्तु सुरक्षित शक्ति के रूप में संरक्षित रहती है; शेषे—सोये हुए के समान कर्म करते हो; आत्मना—अपने से; निज—अपना; सुख-अनुभवः—आध्यात्मिक आनन्द की अवस्था का अनुभव; निरीहः—कुछ भी न करते हुए प्रतीत होना; योगेन—योग शक्ति के द्वारा; मीलित-दृक्—बन्द आँखें; आत्म—अपने प्राकट्य द्वारा; निपीत—रोका गया; निद्रः—जिसकी नींद; तुर्ये—दिव्य अवस्था में; स्थितः—अपने को रखते हुए; न—नहीं; तु—लेकिन; तमः—सोने की भौतिक अवस्था; न—न तो; गुणान्—भौतिक गुण; च—तथा; युङ्क्षे—अपने को लगाते हो।

हे परमेश्वर, संहार के बाद सृजनात्मक शक्ति आप में स्थित रखी जाती है और आप अपनी अधखुली आँखों से सोते प्रतीत होते हैं। किन्तु तथ्य तो यह है कि आप एक सामान्य व्यक्ति की भाँति सोते नहीं, क्योंकि आप भौतिक जगत की सृष्टि के परे सदैव दिव्य अवस्था में रहते हैं और सदैव दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में आप भौतिक

वस्तुओं को छुए बिना अपनी दिव्य स्थिति में बने रहते हैं। यद्यपि आप सोते प्रतीत होते हैं, किन्तु यह सोना अविद्या की निद्रा से पृथक् होता है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में स्पष्ट बताया गया है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः।

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंश महा-विष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं जिसके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो चिर योगनिद्रा धारण किये रहते हैं।'' *आदि पुरुष*—कृष्ण या गोविन्द अपने को महाविष्णु के रूप में विस्तारित करते हैं। इस विराट जगत के संहार के पश्चात् वे स्वयं को दिव्य आनन्द में रखते हैं। *योग निद्राम्* शब्द भगवान् के प्रसंग में व्यवहृत हुआ है। मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए यह निद्रा हमारी उस निद्रा के समान नहीं है, जो तमोगुणी है। भगवान् सदैव अध्यात्म में स्थित रहते हैं। वे *सच्चिदानन्द* हैं, इसलिए वे सामान्य मनुष्यों की भाँति निद्रा द्वारा विचलित नहीं होते। यह समझना होगा कि भगवान् सभी अवस्थाओं में दिव्य आनन्द में रहते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने संक्षेप में कहा है कि भगवान् *तूर्यस्थितः* हैं—सदैव अध्यात्म (तुरीयावस्था) में स्थित रहते हैं। अध्यात्म में *जागरणनिद्रासुषुप्ति* जागृति, निद्रा तथा घोर निद्रा जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

योग का अभ्यास महाविष्णु की योगनिद्रा के समान है। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे अपनी आँखें अधखुली रखें, किन्तु यह दशा निद्रा नहीं होती, यद्यपि आधुनिक युग में नकली योगी अपने-अपने कथित योग का प्रदर्शन सोकर करते हैं। शास्त्र में योग को *ध्यानावस्थित* कहा गया है, जो पूर्ण ध्यान की स्थिति है, किन्तु यह ध्यान भगवान् पर केन्द्रित ध्यान है। *ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा*—मन को सदैव भगवान् के चरणकमलों पर स्थित करना चाहिए। योगाभ्यास का अर्थ सोना (निद्रा) कदापि नहीं है। मन को सक्रियरूप से भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर करना चाहिए; तभी योगाभ्यास सफल होगा।

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद्विरमत्समाधे-
र्नाभेरभूत्स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस भगवान् का; एव—निश्चय ही; ते—तुम्हारा; वपु:—शरीर; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); निज-काल-शक्त्या—शक्तिशाली काल द्वारा; सञ्चोदित—क्षुब्ध; प्रकृति-धर्मण:—उनका जिनसे प्रकृति के तीनों गुण; आत्म-गूढम्—आप में निहित; अम्भसि—कारणार्णव के जल में; अनन्त-शयनात्—अनन्त (जो आपका अन्य रूप है) नामक शय्या से; विरमत्-समाधे:—समाधि से जगकर; नाभे:—नाभि से; अभूत्—प्रकट हुआ; स्व-कणिका—बीज से; वट-वत्—महान् वट वृक्ष की तरह; महा-अब्जम्—संसार का महान् कमल (जो इसी तरह उगा है)।

यह विराट भौतिक जगत भी आपका ही शरीर है। यह पदार्थ का पिंड आपकी काल शक्ति द्वारा क्षुब्ध होता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुण प्रकट होते हैं। तब आप शेष या अनन्त की शय्या से जागते हैं और आपकी नाभि से एक क्षुद्र दिव्य बीज उत्पन्न होता है। इसी बीज से विराट जगत का कमल पुष्प प्रकट होता है ठीक उसी तरह जिस प्रकार एक छोटे बीज से विशाल वट वृक्ष उगता है।

तात्पर्य : महाविष्णु के तीन विभिन्न रूपों का क्रमश: वर्णन किया जा रहा है—ये हैं कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु जो सृष्टि तथा पालन के उद्‌गम हैं। महाविष्णु से गर्भोदकशायी विष्णु उत्पन्न होते हैं जिनसे क्रमश: क्षीरोदकशायी विष्णु का विस्तार होता है। इस प्रकार महाविष्णु ही गर्भोदकशायी विष्णु के मूल कारण हैं और गर्भोदकशायी विष्णु से कमल निकलता है, जिसमें से ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल कारण विष्णु हैं। फलस्वरूप विराट जगत विष्णु से भिन्न नहीं है। इसकी पुष्टि *भगवद्‌गीता* (१०.८) में हुई है जहाँ कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते*—''मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। मुझी से प्रत्येक वस्तु उद्भूत है।'' गर्भोदकशायी विष्णु कारणोदकशायी विष्णु के अंश हैं, जो स्वयं संकर्षण के अंश हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। निष्कर्ष यह निकला कि भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगत परमेश्वर के शरीर माने जाते हैं। हम यह समझ सकते हैं कि भौतिक शरीर की उत्पत्ति आध्यात्मिक शरीर से होती है, अतएव वह आध्यात्मिक शरीर का अंश (विस्तार) है। जब मनुष्य आध्यात्मिक कर्म करता है, तो

उसका समग्र भौतिक शरीर आध्यात्मीकृत हो जाता है। इसी प्रकार जब इस भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विस्तार होता है, तो समूचा संसार आध्यात्मीकृत हो जाता है। जब तक इसकी अनुभूति नहीं होती तब तक हम इस भौतिक जगत में रहते हैं, किन्तु ज्योंही हम पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो हम इस भौतिक जगत में न रहकर आध्यात्मिक जगत में रहते हैं।

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान-
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स बहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमुहोपलभेत बीजम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्-सम्भवः—उस कमल से उत्पन्न; कविः—सृष्टि के सूक्ष्म कारण को समझने वाला (ब्रह्मा); अतः—उस (कमल) से; अन्यत्—अन्य कुछ; अपश्यमानः—देख सकने में अक्षम; त्वाम्—आपको; बीजम्—कमल के कारण को; आत्मनि—अपने में; ततम्—विस्तार कर लिया; सः—उसने (ब्रह्मा); बहिः विचिन्त्य—अपने को बाहरी मानकर; न—नहीं; अविन्दत्—(आपको) समझा; अब्द-शतम्—देवताओं के अनुसार एक सौ वर्षों तक (देवताओं का एक दिन हमारे छः मास के तुल्य); अप्सु—जल के भीतर; निमज्जमानः—गोता लगाकर; जाते अङ्कुरे—जब बीज अंकुरित होकर लता रूप में प्रकट होता है; कथम्—कैसे; उह—हे भगवान्; उपलभेत—कोई देख सकता है; बीजम्—पहले से फलित बीज को।

उस विशाल कमल पुष्प से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए किन्तु उन्हें उस कमल के सिवाय कुछ भी नहीं दिखा। अतएव आप को बाहर स्थित जानकर उन्होंने जल में गोता लगाया और वे एक सौ वर्षों तक उस कमल के उद्गम को खोजने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु उन्हें आपका कोई पता नहीं चल पाया क्योंकि जब बीज फलीभूत होता है, तो असली बीज नहीं दिख पाता।

तात्पर्य : यह विराट जगत का वर्णन है। इस जगत का विकास बीज के फलीभूत होने के समान है। जब रुई से धागे बन जाते हैं, तो रुई नहीं दिखती और जब धागों से कपड़ा बुना जाता है, तो धागे नहीं दिखते। इसी प्रकार यह कथन बिल्कुल सही है कि जब गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न बीज विराट विश्व के रूप में प्रकट हो गया तो कोई यह नहीं समझ सकता था कि इस विराट विश्व की उत्पत्ति का कारण क्या था। आधुनिक विज्ञानियों ने सृष्टि के उद्गम की विवेचना "पिंड सिद्धान्त" (चंक थ्योरी) से करने का प्रयास किया है, लेकिन यह कोई नहीं बता सकता कि ऐसा पिंड किस प्रकार फटा होगा। किन्तु वैदिक वाङ्मय स्पष्ट बताता है कि सम्पूर्ण भौतिक शक्ति परमेश्वर की चितवन से प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा क्षुब्ध हुई। दूसरे शब्दों में, "पिंड सिद्धान्त" के अनुसार पिंड का फटना

भगवान् द्वारा किया गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि परम कारण विष्णु को समस्त कारणों का कारण स्वीकार कर ले।

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आश्रितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); तु—लेकिन; आत्म-योनिः—बिना माता के उत्पन्न (सीधे पिता विष्णु से उत्पन्न); अति-विस्मितः—अत्यधिक चकित (अपने जन्म का उद्गम न पाकर); आश्रितः—आसीन; अब्जम्—कमल; कालेन—काल के द्वारा; तीव्र-तपसा—घोर तपस्या द्वारा; परिशुद्ध-भावः—पूर्णतया शुद्ध होकर; त्वाम्—आपको; आत्मनि—अपने शरीर में; ईश—हे ईश्वर; भुवि—पृथ्वी के भीतर; गन्धम्—गन्ध; इव—सदृश; अति-सूक्ष्मम्—अत्यन्त सूक्ष्म; भूत-इन्द्रिय—तत्त्वों तथा इन्द्रियों से बना; आशय-मये—तथा जो इच्छाओं से पूर्ण (मन); विततम्—फैला हुआ; ददर्श—देखा।

आत्मयोनि के नाम से विख्यात अर्थात् बिना माता के उत्पन्न ब्रह्माजी को आश्चर्य हुआ। अतएव उन्होंने कमल पुष्प की शरण ग्रहण की और जब वे सैकड़ों वर्षों तक कठोर तपस्या करने के बाद शुद्ध हुए तो वे देख पाये कि समस्त कारणों के कारण भगवान् उनके अपने पूरे शरीर तथा इन्द्रियों में उसी तरह व्याप्त थे जिस प्रकार गन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी पृथ्वी में अनुभव की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *अहं ब्रह्मास्मि* के रूप में आत्म-साक्षात्कार के कथन की विवेचना की गई है, जिसकी व्याख्या मायावादी दर्शन के अनुसार "मैं परमेश्वर हूँ" के रूप में की जाती है। परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के आदि बीज हैं (*जन्माद्यस्य यतः। अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*)। इस प्रकार भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं यहाँ तक कि हमारे शरीरों में भी, क्योंकि ये भौतिक शक्ति से बने हैं, जो भगवान् की भिन्ना शक्ति है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि चूँकि परमेश्वर हमारे शरीर में व्याप्त हैं और चूँकि व्यष्टि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, अतएव प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। ब्रह्मा को यह अनुभूति शुद्ध होने के बाद हुई और यह हर एक के लिए सम्भव है। जब मनुष्य *अहं ब्रह्मास्मि* के पूर्णतया ज्ञान में रहता है, तो वह सोचता है "मैं परमेश्वर का अंश हूँ, मेरा शरीर उनकी भौतिक शक्ति से बना है, अतएव मेरा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है यद्यपि फिर भी परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है, वह मुझसे पृथक् है।" *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* का यही दर्शन है। यहाँ पर पृथ्वी के भीतर गन्ध का उदाहरण

दिया गया है। पृथ्वी में गन्ध है और रंग हैं, किन्तु उन्हें कोई देख नहीं सकता। वास्तव में हम देखते है कि जब पृथ्वी से फूल उगते हैं, तो वे विभिन्न रंगों एवं सुगन्धों वाले दिखते हैं। निश्चय ही फूलों ने इन्हें पृथ्वी से प्राप्त किया होगा, यद्यपि ये हमें पृथ्वी में दिखते नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा हमारे शरीर तथा आत्मा में विस्तार करते हैं, यद्यपि हम उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु एक बुद्धिमान मनुष्य परमेश्वर को सर्वत्र व्याप्त देख सकता है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों से ब्रह्माण्ड के भीतर तथा परमाणु के भीतर रहते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति के लिए भगवान् का असली दृश्य यही है। आदिजन्मा ब्रह्मा अपनी तपस्या के कारण अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति बने और तब उन्हें यह अनुभूति हुई। अतएव हमें उन ब्रह्मा से सारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जो अपनी तपस्या के कारण सिद्ध बने।

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरु-
नासाद्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सहस्र—हजार; वदन—मुख; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः—सिर; कर—हाथ; उरु—जाँघें; नास-आद्य—नाक इत्यादि.; कर्ण—कान; नयन—आँखें; आभरण—तरह-तरह के गहनों; आयुध—तरह-तरह के हथियारों से; आढ्यम्—लैस; माया-मयम्—असीम शक्ति द्वारा प्रदर्शित; सत्-उपलक्षित—विभिन्न लक्षणों में प्रकट होकर; सन्निवेशम्—एकसाथ मिलकर; दृष्ट्वा—देख कर; महा-पुरुषम्—भगवान् को; आप—प्राप्त किया; मुदम्—दिव्य आनन्द; विरिञ्चः—ब्रह्मा ने।.

तब ब्रह्माजी ने आपको हजारों मुखों, पाँवों, सिरों, हाथों, जांघो, नाकों, कानों तथा आँखों से युक्त देखा। आप भलीभाँति वस्त्र धारण किये थे और नाना प्रकार के आभूषणों तथा आयुधों से सुशोभित थे। आपको विष्णु रूप में देखकर तथा आपके दिव्य लक्षणों एवं अधोलोकों से फैले हुए आपके चरणों को देखकर ब्रह्माजी को दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : परम शुद्ध होने के कारण ब्रह्माजी भगवान् को उनके मूल विष्णु रूप में देख सके जिनके हजारों मुख तथा रूप थे। यह विधि आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। असलि आत्म-साक्षात्कार भगवान् के निर्विशेष तेज का दर्शन नहीं है, अपितु भगवान् के दिव्य रूप का साक्षात् दर्शन है। जैसाकि यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, ब्रह्माजी ने भगवान् को *महापुरुष* के रूप में देखा। अर्जुन ने भी कृष्ण को इसी रूप में देखा था। अतएव उसने भगवान् से कहा—*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् पुरुषं शाश्वतं*

दिव्यम्—आप परब्रह्म, परम धाम, पवित्र करने वाले, परम सत्य नित्य दैवी पुरुष हैं। भगवान् *परम पुरुष* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। *पुरुषं शाश्वतम्*—शाश्वत परम भोक्ता हैं। ऐसा नहीं है कि निर्विशेष ब्रह्म रूप धारण करता है, अपितु निर्विशेष ब्रह्मज्योति भगवान् के परम रूप का उद्भास है। ब्रह्मा शुद्ध होने पर भगवान् के परम रूप को देख पाये। निर्विशेष ब्रह्म के सिर, पाँव, हाथ, नाक, कान नहीं हो सकते। ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि ये भगवान् के रूप के लक्षण हैं।

मायामयम् शब्द का अर्थ है ''आध्यात्मिक ज्ञान''। इसकी व्याख्या मध्वाचार्य ने की है—*मायामयम् ज्ञानस्वरूपम्।* भगवान् के रूप को बताने वाले इस *मायामयम्* शब्द का अर्थ ''मोह'' नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत भगवान् का रूप वास्तविक है और इस रूप का दर्शन पूर्ण ज्ञान का प्रतिफल है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। ज्ञानवान्* शब्द का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसे पूर्ण ज्ञान हो। ऐसा व्यक्ति भगवान् का दर्शन कर सकता है और इसलिए वह उनकी शरण में जाता है। मुख, नाक, कान आदि प्रतीकों द्वारा व्यक्त भगवान् का रूप नित्य हैं। ऐसे रूप के बिना कोई आनन्दमय नहीं हो सकता। किन्तु भगवान् *सच्चिदानन्द-विग्रह* हैं जैसाकि शास्त्र में कहा गया है (*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*)। जब कोई पूर्ण दिव्य आनन्द को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् के परम रूप (*विग्रह*) को देख सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

गन्धाख्या देवता यद्वत् पृथिवीं व्याप्य तिष्ठति।

एवं व्याप्तं जगद् विष्णुं ब्रह्मात्मस्थं ददर्श ह॥

ब्रह्मा ने देखा कि जिस प्रकार सुगन्धियाँ तथा रंग सारी पृथ्वी में फैलते हैं उसी प्रकार भगवान् सूक्ष्म रूप में विराट विश्व में व्याप्त हैं।

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं हि बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वानयच्छ्रुतिगणांश्च रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्मै—उन ब्रह्मा को; **भवान्**—आप; **हय-शिरः**—घोड़े का शिर तथा गर्दन वाले; **तनुवम्**—अवतार; **हि**—निस्सन्देह; **बिभ्रत्**—स्वीकार करते हुए; **वेद-द्रुहौ**—दो असुर जो वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे; **अति-बलौ**—अत्यन्त बलशाली; **मधु-कैटभ-आख्यौ**—मधु तथा कैटभ नाम से विख्यात; **हत्वा**—मारकर; **अनयत्**—प्रदान किया; **श्रुति-गणान्**—सारे भिन्न-भिन्न वेद

(साम, यजुः, ऋग तथा अथर्व); च—तथा; रजः तमः च—रजो तथा तमो गुणों द्वारा अंकित करके; सत्त्वम्—शुद्ध दिव्य सतोगुण; तव—तुम्हारा; प्रिय-तमाम्—सर्वाधिक प्रिय; तनुम्—रूप का (हयग्रीव); आमनन्ति—आदर करते हैं।.

हे भगवान्, जब आप घोड़े का शिर धारण करके हयग्रीव रूप में प्रकट हुए तो आपने रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण मधु तथा कैटभ नामक दो असुरों का संहार किया। फिर आपने ब्रह्मा को वैदिक ज्ञान प्रदान किया। इसी कारण से सारे महान् ऋषिगण आपके रूपों को दिव्य अर्थात् भौतिक गुणों से अछूता मानते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने दिव्य रूप में अपने भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है भगवान् ने हयग्रीव रूप धारण करके मधु तथा कैटभ नामक असुरों का वध किया, जब उन्होंने ब्रह्माजी पर आक्रमण किया था। आधुनिक असुर यह सोचते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन नहीं था, किन्तु *श्रीमद्भागवत* से हमें ज्ञात होता है कि भगवान् ने जिस प्रथम सजीव प्राणी को जन्म दिया वह ब्रह्मा था, जो वैदिक ज्ञान से ओत-प्रोत है। दुर्भाग्यवश जिन्हें वैदिक ज्ञान वितरित करने का भार सौंपा गया है, यथा कृष्णभावनामृत का प्रचार करने वाले भक्त, उन पर कभी-कभी असुरों द्वारा आक्रमण किये जा सकते हैं, किन्तु भक्तों को आश्वस्त रहना चाहिए कि ऐसे आसुरी आक्रमण से उनका बाल बाँका भी नहीं होगा, क्योंकि भगवान् उन्हें सुरक्षा प्रदान करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। वेद वह ज्ञान प्रदान करते हैं जिसके द्वारा हम भगवान् को समझ सकते हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। भगवान् के भक्त उस ज्ञान का प्रसार करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं जिससे कृष्णभावनामृत द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है। लेकिन असुरगण परमेश्वर को न समझ सकने के कारण रजो तथा तमो गुणों से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार दिव्य रूप वाले भगवान् असुरों का वध करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। सतोगुण के अनुशीलन से ही मनुष्य दिव्य भगवान् की स्थिति को तथा उन्हें समझने के मार्ग में आने वाले समस्त अवरोधों को हटाने के लिए वे जिस प्रकार सदैव उद्यत रहते हैं समझ सकता है।

सारांश रूप में जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.७) में भगवान् कहते हैं :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" भगवान् के विषय में यह सोचना मूर्खता होगी कि वे मूलत: निर्विशेष हैं और जब वे साक्षात् रूप में अवतरित होते हैं, तो भौतिक शरीर धारण कर लेते हैं। भगवान् जब भी अवतरित होते हैं, वे अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होते हैं, जो आध्यात्मिक एवं आनन्दपूर्ण होता है। लेकिन मायावादी जैसे अज्ञानी लोग भगवान् के दिव्य रूप को नहीं समझ पाते अतएव भगवान् यह कहकर उनको दण्डित करते हैं—*अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्*—जब मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। जब भी भगवान् प्रकट होते हैं, चाहे मछली के रूप में हों, कछुआ, शूकर या अन्य किसी रूप में हों, मनुष्य को यह समझना चाहिए कि वे अपनी दिव्य स्थिति बनाये रखते हैं और उनका एकमात्र कार्य होता है *हत्वा*—असुरों का वध करना। भगवान् भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का वध करने के लिए प्रकट होते हैं (*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*)। चूँकि असुरगण सदैव वैदिक सभ्यता का विरोध करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं, अतएव भगवान् के दिव्य रूप के द्वारा उनका वध अवश्यम्भावी है।

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान्विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्न: कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; नृ—यथा मनुष्य (यथा कृष्ण तथा रामचन्द्र); तिर्यक्—पशु की तरह का (जेसै शूकर); ऋषि—महान् ऋषि की तरह (परशुराम); देव—देवता गण; झष—लचर (जैसे मछली तथा कछुवा); अवतारै:—ऐसे विभिन्न अवतारों के द्वारा; लोकान्—सारे लोकों को; विभावयसि—रक्षा करते हो; हंसि—(कभी-कभी) मारते हो; जगत् प्रतीपान्—इस संसार में बाधा उत्पन्न करने वालों को; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्तों को; महा-पुरुष—हे महान् पुरुष; पासि—रक्षा करते हो; युग-अनुवृत्तम्—विभिन्न युगों के अनुसार; छन्न:—ढका हुआ; कलौ—कलियुग में; यत्—क्योंकि; अभव:—हुए हैं (और भविष्य में होंगे); त्रि-युग:—त्रियुग नामक; अथ—अतएव; स:—वही पुरुष; त्वम्—तुम।

हे प्रभु, इस प्रकार आप विभिन्न अवतारों में जैसे मनुष्य, पशु, ऋषि, देवता, मत्स्य या कच्छप के रूप में प्रकट होते हैं और इस प्रकार से विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन करते हैं तथा आसुरीं सिद्धन्तों का वध करते हैं। हे भगवान्, आप युग के अनुसार धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप स्वयं को भगवान् के रूप में घोषित नहीं करते। इसलिए आप 'त्रियुग' कहलाते हैं, अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले भगवान्।

तात्पर्य : जिस प्रकार मधु तथा कैटभ के आक्रमण से ब्रह्मा की रक्षा करने के लिए भगवान् प्रकट हुए थे उसी प्रकार वे परम भक्त प्रह्लाद महाराज की रक्षा करने के लिए भी प्रकट हुए। इसी प्रकार कलियुग के पतित जीवों की रक्षा के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए। युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग। कलियुग को छोड़कर शेष तीन युगों में भगवान् विभिन्न अवतारों में प्रकट होकर भगवान् कहलाते हैं, किन्तु यद्यपि कलियुग में श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने आपको भगवान् नहीं कहा। उल्टे, जब-जब उन्हें कृष्ण के समान होने वाले सम्बोधित किया गया तब-तब वे अपने हाथों से अपने कान बन्द कर लेते थे और अपने आपको कृष्ण कहने से मना कर देते थे, क्योंकि वे एक भक्त की भूमिका निभा रहे थे। वे जानते थे कि कलियुग में अपने आपको ईश्वर का नकली अवतार कहने वाले अनेक लोग होंगे, अतएव वे अपने आपको भगवान् कहे जाने से कतराते रहे। किन्तु अनेक वैदिक ग्रथों में, विशेष रूप से *भागवत* (११.५.३२) में चैतन्य महाप्रभु को भगवान् स्वीकार किया जाता है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

कलियुग में बुद्धिमान लोग भगवान् की पूजा श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में करते हैं, जो नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास जैसे अपने पार्षदों से सदैव घिरे रहते हैं। समग्र कृष्णभावनामृत आन्दोलन *सङ्कीर्तन* आन्दोलन पर आधारित है, जिसका सूत्रपात श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा किया गया। अतएव जो भी व्यक्ति *सङ्कीर्तन* आन्दोलन के माध्यम से भगवान् को समझने का प्रयास करता है, वह प्रत्येक वस्तु को भलीभाँति जान लेता है। वह *सुममेधस्* अर्थात् प्रचुर ज्ञानवान् व्यक्ति होता है।

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—निश्चय ही नहीं; एतत्—यह; मनः—मन; तव—तुम्हारी; कथासु—दिव्य कथाओं में; विकुण्ठ-नाथ—हे चिन्तारहित वैकुण्ठ के स्वामी; सम्प्रीयते—शान्त हो जाता है या रुचि रखता है; दुरित—पापकर्मों से; दुष्टम्—बेईमान; असाधु—झूठा; तीव्रम्—वश में करना कठिन; काम-आतुरम्—सदैव विभिन्न इच्छाओं तथा कामेच्छाओं से पूर्ण; हर्ष-शोक—कभी हर्ष द्वारा तो कभी दुख द्वारा; भय—तथा कभी भय द्वारा; एषणा—तथा इच्छा द्वारा; आर्तम्—दुखी; तस्मिन्—उस मानसिक स्थिति में;

कथम्—कैसे; तव—तुम्हारा; गतिम्—दिव्य कार्यकलाप; विमृशामि—मैं विचार करूँगा और समझने का प्रयास करूँगा; दीनः—अत्यन्त पतित तथा गरीब।

चिन्तारहित वैकुण्ठलोकों के स्वामी, मेरा मन अत्यन्त पापी तथा कामी है, कभी यह सुखी कहलाता है, तो कभी दुखी है। मेरा मन शोक तथा भय से पूर्ण है और सदैव अधिकाधिक धन की खोज में रहता है। इस तरह यह अत्यधिक दूषित गया है और आपकी कथाओं से कभी तुष्ट नहीं होता। अतएव मैं अत्यन्त पतित तथा दलित हूँ। ऐसी जीवन-स्थिति में भला मैं आपके कार्यकलापों की व्याख्या करने में किस तरह समर्थ हो सकता हूँ?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रह्लाद महाराज अपने को सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं यद्यपि उन्हें इस भौतिक जगत से कुछ भी लेना-देना नहीं है। वे आध्यात्मिक जगत के वैकुण्ठलोकों में सदैव स्थित रहते हैं, किन्तु पतित आत्माओं की ओर से वे पूछते हैं कि जब उनका मन भौतिक वस्तुओं से सदैव विचलित रहता है, तो वे किस तरह भगवान् की दिव्य स्थिति की चर्चा कर सकते हैं? हमारा मन इसलिए पापपूर्ण हो जाता है, क्योंकि हम सदैव पापपूर्ण कार्यों में लगे रहते हैं। ऐसी कोई भी वस्तु जो कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित न समझी जानी चाहिए। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* में (१८.६६) कृष्ण चाहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

''सारे धर्मों को त्याग कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं सारे पाप-कर्मों से तुम्हारा उद्धार कर दूँगा। तुम डरो मत।'' ज्योंही कोई भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है, वे तुरन्त ही उसे पापकर्मों के फलों से छुटकारा दिला देते हैं। अतएव जो भगवान् के चरणकमलों में शरणागत नहीं है उसे पापपूर्ण, मूर्ख, मनुष्यों में पतित तथा नास्तिक मनोवृत्तिओं के कारण समस्त असली ज्ञान से विहीन-समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१५) में हुई है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

इसलिए, विशेष रूप से इस कलियुग में, मन को शुद्ध करना चाहिए और यह हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन द्वारा ही सम्भव है। *चेतो दर्पणमार्जनम्।* इस युग में हरे कृष्ण महामंत्र कीर्तन की विधि ही

एकमात्र उपाय है, जिससे पापपूर्ण मन को शुद्ध किया जा सकता है। जब मन सारे पापपूर्ण कर्म–फलों से धुल जाता है, तो मनुष्य मानव जीवन में अपने कर्तव्य (धर्म) को समझ सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पापी मनुष्यों को शिक्षित करने के लिए है, जिससे वे हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने मात्र से ही पवित्र हो सकें।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस कलियुग में गम्भीर तथा चतुर बनने के लिए हृदय (मन) को स्वच्छ करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र के उच्चारण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसी विधि नहीं जिसका महत्त्व हो। प्रह्लाद महाराज ने पिछले श्लोकों में इस विधि की परिपुष्टि की है। *त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।* प्रह्लाद इसकी और भी पुष्टि करते हैं कि यदि किसी का मन सदैव कृष्ण चिन्तन में लीन है, तो वही गुण मनुष्य को शुद्ध बनाएगा और उसे सदा के लिए शुद्ध रखेगा। भगवान् तथा उनके कार्यकलापों को समझने के लिए मनुष्य को भौतिक जगत के सारे कल्मष से अपने मन को मुक्त रखना चाहिए और इसे वह भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करके ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह सारे भव–बन्धन से छूट जाता है।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक्क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

जिह्वा—जीभ; एकतः—एक ओर; अच्युत—हे अच्युत भगवान्; विकर्षति—आकर्षित करती है; मा—मुझको; अवितृप्ता—सन्तुष्ट न होने से; शिश्नः—जननेन्द्रियाँ; अन्यतः—दूसरी ओर; त्वक्—चमड़ी (मुलायम वस्तु को छूने के लिए); उदरम्—पेट (तरह-तरह के भोजन के लिए); श्रवणम्—कान (किसी मधुर संगीत को सुनने के लिए); कुतश्चित्—किसी अन्य ओर तक; घ्राणः—नाक (सूँघने के लिए); अन्यतः—और भी दूसरी ओर को; चपल-दृक्—चंचल दृष्टि; क्व च—कहीं पर; कर्म-शक्तिः—सक्रिय इन्द्रियाँ; बह्व्यः—अनेक; स-पत्न्यः—सौतें; इव—सदृश; गेह-पतिम्—गृहस्थ को; लुनन्ति—नष्ट कर देती हैं।.

हे अच्युत भगवान्, मेरी दशा उस पुरुष की भाँति है, जिसकी कई पत्नियाँ हों और वे सभी उसे अपने अपने ढंग से आकर्षित करने का प्रयास कर रही हों। उदाहरणार्थ, जीभ स्वादिष्ट व्यंजनों की ओर आकृष्ट होती है, जननेन्द्रियाँ किसी आकर्षक स्त्री के साथ संभोग करने के लिए

और स्पर्श इन्द्रियाँ मुलायम वस्तुओं का स्पर्श करने के लिए आकृष्ट होती हैं। पेट भरा रहने पर भी अधिक खाना चाहता है और कान आपके विषय में न सुन कर सामान्यतः सिनेमा गीतों की ओर आकृष्ट होते हैं। घ्राण की इन्द्रिय किसी अन्य ओर ही आकृष्ट होती है, चंचल आँखें इन्द्रियतृप्ति के दृश्यों की ओर आकृष्ट होती हैं तथा सक्रिय इन्द्रियाँ अन्यत्र आकृष्ट होती हैं। इस तरह मैं सचमुच ही दुविधा में रहता हूँ।

तात्पर्य : मानव जीवन ईश-साक्षात्कार के लिए है, किन्तु *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* से प्रारम्भ होने वाली यह विधि तब तक विचलित होती रहती है जब तक हमारी इन्द्रियाँ भौतिक रूप से आकृष्ट होती हैं। अतएव भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को शुद्ध बनाना। बद्ध-अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ भौतिक इन्द्रियतृप्ति द्वारा प्रच्छन्न रहती हैं और जब तक मनुष्य को इन्द्रियों को विमल बनाने का प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह भक्त नहीं बन सकता। इसीलिए हम अपने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में प्रारम्भ से यही उपदेश देते हैं कि मनुष्य इन्द्रियों के कार्यकलापों को, विशेष रूप से जीभ को, जिसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अत्यन्त लालची तथा अजेय बताया है सीमित करे। जीभ के इस आकर्षण पर अंकुश लगाने के लिए मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह न तो मांस या ऐसी ही अखाद्य वस्तुएँ ग्रहण करे, न ही वह जीभ को सुरापान करने या धूम्रपान करने की अनुमति दे। यहाँ तक कि चाय तथा काफी पीने की भी अनुमति नहीं दी जाती। इसी प्रकार जननेन्द्रियों को अवैध काम से रोकना चाहिए। इन्द्रियों पर ऐसे अंकुश के बिना मनुष्य कृष्णभावनामृत में प्रगति नहीं कर सकता। इन्द्रियों को वश में करने की एकमात्र विधि भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन एवं श्रवण करना है। अन्यथा मनुष्य सदैव विचलित होता रहेगा जिस प्रकार कि अनेक पत्नियों वाला गृहस्थ सदैव इन्द्रियतृप्ति के लिए उनके द्वारा विचलित किया जाता है।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या-
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; स्व-कर्म-पतितम्—अपने भौतिक कार्यकलापों के फल के कारण पतित हुआ; भव—अज्ञान जगत (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि की तुलना में); वैतरण्याम्—वैतरणी नदी में (जो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के द्वार के समक्ष बहती है); अन्यः अन्य—एक के बाद एक; जन्म—जन्म; मरण—मृत्यु; आशन—विभिन्न प्रकार का भोजन; भीत-भीतम्—अत्यधिक भयभीत; पश्यन्—देखते हुए; जनम्—जीव को; स्व—अपना; पर—पराया; विग्रह—शरीर में; वैर-मैत्रम्—मित्रता तथा शत्रुता मानते हुए; हन्त—हाय; इति—इस तरह; पारचर—मृत्यु की नदी के दूसरी ओर स्थित आप; पीपृहि—कृपया हम सबों को (इस घातक स्थिति से) बचा लें; मूढम्—आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन हम सभी मूर्ख हैं; अद्य—आज (क्योंकि आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं)।

हे भगवान्, आप सदैव मृत्यु की नदी के दूसरी ओर (उस पार) दिव्य रूप में स्थित रहते हैं, किन्तु हम सभी अपने पापकर्मों के फलों के कारण इस ओर कष्ट भोग रहे हैं। निस्सन्देह, हम इस नदी में गिर गये हैं और जन्म-मृत्यु की वेदनाओं से बारम्बार कष्ट उठा रहे हैं तथा भयानक वस्तुएँ खा रहे हैं। अब कृपा करके हम पर दृष्टि डालिये—न केवल मुझ पर अपितु उन सबों पर जो कष्ट उठा रहे हैं—और अपनी अहैतुकी कृपा तथा दया से हमारा उद्धार कीजिए तथा हमारा पालन कीजिये।

तात्पर्य : शुद्ध वैष्णव प्रह्लाद महाराज भगवान् से न केवल अपने लिए, अपितु अन्य समस्त पीड़ित जीवों के लिए प्रार्थना करते हैं। वैष्णवों की दो कोटियाँ हैं— *भजनानन्दी* तथा *गोष्ठ्यानन्दी।* भजनानन्दी केवल अपने निजी लाभ के लिए भगवान् की पूजा करते हैं, लेकिन गोष्ठ्यानन्दी अन्य सबों को कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठाना चाहते हैं जिससे उनकी रक्षा हो सके। ऐसे मूर्ख जो बारम्बार जन्म तथा मृत्यु को एवं भौतिक जीवन के अन्य कष्टों को देख नहीं पाते इसके बारे में तनिक भी आश्वस्त नहीं रह सकते कि अगले जन्म में उन पर क्या बीतेगी। निस्सन्देह, ऐसे मूर्ख भौतिकताग्रस्त धूर्तों ने जीवन की अनुत्तरदायी शैली बना ली है, जो अगले जीवन के बारे में सोचते ही नहीं। वे यह नहीं जानते कि अपने ही कार्यकलापों के अनुसार मनुष्य को चौरासी लाख योनियों में से चुनकर शरीर प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* में इन धूर्तों को *दुष्कृतिनो मूढाः* कहा गया है। जो लोग कृष्णभावनाभावित नहीं हैं ऐसे अभक्तों को पापकर्मों में लगना पड़ता है। इसीलिए वे *मूढ* अर्थात् मूर्ख तथा धूर्त हैं। वे ऐसे मूर्ख होते हैं कि उन्हें यह भी ज्ञात नहीं रहता कि अगले जीवन में उन पर क्या बीतेगी। यद्यपि वे सब तरह के प्राणियों को घृणित वस्तुएँ खाते देखते हैं—यथा शूकरों को मल खाते, मगरमच्छों को सभी प्रकार की मछली इत्यादी खाते इत्यादी व्यर्थ की वस्तुएँ खाने के कारण अगले जीवन में वे अत्यन्त गर्हित वस्तुएँ खाने के लिए वाध्य होंगे। एक वैष्णव ऐसे गर्हित जीवन से सदैव भयभीत रहता है और ऐसी

वीभत्स दशा से उबरने के लिए वह अपने आपको भगवान् की भक्ति में लगाता है। भगवान् उन पर दयालु हैं अतएव वे उनके हित के लिए प्रकट होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भरतवंशी! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राधान्य हो जाता है उस समय मैं स्वयं अवतरित होता हूँ।" (*भगवद्गीता* ४.७) भगवान् पतितात्माओं की सहायता के लिए सदैव सन्नद्ध रहते हैं लेकिन वे मूर्ख तथा धूर्त होने के कारण कृष्णभावनामृत को ग्रहण नहीं करते और कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते। इसीलिए यद्यपि श्री चैतन्य महाप्रभु साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में उपदेश करने के लिए भक्त रूप में आते हैं। *यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।* अतएव मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण का निष्ठावान् दास बने। *आमार आज्ञाय गुरु हञा तार'एइ देश* (*चैतन्य-चरितामृत* मध्य ७.१२८)। मनुष्य को गुरु बनना चाहिए और सारे विश्व में *भगवद्गीता* की शिक्षाओं का मात्र उपदेश देकर कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए।

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन सा; नु—निस्सन्देह; अत्र—इस मामले में; ते—आपका; अखिल-गुरो—हे सम्पूर्ण सृष्टि के परम गुरु; भगवन्—हे भगवान्; प्रयासः—प्रयास; उत्तारणे—इन पतित आत्माओं के उद्धार हेतु; अस्य—इसका; भव-सम्भव—सृजन तथा पालन का; लोप—तथा प्रलय का; हेतोः—कारण का; मूढेषु—इस भौतिक जगत में सड़ने वाले मूर्ख व्यक्तियों में; वै—निस्सन्देह; महत्-अनुग्रहः—भगवान् द्वारा दया; आर्त-बन्धो—हे पीड़ित जीवों के मित्र; किम्—क्या कठिनाई है; तेन—उससे; ते—तुम्हारे; प्रिय-जनान्—प्रिय पुरुषों (भक्तों) को; अनुसेवताम्—जो सदैव सेवा करने में लगे हैं उनका; नः—हमारी तरह (जो इस तरह लगे हैं)।

हे परमेश्वर, हे समग्र जगत के आदि आध्यात्मिक गुरु, आप ब्रह्माण्ड के कार्यों के प्रबन्धक हैं, अतएव आपकी सेवा में लगे हुए पतितात्माओं का उद्धार करने में आपको कौन सी कठिनाई है? आप सभी दुखी मानवता के मित्र हैं और महापुरुषों के लिए मूर्खों पर दया दिखलाना आवश्यक है। अतएव मैं सोचता हूँ कि आप हम जैसे मनुष्यों पर अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करेंगे जो आपकी सेवा में लगे हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *प्रियजनान् अनुसेवतां न:* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् उन भक्तों का पक्ष लेते हैं, जो भगवान् के शुद्ध भक्त के उपदेशों के अनुसार कर्म करते हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को भगवान् के दासों के दास के दास बनना चाहिए। यदि कोई सीधे भगवान् का दास बनना चाहे तो यह उतना लाभप्रद नहीं होगा जितना कि भगवान् के दास का दास बनना। यह उन श्री चैतन्य महाप्रभु का आदेश है, जो हमें *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदास:* बनने का मार्ग दिखलाते हैं। मनुष्य को भगवान् का सीधा भक्त बनने में गर्वित नहीं होना चाहिए, अपितु उसे भगवान् के दास, किसी शुद्ध भक्त, का अन्वेषण करके उसकी सेवा में लगना चाहिए। जो जितना ही अधिक दास का दास बनता है, वह भक्ति में उतना ही पूर्ण बनता है। यह *भगवद्गीता* का भी आदेश है—*एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदु:।* केवल *परम्परा* प्रणाली द्वारा भगवान् के विज्ञान को समझा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं—*तांदेर चरण सेवि भक्त-सने वास—मुझे भगवान् के भक्तों के चरणकमलों की सेवा करने दो तथा उनके साथ रहने दो। जन्मे जन्मे हय, एइ अभिलाष।* नरोत्तमदास ठाकुर का अनुसरण करते हुए मनुष्य को जन्म-जन्मांतर भगवान् के दास का दास बनने की अभिलाषा करनी चाहिए। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर भी गाते हैं—*तुमि त'ठाकुर, तोमार कुकुर, बलिया जानह मोरे*—हे भगवान्, हे वैष्णव! कृपा करके मुझे अपना कुत्ता मान लें। मनुष्य को शुद्ध भक्त अर्थात् वैष्णव का कुत्ता बनना चाहिए, क्योंकि वह बिना कठिनाई के कृष्ण को प्राप्त करा देगा। *कृष्ण से तोमार, कृष्ण दिते पार।* कृष्ण अपने शुद्ध भक्त की सम्पत्ति हैं अतएव यदि हम शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करें तो वह सरलता से कृष्ण को प्राप्त करा सकता है। प्रह्लाद किसी भक्त की सेवा में लगना चाहते हैं इसलिए वे कृष्ण से प्रार्थना करते हैं—"हे भगवान्! मुझे अपने प्रिय भक्त की शरण दे दें जिससे मैं उसकी सेवा कर सकूँ और आपको प्रसन्न कर सकूँ।" *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* (*भागवत* ११.१९.२१)। भगवान् कहते हैं "मेरी भक्ति करने की अपेक्षा मेरे भक्त की सेवा में लगने का प्रयास करना श्रेष्ठ है।"

इस श्लोक में जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह यह है कि प्रह्लाद महाराज अकेले ही भक्ति से लाभान्वित नहीं होना चाहते, अपितु वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि इस भौतिक जगत में हम सभी पतितात्माएँ उनकी कृपा से उनके दास की सेवा में लगें जिससे हम सबों का उद्धार हो जाए।

भगवान् के लिए अपनी कृपा प्रदान करना कठिन नहीं है और इस तरह प्रह्लाद महाराज कृष्णभावनामृत का प्रसार करके सारे विश्व को बचाना चाहते हैं।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्यास्
त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; उद्विजे—मैं उद्विग्न अथवा भयभीत हूँ; पर—हे पर; दुरत्यय—पार करना कठिन; वैतरण्याः—वैतरणी नदी को (भौतिक जगत की नदी); त्वत्-वीर्य—आपके यश तथा कार्यकलाप का; गायन—कीर्तन करने से या वितरित करने से; महा-अमृत—अमृत के समान आध्यात्मिक आनन्द के महासागर में; मग्न-चित्तः—लीन चित्त वाला; शोचे—मैं केवल पछता रहा हूँ; ततः—उससे; विमुख-चेतसः—वे मूर्ख तथा धूर्त जो कृष्णभावनामृत से विहीन हैं; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय तृप्ति में; माया-सुखाय—क्षणिक मोहमय सुख के लिए; भरम्—मिथ्या भार या उत्तरदायित्व (अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के पालन के लिए तथा उस हेतु विशद प्रबन्ध); उद्वहतः—उठाये हुए (इस प्रबन्ध के लिए महान् योजनाएं बना कर); विमूढान्—यद्यपि वे मूर्खों तथा धूर्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं (मैं उनके विषय में भी सोच रहा हूँ)।

हे श्रेष्ठ महापुरुष, मैं भौतिक जगत से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी ठहरता हूँ आपके यश तथा कार्यकलाप के विचारों में लीन रहता हूँ। मैं एकमात्र उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए चिन्तित हूँ जो भौतिक सुख के लिए तथा अपने परिवार, समाज तथा देश के पालन हेतु बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। मैं मात्र उन के प्रति प्रेम के बारे में चिन्तित हूँ।

तात्पर्य : संसार भर में सारे व्यक्ति भौतिक जगत के दुखों से निपटने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। यह बात वर्तमान समय के लिए, भूतकाल के लिए तथा भविष्य के लिए सत्य है। यद्यपि लोग इतनी बड़ी-बड़ी राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक योजनाएँ बनाते हैं, तो भी यहाँ पर उन्हें *विमूढ* अर्थात् मूर्ख कहा गया है। *भगवद्गीता* में इस भौतिक जगत को *दुःखालयम् अशाश्वतम्*—कहा गया है लेकिन ये मूर्ख भौतिक जगत को *सुखालयम्*—सुख का आगार बनाने पर तुले हैं। वे यह नहीं जानते कि प्रत्येक वस्तु भौतिक प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार किस प्रकार कार्य करती है और प्रकृति अपने ढंग से कार्य करती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ॥

"मोहग्रस्त जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव में अपने आपको उन सारे कार्यों का कर्ता मान लेता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" (*भगवद्गीता* ३.२७)

भौतिक प्रकृति जो मानव रूप में दुर्गा नाम से जानी जाती है, असुरों को दण्डित करने के लिए योजना बनाती है। यद्यपि सारे असुर, जो ईशविहीन दैत्य हैं, जीवन-संघर्ष में रत रहते हैं, किन्तु दुर्गा देवी, जो अपने दसों-हाथों में विभिन्न आयुधों से युक्त रहती हैं, उन पर सीधा प्रहार करती हैं। वे अपने सिंहवाहन या रजो तथा तमोगुण पर सवारी करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति रजो तथा तमों गुणों द्वारा युद्ध करने और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का घोर संघर्ष करता है, किन्तु अन्ततोगत्वा प्रकृति के नियमों द्वारा सबों का विनाश हो जाता है।

भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के बीच में वैतरणी नामक एक नदी पड़ती है। इसके दूसरी ओर अर्थात् आध्यात्मिक जगत में पहुँचने के लिए इस नदी को पार करना होता है। इसे पार करना दुष्कर है जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—मेरी इस दैवी शक्ति को जो तीन गुणों वाली है, पार पाना कठिन है। यहाँ पर यही *दुरत्यया* शब्द प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है "अत्यन्त कठिन"। अतएव कोई भगवान् की दया के बिना प्रकृति के कठोर नियमों से पार नहीं पा सकता। इतने पर भी सारे भौतिकतावादी अपनी-अपनी योजनाओं से मोहग्रस्त कर भी इस भौतिक जगत में सुखी बनने के लिए बारम्बार प्रयास करते हैं, इसलिए उन्हें *विमूढ*—प्रथम कोटि का मूर्ख—कहा गया है। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे तनिक भी दुखी नहीं थे, क्योंकि इस भौतिक जगत में रहते हुए भी वे कृष्णभावनामृत से परिपूर्ण थे। जो लोग कृष्णभावनाभावित हैं और भगवान् की सेवा करने का प्रयास कर रहे हैं, वे दुखी नहीं हैं। किन्तु जिसके पास कृष्णभावनामृत की कोई पूँजी नहीं है और जो जीवन-संघर्ष में रत है, वह न केवल मूर्ख है, अपितु अत्यधिक दुखी भी है। प्रह्लाद महाराज एक साथ सुखी तथा दुखी थे। कृष्णभावनाभावित होने के कारण वे अत्यन्त सुख तथा दिव्य आनन्द का अनुभव कर रहे थे, फिर भी वे उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए अत्यधिक दुखी थे, जो इस भौतिक जगत में सुखी बनने की विशद योजनाएँ बनाते हैं।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्रायेण—प्रायः सभी मामलों में, सामान्यतया; देव—हे ईश्वर; मुनयः—बड़े बड़े सन्त पुरुष; स्व—निजी; विमुक्ति-कामाः—इस भौतिक जगत से मुक्ति के इच्छुक; मौनम्—मूक भाव से; चरन्ति—विचरण करते हैं (हिमालय के जंगल में जहाँ भौतिकतावादियों के कार्यकलापों से कोई सम्पर्क नहीं रहता); विजने—एकान्त स्थान में; न—नहीं; पर-अर्थ-निष्ठाः—कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ पहुँचाने के लिए अन्यों के लिए काम करने में रुचि रखने वाला; न—नहीं; एतान्—इन; विहाय—छोड़कर; कृपणान्—मूर्खों तथा धूर्तों को (जो मनुष्य जीवन का लाभ न जानते हुए भौतिक कार्य में लगे रहते हैं); विमुमुक्षे—मैं मुक्त होना और भगवद्धाम लौट जाना चाहता हूँ; एकः—अकेला; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके लिए ही; अस्य—इसकी; शरणम्—शरण; भ्रमतः—ब्रह्माण्ड भर में घूमने और भटकने वाले जीव की; अनुपश्ये—मैं देखूँ।

हे भगवान् नृसिंहदेव, मैं देख रहा हूँ कि सन्त पुरुष तो अनेक हैं, किन्तु वे अपने ही मोक्ष में रुचि रखते हैं। वे बड़े-बड़े नगरों की परवाह न करते हुए मौन व्रत धारण करके ध्यान करने के लिए हिमालय या बन में चले जाते हैं; वे दूसरों की मुक्ति में रुचि नहीं रखते, किन्तु जहाँ तक मेरी बात है मैं इन बेचारे मूर्खों तथा धूर्तों को छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता। मैं जानता हूँ कि कृष्णभावनामृत के बिना और आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। अतएव मैं उन सबों को आपके चरणकमलों की शरण में वापस लाना चाहता हूँ।

तात्पर्य : यह एक वैष्णव अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्त का निर्णय है। यदि उसे इस भौतिक जगत में रुकना भी पड़े, तो उसकी अपनी कोई समस्याएँ नहीं हैं क्योंकि उसका एकमात्र व्यापार कृष्णभावनामृत में स्थित रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति नरक में भी जाकर सुखी रह सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज ने कहा—*नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्याः*—हे श्रेष्ठ पुरुष! मैं इस भौतिक संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ। शुद्ध भक्त जीवन की किसी भी अवस्था में दुखी नहीं रहता। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (६.१७.२८) में हुई है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥

''जो भक्त एकान्त भाव से भगवान् नारायण की भक्ति में लगे रहते हैं, वे जीवन की किसी अवस्था में कभी भयभीत नहीं होते। उनके लिए स्वर्ग, मोक्ष तथा नरक एक से हैं, क्योंकि ऐसे भक्त भगवान् की सेवा में ही लगे रहना चाहते हैं।''

भक्त के लिए स्वर्ग या नरक में रहना एक-जैसा है, क्योंकि भक्त न तो स्वर्ग में रहता है, न नरक में अपितु वह आध्यात्मिक जगत में कृष्ण के साथ रहता है। भक्त की सफलता का मर्म कर्मियों तथा ज्ञानियों को ज्ञात नहीं हो पाता। अतएव कर्मीजन भौतिक जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनना चाहते हैं और ज्ञानीजन परमेश्वर के साथ तदाकार होकर सुखी बनना चाहते हैं। किन्तु भक्त की ऐसी कोई रुचि नहीं होती। वह हिमालय या जंगल में जाकर तथाकथित ध्यान में रुचि नहीं रखता। प्रत्युत वह संसार के सबसे व्यस्त भाग में रुचि दिखाता है जहाँ वह लोगों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा देता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ इसी उद्देश्य से किया गया था। हम किसी को एकान्त स्थान में ध्यान करने की शिक्षा नहीं देते जिससे वह यह दिखा सके कि वह प्रगत हो चुका है और वह अपने तथाकथित दिव्य ध्यान के बारे में गर्व का अनुभव कर सके, भले ही वह सभी प्रकार के मूर्खतापूर्ण भौतिक कार्यों में व्यस्त क्यों न रहता हो। प्रह्लाद महाराज जैसा वैष्णव कभी भी आध्यात्मिक प्रगति में झाँसा देने के पक्ष में नहीं होता। प्रत्युत वह लोगों में कृष्णभावनामृत जागृत करने में रुचि रखता है, क्योंकि यही एकमात्र साधन है, जिससे वे सुखी बन सकते हैं। प्रह्लाद महाराज स्पष्ट कहते हैं—*नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये*—मैं जानता हूँ कृष्णभावनामृत के बिना अर्थात् आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। मनुष्य जन्म-जन्मांतर इस ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है, किन्तु किसी भक्त श्री चैतन्य महाप्रभु के दास की कृपा से उसे कृष्णभावनामृत का पता चल सकता है और तब वह न केवल इस जगत में सुखी बन सकता है, अपितु भगवद्धाम को वापस जा सकता है। जीवन का यही असली लक्ष्य है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्य हिमालय या वन में जाकर तथाकथित ध्यान करने में रुचि नहीं रखते, जहाँ मनुष्य ध्यान का प्रदर्शन मात्र कर सकता है। न ही वे शहरों में योग तथा ध्यान के अनेक स्कूल खोलने में रुचि रखते हैं। प्रत्युत कृष्णभावनामृत आन्दोलन का यही लक्ष्य है। प्रत्येक सदस्य द्वार-द्वार जाकर लोगों को *भगवद्गीता* की शिक्षाओं अथवा भगवान् चैतन्य की शिक्षाओं के विषय में आश्वस्त करने के प्रयास में रुचि रखता है। हरे कृष्ण आन्दोलन का यही लक्ष्य है। के सदस्यों को पूरा विश्वास हो जाना चाहिए कि कृष्ण के बिना कोई सुखी नहीं हो सकता। इस तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सभी प्रकार के छद्म-आध्यात्मवादियों, चिन्तकों, एकेश्वरवादियों, दार्शनिकों तथा परोपकारियों से दूर रहता है।

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो (इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त है); मैथुन-आदि—काम चर्चा, काम साहित्य का पठन या विषयी जीवन का भोग (घर में, या बाहर यथा क्लब में); गृहमेधि-सुखम्—परिवार, समाज, मैत्री इत्यादि से अनुरक्त रहने के आधार पर सभी प्रकार का भौतिक सुख.; हि—निस्सन्देह; तुच्छम्—तुच्छ, नगण्य; कण्डूयनेन—खुजलाने से; करयोः—दोनों हाथों के (खुजली दूर करने के लिए); इव—सदृश; दुःख-दुःखम्—विभिन्न प्रकार के दुख (इन्द्रियतृप्ति की खुजली के पश्चात् होनेवाले); तृप्यन्ति—तुष्ट हो जाते हैं; न—कभी नहीं; इह—भौतिक इन्द्रिय तृप्ति में; कृपणाः—मूर्ख व्यक्ति; बहु-दुःख-भाजः—विभिन्न प्रकार के दुखों को प्राप्त; कण्डूति-वत्—यदि ऐसी खुजलाहट से सीख ले सके; मनसि-जम्—जो मात्र मानसिक कल्पना है (वास्तविक सुख नहीं होता); विषहेत—तथा (ऐसी खुजलाहट) सहन करता है; धीरः—अत्यन्त पूर्ण तथा गम्भीर व्यक्ति (बन सकता है)।.

विषयी जीवन की तुलना खुजली दूर करने हेतु दो हाथों को रगड़ने से की गई है। गृहमेधी अर्थात् तथाकथित गृहस्थ जिन्हें कोई आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है, सोचते हैं कि यह खुजलाना सर्वोत्कृष्ट सुख है, यद्यपि वास्तव में यह दुख का मूल है। कृपण जो ब्राह्मणों से सर्वथा विपरीत होते हैं, बारम्बार ऐन्द्रिय भोग करने पर भी तुष्ट नहीं होते। किन्तु जो धीर हैं और इस खुजलाहट को सह लेते हैं उन्हें मूर्खों तथा धूर्तों जैसे कष्ट नहीं सहने पड़ते।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सोचते हैं कि इस संसार का सबसे बड़ा सुख विषयासक्ति है, अतएव वे अपनी इन्द्रियों को, विशेष रूप से कामेन्द्रियों को, तुष्ट करने के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते हैं। ऐसा सामान्यतया सर्वत्र और विशेष रूप से पाश्चात्य जगत में पाया जाता है जहाँ विषयी जीवन की तुष्टि के लिए विभिन्न प्रकार के नियमित प्रबन्ध होते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि इससे कोई सुखी नहीं हो पाया है। यहाँ तक कि वे हिप्पी भी, जिन्होंने अपने बाप-दादों के भौतिक सुखों का परित्याग कर दिया है, विषयी जीवन के सनसनीखेज सुख नहीं त्याग सकते! ऐसे लोगों को यहाँ पर *कृपण* कहा गया है। यह मनुष्य-जीवन एक महान् निधि है, क्योंकि इसी जीवन में मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य को पूरा कर सकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश शिक्षा तथा संस्कृति के अभाव में लोग विषयी जीवन के मिथ्या सुख के शिकार बनाये जाते हैं। इसीलिए प्रह्लाद महाराज यह उपदेश देते हैं कि इस इन्द्रियतृप्ति की सभ्यता से, विशेष रूप से विषयी जीवन से, भ्रमित न हुआ जाये। मनुष्य को गम्भीर होना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति से बचना चाहिए और कृष्णभावनाभावित होना चाहिए। इस के उल्ट कंजूस के समान ही कामी पुरुष

कभी भी इन्द्रियतृप्ति से सुख-लाभ नहीं कर पाता। प्रकृति के प्रभाव से बच पाना दुष्कर है किन्तु जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—यदि कोई स्वेच्छा से कृष्ण के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करता है, तो वह आसानी से बच सकता है।

विषयी जीवन के निम्नकोटिक सुख के विषय में यामुनाचार्य कहते हैं—

यदावधि मम चेत: कृष्णपदारविन्दे

नव-नवरसधामनुद्यत रन्तुमासीत्।

तदावधि बत नारीसङ्गमे स्मर्यमाणे,

भवति मुखविकार: सुष्टु निष्ठीवनं च।

"चूँकि मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाया गया हूँ और उन्हीं में नया-नया आनन्द पाता रहा हूँ, अतएव जब भी मैं विषय-सुख के बारे में सोचता हूँ तभी इस विचार पर थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से विकृत हो जाते हैं।" यामुनाचार्य पहले एक बड़े राजा थे जिन्होंने अनेक प्रकार का ऐन्द्रिय सुख भोगा था, किन्तु जब बाद में वे भगवान् की सेवा में रत हुए तो उन्हें आध्यात्मिक आनन्द मिला और विषयी जीवन के विचार पर घृणा होने लगी। यदि विषय-विचार उनके मन में आता भी तो वे घृणा से उस पर थूक देते थे।

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्या: ।
प्राय: परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

मौन—चुप्पी; व्रत—व्रत; श्रुत—वैदिक ज्ञान; तप:—तपस्या; अध्ययन—शास्त्र का अध्ययन; स्व-धर्म—वर्णाश्रम धर्म का पालन; व्याख्या—शास्त्रों की विवेचना; रह:—एकान्त स्थान में रहना; जप—कीर्तन अथवा मंत्रों का उच्चारण; समाधय:—समाधि में रहना; आपवर्ग्या:—मोक्ष मार्ग में प्रगति करने के लिए किये जाने वाले दस प्रकार के कार्य; प्राय:—सामान्यतया; परम्—एकमात्र साधन; पुरुष—हे प्रभु; ते—वे सब; तु—लेकिन; अजित-इन्द्रियाणाम्—उन व्यक्तियों का जो इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते; वार्ता:—जीविका; भवन्ति—हैं; उत—इसलिए ऐसा कहा जाता है; न—नहीं; वा—अथवा; अत्र—इस सम्बन्ध में; तु—लेकिन; दाम्भिकानाम्—मिथ्या गर्व करने वाले व्यक्तियों का।

हे भगवन्, मोक्ष मार्ग के लिए दस विधियाँ संस्तुत हैं—मौन रहना, किसी से बातें न करना, व्रत रखना, सभी प्रकार का वैदिक ज्ञान संचित करना, तपस्या करना, वेदाध्ययन करना, वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों को पूरा करना, शास्त्रों की व्याख्या करना, एकान्त स्थान में रहना,

मौन मंत्रोच्चार करना, समाधि में लीन रहना। मोक्ष की ये विभिन्न विधियाँ सामान्यतया उन लोगों के लिए व्यापारिक अभ्यास और जीविकोपार्जन के साधन हैं जिन्होंने इन्द्रियों को जीता नहीं। चूँकि ऐसे लोग मिथ्या अहंकारी होते हैं अतएव हो सकता है कि ये विधियाँ सफल न भी हों।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (६.१.१५) में कहा गया है—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।

अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥

''केवल ऐसा विरला पुरुष जिसने कृष्ण की पूर्ण अनन्य भक्ति स्वीकार की है, पापकर्मों के खर-पतवार का उन्मूलन कर सकता है, जिससे उसके दोबारा उगने की सम्भावना न रहे। वह इसे केवल भक्ति के द्वारा कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से कुहरे को तुरंत भगा देता है।'' मनुष्य जीवन का असली प्रयोजन भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है। ऐसी मुक्ति कई विधियों से प्राप्त की जा सकती है (*तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च*) किन्तु वे सब न्यूनाधिक तपस्या पर ही आश्रित रहती हैं, जो ब्रह्मचर्य से प्रारम्भ होती है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि जो *वासुदेवपरायण* हैं अर्थात् जो वासुदेव कृष्ण के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित हैं, वे मौन, व्रत तथा अन्य विधियों का फल केवल भक्ति करके स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में, ये सारी विधियाँ उतनी शक्तिशाली नहीं हैं। यदि कोई भक्ति करता है, तो वे सब की सब सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, *मौन* का अर्थ केवल बोलना छोड़ देना नहीं है। जीभ तो बोलने के लिए है यद्यपि कभी-कभी दिखावे के लिए मनुष्य मौन रहता है। बहुत से ऐसे लोग हैं, जो सप्ताह में किसी एक दिन मौन रहते हैं। लेकिन वैष्णव ऐसा मौन धारण नहीं करता। मौन का अर्थ है मूर्खतापूर्ण भाषण न करना। सामान्यतया सभाओं, समारोहों तथा बैठकों में लोग मेढकों की तरह मूर्खतापूर्वक भाषण करते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने इसे *वाचो वेगम्* कहा है। जो व्यक्ति कुछ कहना चाहता है, वह अपने को बड़ा भारी वक्ता दिखला सकता है किन्तु अच्छा यही है कि बोलने की अपेक्षा वह मौन रहे। अतएव मौन की यह विधि ऐसे व्यक्तियों के लिए संस्तुत है, जो व्यर्थ बोलने के आदी हैं। जो भक्त नहीं होता वह मूर्खतापूर्ण ही बोलेगा, क्योंकि उसमें कृष्ण की महिमा के विषय में बोलने की शक्ति नहीं होती। इस तरह वह जो कुछ भी बोलता है, वह माया द्वारा प्रभावित रहता है और उसकी तुलना मेढक के टरटराने से की गई है। किन्तु जो भगवान्

की महिमा के विषय में बोलता है उसे मौन रहने की आवश्यकता नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है *कीर्तनीय: सदा हरि:*—मनुष्य को चौबीसों घण्टे भगवान् की महिमा का कीर्तन करते रहना चाहिए। *मौन* रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मोक्ष या मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने या मोक्ष के लिए ये दस विधियाँ भक्तों के लिए नहीं हैं। *केवलया भक्त्या*—यदि कोई केवल भगवद्भक्ति करता है, तो मोक्ष की सारी की सारी दसों विधियाँ स्वत: सम्पन्न हो जाती हैं। प्रह्लाद महाराज का प्रस्ताव है कि ऐसी विधियाँ *अजितेन्द्रियों* के लिए हैं, अर्थात् उनके लिए हैं, जो अपनी इन्द्रियों को जीत नहीं सकते। किन्तु भक्तगण पहले से अपनी इन्द्रियाँ जीत चुके होते हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—भक्त पहले से भौतिक कल्मष से मुक्त हुआ होता है। अतएव श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने कहा है—

दुष्ट मन! तुमि किसेर वैष्णव?

प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तव हरिनाम केवल कैतव।

ऐसे अनेक लोग हैं, जो हरे कृष्ण मंत्र का जाप एकान्त स्थान में करना चाहते हैं, लेकिन यदि कोई उपदेश करने, अभक्तों से निरन्तर बातें करने में रुचि नहीं रखता तो प्रकृति के गुणों के प्रभाव को पर विजय पाना दुष्कर है। अतएव जब तक कोई कृष्णभावनामृत में पूरी तरह प्रगत न हो उसे हरिदास ठाकुर की नकल नहीं करनी चाहिए, जिनके पास चौबीसों घण्टे पवित्र नाम का कीर्तन करने के अलावा कोई कार्य नहीं था। प्रह्लाद महाराज ऐसी विधि का तिरस्कार नहीं करते, वे इसे स्वीकार करते हैं किन्तु भगवान् की सक्रिय सेवा से इन विधियों में से किसी एक से सामान्यतया मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोई मिथ्या अहंकार से ही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ता: समक्षमुभयत्र विचक्षन्ते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यत: स्यात् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

रूपे—रूपों में; इमे—इन दो; सत्-असती—कार्य तथा कारण; तव—तुम्हारा; वेद-सृष्टे—वेदों में व्याख्यायित; बीज-अङ्कुरौ—बीज तथा अंकुर; इव—सदृश; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यत्—अन्य कोई; अरूपकस्य—बिना आकार वाले आपका; युक्ता:—आपकी भक्ति में लीन; समक्षम्—आँखों के सामने; उभयत्र—दोनों तरह से (आध्यात्मिक तथा भौतिक रीति

से); विचक्षन्ते—वास्तव में देख सकते हैं; त्वाम्—तुमको; योगेन—केवल भक्ति के द्वारा; वह्निम्—आग; इव—सदृश; दारुषु—काठ में; न—नहीं; अन्यतः—अन्य किसी विधि से; स्यात्—सम्भव है।.

प्रामाणिक वैदिक ज्ञान द्वारा मनुष्य यह देख सकता है कि विराट जगत में कार्य तथा कारण के रूप भगवान् के ही हैं, क्योंकि यह विराट जगत उन की शक्ति है। कार्य तथा कारण दोनों ही भगवान् की शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। अतएव हे प्रभु, जिस तरह कोई चतुर मनुष्य कार्य-कारण पर विचार करते हुए यह देख सकता है कि अग्नि किस तरह काठ में व्याप्त है उसी तरह भक्ति में लगे हुए व्यक्ति समझ सकते हैं कि आप किस प्रकार से कार्य तथा कारण दोनों ही हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन हुआ है अनेक तथाकथित आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु *मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधयः* नामक विभिन्न दस विधियों का पालन करते हैं। ये कितनी ही आकर्षक क्यों न हों किन्तु इनके पालन द्वारा कोई वास्तविक कार्य-कारण तथा प्रत्येक वस्तु के मूल कारण को (*जन्माद्यस्य यतः*) नहीं समझ पाता। प्रत्येक वस्तु के मूल उद्गम तो स्वयं भगवान् हैं (*सर्वकारणकारणम्*)। प्रत्येक वस्तु का यह उद्गम परम शासक कृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।* उनका अपना नित्य आध्यात्मिक स्वरूप है। निस्सन्देह, वे प्रत्येक वस्तु के मूल हैं (*बीजं मां सर्वभूतानाम्*)। जितनी भी सृष्टिया दिख रही हैं उनका कारण भगवान् है। इसे तथाकथित मौन या अन्य किसी अस्त-व्यस्त विधि से नहीं समझा जा सकता। परम कारण को केवल भक्ति द्वारा ही समझा जा सकता है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (११.१४.२१)स्वयं भगवान् कहते हैं *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—मनुष्य कारणों के कारण आदि परम पुरुष को केवल भक्ति से समझ सकता है, किसी प्रकार के दिखावे से नहीं।

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बु मात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत्त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (हो); वायुः—वायु; अग्निः—अग्नि; अवनिः—पृथ्वी; वियत्—आकाश; अम्बु—जल; मात्राः—इन्द्रियविषय; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; हृदयम्—मन; चित्—चेतना; अनुग्रहः च—तथा मिथ्या अहंकार या देवता; सर्वम्—हर वस्तु; त्वम्—तुम; एव—एकमात्र; स-गुणः—तीन गुणों से युक्त प्रकृति; विगुणः—आध्यात्मिक स्फुलिंग तथा परमात्मा जो

भौतिक प्रकृति से परे हैं; च—तथा; भूमन्—हे भगवान्; न—नहीं; अन्यत्—दूसरा; त्वत्—तुम्हारी अपेक्षा; अस्ति—है; अपि—यद्यपि; मनः-वचसा—मन तथा वाणी से; निरुक्तम्—प्रत्येक प्रकट वस्तु।

हे परमेश्वर, आप वास्तव में वायु, भूमि, अग्नि, आकाश तथा जल हैं। आप तन्मात्राएँ, प्राणवायु, पाँचों इन्द्रियाँ, मन, चेतना तथा मिथ्या अहंकार हैं। निस्सन्देह, आप स्थूल तथा सूक्ष्म हर वस्तु हैं। भौतिक तत्त्व तथा शब्दों या मन से व्यक्त प्रत्येक वस्तु आपके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

तात्पर्य : यह भगवान् विषयक सर्वव्यापी धारणा है, जो यह बताती है कि वे सर्वत्र व्याप्त हैं। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—प्रत्येक वस्तु ब्रह्म अर्थात् कृष्ण है। उनके बिना कोई वस्तु नहीं है। *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ और प्रत्येक व्यक्ति मुझमें स्थित है, फिर भी मैं सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता।" भगवान् केवल भक्ति द्वारा देखे जा सकते हैं। *तत्र तिश्ठाभि नारद यत्र जायन्ति मद्भक्ताः*—भगवान् वहीं वास करते हैं जहाँ उनके भक्त उनके गुणों का कीर्तन करते हैं।

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनः प्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; एते—ये सब; गुणाः—प्रकृति के तीन गुण; न—न तो; गुणिनः—तीन गुणों के अधिष्ठाता देव (यथा ब्रह्मा रजोगुण के प्रधान देव हैं तथा शिव तमोगुण के); महत्-आदयः—पाँच तत्त्व, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ; ये—जो; सर्वे—सभी; मनः—मन; प्रभृतयः—इत्यादि; सह-देव-मर्त्याः—देवताओं तथा मर्त्य मनुष्यों सहित; आदि-अन्त-वन्तः—जिनका आदि तथा अन्त है; उरुगाय—सभी साधु पुरुषों द्वारा महिमा-मण्डित होने वाले हे परमेश्वर; विदन्ति—समझतेहैं; हि—निस्सन्देह; त्वाम्—तुमको; एवम्—इस प्रकार; विमृश्य—विचार करके; सुधियः—सारे बुद्धिमान पुरुष; विरमन्ति—रुक जाते हैं; शब्दात्—वेदों का अध्ययन करने या समझने से।

न तो प्रकृति के तीन गुण (सतो, रजो तथा तमो), न इन तीनों गुणों के नियामक अधिष्ठाता देव, न पाँच स्थूल तत्त्व, न मन, न देवता, न मनुष्य ही आपको समझ सकते हैं, क्योंकि ये सभी जन्म तथा संहार के वशीभूत रहते हैं। ऐसा विचार करके आध्यात्मिक दृष्टि से प्रगत व्यक्ति भक्ति

करने लगे हैं। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति वैदिक अध्ययन की परवाह नहीं करते, निस्सन्देह वे व्यावहारिक भक्ति में अपने आपको लगाते हैं।

तात्पर्य : जैसा कई स्थानों पर कहा गया है—*भक्त्या मामभिजानाति*—केवल भक्ति द्वारा परमेश्वर को जाना जा सकता है। बुद्धिमान मनुष्य अर्थात् भक्त श्लोक ४६ में वर्णित विधियों के विषयों में अधिक माथापच्ची नहीं करते (*मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययन-स्वधर्म*)। भक्ति द्वारा भगवान् को समझ लेने के बाद ऐसे भक्त वेदाध्ययन में रुचि नहीं दिखाते। निस्सन्देह, इसकी पुष्टि वेदों में भी हुई है। वेदों का कथन है *किम् अर्था वयम् अध्येष्यामहे किम् अर्था वयम् वक्ष्यामहे।* इतने वेदों का अध्ययन करने से क्या लाभ? उनकी तरह-तरह से व्याख्या करने से क्या लाभ? *वयम् वक्ष्यामहे।* किसी को न तो वेदाध्ययन की आवश्यकता रह जाती है, न दार्शनिक चिन्तन द्वारा उनका वर्णन करने की। *भगवद्गीता* (२.५२) का भी कहना है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

जब कोई भक्ति द्वारा भगवान् को जान लेता है, तो वह वेदाध्ययन बन्द कर देता है। अन्यत्र भी कहा गया है—*आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।* यदि कोई भगवान् को समझ सकता है और उनकी सेवा में लग जाता है, तो कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। किन्तु यदि कोई कठिन तपस्या करके भगवान् को नहीं समझ पाता तो ऐसी तपस्या व्यर्थ है।

तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

शब्दार्थ

तत्—अतएव; ते—तुम्हारा; अर्हत्-तम—हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य; नमः—नमस्कार; स्तुति-कर्म-पूजाः—प्रार्थना तथा अन्य भक्ति कार्यों से भगवान् की पूजा करना; कर्म—आपको समर्पित कर्म; स्मृतिः—निरन्तर स्मरण; चरणयोः—चरणकमलों का; श्रवणम्—निरन्तर सुनना; कथायाम्—(आपकी) कथाओं का; संसेवया—ऐसी भक्ति; त्वयि—तुम में; विना—रहित; इति—इस प्रकार; षट्-अङ्गया—छह अंगों वाला; किम्—कैसे; भक्तिम्—भक्ति को; जनः—व्यक्ति; परमहंस-गतौ—परम हंस द्वारा प्राप्त; लभेत—प्राप्त कर सकता है।

अतएव हे श्रेष्ठतम पूज्य भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि षडंग भक्ति किये बिना परमहंस को प्राप्त होने वाला लाभ भला कौन प्राप्त कर सकता है? षडंग भक्ति के अंग हैं—प्रार्थना करना, समस्त कर्म फलों को भगवान् को समर्पित करना, पूजा करना, आपके निमित्त कर्म करना, आपके चरणकमलों को सदैव स्मरण करना तथा आपके यश का श्रवण करना।

तात्पर्य : वेदों का आदेश है—*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।* भगवान् को केवल वेदाध्ययन तथा प्रार्थनाओं द्वारा नहीं समझा जा सकता। एकमात्र भगवत्कृपा होने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। अतएव भगवान् को समझने की विधि ही भक्ति है। भक्ति के बिना परम सत्य को समझने के लिए केवल वैदिक आदेशों का पालन करके परम सत्य को नहीं समझा जा सकता। भक्ति की विधि उस *परमहंस* द्वारा समझी जाती है, जिसने हर वस्तु का सार ग्रहण कर लिया है। भक्ति के फल ऐसे परमहंस के लिए सुरक्षित रहते है और यह अवस्था भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वैदिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। ज्ञान तथा योग जैसी अन्य विधियाँ भी तभी सफल होती हैं जब वे भक्ति के साथ मिली हों। जब हम ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा ध्यानयोग की बातें करते हैं, तो *योग* शब्द *भक्ति* का सूचक होता है। *भक्तियोग* या *बुद्धियोग* जब बुद्धि तथा पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न किया जाता है, तो भगवद्धाम वापस जाने की वही एकमात्र सफल विधि होती है। यदि कोई संसार की पीड़ाओं से मुक्त होना चाहता है, तो इस लक्ष्य की शीघ्र पूर्ति के लिए उसे भक्ति ग्रहण करनी होगी।

श्रीनारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः ।
प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; एतावत्—यहाँ तक; वर्णित—वर्णन किया गया; गुणः—दिव्य गुण; भक्त्या—भक्ति से; भक्तेन—भक्त (प्रह्लाद महाराज) द्वारा; निर्गुणः—दिव्य भगवान्; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; प्रणतम्—भगवान् के चरणकमलों की शरण में आया हुआ; प्रीतः—प्रसन्न होकर; यत-मन्युः—क्रोध को वश में करके; अभाषत—इस प्रकार बोलने लगे।.

महान् ऋषि नारद ने कहा : इस प्रकार अपने भक्त प्रह्लाद महाराज द्वारा दिव्य पद से प्रार्थना किये जाने पर भगवान् नृसिंह देव शान्त हो गये। उन्होंने अपना क्रोध त्याग दिया और दण्डवत् प्रणाम करने वाले प्रह्लाद पर अत्यधिक दयालु होने के कारण उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ पर *निर्गुण* शब्द महत्त्वपूर्ण है। मायावादी दार्शनिक परम सत्य को *निर्गुण* या *निराकार* मानते हैं। *निर्गुण* शब्द भौतिक गुणों से विहीन का सूचक है। दिव्य गुणों से पूर्ण होने के कारण भगवान् ने अपना क्रोध त्याग दिया और प्रह्लाद से बोले।

श्रीभगवानुवाच
प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम ।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; प्रह्लाद—हे प्रह्लाद; भद्र—तुम इतने सौम्य हो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं (हूँ); ते—तुम्हारा; असुर-उत्तम—हे असुर वंश (नास्तिकों) में श्रेष्ठ भक्त; वरम्—आशीर्वाद; वृणीष्व—(मुझसे) माँग लो; अभिमतम्—वांछित; काम-पूरः—हर एक की इच्छा पूरी करने वाला; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; नृणाम्—सारे मनुष्यों का।

श्री भगवान् ने कहा : हे सौम्य प्रह्लाद, हे असुरोत्तम, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। मैं हर जीव की इच्छा पूर्ण करना मेरी लीला है; इसलिए तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर माँग सकते हो।

तात्पर्य : भगवान् *भक्तवत्सल* हैं अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त प्रेम करने वाले हैं। यह कोई असामान्य बात नहीं कि भगवान् ने अपने भक्त को सारे आशीर्वाद दिये। भगवान् ने वास्तव में कहा "मैं सबों की मनोकामना पूरी करता हूँ। चूँकि तुम मेरे भक्त हो, अतएव जो कुछ तुम्हें चाहिए वह प्रदान किया जाएगा, किन्तु यदि तुम किसी अन्य के लिए प्रार्थना करो तो वह प्रार्थना भी पूरी की जाएगी।" इस तरह यदि हम भगवान् या उनके भक्त के पास जाँय या कोई भक्त हमें आशीष दे तो वह स्वाभाविक है कि हमें स्वतः भगवान् के सारे आशीष प्राप्त हो जाएंगे। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः।* श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई अपने वैष्णव गुरु को प्रसन्न कर ले तो उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाएँगी।

मामप्रीणत आयुष्मन्दर्शनं दुर्लभं हि मे ।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; अप्रीणतः—बिना प्रसन्न किये; आयुष्मन्—हे दीर्घजीवी प्रह्लाद; दर्शनम्—दर्शन; दुर्लभम्—कभी-कभी; हि—निस्सन्देह; मे—मेरा; दृष्ट्वा—देख कर; माम्—मुझको; न—नहीं; पुनः—फिर; जन्तुः—जीव; आत्मानम्—अपने लिए; तप्तुम्—पछताने के लिए; अर्हति—पात्र है, योग्य है।

हे प्रह्लाद, तुम दीर्घजीवी होओ, मुझे प्रसन्न किये बिना कोई न तो मुझे जान सकता है, न मेरे महत्त्व को समझ सकता है, किन्तु जिसने मेरा दर्शन कर लिया है या मुझे प्रसन्न कर लिया है उसे अपनी तुष्टि के लिए पछताना नहीं पड़ता।

तात्पर्य : भगवान् को प्रसन्न किये बिना कोई किसी तरह से भी सुखी नहीं रह सकता किन्तु जिसने भगवान् को प्रसन्न करना सीख लिया है उसे अपनी भौतिक दशा पर और अधिक पछताना नहीं होता।

प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः ।
श्रेयस्कामा महाभाग सर्वासामाशिषां पतिम् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

प्रीणन्ति—प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं; हि—निस्सन्देह; अथ—इसके कारण; माम्—मुझको; धीराः—जो गम्भीर तथा बुद्धिमान हैं; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से, भक्ति के विभिन्न भावों से; साधवः—सदाचारी पुरुष (सभी प्रकारसे पूर्ण); श्रेयस्-कामाः—जीवन में श्रेष्ठ लाभ की इच्छा करने वाले; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; सर्वासाम्—समस्त; आशिषाम्—आशीर्वादों के; पतिम्—स्वामी को (मुझको)।

हे प्रह्लाद, तुम अत्यन्त भाग्यशाली हो। तुम मुझसे यह जान लो कि जो अत्यन्त चतुर तथा ऊपर उठे हुए हैं, वे सभी विभिन्न भावों द्वारा मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जो हर एक की सारी इच्छाओं को पूरा कर सकता हूँ।

तात्पर्य : *धीराः सर्वभावेन* शब्दों का अर्थ ''तुम जिस तरह चाहो'' नहीं है। *भाव* तो ईश-प्रेम की प्रारम्भिक दशा है—

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।

साधकानाम् अयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(*भक्तिरसामृतसिंधु* १.४.१६)

ईश-प्रेम तक पहुँचने के पूर्व *भाव* दशा अन्तिम विभाग है। *सर्वभाव* का अर्थ है कि मनुष्य भगवान् को कई दिव्य भावों से प्रेम कर सकता है—यथा दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य भाव। *शान्त* अवस्था में मनुष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति की सीमारेखा पर होता है। ईश्वर का शुद्ध प्रेम *दास्य* भाव से प्रारम्भ होता है और *सख्य, वात्सल्य* में विकसित होता हुआ *माधुर्य* भाव को प्राप्त होता है। फिर भी इन पाँचों भावों

में से किसी एक द्वारा भगवान् की प्रेमाभक्ति की जा सकती है। चूँकि हमारा मुख्य कार्य भगवान् से प्रेम करना है, अतएव मनुष्य उपर्युक्त प्रेम के किसी भी पद से सेवा कर सकता है।

श्रीनारद उवाच
एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः ।
एकान्तित्वाद्भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तमः ॥५५॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; प्रलोभ्यमानः—लुभाया जाकर; अपि—यद्यपि; वरैः—आशीषों से; लोक—जगत को; प्रलोभनैः—विभिन्न प्रकार के लोभों से; एकान्तित्वात्—पूर्ण समर्पण करने के कारण; भगवति—भगवान् में; न ऐच्छत्—नहीं चाहा; तान्—उन आशीर्वादों को; असुर-उत्तमः—असुरों के परिवार में श्रेष्ठ प्रह्लाद महाराज ने।

नारद मुनि ने कहा : प्रह्लाद महाराज भौतिक सुख की सदा कामना करने वाले असुरकुल के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं। यद्यपि भगवान् ने उन्हें भौतिक सुख के लिए सभी वरदान दिए थे और वे उन्हें प्रलोभन दे रहे थे फिर भी अपनी अनन्य कृष्ण-भक्ति के कारण उन्होंने इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कोई भी भौतिक लाभ स्वीकार करना पसन्द नहीं किया।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज तथा ध्रुव महाराज जैसे शुद्ध भक्त भक्ति की किसी भी अवस्था में भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रखते। जब भगवान् ध्रुव महाराज के समक्ष उपस्थित हुए तो ध्रुव ने उनसे किसी भौतिक लाभ की चाह नहीं की—*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे।* शुद्ध भक्त होने के कारण उन्होंने भगवान् से किसी प्रकार के लाभ की याचना नहीं कर सके। इस प्रसंग में श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमेउपदेश दिया है—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे जगदीश! मैं ऐसे वरों के लिए प्रार्थना नहीं करता जिनसे भौतिक सम्पत्ति, नाम या सौन्दर्य प्राप्त हो। मेरी एकमात्र इच्छा आपकी सेवा करने की है। कृपया मुझे अपने दास के दास की सेवा में लगा लें।"

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत "प्रह्लाद द्वारा नृसिंहदेव का शान्त किया जाना" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दस

भक्त शिरोमणि प्रह्लाद

इस अध्याय में वर्णन किया गया है कि प्रह्लाद महाराज को प्रसन्न करने के बाद भगवान् नृसिंहदेव किस तरह अन्तर्धान हो गये। इसमें शिवजी द्वारा प्रदत्त वर का भी उल्लेख है।

नृसिंहदेव प्रह्लाद महाराज को एक-एक करके अनेक वरदान देना चाह रहे थे, किन्तु उन्हें आध्यात्मिक प्रगति में बाधक सोचकर प्रह्लाद महाराज ने एक भी वर स्वीकार नहीं किया। उल्टे उन्होंने अपने को भगवान् के चरणकमलों में पूरी तरह समर्पित कर दिया। उन्होंने कहा ''यदि भगवान् की भक्ति में लगा रहने वाला मनुष्य निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रार्थना करता है, तो वह शुद्ध भक्त क्या भक्त भी नहीं कहला सकता। उसे ऐसा व्यापारी ही कहा जा सकता है, जो लेन-देन के व्यापार में लगा रहता है। इसी प्रकार, जो स्वामी अपने सेवक से सेवा कराकर उसे प्रसन्न करना चाहता है, वह भी असली स्वामी नहीं है।'' अतएव प्रह्लाद महाराज ने भगवान् से कोई याचना नहीं की, प्रत्युत उन्होंने कहा कि यदि भगवान् उन्हें वर देना ही चाहते हैं, तो वे उन्हें यह विश्वास दिला दें कि वे भौतिक इच्छाओं के लिए कोई वर माँगने को नहीं प्रेरित नहीं करेंगे। कामेच्छाओं के बदले भक्ति का विनिमय सदैव प्रधान बना रहता है। ज्योंही कामेच्छाएँ जाग्रत हो उठती हैं त्योंही मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन, जीवन, आत्मा, धर्म, धैर्य, बुद्धि, शर्म, सौन्दर्य, बल, स्मृति तथा सत्यनिष्ठा सभी विलुप्त हो जाते हैं। मनुष्य तभी अनन्य भक्ति कर सकता है जब उसके मन में भौतिक इच्छाएँ न हों।

प्रह्लाद महाराज की अनन्य भक्ति से भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए फिर भी उन्होंने एक भौतिक वरदान दिया कि वे इस जगत में पूर्णतया सुखी रहेंगे और अगले जीवन में वैकुण्ठ में निवास करेंगे। उन्होंने यह भी वरदान दिया कि वे *मन्वन्तर* के अन्त तक इस जगत के राजा रहेंगे, उन्हें भगवान् की महिमा का श्रवण करने की सुविधा प्राप्त होती रहेगी और वे कल्मषहीन भक्तियोग द्वारा भगवान् की सेवा करते हुए उन्हीं पर पूरी तरह आश्रित रहेंगे। भगवान् ने प्रह्लाद को उपदेश दिया कि वे भक्तियोग के द्वारा यज्ञ सम्पन्न करें, क्योंकि यह राजा का कर्तव्य है।

प्रह्लाद महाराज ने भगवान् द्वारा प्रदत्त सब कुछ स्वीकार कर लिया और उनसे अपने पिता का उद्धार करने के लिए प्रार्थना की। इस प्रार्थना के बदले भगवान् ने उन्हें आश्वस्त किया कि जिस परिवार में उनके समान शुद्ध भक्त उत्पन्न हो उस भक्त का न केवल पिता, अपितु उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ मुक्त हो

जाती हैं। भगवान् ने प्रह्लाद से यह भी कहा कि वे अपने पिता की मृत्यु के बाद समुचित कर्मकाण्ड सम्पन्न करें।

तब वहाँ पर उपस्थित ब्रह्माजी ने भगवान् की अनेक प्रकार की स्तुति की और कृतज्ञता प्रकट की कि उन्होंने प्रह्लाद महाराज को ऐसा वरदान दिया है। भगवान् ने ब्रह्माजी को सलाह दी कि वे असुरों को उस तरह वरदान न दें जैसाकि उन्होंने हिरण्यकशिपु को दिया था क्योंकि ऐसे वरों से वे आसक्त हो जाते हैं। तब नृसिंहदेव अन्तर्धान हो गये। उसी दिन ब्रह्मा तथा शुक्राचार्य द्वारा प्रह्लाद महाराज विश्व के सिंहासन पर बिठाये गये।

इस तरह नारद मुनि ने युधिष्ठिर महाराज से प्रह्लाद महाराज का चरित्र कह सुनाया। तत्पश्चात् उन्होंने भगवान् रामचन्द्र द्वारा रावण वध तथा द्वापर युग में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के वध का वर्णन किया। शिशुपाल भगवान् में लीन हो गया था और उसे सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई थी। नारद मुनि ने युधिष्ठिर महाराज की प्रशंसा की, क्योंकि भगवान् कृष्ण पाण्डवों के सुहृद तथा मित्र थे और सदैव उनके घर में रुका करते थे। इस तरह पाण्डवों का भाग्य प्रह्लाद महाराज से बढ़कर था।

बाद में नारद मुनि ने बताया कि मय-दानव ने किस तरह उन असुरों के लिए त्रिपुर की रचना की जिन्होंने अत्यन्त बलशाली बन कर देवताओं को हराया। इस हार के कारण रुद्र या शिव ने त्रिपुर को ध्वस्त कर दिया जिसके कारण वे त्रिपुरारि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी कारण से रुद्र देवताओं द्वारा अत्यंत प्रशंसित तथा पूजित हैं। यह कथा इस अध्याय के अन्त में आती है।

श्रीनारद उवाच
भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भकः ।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; भक्ति-योगस्य—भक्ति के नियमों का; तत्—वे (नृसिंहदेव द्वारा दिये गये वर); सर्वम्—उनमें से प्रत्येक; अन्तरायतया—अवरोध के होने से (भक्तियोग के पथ पर); अर्भकः—बालक रूप प्रह्लाद महाराज; मन्यमानः—मानते हुए; हृषीकेशम्—नृसिंहदेव को; स्मयमानः—मुसकाते हुए; उवाच—कहा; ह—भूतकाल का सूचक।

नारद मुनि ने आगे कहा : यद्यपि प्रह्लाद महाराज बालक थे किन्तु जब उन्होंने नृसिंहदेव द्वारा दिये गये वरों को सुना तो उन्होंने इन्हें भक्ति के मार्ग में अवरोध समझा। तब वे विनीत भाव से मुसकाये और इस तरह बोले।

तात्पर्य : भक्ति का परम लक्ष्य भौतिक उपलब्धियाँ नहीं है, अपितु ईश-प्रेम है। इसलिए प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज, अम्बरीष महाराज, युधिष्ठिर महाराज तथा अनेक भक्त राजाओं ने अत्यन्त ऐश्वर्यवान् होते हुए भी भगवान् की सेवा में इस ऐश्वर्य को लगाया, अपनी इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं। निस्सन्देह, भौतिक ऐश्वर्य का स्वामित्व सदैव भयावह है क्योंकि भौतिक ऐश्वर्य के वशीभूत होकर मनुष्य भक्ति से पथभ्रष्ट हो सकता है। तो भी शुद्ध भक्त कभी भी भौतिक ऐश्वर्य से भ्रमित नहीं होता (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। उल्टे, उसके पास जो कुछ भी रहता है उसे वह शत-प्रतिशत भगवान् की सेवा में लगाता है। जब कोई भौतिक सम्पत्ति से आकृष्ट होता है, तो इस सम्पत्ति को माया द्वारा प्रदत्त माना जाता है, किन्तु जब वह इस सम्पत्ति का पूरा उपयोग सेवा में करता है, तो उसे ईश्वर का उपहार या भक्ति को सम्वर्धित करने के लिए कृष्ण-प्रदत्त सुविधा माना जाता है।

श्रीप्रह्लाद उवाच
मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तंकामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने (भगवान् से) कहा; मा—मत; माम्—मुझको; प्रलोभय—लालच दीजिए; उत्पत्त्या—मेरे जन्म के कारण (असुर कुल में); सक्तम्—(मैं पहले से ही) अनुरक्त; कामेषु—भौतिक भोग में; तैः—उन सभी; वरैः—भौतिक सम्पत्ति के वरों द्वारा; तत्-सङ्ग-भीतः—ऐसी भौतिक संगति से डर कर; निर्विण्णः—भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया विरक्त होकर; मुमुक्षुः—भौतिक जीवन से मुक्त होने का इच्छुक; त्वाम्—आपके चरणकमलों में; उपाश्रितः—मैंने शरण ले ली है।.

प्रह्लाद महाराज ने आगे कहा : हे प्रभु, हे भगवान्, नास्तिक परिवार में जन्म लेने के कारण मैं स्वभावतः भौतिक भोग के प्रति अनुरक्त हूँ; अतएव आप मुझे इन मोहों से मत ललचाइये। मैं भौतिक दशाओं से अत्यधिक भयभीत हूँ और भौतिकतावादी जीवन से मुक्त होने का इच्छुक हूँ। यही कारण है कि मैंने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन का अर्थ है शरीर तथा शरीर सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु से आसक्ति। यह आसक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए कामेच्छा पर और वह भी विशेष रूप से मैथुनसुख पर आधारित है। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः*—जब मनुष्य भौतिक भोग के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है, तो उसका सारा ज्ञान जाता रहता है (*हृतज्ञानाः*)। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो लोग भौतिक भोग के प्रति आसक्त होते हैं, वे विविध भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा करते हैं। वे देवी दुर्गा

तथा शिवजी की पूजा के प्रति विशेष अनुरक्त रहते हैं, क्योंकि यह दिव्य दम्पति अपने भक्तों को समस्त भौतिक ऐश्वर्य प्रदान कर सकता है। लेकिन प्रह्लाद महाराज समस्त भौतिक भोग से विरक्त थे, अतएव उन्होंने नृसिंहदेव के चरणकमलों की शरण ग्रहण की, किसी अन्य देवता के चरण कमल की नहीं। यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यदि कोई इस भौतिक जगत से, तीनों तापों से तथा *जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि* से छूटना चाहता है, तो उसे भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् की शरण के बिना भौतिकतावादी जीवन से मुक्ति सम्भव नहीं है। नास्तिक लोग भौतिक भोग के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं, अतएव यदि उन्हें भौतिक भोग का अधिक से अधिक अवसर मिलता है, वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु प्रह्लाद महाराज इस ओर से अत्यन्त सतर्क थे। यद्यपि उनका जन्म भौतिकतावादी पिता से हुआ था, किन्तु भक्त होने के कारण उन्हें कोई भौतिक इच्छा न थी (*अन्याभिलाषिताशून्यम्*)।

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान्संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भृत्य-लक्षण-जिज्ञासुः—शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करने का इच्छुक; भक्तम्—भक्त को; कामेषु—भौतिक जगत में, जहाँ कामेच्छाएँ प्रधान हैं; अचोदयत्—भेजा; भवान्—आपने; संसार-बीजेषु—इस जगत में उपस्थित रहने का मूल कारण; हृदय-ग्रन्थिषु—(भौतिक सुख की इच्छाएं) जो समस्त बद्धजीवों के हृदयों के भीतर हैं; प्रभो—हे पूज्य भगवान्!.

हे मेरे अराध्य देव, चूँकि हर एक के हृदय में भौतिक संसार के मूल कारण कामेच्छाओं का बीज रहता है, अतएव आपने मुझे इस भौतिक जगत में शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करने के लिए भेजा है।

तात्पर्य : *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में *नित्यसिद्ध* तथा *साधनसिद्ध* भक्तों के विषय में पर्याप्त चर्चा दी हुई है। *नित्यसिद्ध* भक्त इस संसार में अपने-उदाहरण द्वारा भक्त बनने की शिक्षा देने के लिए वैकुण्ठलोक से आते हैं। इस जगत के जीव ऐसे भक्तों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और इसतरह भगवद्धाम जाने में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं। *नित्यसिद्ध* भक्त भगवान् के आदेश से वैकुण्ठलोक से आता है और अपने उदाहरण द्वारा यह दिखलाता है कि किस तरह शुद्ध भक्त बना जाये (*अन्याभिलाषिता शून्यम्*)। इस जगत में आने पर भी *नित्यसिद्ध* भक्त भौतिक भोग के प्रलोभनों में नहीं आता। इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण महाभागवत भक्त प्रह्लाद महाराज हैं, जो *नित्यसिद्ध* थे। यद्यपि उनका जन्म नास्तिक

हिरण्यकशिपु के परिवार में हुआ था, किन्तु वे किसी तरह के भौतिक भोग के प्रति आसक्त नहीं थे। भगवान् चाहते थे कि प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट करें, अतएव उन्हें भौतिक वर स्वीकार करने के लिए फुसलाना चाहा, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उल्टे, उन्होंने अपने निजी उदाहरण से शुद्ध भक्त के लक्षण प्रकट किये। दूसरे शब्दों में, भगवान् न तो स्वयं अपने भौतिक शुद्ध भक्त को इस भौतिक संसार में भेजना चाहते हैं, न ही भक्त को यहाँ आने में कोई भौतिक प्रयोजन रहता है। जब भगवान् स्वयं इस जगत में अवतार के रूप में आते हैं, तो वे भौतिक परिवेश से आकृष्ट नहीं होते और उन्हें भौतिक कार्य से कोई मतलब नहीं रहता फिर भी वे अपने निजी उदाहरण से सामान्य व्यक्ति को भक्त बनना सिखाते हैं। इसी प्रकार जो भक्त भगवान् के आदेश से यहाँ आता है, वह भी अपने निजी आचरण से दिखाता है कि शुद्ध भक्त कैसे बना जाए। इसलिए शुद्ध भक्त सभी जीवों के लिए, जिनमें ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, व्यावहारिक उदाहरण होता है।

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥ ४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यथा—और कुछ; ते—तुम्हारा; अखिल-गुरो—हे समस्त सृष्टि के परम शिक्षक; घटेत—ऐसा हो सकता है; करुणा-आत्मनः—परम पुरुष जो अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं; यः—जो व्यक्ति; ते—तुमसे; आशिषः—भौतिक लाभ; आशास्ते—इच्छा करता है (आपकी सेवा करने के बदले में); न—नहीं; सः—ऐसा व्यक्ति; भृत्यः—सेवक; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; वणिक्—व्यापारी (जो अपने व्यापार से लाभ उठाना चाहता है)।

अन्यथा हे भगवान्, हे समस्त जगत के परम शिक्षक, आप अपने इस भक्त के प्रति इतने दयालु हैं कि आपने उससे कुछ भी ऐसा करने को प्रेरित नहीं किया जो उसके लिए अलाभकारी हो। दूसरी ओर, जो व्यक्ति आपकी भक्ति के बदले में कुछ भौतिक लाभ चाहता है, वह आपका शुद्ध भक्त नहीं हो सकता। वह उस व्यापारी की तरह ही है, जो सेवा के बदले में लाभ चाहता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी भक्त के पास या भगवान् के मन्दिर में किसी भौतिक लाभ की प्राप्त करने के लिए आता है। ऐसे व्यक्ति को यहाँ पर वणिक कहा गया है। *भगवद्गीता* में *आर्तो जिज्ञासुरार्थार्थी* का वर्णन है। *आर्त* शारीरिक दृष्टि से पीड़ित व्यक्ति को सूचित करने वाला है और *अर्थार्थी* धन चाहने वाले को। ऐसे व्यक्ति अपने दुख को दूर करने या धन प्राप्त

करने के लिए भगवान् से आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास जाने को प्रेरित किए जाते हैं। उन्हें *सुकृती* या पवित्र कहा गया है, क्योंकि वे दुख पड़ने या धन की आवश्यकता होने पर परमेश्वर के पास पहुँचते हैं। बिना पवित्र हुए कोई भगवान् के पास तक नहीं पहुँच सकता। भले ही ऐसा सुकृती कुछ भौतिक लाभ पा ले, किन्तु जो भौतिक लाभ का इच्छुक रहता है, वह शुद्ध भक्त नहीं हो सकता। जब शुद्ध भक्त को भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है, तो वह उसके पवित्र कार्य के कारण नहीं अपितु भगवान् की सेवा के कारण होता है। भगवान् की सेवा करने पर व्यक्ति स्वत: पवित्र बन जाता है, अतएव शुद्ध भक्त *अन्याभिलाषिताशून्यम्* होता है। उसे न तो भौतिक लाभ की इच्छा रहती है, न ही भगवान् उसे भौतिक लाभ का प्रलोभन देते हैं। जब भक्त को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, तो भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं (*योगक्षेमं वहाम्यहम्*)।

कभी-कभी भौतिकतावादी लोग भगवान् को फल-फूल चढ़ाने मन्दिर में जाते हैं, क्योंकि उन्होंने *भगवद्गीता* से सीख रखा है कि यदि भक्त कुछ फल-फूल अर्पित करता है, तो भगवान् उन्हें स्वीकार करते हैं। *भगवद्गीता* (९.२६) में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन: ॥

''यदि कोई प्रेम तथा भक्तिपूर्वक मुझे एक पत्ती, एक फूल या जल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे ग्रहण करूँगा।'' इस तरह व्यावसायिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति सोचता है कि यदि उसे फूल चढ़ाने मात्र से कुछ लाभ हो सके—जैसे कि उसे प्रचुर धन मिल सके—तो यह अच्छा सौदा हो। ऐसे व्यक्तियों को शुद्ध भक्त नहीं माना जाता। चूँकि उनकी इच्छाएँ शुद्ध नहीं होतीं, अतएव भक्त होने का दिखावा करने के लिए मन्दिर में जाने पर भी वे व्यापारी ही बने रहते हैं। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*—जब कोई भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह मुक्त हो जाता है तभी वह शुद्ध हो सकता है और उसी शुद्ध अवस्था में वह भगवान् की सेवा कर सकता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* यही शुद्ध भक्ति-पद है।

आशासानो न वै भृत्य: स्वामिन्याशिष आत्मन: ।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥ ५॥

शब्दार्थ

आशासानः—(सेवा के बदले) इच्छाएँ रखने वाला व्यक्ति; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; भृत्यः—योग्य सेवक या भगवान् का शुद्ध भक्त; स्वामिनि—स्वामी से; आशिषः—भौतिक लाभ; आत्मनः—अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए; न—न तो; स्वामी—स्वामी, प्रभु; भृत्यतः—सेवक से; स्वाम्यम्—स्वामी होने के श्रेष्ठ पद से; इच्छन्—चाहते हुए; यः—ऐसा स्वामी जो; राति—प्रदान करता है; च—भी; आशिषः—भौतिक लाभ।

जो सेवक अपने स्वामी से भौतिक लाभ की इच्छा रखता है, वह निश्चय ही योग्य सेवक या शुद्ध भक्त नहीं है। इसी प्रकार जो स्वामी अपने सेवक को इसलिए आशीष देता है कि स्वामी के रूप में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे, वह भी शुद्ध स्वामी नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:*—जिनके मन भौतिक इच्छाओं द्वारा मलिन हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं। देवता कभी स्वामी नहीं बन सकता, क्योंकि स्वामी तो भगवान् हैं। इसलिए देवतागण अपना सम्मानित पद बनाये रखने के लिए अपने पूजकों को मनवांछित आशीष देते रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक समय एक असुर ने शिवजी से यह वरदान प्राप्त किया कि वह जिसके सिर पर अपना हाथ रख दे वह मर जाये। ऐसे वरदान देवताओं से प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु यदि कोई भगवान् की पूजा करता है, तो वे कभी ऐसे गर्हित वरदान नहीं देंगे। इसके विपरीत, *श्रीमद्भागवत* (१०.८८.८) में कहा गया है—*यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।* यदि कोई भौतिकतावादी होने के साथ-साथ परमेश्वर का दास बनना चाहता है, तो भगवान् अपने भक्त पर परम अनुकम्पा करके उसका सारा भौतिक ऐश्वर्य हर लेते हैं और बाध्य कर देते हैं कि वह भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाए। प्रह्लाद महाराज शुद्ध भक्त तथा शुद्ध स्वामी का अन्तर बताते हैं। भगवान् शुद्ध स्वामी या परम स्वामी हैं जबकि निष्काम अनन्य भक्त शुद्ध सेवक है। भौतिकतावादी प्रवृत्ति का व्यक्ति सेवक नहीं बन सकता और जो अपने सेवक पर अपनी रोब दिखाने के लिए व्यर्थ ही आशीष देता रहता है, वह असली स्वामी नहीं है।

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६॥

शब्दार्थ

अहम्—जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है; तु—निस्सन्देह; अकामः—निष्काम; त्वत्-भक्तः—निष्काम भाव से आपके प्रति पूर्णतया आसक्त; त्वम् च—आप भी; स्वामी—असली मालिक; अनपाश्रयः—निष्काम भाव से (सकाम होने पर आप स्वामी नहीं बन सकते); न—नहीं; अन्यथा—सेवक-सेव्य जैसे सम्बन्ध के बिना; इह—यहाँ; आवयोः—हमारा; अर्थः—किसी स्वार्थ के

(भगवान् शुद्ध स्वामी हैं और प्रह्लाद महाराज निःस्वार्थ शुद्ध भक्त हैं); राज—राजा; सेवकयोः—तथा सेवक के; इव—सदृश (जिस तरह राजा सेवक के लाभ हेतु कर लेता है या जनता राजा हेतु कर देती है)।

हे प्रभु, मैं आपका निःस्वार्थ सेवक हूँ और आप मेरे नित्य स्वामी हैं। सेवक तथा स्वामी होने के अतिरिक्त हमें कुछ भी नहीं चाहिए। आप प्राकृतिक रूप से मेरे स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ। हम दोनों में कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा था—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—प्रत्येक जीव भगवान् कृष्ण का शाश्वत दास है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (५.२९) में कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—मैं सभी लोकों का स्वामी और परम भोक्ता हूँ। भगवान् की यह स्वाभाविक स्थिति है और जीव की स्वाभाविक स्थिति है कि वह उनकी शरण में जाये (*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। यदि यह सम्बन्ध बना रहता है, तो स्वामी तथा सेवक के मध्य शाश्वत तथा वास्तविक सुख बना रहता है। दुर्भाग्यवश जब यह शाश्वत सम्बन्ध गड़बड़ा जाता है, तो जीव अलग रहते हुए सुखी बनना चाहता है और अपने स्वामी को अपना आदेशपालक समझ लेता है। इस तरह से सुख नहीं मिल सकता। स्वामी को भी चाहिए कि वह अपने सेवक की इच्छाएँ पूरी न करता रहे। यदि वह ऐसा करता है, तो वह असली स्वामी नहीं है। असली स्वामी तो वह आदेश देता है "तुम्हें यह करना है" और असली सेवक तुरन्त आदेश का पालन करता है। जब तक परमेश्वर एवं अधीनस्थ जीव के मध्य ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, तब तक असली सुख नहीं मिल सकता। जीव तो *आश्रय* है—सदैव अधीन—और भगवान् *विषय* हैं अर्थात् परम जीवन लक्ष्य हैं। दुर्भाग्यवश इस जगत में फँसे हुए लोग इसे नहीं जानते। *न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*—भौतिक शक्ति द्वारा मोहित होने से इस जगत का प्रत्येक जीव अचेत रहता है कि जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवान् विष्णु के पास जाना है।

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।

तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

पद्मपुराण में शिवजी अपनी पत्नी पार्वती अर्थात् देवी दुर्गा को बताते हैं कि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है और वे तभी प्रसन्न हो सकते हैं जब उनका दास प्रसन्न होता है। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु शिक्षा देते हैं—*गोपीभर्तुःपदकमलयोर्दासदासानुदासः।* मनुष्य को दास

का भी दास होना चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने भी भगवान् नृसिंहदेव से प्रार्थना की कि वे उन्हें अपने सेवक बना लें। भक्ति की यह निर्धारित विधि है। ज्योंही भक्त भगवान् को अपना आदेशवाहक बनाना चाहता है त्योंही भगवान् ऐसे स्वार्थी भक्त का स्वामी बनने से इनकार कर देते हैं। *भगवद्गीता* (४.११) में भगवान् कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जो जिस तरह मेरी शरण ग्रहण करता है उसी के अनुसार मैं उसे पुरस्कार प्रदान करता हूँ। भौतिकतावादी व्यक्ति सामान्यतया भौतिक लाभ की ओर प्रवृत्त होते हैं। जब तक व्यक्ति ऐसी दूषित अवस्था में रहता है तब तक उसे भगवद्धाम वापस जाने का लाभ नहीं मिल पाता।

यदि दास्यसि मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; **दास्यसि**—देना चाहते हैं; **मे**—मुझको; **कामान्**—इच्छित वस्तु; **वरान्**—अपने आशीर्वाद के रूप में; **त्वम्**—तुम; **वरद-ऋषभ**—हे भगवान् आप कोई भी वर दे सकते हैं; **कामानाम्**—भौतिक सुख की सारी इच्छाओं का; **हृदि**—अपने हृदय के भीतर; **असंरोहम्**—वृद्धि का न होना; **भव तः**—आपसे; **तु**—तब; **वृणे**—प्रार्थना करता हूँ; **वरम्**—ऐसे वरदान के लिए।

हे सर्वश्रेष्ठ वरदाता स्वामी, यदि आप मुझे कोई वांछित वर देना ही चाहते हैं, तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरे हृदय में किसी प्रकार की भौतिक इच्छाएँ न रहें।

तात्पर्य : श्री चैतन्य महाप्रभु ने हमें शिक्षा दी है कि भगवान् से किस प्रकार वरदान के लिए प्रार्थना की जाये। उन्होंने कहा—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवतात् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

''हे प्रभु! न तो मैं सम्पत्ति चाहता हूँ, न अनेक अनुयायी, न सुन्दर स्त्री, क्योंकि ये सभी भौतिकतावादी इच्छाएँ हैं। किन्तु यदि मुझे आपसे कोई वरदान माँगना ही हो तो मेरी प्रार्थना है कि मैं चाहे जिस किसी जीवन में जन्म ग्रहण करूँ, प्रत्येक दशा में मैं आपकी दिव्य भक्ति से विहीन न होऊँ।'' भक्तगण उन मायावादियों की तुलना में सदैव लाभप्रद स्थिति में रहते हैं, जो प्रत्येक वस्तु को निराकार या शून्य बना देना चाहते हैं। कोई भी मनुष्य शून्यवादी नहीं रह सकता है, उसके पास कुछ-न-कुछ तो होना ही चाहिए। अतएव भक्त सदैव कुछ-न-कुछ रखना चाहता है और इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्रह्लाद महाराज इस प्रकार करते हैं ''यदि मुझे आपसे कोई वरदान लेना ही है, तो मेरी

प्रार्थना है कि मेरे हृदय में कोई भौतिक इच्छा न रह जाये।'' भगवान् की सेवा करने की इच्छा लेशमात्र भी भौतिक नहीं है।

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; मनः—मन; प्राणः—प्राण; आत्मा—शरीर; धर्मः—धर्म; धृतिः—धैर्य; मतिः—बुद्धि; ह्रीः—लज्जा; श्रीः—ऐश्वर्य; तेजः—बल; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; सत्यम्—सत्य; यस्य—जिसकी कामेच्छाएँ; नश्यन्ति—विनष्ट हो जाती हैं; जन्मना—जन्म से ही।

हे भगवान्, जन्म काल से ही कामेच्छाओं के कारण मनुष्य की इन्द्रियों के कार्य, मन, जीवन, शरीर, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, ऐश्वर्य, बल, स्मृति तथा सत्यनिष्ठा समाप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है *कामं हृद्रोगम्।* भौतिकतावादी जीवन का अर्थ ही होता है कि मनुष्य कामेच्छा नामक भयंकर रोग से पीड़ित है। मुक्ति का अर्थ है कामेच्छा से मुक्त होना, क्योंकि ऐसी इच्छा के कारण ही मनुष्य को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करनी पड़ती है। जब तक उसकी कामेच्छाएँ पूरी नहीं हो पातीं, तब तक वह उन्हें पूरी करने के लिए बारम्बार जन्म लेता है। अतएव भौतिक इच्छाओं के कारण ही मनुष्य विभिन्न कार्य करता है और विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करके कभी न तुष्ट होने वाली इच्छाओं को पूरी करने का प्रयास करता है। इसकी एकमात्र औषधि है भक्ति में लग जाना जो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होने पर प्रारम्भ होती है। *अन्याभिलाषिताशून्यम्। अन्य-अभिलाषिता* का अर्थ ''भौतिक इच्छा'' और *शून्यम्* का अर्थ है ''से मुक्त।'' आध्यात्मिक जीव के कार्यकलाप आध्यात्मिक होते हैं और इच्छाएँ भी आध्यात्मिक होती हैं, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने वर्णन किया है—*मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि।* भगवान् की अनन्य भक्ति ही एकमात्र आध्यात्मिक इच्छा है। किन्तु इस इच्छा को पूरा करने के लिए मनुष्य को समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए। इच्छारहित का अर्थ है भौतिक इच्छाओं से मुक्ति। श्रील रूप गोस्वामी ने इसे *अन्याभिलाषिताशून्यम्* कहा है। जैसे ही मनुष्य में भौतिक इच्छाएं उत्पन्न होती है, उसकी आध्यात्मिक पहचान समाप्त हो जात है। तब जीवन का सारा साज-सामान जिसमें मनुष्य की इन्द्रियाँ, शरीर, धर्म, धैर्य तथा बुद्धि सम्मिलित हैं, मूल कृष्णचेतना से विपथ हो जाता है। भौतिक इच्छाओं के उदय होते ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों का तथा बुद्धि का उपयोग भगवान् की तुष्टि के लिए सही ढंग से

नहीं कर पाता। मायावादी विचारक निर्विशेष, संज्ञाहीन तथा मनरहित बनना चाहते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीव को जीवित रहना ही पड़ता है, सदैव इच्छाओं-आकांक्षाओं आदि से युक्त होकर। किन्तु इन्हें शुद्ध बनाना चाहिए जिससे मनुष्य भौतिक कल्मश के बिना आध्यात्मिक रूप से आकांक्षा कर सके। प्रत्येक जीव में ये प्रवृत्तियाँ रहती हैं, क्योंकि वह सजीव है। किन्तु भौतिकता से कलुषित होने पर वह भौतिक विपत्ति के हाथों में चला जाता है (*जन्ममृत्युजराव्याधि*)। यदि मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से बचना चाहता है, तो उसे भगवान् की भक्ति ग्रहण करनी चाहिए—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

''भक्ति का अर्थ है अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा में लगाना। जब आत्मा परमेश्वर की सेवा करता है, तो उसके दो अतिरिक्त प्रभाव होते हैं—एक तो वह समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है और दूसरा यह कि भगवान् की सेवा में लगने मात्र से ही मनुष्य की इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं।''

विमुञ्चति यदा कामान्मानवो मनसि स्थितान् ।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥ ९॥

शब्दार्थ

विमुञ्चति—छोड़ देता है; यदा—जब भी; कामान्—समस्त भौतिक इच्छाओं को; मानवः—मानव समाज; मनसि—मन के भीतर; स्थितान्—स्थित; तर्हि—तभी; एव—निस्सन्देह; पुण्डरीक-अक्ष—हे कमलनयन भगवान्; भगवत्त्वाय—भगवान् के समान ही ऐश्वर्यवान होने का; कल्पते—पात्र बनता है।

हे प्रभु, जब मनुष्य अपने मन से सारी भौतिक इच्छाएँ निकालने में सक्षम हो जाता है, तो वह आपके ही समान सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य का पात्र बन जाता है।

तात्पर्य : कभी-कभी नास्तिक लोग भक्त की आलोचना यह कह कर करते हैं ''यदि तुम भगवान् से वरदान लेना नहीं चाहते और यदि भगवान् का सेवक भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् है, तो फिर तुम भगवान् के सेवक बने रहने का वरदान क्यों माँगते हो?'' श्रीधर स्वामी की टीका है—*भगवत्त्वाय भगवत् समान ऐश्वर्याय। भगवत्त्व* अर्थात् भगवान् के ही समान होने का अर्थ भगवान् से तादात्म्य या उनके समान होना नहीं है, यद्यपि आध्यात्मिक जगत में सेवक स्वामी के समान ही ऐश्वर्यवान् होता है। भगवान् का सेवक दास, मित्र, पिता, माता या प्रेमी के रूप में भगवान् की सेवा में लगा रहता है और

ये सभी भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् होते हैं। यही *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* है। सेवक तथा स्वामी भिन्न होते हुए भी ऐश्वर्य में समान हैं। भगवान् से एकसाथ भिन्नता तथा एकत्त्व का यही अर्थ है।

ॐ नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने ।
हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नमः—मैं नमस्कार करता हूँ; भगवते—परम पुरुष को; तुभ्यम्—तुम्हें; पुरुषाय—परम पुरुष को; महा-आत्मने—परमात्मा को; हरये—भक्तों के समस्त दुखों को हरने वाले भगवान् को; अद्भुत-सिंहाय—आपके अद्भुत सिंह रूप नृसिंहदेव को; ब्रह्मणे—परब्रह्म को; परम-आत्मने—परमात्मा को।

हे षड्ऐश्वर्यवान् प्रभु, हे परम पुरुष, हे परमात्मा, हे समस्त दुखों के विनाशक, हे अद्भुत नृसिंह रूप में परम पुरुष, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में प्रह्लाद महाराज ने बतलाया कि भक्त *भगवत्व* को प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने दास पद को खो देता है। भगवान् के शुद्ध दास को, भले ही वह भगवान् के ही समान ऐश्वर्यवान् क्यों न हो, भगवान् को सादर नमस्कार करना होता है। प्रह्लाद महाराज भगवान् को शान्त करने में लगे थे, अतएव वे अपने को भगवान् के तुल्य नहीं मान रहे थे। उन्होंने अपनी स्थिति दास रूप में बतलाई और उन्हें सादर नमस्कार किया।

श्रीभगवानुवाच
नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष
आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः ।
तथापि मन्वन्तरमेतदत्र
दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; न—नहीं; एकान्तिनः—अनन्य भक्ति के अतिरिक्त और किसी इच्छा से विहीन; मे—मुझसे; मयि—मुझमें; जातु—किसी समय; इह—इस संसार में; आशिषः—वरदान; आशासते—आन्तरिक इच्छा; अमुत्र—अगले जीवन में; च—तथा; ये—जो भक्त; भवत्-विधाः—आपकी तरह; तथापि—फिर भी; मन्वन्तरम्—एक मनु की आयु तक; एतत्—यह; अत्र—इस संसार में; दैत्य-ईश्वराणाम्—भौतिकतावादी मनुष्यों के ऐश्वर्यों का; अनुभुङ्क्ष्व—भोग कर सकते हो; भोगान्—सभी भौतिक ऐश्वर्यों को।

भगवान् ने कहा : हे प्रिय प्रह्लाद, तुम जैसा भक्त न तो इस जीवन में, न ही अगले जीवन में किसी प्रकार के भौतिक ऐश्वर्य की कामना करता है। तो भी मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम इस मन्वन्तर तक असुरों के राजा के रूप में इस भौतिक जगत में उनके ऐश्वर्य का भोग करो।

तात्पर्य : प्रत्येक मनु की आयु एकहत्तर युग चक्र की अनधि के तुल्य परिगणित की जाती है, जिसमें प्रत्येक युग ४३०००००० वर्ष के समान होता है। यद्यपि नास्तिक लोग भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना चाहते हैं और बड़े जोर-शोर से बड़े-बड़े आवास, सड़कें, शहर तथा कारखाने बनवाने का प्रयास करते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश, वे अस्सी, नब्बे वर्ष या बहुत हुआ तो एक सौ वर्षों से अधिक जीवित नहीं रह सकते। यद्यपि भौतिकतावादी व्यक्ति व्यामोह का साम्राज्य बनाने में इतना श्रम करता है लेकिन वह कुछ वर्षों से अधिक तक उसका भोग नहीं कर पाता। फिर भी चूँकि प्रह्लाद महाराज भक्त थे, अतएव भगवान् ने उन्हें भौतिकतावादियों के राजा के रूप में ऐश्वर्य-भोग करने की अनुमति प्रदान कर दी। प्रह्लाद महाराज ने हिरण्यकशिपु के परिवार में जन्म लिया था, जो सर्वोच्च भौतिकतावादी था और चूँकि प्रह्लाद अपने पिता के प्रामाणिक उत्तराधिकारी थे, अतएव भगवान् ने उन्हें अपने पिता द्वारा बनाये गये साम्राज्य पर इतने वर्षों तक भोग करने की अनुमति प्रदान की जिसकी गणना किसी भी भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए कर पाना असम्भव है। भक्त को भौतिक ऐश्वर्य की कामना नहीं करनी होती, किन्तु यदि वह शुद्ध भक्त होता है, तो बिना किसी प्रयास के उसे भौतिक सुख-भोग करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। अतएव हर एक को सलाह दी जाती है कि वह सभी परिस्थितियों में भक्ति करे। यदि कोई भौतिक ऐश्वर्य चाहता है, तो वह शुद्ध भक्त भी बन सकता है और इस तरह उसकी इच्छापूर्ति हो जाएगी। *श्रीमद्भागवत* (२.३.१०) में कहा गया है—

अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

"चाहे कोई कुछ चाहे या नहीं अथवा वह भगवान् में तदाकार होना चाहे, तभी तो वह तभी बुद्धिमान है। यदि वह भगवान् की दिव्य सेवा द्वारा उनकी पूजा करता है।"

कथा मदीया जुषमाण: प्रियास्त्व-
मावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् ।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं
यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कथाः—सन्देश या उपदेश; मदीयाः—मेरे द्वारा प्रदत्त; जुषमाणः—सदैव सुनकर या विचार करके; प्रियाः—अत्यन्त प्रिय; त्वम्—तुम; आवेश्य—पूर्णतया लीन होकर; माम्—मुझको; आत्मनि—अपने हृदय में; सन्तम्—विद्यमान रहकर; एकम्—एक

(वही परमात्मा); सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; अधियज्ञम्—समस्त कर्मकाण्डों के भोक्ता; ईशम्—परमेश्वर को; यजस्व—पूजो; योगेन—भक्ति योग द्वारा; च—भी; कर्म—सकाम कर्म; हिन्वन्—त्यागकर।

भले ही तुम इस भौतिक जगत में ही क्यों न रहो, लेकिन तुम्हें निरन्तर मेरे उपदेशों तथा वचनों को सुनना चाहिए और मेरे ही विचार में लीन रहना चाहिए, क्योंकि मैं हर एक के हृदय में परमात्मा रूप में निवास करता हूँ। अतएव तुम सकाम कर्मों का परित्याग करके मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : जब भक्त भौतिक दृष्टि से अत्यधिक ऐश्वर्यवान् बन जाता है, तो उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि वह अपने सकाम कर्मों का फल भोग रहा है। इस जगत में भक्त अपने सारे ऐश्वर्यों को भगवान् की सेवा में लगाता है, क्योंकि वह यह योजना बनाता रहता है कि अपने ऐश्वर्य से भगवान् की किस तरह सेवा करे जैसाकि भगवान् स्वयं सलाह दे रहे हैं। उसके पास जो भी भौतिक सम्पत्ति होती है उसे वह भगवान् के यश को तथा उनकी सेवा के प्रसार में लगाता है। भक्त कभी भी ऐसे कर्म के फल को भोगने के लिए कोई भी सकाम कर्म या कर्मकाण्ड नहीं करता। प्रत्युत वह यह जानता है कि ऐसा कर्मकाण्ड अल्पज्ञ के लिए होता है। नरोत्तमदास ठाकुर ने अपनी कृति *प्रेम-भक्तिचन्द्रिका* में कहा है—*कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड*—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों ही विष के पात्रों के तुल्य हैं। जो इन दोनों की ओर आकृष्ट होता है, वह अपने मनुष्य जीवन को नष्ट कर देता है। अतएव भक्त कभी भी *कर्मकाण्ड* या *ज्ञानकाण्ड* में रूचि नहीं रखता। वह तो भगवान् की अनुकूल सेवा में (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*) अथवा भक्ति सम्बन्धी आध्यात्मिक कार्यों के अनुशीलन में रुचि रखता है।

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं
कलेवरं कालजवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भोगेन—भौतिक सुख की अनुभूतियों से; पुण्यम्—पुण्य कर्म या उनके काम; कुशलेन—पवित्रतापूर्वक कर्म करके (समस्त पवित्र कर्मों में भक्ति सर्वश्रेष्ठ है); पापम्—अपवित्र कार्यों के सभी प्रकार के फल; कलेवरम्—शरीर; काल-जवेन—शक्तिशाली काल द्वारा; हित्वा—त्याग कर; कीर्तिम्—कीर्ति, ख्याति; विशुद्धाम्—दिव्य या पूर्णतया शुद्ध; सुर-लोक-गीताम्—स्वर्ग में भी प्रशंसित; विताय—सारे ब्रह्माण्ड में विस्तार करके; माम्—मुझ तक; एष्यसि—वापस आओगे; मुक्त-बन्धः—बन्धन से मुक्त होकर।

हे प्रह्लाद, इस भौतिक जगत में रहते हुए तुम सुख का अनुभव करके अपने पुण्यकर्म से सारे फलों को समाप्त कर सकोगे और पुण्यकर्म करके पापकर्मों को विनष्ट कर दोगे। शक्तिशाली काल के कारण तुम अपना शरीर-त्याग करोगे, किन्तु तुम्हारे कार्यों की ख्याति का गुणगान स्वर्गलोक तक में होगा। तुम बन्धनों से मुक्त होकर भगवद्धाम को लौट सकोगे।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*एवं प्रह्लादस्यांशेन साधनसिद्धत्वं नित्यसिद्धत्वं च नारदादिवज्ज्ञेयम्।* भक्तों की दो श्रेणियाँ होती हैं—*साधनसिद्ध* तथा *नित्यसिद्ध।* प्रह्लाद महाराज मिश्रित *सिद्ध* हैं—अर्थात् वे अंशत: भक्ति के कारण और अंशत: शाश्वत् सिद्धि के कारण सिद्ध हैं। इनकी तुलना नारद जैसे भक्तों से की जाती है। भूतकाल में नारद मुनि पहले एक दासी पुत्र थे, किन्तु अगले जन्म में भक्ति करने के कारण उन्होंने *साधनसिद्धि* प्राप्त की। इतने पर भी वे *नित्यसिद्ध* थे, क्योंकि वे भगवान् को नहीं भुलाते।

कुशलेन शब्द अत्यन्त महत्त्वंपूर्ण है। मनुष्य को भौतिक जगत में अत्यन्त कौशल से रहना चाहिए। यह जगत द्वैत जगत कहलाता है, क्योंकि इसमें कभी पुण्य करना होता है, तो कभी पाप। यद्यपि कोई पाप नहीं करना चाहता, किन्तु यह संसार ऐसा बना है कि इसमें सदैव संकट बना रहता है (*पदं पदं यद् विपदाम्*)। इस तरह भक्ति करते हुए भी भक्त के अनेक शत्रु बन जाते हैं। प्रह्लाद महाराज को स्वयं इसका अनुभव हुआ, क्योंकि उनका पिता तक उनका शत्रु बन गया। भक्तों को चाहिए कि अत्यन्त कौशल के साथ वे सदैव भगवान् का चिन्तन करें जिससे दुख उनका स्पर्श भी न कर पाए। यह *पाप-पुण्य* की कुशल व्यवस्था है। प्रह्लाद महाराज जैसा प्रतिष्ठित भक्त *जीवन्मुक्त* होता है—अर्थात् इसी जीवन में भौतिक शरीर से मुक्त रहता है।

य एतत्कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः ।
त्वां च मां च स्मरन्काले कर्मबन्धात्प्रमुच्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—यह कार्य; कीर्तयेत्—कीर्तन करता है; मह्यम्—मुझको; त्वया—तुम्हारे द्वारा; गीतम्—प्रार्थना की गई; इदम्—यह; नरः—मनुष्य; त्वाम्—तुमको; च—भी; माम् च—मुझको भी; स्मरन्—स्मरण करते हुए; काले—कालान्तर में; कर्म-बन्धात्—कर्म के बन्धन से; प्रमुच्यते—छूट जाता है।

जो व्यक्ति तुम्हारे तथा मेरे कार्यों का सदैव स्मरण करता है और तुम्हारे द्वारा की गई प्रार्थनाओं का कीर्तन करता है, वह कालान्तर में भौतिक कर्म-फलों से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कहा गया है कि जो कोई प्रह्लाद महाराज के कार्य-कलापों का और उनसे सम्बन्धित नृसिंहदेव के कार्यकलापों का कीर्तन तथा श्रवण करता है यह धीरे-धीरे समस्त कर्मबन्धन से छूट जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.१५, २.५६) में कहा गया—

यं हि न व्यथयन्ति एते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ (अर्जुन)! जो व्यक्ति सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता और दोनों में स्थिर बना रहता है, वह निश्चय ही मुक्ति का पात्र है।"

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।

वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

"जो तीन तापों के होते हुए भी विचलित नहीं होता, जो सुख से फूल नहीं उठता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होता है, वह स्थिर चित्त वाला साधु (मुनि) कहलाता है।" भक्त को विषम परिस्थिति में न तो दुखी होना चाहिए, न भौतिक ऐश्वर्य में अत्यधिक प्रसन्न होना चाहिए। भौतिक जीवन की कुशल व्यवस्था यही है। चूँकि भक्त जानता है कि किस तरह कौशलपूर्वक व्यवस्था करनी चाहिए इसलिए वह *जीवन्मुक्त* कहलाता है। *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में रूप गोस्वामी बताते हैं—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

"जो व्यक्ति मनसा, वाचा, कर्मणा कृष्णचेतना में रहकर कर्म करता है (कृष्ण की सेवा करता है) वह इस भौतिक जगत में ही रहते हुए मुक्त पुरुष है, भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कर्मों में क्यों न लगा रहे।" जीवन की किसी भी परिस्थिति में भक्ति में निरन्तर लगे रहने के कारण भक्त समस्त भवबन्धन से मुक्त होता है—

भक्ति: पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।

"कोई भले ही मांसभक्षी परिवार में क्यों न उत्पन्न हो, किन्तु भक्ति में रत होने पर वह शुद्ध हो जाता है।" (*भागवत* ११.१४.२१) श्रील जीव गोस्वामी इस श्लोक को अपने समर्थन में उद्धृत करते

हैं कि जो कोई प्रह्लाद महाराज के शुद्ध जीवन तथा कार्य-कलापों का कीर्तन करता है, वह भौतिक कार्यकलापों से मुक्त हो जाता है।

श्रीप्रह्लाद उवाच

वरं वरय एतत्ते वरदेशान्महेश्वर ।
यदनिन्दत्पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥ १५॥
विद्धामर्षाशयः साक्षात्सर्वलोकगुरुं प्रभुम् ।
भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥ १६॥
तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात् ।
पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्री-प्रह्लादः उवाच—प्रह्लाद महाराज ने कहा; वरम्—आशीर्वाद; वरये—माँगता हूँ; एतत्—यह; ते—आपसे; वरद-ईशात्—जो ब्रह्मा तथा शिव देवताओं को भी वर प्रदान करते हैं ऐसे ईश्वर से; महा-ईश्वर—हे परमेश्वर; यत्—उस; अनिन्दत्—निन्दा की; पिता—पिता ने; मे—मेरे; त्वाम्—आपकी; अविद्वान्—ज्ञान-विहीन; तेजः—बल; ऐश्वरम्—श्रेष्ठता; विद्ध—दूषित होकर; अमर्ष—क्रोध में; आशयः—हृदय के भीतर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व-लोक-गुरुम्—समस्त जीवों के परम गुरु को; प्रभुम्—परम स्वामी को; भ्रातृ-हा—उसके भाई की हत्या करने वाला; इति—इस प्रकार; मृषा-दृष्टिः—मिथ्या बोध के कारण ईर्ष्यालु; त्वत्-भक्ते—आपके भक्त; मयि—मुझमें; च—तथा; अघ-वान्—घोर पाप करने वाला; तस्मात्—उससे; पिता—पिता; मे—मेरा; पूयेत—शुद्ध हो जावे; दुरन्तात्—महान्; दुस्तरात्—दुस्तर; अघात्—समस्त पापकर्मों से; पूतः—पवित्र हुआ (यद्यपि वह था); ते—तुम्हारी; अपाङ्ग—चितवन से; संदृष्टः—देखा जाकर; तदा—उस समय; कृपण-वत्सल—हे भौतिकतावादी पर दयालु।

प्रह्लाद महाराज ने कहा : हे परमेश्वर, चूँकि आप पतितात्माओं पर इतने दयालु हैं अतएव मैं आपसे एक ही वर माँगता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपने मेरे पिता की मृत्यु के समय अपनी कृपादृष्टि डालकर उन्हें पवित्र बना दिया था, किन्तु वे आपकी शक्ति तथा श्रेष्ठता से अनजान होने के कारण आप पर मिथ्या ही यह सोचकर क्रुद्ध थे कि आप उनके भाई को मारने वाले हैं। इस तरह उन्होंने समस्त जीवों के गुरु आपकी प्रत्यक्ष निन्दा की थी और आपको भक्त अर्थात् मेरे ऊपर जघन्य पातक किये थे। मेरी इच्छा है कि उन्हें इन पापों के लिए क्षमा कर दिया जाये।

तात्पर्य : यद्यपि हिरण्यकशिपु भगवान् की गोद के सम्पर्क में आते ही तथा भगवान् द्वारा दृष्टिपात किये जाने पर ही शुद्ध हो चुका था, किन्तु तो भी प्रह्लाद महाराज भगवान् के अपने मुख से सुनना चाहते थे कि उनकी अहैतुकी कृपा से उनका पिता शुद्ध हो गया। उन्होंने यह स्तुति अपने पिता के लिए की। वैष्णव पुत्र होने के नाते, अपने पिता द्वारा इतना कष्ट पहुँचाये जाने पर भी वे अपने पिता के वात्सल्य को भुला नहीं पाये थे।

श्रीभगवानुवाच
त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत्साधोऽस्य कुले जातो भवान्वै कुलपावनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्रिः-सप्तभिः—सात गुणित तीन अर्थात् इक्कीस; पिता—पिता; पूतः—पवित्र; पितृभिः—तुम्हारे पुरखों सहित; सह—सभी एकसाथ; ते—तुम्हारा; अनघ—हे निष्पाप व्यक्ति (प्रह्लाद महाराज); यत्—चूँकि; साधो—हे परम साधु पुरुष; अस्य—इस व्यक्ति के; कुले—वंश में; जातः—जन्म लिया; भवान्—तुमने; वै—निस्सन्देह; कुल-पावनः—पूरे वंश को पवित्र करनेवाले।

भगवान् ने कहा : हे परम पवित्र, साधु पुरुष, तुम्हारे पिता तुम्हारे परिवार के इक्कीस पुरखों सहित पवित्र कर दिये गये हैं। चूँकि तुम इस परिवार में उत्पन्न हुए थे, अतएव सारा कुल पवित्र हो गया।

तात्पर्य : *त्रिः सप्तभिः* का अर्थ है सात गुणित तीन। कोई भी मनुष्य अपने परिवार की विगत चार-पाँच पीढ़ियों अपने परदादा या उनके पिता तक के ही नाम गिन सकता है, किन्तु चूँकी भगवान् इक्कीस पुरखों का उल्लेख करते हैं, अतएव यह सूचित होता है कि कोई वरदान अन्य परिवारों तक भी प्रसार करता है। जिस परिवार में कोई इस समय जन्म लिए रहता है उसके अतिरिक्त वह अन्य परिवारों में भी जन्मा रहता है। इस प्रकार जब कोई वैष्णव किसी एक परिवार में जन्म लेता है, तो वह भगवत् कृपा से न केवल अपने उस परिवार को पवित्र बनाता है, अपितु उन परिवारों को भी पवित्र बनाता है जिनमें वह पहले जन्म लिए रहता है।

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ-जहाँ; च—भी; मत्-भक्ताः—मेरे भक्त; प्रशान्ताः—अत्यन्त शान्त; सम-दर्शिनः—सबों को समभाव से देखने वाले; साधवः—समस्त सद्गुणों से युक्त; समुदाचाराः—समान रूप से उदार; ते—वे सभी; पूयन्ते—पवित्र हो जाते हैं; अपि—भी; कीकटाः—पतित देश या उसके वासी।

जहाँ कहीं भी सदाचारी तथा सद्गुणसम्पन्न, शान्त एवं समदर्शी भक्त होते हैं वह देश तथा परिवार भले ही गर्हित क्यों न हो, पवित्र हो जाते हैं।

तात्पर्य : जहाँ भी प्रतिष्ठित भक्त ठहरते हैं, न केवल वे तथा उनके कुल अपितु समूचा देश पवित्र हो जाता है।

सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन ।
उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावविगतस्पृहाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से, यहाँ तक कि क्रोध तथा ईर्ष्या से युक्त; न—कभी नहीं; हिंसन्ति—ईर्ष्या करते हैं; भूत-ग्रामेषु—समस्त योनियों में; किञ्चन—इनमें से किसी के प्रति; उच्च-अवचेषु—ऊँच-नीच जीवों में; दैत्य-इन्द्र—हे दैत्यों के राजा, प्रह्लाद; मत्-भाव—मेरी भक्ति के कारण; विगत—त्यागा हुआ; स्पृहाः—क्रोध तथा लालच के सभी गुण।

हे दैत्यराज प्रह्लाद, मेरी भक्ति में अनुरक्त रहने के कारण मेरा भक्त उच्च तथा निम्न जीवों में भेद-भाव नहीं बरतता। सभी तरह से वह किसी से ईर्ष्या नहीं करता।

भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः ।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

भवन्ति—हो जाते हैं; पुरुषाः—मनुष्य; लोके—इस संसार में; मत्-भक्ताः—मेरे शुद्ध भक्त; त्वाम्—तुमको; अनुव्रताः—अनुसरण करते हुए; भवान्—तुम; मे—मेरा; खलु—निस्सन्देह; भक्तानाम्—समस्त भक्तों का; सर्वेषाम्—विभिन्न रसों में; प्रतिरूप-धृक्—यथार्थ आदर्श।

जो तुम्हारे आदर्श का अनुसरण करेंगे वे स्वभावतः मेरे शुद्ध भक्त हो जाएँगे। तुम मेरे भक्त का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हो और अन्य लोग तुम्हारे पदचिन्हों का अनुसरण करेंगे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य *स्कन्द पुराण* से एक उदाहरण देते हैं—

ऋते तु तात्त्विकान् देवान् नारदादींस्तथैव च।

प्रह्लादादुत्तमः को नु विष्णुभक्तौ जगत्त्रये॥

भगवान् के अनेकानेक भक्त हैं जिनकी गणना *श्रीमद्भागवत* (६.३.२०) में इस प्रकार कराई गई है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

बारह अधिकारी भक्तों में, जिनमें ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, मनु इत्यादि सम्मिलित हैं, प्रह्लाद महाराज सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

कुरु त्वं प्रेतकृत्यानि पितुः पूतस्य सर्वशः ।
मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान्यास्यति सुप्रजाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कुरु—सम्पन्न करो; त्वम्—तुम; प्रेत-कृत्यानि—मृत्यु के बाद के क्रिया-कर्म; पितुः—अपने पिता के; पूतस्य—पहले ही शुद्ध हुए; सर्वशः—सभी प्रकार से; मत्-अङ्ग—मेरा शरीर; स्पर्शनेन—स्पर्श करने से; अङ्ग—हे बालक; लोकान्—लोकों को; यास्यति—जाएगा; सु-प्रजाः—भक्त-नागरिक बनने के लिए।

मेरे बालक, तुम्हारा पिता अपनी मृत्यु के समय मेरे शरीर के स्पर्श मात्र से पहले ही पवित्र हो चुका है। तो भी पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न करे जिससे उसका पिता ऐसे लोक को जा सके जहाँ वह अच्छा नागरिक तथा भक्त बन सके।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि हिरण्यकशिपु पहले ही पवित्र हो चुका था, किन्तु पुनः भक्त बनने के लिए उसे उच्चलोक में जन्म लेना पड़ा था। प्रह्लाद महाराज को शिष्टाचार के रूप में अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए कहा गया, क्योंकि भगवान् किसी भी हालत में विधि-विधानों को रोकना नहीं चाहते। मध्व मुनि का भी आदेश है—

मधुकैटभौ भक्त्यभावा दूरौ भगवतो मृतौ।

तम एव क्रमादाप्तौ भक्त्या चेद्यो हरिं ययौ॥

जब भगवान् ने मधु-कैटभ असुरों को मार डाला तो उनके सम्बन्धियों ने भी अन्त्येष्टि क्रिया की जिससे वे दोनों भगवद्धाम वापस जा सकें।

पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

पित्र्यम्—पैतृक; च—भी; स्थानम्—स्थान पर, सिंहासन पर; आतिष्ठ—बैठो; यथा-उक्तम्—जैसा कहा गया है; ब्रह्मवादिभिः—वैदिक सभ्यता के पालनकर्ताओं द्वारा; मयि—मुझमें; आवेश्य—पूर्णतया लीन करके; मनः—मन को; तात—हे मेरे बालक; कुरु—सम्पन्न करो; कर्माणि—वैधानिक कार्य; मत्-परः—मेरे कार्य के लिए।

अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के बाद तुम अपने पिता के साम्राज्य का भार सँभालो। तुम सिंहासन पर बैठो और भौतिक कार्यकलापों से तनिक भी विचलित मत होओ। तुम अपना मन मुझ पर स्थिर रखो। तुम शिष्टाचार के रूप में वेदों के आदेशों का उल्लंघन किये बिना अपना विहित कार्य कर सकते हो।

तात्पर्य : जब कोई भक्त बन जाता है, तो वैदिक विधि-विधानों के प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। मनुष्य को अनेक कार्य करने होते हैं, किन्तु यदि कोई भगवद्भक्त बन जाता है, तो वह उनके लिए बाध्य नहीं होता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (११.५.४१) में कहा गया है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां

न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं

गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

जिसने भगवान् के चरणकमलों में शरण ले ली है, वह अपने पूर्वजों, ऋषियों, मानव समाज, सामान्य व्यक्ति या किसी जीव का ऋणी नहीं रह जाता।

तो भी भगवान् ने प्रह्लाद महाराज को विधि-विधान पालन करने की सलाह दी, क्योंकि वे राजा बनने जा रहे थे और अन्य लोगों को उनका अनुसरण करना था। इस तरह नृसिंहदेव ने प्रह्लाद महाराज को अपने राजनीतिक कार्यों में व्यस्त होने की सलाह दी जिससे लोग भगवद्भक्त बन सकें—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

''महापुरुष जो भी कर्म करता है, सामान्य जन उसी का अनुसरण करते हैं और वह अपने आदर्श कार्यों से जो प्रमाण प्रस्तुत करता है सारा संसार उसी का अनुगमन करता है।'' (*भगवद्गीता* ३.२१)। मनुष्य को किसी सांसारिक कार्य में आसक्त नहीं होना चाहिए, किन्तु भक्त सामान्य जन को दिखाने के लिए आदर्श रूप में ऐसा कार्य कर सकता है, जिससे वह वैदिक आदेशों से विपथ न हो।

श्रीनारद उवाच

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम् ।
यथाह भगवान्राजन्नभिषिक्तो द्विजातिभिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; **प्रह्लादः**—प्रह्लाद महाराज; **अपि**—भी; **तथा**—उस तरह से; **चक्रे**—सम्पन्न किया; **पितुः**—अपने पिता का; **यत्**—जो कुछ; **साम्परायिकम्**—मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले कर्मकाण्ड; **यथा**—जिस तरह; **आह**—आज्ञा दी; **भगवान्**—भगवान्; **राजन्**—हे राजा युधिष्ठिर; **अभिषिक्तः**—सिंहासन पर बैठाया गया; **द्वि-जातिभिः**—उपस्थित ब्राह्मणों द्वारा।

श्री नारद मुनि ने आगे कहा : भगवान् की आज्ञानुसार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। हे राजा युधिष्ठिर, तब उसे हिरण्यकशिपु के राजसिंहासन पर ब्राह्मणों के निर्देशानुसार बैठाया गया।

तात्पर्य : यह आवश्यक है कि समाज चार प्रकार के जन समूहों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में विभाजित हो। यहाँ हम यह देखते हैं कि यद्यपि प्रह्लाद महाराज सभी प्रकार से पूर्ण थे, किन्तु उन्होंने ब्राह्मणों के आदेशों का पालन किया जिन्होंने वैदिक अनुष्ठान सम्पन्न कराये। अतएव समाज में अत्यन्त बुद्धिमान वर्ग के नेता होने चाहिए जो वैदिक ज्ञान में पटु हों जिससे वे समग्र जनता को वैदिक नियमों का पालन करने के लिए मार्गदर्शन दे सकें और जनता क्रमशः पूर्ण बनकर भगवद्धाम जाने के योग्य बन सके।

प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम् ।
स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रसाद-सुमुखम्—भगवान् के प्रसन्न होने से जिसका मुख तेजोमय था; दृष्ट्वा—यह दशा देखकर; ब्रह्मा—ब्रह्माजी; नर-हरिम्—नृसिंहदेव को; हरिम्—भगवान्; स्तुत्वा—प्रार्थना करके; वाग्भिः—दिव्य शब्दों से; पवित्राभिः—पवित्र; प्राह—बोले; देव-आदिभिः—अन्य देवताओं से; वृतः—घिरे हुए।

अन्य देवताओं से घिरे हुए ब्रह्माजी का मुखमण्डल चमक रहा था क्योंकि भगवान् प्रसन्न थे। अतएव उन्होंने दिव्य शब्दों से भगवान् की प्रार्थना की।

श्रीब्रह्मोवाच
देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज ।
दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; देव-देव—हे समस्त देवताओं के स्वामी; अखिल-अध्यक्ष—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी; भूत-भावन—हे समस्त जीवों के कारण; पूर्व-ज—हे आदि पुरुष; दिष्ट्या—अपने उदाहरण से या हमारे सौभाग्य से; ते—तुम्हारे द्वारा; निहतः—मारा गया; पापः—अत्यन्त पापी; लोक-सन्तापनः—समग्र ब्रह्माण्ड को दुख देने वाला; असुरः—हिरण्यकशिपु नामक असुर।

ब्रह्माजी ने कहा : हे देवताओं के परम स्वामी, हे समग्र ब्रह्माण्ड के अध्यक्ष, हे समस्त जीवों के वरदाता, हे आदि पुरुष, यह हमारा सौभाग्य है कि आपने इस पापी असुर को मार डाला जो समग्र ब्रह्माण्ड को दुख देने वाला था।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.८) में *पूर्वज* शब्द की व्याख्या दी गई है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते।* ब्रह्मा समेत सारे देवता भगवान् से प्रकट होते हैं। अतएव समस्त कारणों के कारण *आदि पुरुष* गोविन्द हैं।

योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभि: ।
तपोयोगबलोन्नद्ध: समस्तनिगमानहन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

य:—जो व्यक्ति; असौ—वह (हिरण्यकशिपु); लब्ध-वर:—असामान्य वर प्रदान किये जाने पर; मत्त:—मुझसे; न वध्य:—न मारा जा सकने वाला; मम सृष्टिभि:—मेरे द्वारा उत्पन्न किसी भी जीव द्वारा; तप:-योग-बल—तपस्या, योग तथा बलद्वारा; उन्नद्ध:—इस प्रकार से अत्यन्त गर्वित; समस्त—सारे; निगमान्—वैदिक आदेशों को; अहन्—न मानते हुए, उल्लंघन करके।

इस असुर हिरण्यकशिपु ने मुझसे यह वरदान प्राप्त किया था कि वह मेरी सृष्टि में किसी भी जीव के द्वारा मारा नहीं जाएगा। इस आश्वासन के कारण तथा तपस्या और योग से प्राप्त बल द्वारा वह अत्यन्त गर्वित हो उठा और समस्त वैदिक आदेशों का उल्लंघन करने लगा।

दिष्ट्या तत्तनय: साधुर्महाभागवतोऽर्भक: ।
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना ॥ २८॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—भाग्य से; तत्-तनय:—उसका पुत्र; साधु:—साधु पुरुष; महा-भागवत:—महान् भक्त; अर्भक:—बालक होते हुए; त्वया—आपके द्वारा; विमोचित:—मुक्त किया हुआ; मृत्यो:—मृत्यु के बन्धन से; दिष्ट्या—भाग्य से; त्वाम् समित:—पूर्णत: आपकी शरण में; अधुना—इस समय।

सौभाग्य से हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद अब मृत्यु से बचा लिया गया है और यद्यपि वह अभी बालक है, किन्तु है महाभागवत, अब वह पूर्णतया आपके चरणकमलों की शरण में है।

एतद्वपुस्ते भगवन्ध्यायत: परमात्मन: ।
सर्वतो गोप्तृ सन्त्रासान्मृत्योरपि जिघांसत: ॥ २९॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वपु:—शरीर; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे भगवान्; ध्यायत:—जो ध्यान करते हैं; परम-आत्मन:—परम पुरुष का; सर्वत:—सभी जगह से; गोप्तृ—रक्षक; सन्त्रासात्—सभी प्रकार के भय से; मृत्यो: अपि—यहाँ तक कि मृत्यु भय से भी; जिघांसत:—यदि शत्रु भी ईर्ष्या करे।

हे भगवान्, हे पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर! आप परमात्मा हैं। यदि कोई आपके दिव्य शरीर का ध्यान करता है, आप सभी प्रकार के भय से, यहाँ तक कि आसन्न मृत्यु-भय से भी, उसकी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : हर एक की मृत्यु निश्चित है, क्योंकि कोई भी मृत्यु के हाथों से बच नहीं सकता। यह मृत्यु भगवान् का ही रूप है (*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*)। किन्तु भक्त हो जाने पर उसे सीमित आयु के अनुसार मरना नहीं होता। हर एक की आयु सीमित है, किन्तु भगवान् की कृपा होने से भक्त की आयु बढ़ सकती है, क्योंकि भगवान् किसी के भी कर्मफल को निरस्त कर सकते हैं। *कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां।* यह *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) का कथन है। भक्त *कर्म-नियमों* के अधीन नहीं होता। अतएव भगवान् की अहैतुकी कृपा से भक्त अपनी निर्धारित मृत्यु से भी बच सकता है। ईश्वर मृत्यु-भय से भी अपने भक्त की रक्षा करता है।

श्रीभगवानुवाच
मैवं विभोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव ।
वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने (ब्रह्मा को) उत्तर दिया; मा—मत; एवम्—इस प्रकार; विभो—हे महापुरुष; असुराणाम्—असुरों के; ते—तुम्हारे द्वारा; प्रदेयः—दिया हुआ वर; पद्म-सम्भव—हे कमल पुष्प से उत्पन्न ब्रह्माजी; वरः—वरदान; क्रूर-निसर्गाणाम्—जो व्यक्ति प्रकृति से अत्यन्त क्रूर तथा ईर्ष्यालु होते हैं; अहीनाम्—साँपों को; अमृतम्—अमृत या दूध; यथा—जिस प्रकार।

भगवान् ने उत्तर दिया: हे ब्रह्मा, हे कमल पुष्प से उत्पन्न महान्प्रभु, जिस प्रकार साँप को दूध पिलाना घातक होता है उसी तरह असुरों को वर प्रदान करना घातक होता है, क्योंकि वे प्रकृति से क्रूर तथा ईर्ष्यालु होते हैं। मैं तुम्हें सचेत करता हूँ कि तुम फिर से किभी किसी असुर को ऐसा वर मत प्रदान करना।

श्रीनारद उवाच
इत्युक्त्वा भगवान्राजंस्ततश्चान्तर्दधे हरिः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; इति उक्त्वा—ऐसा कहकर; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; ततः—उस स्थान से; च—भी; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान् हरि; अदृश्यः—अदृश्य; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के द्वारा; पूजितः—पूजे जाकर; परमेष्ठिना—ब्रह्मा द्वारा।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजा युधिष्ठिर, ब्रह्मा को उपदेश देते हुए सामान्य व्यक्ति को न दिखने वाले भगवान् इस तरह बोले। तब ब्रह्मा द्वारा पूजित होकर भगवान् उस स्थान से अदृश्य हो गये।

ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् ।
भवं प्रजापतीन्देवान्प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; सम्पूज्य—पूजा करके; शिरसा—सिर झुका करके; ववन्दे—प्रार्थना की; परमेष्ठिनम्—ब्रह्मा को; भवम्—शिव को; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; देवान्—सारे बड़े-बड़े देवताओं को; प्रह्लादः—प्रह्लाद महाराज ने; भगवत्-कलाः—भगवान् के अंश।

तब प्रह्लाद महाराज ने भगवान् के अंश रूप समस्त देवताओं की यथा ब्रह्मा, शिव तथा प्रजापतियों की पूजा और स्तुति की।

ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः ।
दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत्पतिम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; काव्य-आदिभिः—शुक्राचार्य तथा अन्यों के; सार्धम्—साथ; मुनिभिः—बड़े-बड़े सन्त पुरुषों के; कमल-आसनः—ब्रह्माजी; दैत्यानाम्—सारे असुरों का; दानवानाम्—सारे देवताओं का; च—तथा; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; अकरोत्—बना दिया; पतिम्—राजा या स्वामी।

तत्पश्चात् शुक्राचार्य तथा अन्य बड़े-बड़े सन्त पुरुषों सहित कमलासीन ब्रह्माजी ने प्रह्लाद को ब्रह्माण्ड के सारे असुरों तथा दानवों का राजा बना दिया।

तात्पर्य : नृसिंहदेव की कृपा से प्रह्लाद महाराज अपने पिता हिरण्यकशिपु से भी बड़े राजा बन गये। ब्रह्माजी ने अन्य ऋषियों तथा देवताओं की उपस्थिति में उनका राज्याभिषेक कर दिया।

प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः ।
स्वधामानि ययू राजन्ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; ततः—तत्पश्चात्; देवाः—सारे देवता; प्रयुज्य—देकर; परम-आशिषः—शुभ आशीर्वाद; स्व-धामानि—अपने-अपने धामों को; ययुः—लौट गये; राजन्—हे राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-आद्याः—ब्रह्मा आदि सारे देवता; प्रतिपूजिताः—(प्रह्लाद महाराज द्वारा) भली-भाँति पूजित होकर।

हे राजा युधिष्ठिर, प्रह्लाद महाराज द्वारा भली-भाँति पूजित होकर ब्रह्मादि सारे देवताओं ने उन्हें अपने-अपने आशीर्वाद दिये और फिर अपने-अपने आवासों को वापस चले गये।

एवं च पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः ।
हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह से; च—भी; पार्षदौ—दो निजी संगी; विष्णोः—विष्णु के; पुत्रत्वम्—पुत्र बनकर; प्रापितौ—प्राप्त करके; दितेः—दिति के; हृदि—हृदय में; स्थितेन—स्थित; हरिणा—परमेश्वर द्वारा; वैर-भावेन—शत्रु मानकर; तौ—दोनों; हतौ—मारे गये।.

इस प्रकार भगवान् विष्णु के दोनों पार्षद, जो दिति के पुत्र हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु बने थे, मार डाले गये। भ्रमवश उन्होंने सोचा था कि हर एक के हृदय में निवास करने वाले परमेश्वर उनके शत्रु हैं।

तात्पर्य : नृसिंहदेव तथा प्रह्लाद महाराज सम्बन्धी वार्ता तब शुरू हुई जब महाराज युधिष्ठिर ने नारद से पूछा कि शिशुपाल किस तरह कृष्ण के शरीर में लीन हो गया। शिशुपाल तथा दन्तवक्र हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु ही थे। यहाँ पर नारद मुनि बता रहे हैं कि किस प्रकार विष्णु के दोनों पार्षद तीन विभिन्न जन्मों में उन्हीं के द्वारा मारे गये। सर्वप्रथम वे हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु असुर हुए थे।

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; च—भी; विप्र-शापेन—ब्राह्मण द्वारा शापित होकर; राक्षसौ—दो राक्षस; तौ—वे दोनों; बभूवतुः—अवतरित हुए; कुम्भकर्ण-दश-ग्रीवौ—कुम्भकर्ण तथा दशशीश रावण के नाम से विख्यात; हतौ—वे भी मार डाले गये; तौ—दोनों; राम-विक्रमैः—भगवान् राम के अतुलित बल से।.

ब्राह्मणों द्वारा शापित होने से इन दोनों पार्षदों ने कुम्भकर्ण तथा दशग्रीव रावण के रूप में फिर से जन्म लिया। ये दोनों राक्षस भगवान् रामचन्द्र के अतुलित पराक्रम द्वारा मारे गये।

शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामशायकैः ।
तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शयानौ—लेटे हुए; युधि—युद्धस्थल में; निर्भिन्न—बींधे जाकर; हृदयौ—हृदय में; राम-शायकैः—रामचन्द्र के बाणों से; तत्-चित्तौ—भगवान् राम के विषय में सोचते हुए; जहतुः—त्याग दिया; देहम्—शरीर; यथा—जिस प्रकार; प्राक्तन-जन्मनि—पूर्वजन्मों में।.

भगवान् रामचन्द्र के बाणों से बिंध कर कुम्भकर्ण तथा रावण दोनों ही युद्धभूमि में पड़े रहे और भगवान् के विचार में लीन होकर उसी तरह अपने अपने शरीर छोड़ दिये जिस तरह अपने पूर्व-जन्म में हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु के रूप में किया था।

ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; इह—इस मानव समाज में; अथ—इस प्रकार; पुनः—फिर; जातौ—जन्म लिया; शिशुपाल—शिशुपाल; करूष-जौ—दन्तवक्र; हरौ—भगवान् में; वैर-अनुबन्धेन—भगवान् को शत्रु मानने के बन्धन द्वारा; पश्यतः—देखते हुए; ते—तुम्हारे; समीयतुः—भगवान् के चरणकमलों में लीन हो गये या चले गये।.

उन्होंने फिर से मानव समाज में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में जन्म लिया और भगवान् से वैसा ही वैर-भाव बनाये रखा। ये वही थे, जो ही तुम्हारे समक्ष भगवान् के शरीर में लीन हो गये।

तात्पर्य : *वैरानुबन्धेन*—भगवान् का शत्रु बनना भी जीव के लिए लाभप्रद होता है। *कामाद्द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् ।* जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने संस्तुति है मनुष्य को कामेच्छा, क्रोध, भय या भगवान् की ईर्ष्या या किसी अन्य प्रकार से (*तस्मात् केनाप्युपायेन*) भगवान् से आसक्त होना चाहिए और अन्ततः भगवद्धाम लौट जाना चाहिए। अतएव ऐसे व्यक्ति के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो भगवान् से दास, सखा, पिता, माता, या प्रेमी के रूप में सम्बन्धित हो ?

एनः पूर्वकृतं यत्तद्राजानः कृष्णवैरिणः ।
जहुस्तेऽन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एनः—यह पापकर्म (भगवान् की निन्दा का); पूर्व-कृतम्—पूर्व जन्म में किया गया; यत्—जो; तत्—वह; राजानः—राजागण; कृष्ण-वैरिणः—सदैव कृष्ण के शत्रु बने रहने वाले; जहुः—त्याग दिया; ते—वे सभी; अन्ते—मृत्यु के समय; तत्-आत्मानः—वही आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करके; कीटः—कीड़ा; पेशस्कृतः—काली भृङ्गी द्वारा (पकड़ा गया); यथा—जिस तरह।.

न केवल शिशुपाल तथा दन्तवक्र अपितु अन्य अनेकानेक राजा जो कृष्ण के शत्रु बने हुए थे अपनी मृत्यु के समय मोक्ष को प्राप्त हुए। चूँकि वे भगवान् के विषय में सोचते थे, अतः उन्हें भगवान्-जैसा आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त हुआ जिस तरह भृंगी द्वारा पकड़ा गया कीड़ा भृंगी का शरीर प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यौगिक ध्यान का रहस्य समझाया गया है। असली योगी अपने हृदयों में सदैव विष्णु के स्वरूप का ध्यान करते हैं। फलस्वरूप वे मृत्यु के समय विष्णु के स्वरूप का ध्यान धरते हुए अपना शरीर त्याग कर विष्णुलोक या वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं जहाँ उन्हें विष्णु जैसा ही स्वरूप प्राप्त होता है। हम छठे स्कंध में देख चुके हैं कि जब अजामिल का उद्धार करने के लिए वैकुण्ठ से

विष्णुदूत आये तो वे विष्णु सरीखे ही लग रहे थे। उनके भी चार हाथ थे और उनका स्वरूप विष्णु जैसा था। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि कोई विष्णु का चिन्तन करने का अभ्यास करे और मृत्यु के समय उन्हीं के विचार में पूर्णतया लीन रहे तो वह भगवद्धाम वापस चला जाता है। यहाँ तक कि कृष्ण के शत्रु ने भी, यथा राजा कंस जो भयवश कृष्ण का चिन्तन करता था, भगवान् के ही समान आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त किया।

यथा यथा भगवतो भक्त्या परमयाभिदा ।
नृपाश्चैद्यादय: सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययु: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जिस जिस तरह; भगवत:—भगवान् की; भक्त्या—भक्ति से; परमया—परम; अभिदा—ऐसे कार्यकलापों का सतत चिन्तन करते हुए; नृपा:—राजा; चैद्य-आदय:—शिशुपाल, दन्तवक्र आदि; सात्म्यम्—वही रूप; हरे:—भगवान् का; तत्-चिन्तया—निरन्तर उनका चिन्तन करने से; ययु:—भगवद्धाम वापस गये।

जो शुद्ध भक्त भक्ति के द्वारा भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, वे उन्हीं जैसा शरीर प्राप्त करते हैं। यह सारूप्य मुक्ति कहलाती है। यद्यपि शिशुपाल, दन्तवक्र तथा अन्य राजा कृष्ण का अपने शत्रु के रूप में चिंतन करते थे, किन्तु उन्हें भी वैसा ही फल प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : इस सम्बन्ध में *चैतन्य-चरितामृत* में सनातन गोस्वामी को उपदेश देते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने बताया कि भक्त को बाह्य रूप से नियमत: भक्ति के दैनन्दिन कार्य करने चाहिए, किन्तु अन्त: रूप से उसे उस विशेष भाव का चिन्तन करना चाहिए जिससे वह भगवान् की सेवा के प्रति आकृष्ट है। भगवान् का ऐसा निरन्तर ध्यान करते रहने से भक्त भगवद्धाम जाने का पात्र बन जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कहा गया है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति*—अपना शरीर त्यागने के बाद भक्त को पुन: भौतिक शरीर की प्राप्ति नहीं होती, अपितु वह भगवद्धाम को चला जाता है जहाँ उसे भगवान् के उन नित्य पार्षदों का सा आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है जिनके कार्यकलापों का वह अनुयायी बना रहता है। किन्तु यदि भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करना चाहता है, तो वह भगवान् के पार्षदों का यथा ग्वालों, गोपियों, भगवान् के माता-पिता, उनके दासों तथा भगवान् के धाम के वृक्ष, भूमि, पशु, लता तथा जल इत्यादि का निरन्तर चिन्तन कर सकता है। इनके विषय में निरन्तर चिन्तन करते रहने से मनुष्य को दिव्य पद की प्राप्ति होती है। शिशुपाल, दन्तवक्र, कंस, पौण्ड्रक, नरकासुर तथा शाल्व जैसे राजाओं का इसी तरह उद्धार हुआ। इसकी पुष्टि मध्वाचार्य ने की है—

पौण्ड्रके नरके चैव शाल्वे कंसे च रुक्मिणि।

आविष्टास्तु हरेर्भक्तास्तद्भक्त्या हरिमापिरे॥

यद्यपि पौण्ड्रक, नरकासुर, शाल्व तथा कंस—ये सभी भगवान् के शत्रु थे, किन्तु ये सारे राजा उनके विषय में निरन्तर सोचा करते थे, अतएव उन्हें वैसी ही मुक्ति—*सारूप्य मुक्ति*—प्राप्त हुई। *ज्ञान-भक्त* को भी वही गति मिलती है। यदि भगवान् के शत्रु तक उनका निरन्तर चिन्तन करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, तो उन शुद्ध भक्तों के विषय में क्या कहा जाये जो सदैव भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं और प्रत्येक कार्य में भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचते?

आख्यातं सर्वमेतत्ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान् ।
दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आख्यातम्—वर्णन किया गया; सर्वम्—सब कुछ; एतत्—यह; ते—तुमसे; यत्—जो भी; माम्—मुझसे; त्वम्—तुमने; परिपृष्टवान्—पूछा; दमघोष-सुत-आदीनाम्—दमघोष के पुत्र (शिशुपाल) तथा अन्यों का; हरेः—भगवान् का; सात्म्यम्—समान स्वरूप से; अपि—भी; द्विषाम्—यद्यपि वे शत्रु थे।

तुमने मुझसे पूछा था कि किस तरह शिशुपाल तथा अन्यों ने भगवान् का शत्रु होते हुए भी मोक्ष प्राप्त किया सो वह सब कुछ मैंने तुम्हे बतला दिया है।

एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः ।
अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह सब; ब्रह्मण्य-देवस्य—भगवान् का, जो समस्त ब्राह्मणों द्वारा पूजित हैं; कृष्णस्य—आदि भगवान् कृष्ण का; च—भी; महा-आत्मनः—परमात्मा; अवतार-कथा—उनके अवतार की कथाएँ; पुण्या—पवित्र, शुद्ध करने वाली; वधः—मारा जाना, वध; यत्र—जिसमें; आदि—प्रारम्भिक कल्प में; दैत्ययोः—दोनों असुरों (हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु) का।

भगवान् कृष्ण सम्बन्धी इस कथा में भगवान् के विभिन्न अवतार वर्णन किए गये हैं। साथ ही इसमें हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु नामक दो असुरों के वध का भी वर्णन किया गया है।

तात्पर्य : विभिन्न *अवतार* भगवान् कृष्ण या गोविन्द के अंश हैं—

अद्वैतच्युतमनादिमनन्तरूपम्

आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।

वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं—अद्वैत, अच्युत तथा अनादि हैं। यद्यपि वे अनन्त रूपों में विस्तार करते हैं, तो भी वे आदि हैं। यद्यपि वे सबसे प्राचीन पुरुष हैं फिर भी वे सदा नवयुवक जैसे प्रतीत होते हैं। भगवान् ऐसे नित्य, आनन्दमय तथा सर्वज्ञ रूप जैसे वेदों के शैक्षणिक ज्ञान से नहीं समझे जा सकते, किन्तु वे शुद्ध अनन्य भक्तों के लिए सदैव प्रकट होते हैं।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.३३) *ब्रह्म-संहिता* में अवतारों का वर्णन है। निस्सन्देह, समस्त प्रामाणिक शास्त्रों में अवतारों का वर्णन हुआ है। कोई भी मनुष्य अवतार नहीं बन सकता यद्यपि कलियुग में यह फैशन जैसा हो गया है। चूँकि शास्त्रों में अवतारों का वर्णन है, अतएव किसी बनावटी अवतार को स्वीकार करने का खतरा मोल लेने के पूर्व शास्त्रों को देखना चाहिए। शास्त्रों में सर्वत्र कहा गया है कि कृष्ण आदि भगवान् हैं और उनके असंख्य अवतार हैं। *ब्रह्म-संहिता* में अन्यत्र कहा गया है—*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—राम, नृसिंह तथा अन्य अनेक एक के बाद एक भगवान् के अंश हैं। कृष्ण के बाद बलराम, बलराम के बाद संकर्षण और तब अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, नारायण तब फिर पुरुष अवतार—महा विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु आते हैं। ये सभी अवतार हैं।

मनुष्यों को इन अवतारों के विषय में सुनना चाहिए। ऐसे अवतारों के वर्णन *अवतार कथाएँ* कहलाती हैं। इन कथाओं का श्रवण तथा कीर्तन पूर्णतया पवित्र होता है। *शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन: ।* जो इन्हें सुनता तथा इनका कीर्तन करता है, वह *पुण्य* बन सकता है।

जब भी अवतारों का प्रसंग आता है, तो धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है और कृष्ण के विरोधी असुर मारे जाते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सारे विश्व में दो उद्देश्यों से फैल रहा है—श्री भगवान् के रूप में कृष्ण की स्थापना करना तथा जो मिथ्या ही अपने को अवतार कहते हैं उनका वध करना। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों को अपने मन में यह संकल्प बड़ी सावधानी से पालन करना चाहिए और उन असुरों का वध करना चाहिए जो बड़ी ही निपुणता से भगवान् कृष्ण को अपमानित करते हैं। यदि हम नृसिंहदेव तथा प्रह्लाद महाराज की शरण ले लें तो कृष्ण के विरोधी असुरों को मारना और इस तरह पन: कृष्ण वर्चस्व को स्थापित करना आसान हो जायगा। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—कृष्ण परमेश्वर हैं, आदि भगवान् हैं। प्रह्लाद महाराज हमारे गुरु हैं और कृष्ण हमारे

आराध्य ईश हैं। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—*गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज।* यदि हम पर प्रह्लाद महाराज और उनके साथ नृसिंहदेव की कृपा हो जाये तो हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन अत्यधिक सफल हो जायेगा।

असुर हिरण्यकशिपु के पास स्वयं ईश्वर बनने का प्रयास करनेके अनेक साधन थे, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने अनेक प्रकार से प्रताड़ित किए जाने और धमकाए जाने पर भी अपने शक्तिशाली पिता को ईश्वर मानने से बिल्कुल इनकार कर दिया। हमें प्रह्लाद महाराज के चरणचिह्नों पर चलते हुए ऐसे सारे धूर्तों को अस्वीकार करना होगा जो अपने को ईश्वर कहते हैं। हमें कृष्ण तथा उनके अवतारों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च ।
भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथार्थ्यं चास्य वै हरेः ॥ ४३॥
सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम् ।
परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; अनुचरितम्—विशेषताएँ (पढ़कर या कार्यकलापों का वर्णन करके समझी गई); महा-भागवतस्य—महान् भक्त की; च—भी; भक्तिः—भगवान् की भक्ति; ज्ञानम्—आध्यात्म का पूर्णज्ञान (ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्); विरक्तिः—भौतिक संसार से वैराग्य; च—भी; याथार्थ्यम्—उन्हें सही सही समझने के लिए; च—तथा; अस्य—इसका; वै—निस्सन्देह; हरेः—सदैव भगवान् के सन्दर्भ में; सर्ग—सृजन; स्थिति—पालन; अप्यय—तथा संहार का; ईशस्य—स्वामी (भगवान्) का; गुण—दिव्य गुण तथा ऐश्वर्य; कर्म—तथा कार्यकलापों का; अनुवर्णनम्—परम्परा के भीतर वर्णन (अनु का अर्थ है 'पश्चात्'। अधिकारी व्यक्ति पूर्व आचार्यों का पालन करते हैं, वे कोई नई चीज नहीं बनाते); पर-अवरेषाम्—देवता तथा असुर नामक विभिन्न प्रकार के जीवों का; स्थानानाम्—विभिन्न लोकों या रहने के स्थानों का; कालेन—समय आने पर; व्यत्ययः—हर वस्तु का संहार; महान्—यद्यपि महान्।

यह कथा महाभागवत प्रह्लाद महाराज के गुणों, उनकी दृढ़ भक्ति, उनके पूर्ण ज्ञान तथा भौतिक कल्मष से पूर्ण विरक्ति को बताती है। यह सृजन, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप भगवान् का भी वर्णन करती है। प्रह्लाद महाराज ने अपनी स्तुतियों में भगवान् के दिव्य गुणों के साथ ही यह भी बताया कि किस तरह देवताओं तथा असुरों के आवास भगवान् के निर्देश मात्र से ध्वस्त हो जाते हैं चाहे वे भौतिक ऐश्वर्य से कितने ही भरे क्यों न हो।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* विभिन्न भक्तों के भगवान् की सेवा से सम्बन्धित चरित्रों के वर्णनों से ओत-प्रोत है। यह वैदिक वाङ्मय *भागवत* कहलाता है, क्योंकि इसमें भगवान् तथा उनके भक्त का वर्णन है। प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *श्रीमद्भागवत* का अध्ययन करने से मनुष्य कृष्ण के विज्ञान, भौतिक तथा

आध्यात्मिक जगतों की प्रकृति तथा जीवन-लक्ष्य को पूर्णरूपेण समझ सकता है। *श्रीमद्भागवतम् अमलं पुराणम्।* *श्रीमद्भागवत* निष्कलंक वैदिक वाङ्मय है, जैसाकि हम *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही बतला चुके हैं। अत: *श्रीमद्भागवत* को समझने मात्र से ही हम भक्तों के कार्यकलापों, असुरों के कार्यों, स्थायी तथा नश्वर धामों के विज्ञान को समझ सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* के माध्यम से हर बात भली-भाँति ज्ञात हो जाती है।

धर्मो भागवतानां च भगवान्येन गम्यते ।
आख्यानेऽस्मिन्समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; भागवतानाम्—भक्तों का; च—तथा; भगवान्—भगवान्; येन—जिससे; गम्यते—समझे जा सकते हैं; आख्याने—कथा में; अस्मिन्—इस; समाम्नातम्—पूर्णतया वर्णित है; आध्यात्मिकम्—अध्यात्म; अशेषतः—किसी भेदभाव के बिना।

धर्म के जिन सिद्धान्तों से भगवान् को वास्तव में समझा जा सकता है, वह भागवत धर्म कहलाता है। अतएव इस कथा में इन सिद्धान्तों का समावेश होने से वास्तविक अध्यात्म का भली-भाँति वर्णन हुआ है।

तात्पर्य : धर्म के सिद्धान्तों द्वारा मनुष्य भगवान्, ब्रह्म (निर्विशेष रूप) तथा परमात्मा को समझ सकता है। जब वह इन सिद्धान्तों में पूर्णतया परिचित हो जाता है, तो वह भक्त बन जाता है और *भागवत धर्म* सम्पन्न करता है। शिष्य-परम्परा पद्धति के गुरु प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है कि इस *भागवत धर्म* की शिक्षा विद्यार्थियों को प्रारम्भ से दी जाये (*कौमार आचरेत प्राज्ञो धर्मान् भागवतान् इह*)। शिक्षा का असली उद्देश्य भगवान् के विज्ञान को समझना है। *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः।* मनुष्य को भगवान् विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारों के विषय में ही सुनना एवं गुणगान मात्र करना चाहिए। अतएव प्रह्लाद महाराज तथा नृसिंहदेव की तत्सम्बन्धी इस कथा में आध्यात्मिक दिव्य विषयों का भली-भाँति वर्णन हुआ है।

य एतत्पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; एतत्—इस; पुण्यम्—पवित्र; आख्यानम्—कथा को; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; वीर्य—परम शक्ति; उपबृंहितम्—के वर्णन से युक्त; कीर्तयेत्—कीर्तन करता या दुहराता है; श्रद्धया—अतीव श्रद्धापूर्वक; श्रुत्वा—उचित स्रोत से सुन कर; कर्म-पाशैः—सकाम कर्मों के बन्धन से; विमुच्यते—छूट जाता है।

जो कोई भगवान् विष्णु की सर्वव्यापकता विषयक इस कथा को सुनता है और इसका कीर्तन करता है, वह निश्चित रूप से भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

एतद्य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां
दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं
श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

एतत्—यह कथा; यः—जो कोई; आदि-पुरुषस्य—आदि भगवान् की; मृग-इन्द्र-लीलाम्—नरसिंह की लीलाओं को; दैत्य-इन्द्र—असुरों का राजा; यूथ-प—हाथी के समान बलिष्ठ; वधम्—वध; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; पठेत—पढ़ता है; दैत्य-आत्म-जस्य—असुरपुत्र प्रह्लाद महाराज का; च—भी; सताम्—श्रेष्ठ भक्तों में; प्रवरस्य—श्रेष्ठतम; पुण्यम्—पवित्र; श्रुत्वा—सुनकर; अनुभावम्—कार्यकलाप; अकुतः-भयम्—जहाँ किसी समय तथा कहीं भी कोई भय नहीं है; एति—पहुँचता है; लोकम्—आध्यात्मिक जगत में।

प्रह्लाद महाराज भक्तों में सर्वश्रेष्ठ थे। जो कोई प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों, हिरण्यकशिपु के वध तथा भगवान् नृसिंहदेव की लीलाओं से सम्बद्ध इस कथा को अत्यन्त मनोयोग से सुनता है, वह निश्चयपूर्वक आध्यात्मिक जगत में पहुँचता है जहाँ कोई चिन्ता नहीं रहती है।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी (पांडव); नृ-लोके—इस भौतिक जगत में; बत—फिर भी; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; लोकम्—सारे लोकों को; पुनानाः—पवित्र कर सकने वाले; मुनयः—बड़े-बड़े साधु पुरूष; अभियन्ति—सदैव देखने आते हैं; येषाम्—जिनके; गृहान्—घर में; आवसति—रहते हैं; इति—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; गूढम्—परम गोपनीय; परम् ब्रह्म—परब्रह्म, परमेश्वर; मनुष्य-लिङ्गम्—मनुष्य की भाँति प्रकट होकर।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे महाराज युधिष्ठिर, तुम सभी (पाण्डव) अत्यन्त भाग्यशाली हो, क्योंकि भगवान् कृष्ण तुम्हारे महल में सामान्य मनुष्य की भाँति निवास करते हैं। बड़े-बड़े साधु पुरुष इसे भली-भाँति जानते हैं इसीलिए वे निरन्तर इस घर में आते रहते हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों का श्रवण करने के पश्चात् शुद्ध भक्त को उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने के लिए उत्सुक होना चाहिए। किन्तु ऐसे भक्त को यह सोचकर निराशा हो सकती है कि प्रत्येक भक्त प्रह्लाद महाराज के स्तर को प्राप्त नहीं कर सकता। यह शुद्ध भक्त का स्वभाव है; वह अपने आपको सबसे निम्न, अयोग्य तथा अकुशल समझता है। इस प्रकार प्रह्लाद महाराज के कार्यकलापों की कथा सुनकर प्रह्लाद जैसी ही भक्ति के स्तर पर रहने वाले महाराज युधिष्ठिर ने अपने विनम्र स्थिति के बारे में विनयवश अपने विषय में भी ऐसा ही सोचते रहे होंगे, किन्तु नारद मुनि महाराज युधिष्ठिर के मन की बात ताड़ गये, अतएव उन्होंने यह कहकर उन्हें तुरंत प्रोत्साहित किया कि पाण्डव भी कम भाग्यशाली नहीं हैं; वे प्रह्लाद महाराज के ही समान हैं, क्योंकि यद्यपि नृसिंहदेव प्रह्लाद के लिए प्रकट हुए थे तो भगवान् कृष्ण अपने आदि रूप में पाण्डवों के साथ रह रहें थे। यद्यपि कृष्ण की *योगमाया* के वशीभूत हुए पाण्डव अपनी भाग्यशाली स्थिति के विषय में सोच भी नहीं सकते थे, किन्तु नारद मुनि समेत प्रत्येक साधु व्यक्ति इसे समझता था, इसीलिए वे निरन्तर महाराज युधिष्ठिर के पास आते रहते थे।

कोई भी शुद्ध भक्त जो निरन्तर कृष्णभावनाभावित है, वह स्वभावतः अत्यन्त भाग्यशाली है। *नृलोके* शब्द का अर्थ है ''भौतिक जगत के भीतर'' जिससे सूचित होता है कि पाण्डवों से भी पहले अनेकानेक भक्त हो चुके हैं—यथा यदुवंश के वंशज तथा वसिष्ठ, मरीचि, कश्यप, ब्रह्मा तथा शिवजी जो अत्यन्त भाग्यशाली थे। किन्तु पाण्डव इन सबों से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनके साथ साक्षात् कृष्ण लगातार रहते हैं। इसलिए नारद मुनि ने विशेष रूप से उल्लेख किया कि इस भौतिक जगत (*नृ-लोके*) में पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान् कृष्ण); वा—भी; अयम्—यह; ब्रह्म—निराकार ब्रह्म (जो कृष्ण का तेज है); महत्—महापुरुषों के द्वारा; विमृग्य—खोजा जाकर; कैवल्य—एकत्व; निर्वाण-सुख—दिव्य सुख का; अनुभूतिः—व्यावहारिक अनुभव का स्रोत; प्रियः—अत्यधिक प्रिय; सुहृत्—शुभचिन्तक; वः—तुम्हारा; खलु—निस्सन्देह; मातुलेयः—मामा का पुत्र; आत्मा—शरीर तथा

आत्मा के ही समान; अर्हणीयः—पूज्य (भगवान् होने से); विधि-कृत्—सन्देशवाहक की तरह (फिर भी वह तुम्हारी सेवा करता है); गुरुः—तुम्हारा परम सलाहकार; च—भी।

निराकार ब्रह्म साक्षात् कृष्ण हैं, क्योंकि कृष्ण निराकार ब्रह्म के स्रोत हैं। वे बड़े-बड़े साधु पुरुषों द्वारा तलाश किये जाने वाले दिव्य आनन्द के उत्स हैं फिर भी परम पुरुष तुम्हारे सर्वाधिक प्रिय मित्र तथा चिरन्तन सुहृद् हैं और तुम्हारे मामा के पुत्ररूप में तुमसे घनिष्ठतः सम्बन्धित हैं। निस्सन्देह, वे सदैव तुम्हारे शरीर तथा आत्मा के सदृश हैं। वे पूज्य हैं फिर भी वे तुम्हारे सेवक की तरह और कभी-कभी तुम्हारे गुरु की तरह कार्य करते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के विषय में सदा ही मतभेद रहा है। अध्यात्मवादियों के एक वर्ग का मत है कि परम सत्य निराकार है और दूसरा वर्ग उन्हें पुरुष मानता है। *भगवद्गीता* में परम सत्य को परम पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* में परम पुरुष भगवान् कृष्ण साक्षात् उपदेश देते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मत्तः परतरं नान्यत्*—निराकार ब्रह्म मेरा आंशिक प्राकट्य है और मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है। वही कृष्ण भगवान् पाण्डवों के परम मित्र तथा सम्बन्धी की भूमिका निभाते हैं। कभी-कभी तो वे धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन तक पाण्डवों का पत्र ले जाने वाले सेवक की भी भूमिका निभाते हैं। चूँकि कृष्ण पाण्डवों के शुभचिन्तक थे, अतएव उन्होंने अर्जुन का गुरु बनकर *गुरु* की भी भूमिका अदा की। अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया था (*शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*) और कभी-कभी कृष्ण उसे प्रताड़ित भी करते थे। उदाहरणार्थ, भगवान् ने कहा—*अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे*—विद्वान् जैसे शब्द बोलते हुए तुम उसके लिए शोक कर रहे हो जो उसके योग्य नहीं है। भगवान् ने यह भी कहा—*कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्*—हे अर्जुन! यह सारी गन्दगी तुममें कहाँ से आई। पाण्डवों तथा कृष्ण के बीच ऐसी घनिष्ठता थी। इसी तरह से भगवान् का शुद्ध भक्त सभी प्रकार के संकट में भगवान् के साथ रहता है; उस की जीवन पद्धति कृष्ण ही हैं। यह श्री नारद मुनि का आधिकारिक कथन है।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भव—शिवजी; पद्म-ज—ब्रह्मा (कमल से उत्पन्न); आदिभिः—उनके तथा अन्यों के द्वारा भी; रूपम्—रूप; धिया—ध्यान के द्वारा भी; वस्तुतया—मूल रूप से; उपवर्णितम्—वर्णित तथा अनुभूत; मौनेन—समाधि या गहन ध्यान द्वारा; भक्त्या—भक्ति द्वारा; उपशमेन—त्याग द्वारा; पूजितः—पूजित; प्रसीदताम्—प्रसन्न हो; एषः—यह; सः—वह; सात्वताम्—महान् भक्तों का; पतिः—स्वामी।

शिव तथा ब्रह्माजी जैसे महापुरुष भगवान् कृष्ण के सत्य का सही-सही वर्णन नहीं कर पाये। वे भगवान् हम पर प्रसन्न हों जो सदा समस्त भक्तों के रक्षक रूप में उन महान् सन्तों द्वारा पूजे जाते हैं, जो मौन, ध्यान, भक्ति तथा त्याग का व्रत लिए रहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि भिन्न-भिन्न लोग परम सत्य की खोज विभिन्न विधियों से करते हैं, तो भी वे अचिन्त्य बने रहते हैं। किन्तु पाण्डवों, गोपियों, गोपों, माता यशोदा, नन्द महाराज तथा वृन्दावन के सभी वासियों को भगवत्-प्राप्ति के लिए ध्यान की परम्परागत विधियों का अभ्यास नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे इन सबों के साथ सुख-दुख की सभी स्थितियोमें रहते हैं। इसीलिए नारद जैसा साधु पुरुष अध्यात्मवादियों एवं शुद्ध भक्तों में अन्तर को जानते हुए भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि वे उस पर प्रसन्न हों।

स एष भगवान्राजन्व्यतनोद्विहतं यशः ।
पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः एषः भगवान्—वही भगवान् कृष्ण जो परब्रह्म हैं; राजन्—हे राजा; व्यतनोत्—विस्तार किया; विहतम्—खोया; यशः—कीर्ति में; पुरा—प्राचीन काल में; रुद्रस्य—शिवजी की (जो देवताओं में सर्वाधिक शक्तिमान हैं); देवस्य—देवता का; मयेन—मय नामक असुर द्वारा; अनन्त—असीम; मायिना—तकनीकी ज्ञान से युक्त।

हे राजा युधिष्ठिर, बहुत समय पहले तकनीकी ज्ञान में अत्यन्त कुशल मय नामक दानव ने शिवजी के यश में बट्टा लगाया। उस स्थिति में भगवान् कृष्ण ने शिवजी की रक्षा की थी।

तात्पर्य : शिवजी महादेव अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता कहलाते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्माजी को भगवान् के यश का पता नहीं था, किन्तु शिवजी को पता था। इस ऐतिहासिक घटना से सिद्ध होता है कि शिवजी परब्रह्म कृष्ण से शक्ति प्राप्त करते हैं।

राजोवाच

कस्मिन्कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः ।
यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; कस्मिन्—किस कारण से; कर्मणि—किन कार्यों से; देवस्य—महादेव (शिव) के; मयः—मय दानव; अहन्—नष्ट करना चाहता था; जगत्-ईशितुः—शिव की, जो भौतिक शक्ति का नियंत्रण करते हैं और दुर्गा देवी के पति हैं; यथा—जिस प्रकार; च—तथा; उपचिता—पुनः विस्तार किया; कीर्तिः—कीर्ति; कृष्णेन—कृष्ण द्वारा; अनेन—इस; कथ्यताम्—कृपया कह सुनायें।

महाराज युधिष्ठिर ने पूछा : मय दानव ने किस कारण से शिवजी की कीर्ति नष्ट की? कृष्ण ने किस तरह शिव जी की रक्षा की? और किस तरह उनकी कीर्ति का पुनः विस्तार किया? कृपया इन घटनाओं को कह सुनायें।

श्रीनारद उवाच
निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः ।
मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; निर्जिताः—हार कर; असुराः—सारे असुर; देवैः—देवताओं से; युधि—लड़ाई में; अनेन—कृष्ण द्वारा; उपबृंहितैः—शक्ति बढ़ाकर; मायिनाम्—सारे असुरों की; परम-आचार्यम्—सर्वश्रेष्ठ तथा महानतम; मयम्—मय दानव की; शरणम्—शरण; आययुः—ग्रहण की।

नारद मुनि ने कहा : जब परम देवताओं ने जो भगवान् कृष्ण की दया से सदा शक्तिशाली बने रहते हैं असुरों से युद्ध किया तो असुर हार गये, अतएव उन्होंने महानतम असुर मय दानव की शरण ग्रहण की।

स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः ।
दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥ ५४ ॥
ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन्सेश्वरान्नृप ।
स्मरन्तो नाशयां चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (मय दानव); निर्माय—निर्मित करके; पुरः—बड़े-बड़े आवास; तिस्रः—तीन; हैमी—स्वर्ण से बने; रौप्या—चाँदी से बने; आयसीः—लोहे से बने; विभुः—अत्यधिक शक्तिशाली; दुर्लक्ष्य—अकूत; अपाय-संयोगाः—आने-जाने की गतिविधियाँ; दुर्वितर्क्य—असामान्य; परिच्छदाः—साज-सामग्री से युक्त; ताभिः—उन सबों (विमान जैसे तीन आवासों) के द्वारा; ते—वे; असुर-सेना-अन्यः—असुरों के सेनानायक; लोकान् त्रीन्—तीनों लोकों को; स-ईश्वरान्—उनके प्रधान शासकों सहित; नृप—हे राजा युधिष्ठिर; स्मरन्तः—स्मरण करते हुए; नाशयाम् चक्रुः—विनाश करने लगा; पूर्व—पहले की; वैरम्—शत्रुता; अलक्षिताः—अदृश्य रहकर।

असुरों के महान् नायक मय दानव ने तीन अदृश्य आवास तैयार किये और उन्हें असुरों को सौंप दिया। ये तीनों आवास सोने, चाँदी तथा लोहे के बने विमानों जैसे थे और उनमें अपूर्व साज-सामग्री थी। हे राजा युधिष्ठिर, इन तीनों आवसों के कारण असुरों के सेनानायक देवताओं

से अदृश्य हो गए थे। इस अवसर का लाभ उठाकर तथा अपनी पूर्व शत्रुता का स्मरण करते हुए असुरगण तीनों लोकों—ऊर्ध्व, मध्य तथा अधो लोकों—का विनाश करने लगे।

ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं नताः ।
त्राहि नस्तावकान्देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—वे (देवगण); स-ईश्वराः—अपने शासकों समेत; लोकाः—सारे लोक; उपासाद्य—निकट जाकर; ईश्वरम्—शिवजी को; नताः—शरणागत होकर गिर पड़े; त्राहि—रक्षा करें; नः—हमारी; तावकान्—आपके होकर भी अत्यन्त भयभीत; देव—हे प्रभु; विनष्टान्—प्रायः विनष्ट; त्रिपुर-आलयैः—उन तीनों पुरों में रहने वाले असुरों द्वारा।

तत्पश्चात् जब असुरगण स्वर्गलोकों को तहस-नहस करने लगे तो उन लोकों के शासक शिवजी की शरण में आये और उन्होंने कहा—हे प्रभु, हम तीन लोकों के वासी देवता विनष्ट होने वाले हैं। हम आपके अनुयायी हैं। कृपया हमारी रक्षा करें।

अथानुगृह्य भगवान्मा भैष्टेति सुरान्विभुः ।
शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अनुगृह्य—उन पर कृपा करके; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; मा—मत; भैष्ट—डरो; इति—इस प्रकार; सुरान्—देवताओं को; विभुः—शिवजी ने; शरम्—बाण; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—चढ़ाकर; पुरेषु—असुरों से युक्त उन तीनों आवासों में; अस्त्रम्—अस्त्र; व्यमुञ्चत—छोड़ा।

अत्यन्त शक्तिशाली एवं समर्थ शिवजी ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा ''डरो मत।'' तब उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर असुरों द्वारा निवसित तीनों आवासों की ओर छोड़ा।

ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात् ।
यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अग्नि-वर्णाः—अग्नि के समान चमकीले; इषवः—बाण; उत्पेतुः—छोड़े; सूर्य-मण्डलात्—सूर्यमण्डल से; यथा—जिस प्रकार; मयूख-सन्दोहाः—प्रकाश की किरणें; न अदृश्यन्त—देखे नहीं जा सके; पुरः—तीनों आवास; यतः—इसके कारण (शिवजी के बाणों से घिर कर)।

शिवजी द्वारा छोड़े गये बाण सूर्यमण्डल से निकलने वाली प्रज्वलित किरणों जैसे लग रहे थे। उनसे तीनों आवास-रूपी विमान आच्छादित हो गये जिससे वे दिखने बन्द हो गये।

तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः ।

ताननीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तैः—उन (बाणों) के द्वारा; स्पृष्टाः—स्पर्श किये जाने या आक्रमण किये जाने से; व्यसवः—निष्प्राण; सर्वे—सारे असुर; निपेतुः—गिर पड़े; स्म—पूर्वकाल में; पुर-ओकसः—उपर्युक्त तीनों आवासरूपी विमानों के निवासी होने के कारण; तान्—उन सबों को; आनीय—लाकर; महा-योगी—महान् योगी; मयः—मय दानव ने; कूप-रसे—अमृत के कुएँ में (जिसे महायोगी मय ने बनाया था); अक्षिपत्—रख दिया।.

शिवजी के सुनहरे बाणों से आक्रमण किये जाने से उन तीनों आवासों के निवासी असुर निष्प्राण होकर गिर पड़े। तब परम योगी मय दानव ने उन्हें अपने द्वारा निर्मित अमृत कूप में लाकर डाल दिया।

तात्पर्य : सामान्यतया असुरगण अपनी योगशक्ति के कारण अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। किन्तु जैसाकि भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (६.४७) में कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक मेरी शरण में रहता है और भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करता है, वह योग में घनिष्ठतापूर्वक मुझसे युक्त रहता है और सर्वोच्च होता है।" योगी का असली उद्देश्य भगवान् कृष्ण पर अपने ध्यान को पूरी तरह केन्द्रित करना और सदैव उन्हीं का चिन्तन करना है (*मद्गतेनान्तरात्मना*)। ऐसी सिद्धि-लाभ के लिए मनुष्य को *हठ योग* करना होता है और तब इस योग से अभ्यासकर्ता को किञ्चित अपूर्व योगशक्ति प्राप्त होती है। किन्तु असुरगण कृष्ण के भक्त न बनकर इस *योगशक्ति* का उपयोग अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए करते हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ पर मय दानव को *महायोगी* कहा गया है किन्तु उसका कार्य असुरों की सहायता करना था। आजकल देखा जाता है कि कुछ ऐसे योगी हैं, जो भौतिकतावादियों को इन्द्रियों की तृप्ति कराते हैं और ऐसे वञ्चक हैं, जो अपने आपको ईश्वर के रूप में विज्ञापित करते हैं। मय दानव ऐसा ही व्यक्ति था, जो असुरों का देवता था और वह कुछ आश्चर्यजनक करामातें कर सकता था जिनमें से एक का वर्णन यहाँ हुआ है—उसने अमृत से पूर्ण एक कुँआ बनाया और असुरों को लाकर उसी में डाल दिया। यह अमृत *मृत-सञ्जीवयितरि* कहलाता था, क्योंकि इससे मृत शरीर जीवित हो सकता था। *मृतसञ्जीवयितरि* एक आयुर्वेदिक दवा भी है। यह एक प्रकार का आसव है, जो मरणासन्न व्यक्ति में जीवन ला देता है।

सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः ।
उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

सिद्ध-अमृत-रस-स्पृष्टाः—शक्तिशाली योग के अमृत का स्पर्श पाकर असुरगण; वज्र-साराः—जिनके शरीर वज्र के समान हो गये हैं; महा-ओजसः—अत्यन्त बलिष्ठ; उत्तस्थुः—फिर से उठ खड़े हो गये; मेघ-दलनाः—बादलों को चीरकर जाने वाले; वैद्युताः—बिजली (जो बादल को चीर देती है); इव—सदृश; वह्नयः—अग्नि जैसे।

असुरों के मृत शरीर इस अमृत का स्पर्श करते ही वज्र के समान अभेद्य हो गये। महान् शक्ति प्राप्त करने के कारण वे बादलों को विदीर्ण करने वाली बिजली की भाँति उठ खड़े हो गये।

विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम् ।
तदायं भगवान्विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विलोक्य—देखकर; भग्न-सङ्कल्पम्—निराश; विमनस्कम्—अत्यन्त अप्रसन्न, अन्यमनस्क; वृष-ध्वजम्—शिवजी को; तदा—उस समय; अयम्—यह; भगवान्—भगवान्; विष्णुः—विष्णु ने; तत्र—अमृत कूप के पास; उपायम्—उपाय (रोकने का); अकल्पयत्—विचार किया।

शिवजी को अत्यन्त दुखी तथा निराश देखकर भगवान् विष्णु ने विचार किया कि मय दानव द्वारा उत्पन्न इस उत्पात को किस प्रकार रोका जाये।

वत्सश्चासीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः ।
प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

वत्सः—बछड़ा; च—भी; आसीत्—बन गये; तदा—उस समय; ब्रह्मा—ब्रह्माजी; स्वयम्—खुद; विष्णुः—भगवान् विष्णु; अयम्—यह; हि—निस्सन्देह; गौः—गाय; प्रविश्य—घुसकर; त्रि-पुरम्—तीनों निवासस्थानों को; काले—दोपहर में; रस-कूप-अमृतम्—कुएँ के अमृत को; पपौ—पी लिया।

तब ब्रह्माजी बछड़ा और भगवान् विष्णु गाय बन गये और दोपहर के समय आवासों में प्रवेश करके वे कुएं का सारा अमृत पी गये।

तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन्विमोहिताः ।
तद्विज्ञाय महायोगी रसपालानिदं जगौ ।
स्मयन्विशोकः शोकार्तान्स्मरन्दैवगतिं च ताम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; असुराः—असुरगण; हि—निस्सन्देह; अपि—यद्यपि; पश्यन्तः—देखते हुए (कि बछड़ा तथा गाय अमृत पी रहे हैं); न—नहीं; न्यषेधन्—मना किया; विमोहिताः—मोह-ग्रस्त होने से; तत् विज्ञाय—यह भली-भाँति जानकर; महा-योगी—महान्

योगी मय दानव ने; रस-पालान्—अमृत की रक्षा करने वाले असुरों से; इदम्—यह; जगौ—कहा; स्मयन्—मोहग्रस्त हुए; विशोकः—बहुत अप्रसन्न न होते हुए; शोक-आर्तान्—अत्यधिक पश्चात्ताप करते; स्मरन्—स्मरण करते हुए; दैव-गतिम्—आध्यात्मिक शक्ति को; च—भी; ताम्—उस।

असुरों ने बछड़े तथा गाय को देखा लेकिन भगवान् द्वारा उत्पन्न मोह शक्ति के कारण वे उन्हें रोक नहीं पाये। महायोगी मय असुर को पता चल गया कि बछड़ा तथा गाय अमृत पी रहे हैं और वह यह समझ गया कि यह अदृश्य दैवी शक्ति के कारण हो रहा है। इस प्रकार वह पश्चात्ताप करते हुए असुरों से बोला।

देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन ।
आत्मनोऽन्यस्य वा दिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

देवः—देवता; असुरः—असुर; नरः—मनुष्य; अन्यः—अथवा कोई दूसरा; वा—या तो; न—नहीं; ईश्वरः—परमनियन्ता; अस्ति—है; इह—इस संसार में; कश्चन—कोई; आत्मनः—अपना; अन्यस्य—दूसरे का; वा—अथवा; दिष्टम्—भाग्य; दैवेन—भगवान् द्वारा प्रदत्त; अपोहितुम्—मिटा सकने के लिए; द्वयोः—दोनों का।

मय दानव ने कहा : जो अपने, पराये अथवा दोनों के भाग्य में भगवान् द्वारा निश्चित कर दिया गया है उसे कोई भी कहीं भी मिटा नहीं सकता चाहे वह देवता, असुर, मनुष्य या अन्य कोई क्यों न हो।

तात्पर्य : भगवान् एक है—कृष्ण या *विष्णुतत्त्व।* कृष्ण अपना विस्तार (स्वांश) *विष्णु-तत्त्व* के रूप में करते हैं, जो सबों का नियामक है। मय दानव ने कहा "चाहे मैं योजना बनाऊँ, या तुम या हम मिलकर योजना बनायें, होना वही है, जो भगवान् ने योजना बना रखी है। उनके आदेश के बिना किसी की भी योजना सफल नहीं होगी।" हम अपनी कितनी ही योजनाएँ क्यों न बना लें भगवान् विष्णु की अनुमति के बिना वे कभी भी सफल नहीं होंगी। सभी प्रकार के जीवों द्वारा लाखों योजनाएँ बनाई जाती हैं, किन्तु भगवान् की अनुमति के बिना वे सभी व्यर्थ हैं।

अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधानिकं व्यधात् ।
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः ॥ ६५ ॥
रथं सूतं ध्वजं वाहान्धनुर्वर्मशरादि यत् ।
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; असौ—वह (भगवान् कृष्ण); शक्तिभिः—अपनी शक्तियों से; स्वाभिः—निजी; शम्भोः—शिवजी की; प्राधानिकम्—अवयव; व्यधात्—उत्पन्न किया; धर्म—धर्म; ज्ञान—ज्ञान; विरक्ति—वैराग्य; ऋद्धि—ऐश्वर्य; तपः—तपस्या; विद्या—विद्या; क्रिया—कार्यकलाप; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा; रथम्—रथ को; सूतम्—सारथी को; ध्वजम्—झंडे को; वाहान्—हाथी-घोड़ों को; धनुः—धनुष; वर्म—ढाल; शर-आदि—बाण इत्यादि; यत्—प्रत्येक आवश्यक वस्तु से; सन्नद्धः—संयुक्त; रथम्—रथ पर; आस्थाय—आसीन होकर; शरम्—बाण; धनुः—धनुष पर; उपाददे—चढ़ाया, जोड़ा।

नारद मुनि ने आगे कहा—तत्पश्चात् कृष्ण ने शिवजी को अपनी निजी शक्ति से, जो धर्म, ज्ञान, त्याग, ऐश्वर्य, तपस्या, विद्या तथा कर्म से युक्त थी, सभी प्रकार की साज-सामग्री से—यथा रथ, सारथी, ध्वजा, घोड़े, हाथी, धनुष, ढाल तथा बाण से संयुक्त कर दिया। इस तरह से संयुक्त होकर शिव जी अपने धनुष-बाण द्वारा असुरों से लड़ने के लिए रथ पर आसीन हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१२.१३.१६) में कहा गया है—*वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। निस्सन्देह, वे वैष्णव दर्शन के बारह महाजनों में से एक हैं (*स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः मनुः...*)। भगवान् कृष्ण सभी तरह से अपने समस्त *महाजनों* तथा भक्तों की सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं (*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*)। यद्यपि शिवजी अत्यन्त शक्तिशाली थे किन्तु वे असुरों से पराजित हो गये; अतएव वे खिन्न एवं निराश थे। किन्तु भगवान् के प्रमुख भक्त होने के कारण स्वयं भगवान् ने उन्हें युद्ध की सारी सामग्री से युक्त किया। अतएव भक्त को चाहिए कि वह भगवान् की सेवा निष्ठापूर्वक करे। शत्रु से सदैव भक्त की रक्षा करने तथा आवश्यकता पडने पर उसे शत्रु से युद्ध के लिए युक्त करने के लिए भगवान् उसके पीछे रहते है। भक्तों के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रचार करने के लिए ज्ञान या भौतिक उपादानों की कोई कमी नहीं रहती।

शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ।
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप ॥ ६७॥

शब्दार्थ

शरम्—बाणों को; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—एकसाथ जोड़कर; मुहूर्ते अभिजिति—दोपहर के समय; ईश्वरः—भगवान् शिव; ददाह—अग्नि लगा दी; तेन—उन (बाणों के द्वारा); दुर्भेद्याः—दुर्भेद्य, जिसको भेद पाना दुष्कर हो; हरः—शिवजी ने; अथ—इस प्रकार से; त्रि-पुरः—असुरों के तीनों निवासस्थान; नृप—हे राजा युधिष्ठिर।

हे राजा युधिष्ठिर, परम शक्तिशाली शिवजी ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाये और दोपहर के समय असुरों के तीनों आवासों में अग्नि लगाकर उन्हें नष्ट कर दिया।

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः ।
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः ।
अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

दिवि—आकाश में; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; नेदुः—बज उठीं; विमान—विमानों के; शत—सैकड़ों हजारों; सङ्कुलाः—एकत्र; देव-ऋषि—सारे देवता तथा सन्त; पितृ—पितृलोक के निवासी; सिद्ध—सिद्धलोक के निवासी; ईशाः—सभी महापुरुष; जय इति—'जय हो' इस प्रकार उच्चारण किया; कुसुम-उत्करैः—तरह-तरह के फूलों से; अवाकिरन्—शिवजी के ऊपर वर्षा की; जगुः—उच्चारण किया; हृष्टाः—अत्यन्त प्रसन्नता में; ननृतुः—नाचा; च—तथा; अप्सरः-गणाः—स्वर्गलोक की सुन्दरी स्त्रियों ने।

तब आकाश में अपने-अपने विमानों में आसीन उच्चलोकों के निवासियों ने दुन्दुभियाँ बजाईं। देवताओं, ऋषियों, पितरों, सिद्धों तथा विविध महापुरुषों ने शिव जी के ऊपर पुष्प-वर्षा की और जयजयकार की। अप्सराएँ परम प्रमुदित होकर नाचने-गाने लगीं।

एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान्पुरहा नृप ।
ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वं धाम प्रत्यपद्यत ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दग्ध्वा—भस्म करके; पुरः तिस्रः—असुरों के तीनों आवासों (पुरियों) को; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; पुर-हा—पुरों को नष्ट करने वाला; नृप—हे राजा युधिष्ठिर; ब्रह्म-आदिभिः—ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं द्वारा; स्तूयमानः—पूजित होकर; स्वम्—अपने; धाम—धाम; प्रत्यपद्यत—लौट गये।

हे राजा युधिष्ठिर, इस प्रकार शिवजी त्रिपुरारी कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने असुरों की तीनों पुरियों को भस्म कर दिया था। ब्रह्मा समेत समस्त देवताओं से पूजित होकर शिव जी अपने धाम लौट गये।

एवं विधान्यस्य हरेः स्वमायया
विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः ।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरो-
र्लोकं पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

एवम् विधानि—इस विधि से; अस्य—कृष्ण की; हरेः—भगवान् की; स्व-मायया—अपनी दिव्य शक्तियों से; विडम्बमानस्य—सामान्य मनुष्य की भाँति कार्य करते हुए; नृ-लोकम्—मानव समाज में; आत्मनः—अपने; वीर्याणि—दिव्य कार्यकलापों की; गीतानि—कथाओं को; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; जगत्-गुरोः—परम प्रभु का; लोकम्—सारे लोक; पुनानानि—पवित्र करते हुए; अपरम्—और क्या; वदामि किम्—मैं क्या कह सकता हूँ।

यद्यपि भगवान् कृष्ण मनुष्य के रूप में प्रकट हुए थे फिर भी उन्होंने अपनी शक्ति से अनेक असामान्य तथा आश्चर्यजनक लीलाएँ सम्पन्न कीं। उन महान् सन्त पुरुषों द्वारा जो कुछ कहा जा

चुका है उससे भला मैं और अधिक क्या कह सकता हूँ? प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी व्यक्ति से भगवान् के कार्यकलापों के श्रवण मात्र से शुद्ध हो सकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* तथा अन्य समस्त वैदिक वाङ्मय पूरी तरह बताते हैं कि भगवान् कृष्ण मानव समाज में सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं लेकिन वे विश्व भर के कल्याण के लिए असामान्य कार्य करते हैं। मनुष्य को माया के वशीभूत होकर कृष्ण को सामान्य व्यक्ति नहीं मान लेना चाहिए। जो लोग सचमुच परम सत्य की खोज में रहते हैं, वे यह समझ जाते हैं कि कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं (*वासुदेव: सर्वम् इति*)। किन्तु ऐसे महापुरुष विरले होते हैं। फिर भी यदि कोई सम्पूर्ण *भगवद्गीता यथारूप* पढ़े तो कृष्ण को सरलता से समझ सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन समस्त विश्व को भगवान् के रूप में कृष्ण से परिचित कराने के लिए प्रयत्नशील है (*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*)। यदि लोग इस आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करें तो उनका मानव जीवन सफल हो जायेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध के अन्तर्गत "भक्त शिरोमणि प्रह्लाद" नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter ग्यारह

पूर्ण समाजः चातुर्वर्ण

इस अध्याय में उन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है जिनका पालन करने पर मनुष्य, विशेष रूप से वह जो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने का इच्छुक है, पूर्ण बन सकता है।

महाराज युधिष्ठिर प्रह्लाद महाराज के गुणों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। अब उन्होंने नारद मुनि से मनुष्य के वास्तविक धर्म तथा उस *वर्णाश्रम धर्म* के विशेष लक्षणों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की जो मानवीय सभ्यता के उच्चतम पद को बताने वाला है। जब उन्होंने नारद मुनि से इन विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो नारद मुनि ने अपनी बातें छोड़कर भगवान् नारायण के कथन उद्धृत किये, क्योंकि धार्मिक सिद्धान्त प्रदान करने के लिए वे परम अधिकारी हैं (*धर्मं तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्*)। प्रत्येक व्यक्ति को तीस गुण अर्जित करने होते हैं—यथा सत्य, दया तथा तपस्या। धर्म के सिद्धान्तों के पालन की विधि *सनातन धर्म* कहलाती है।

वर्णाश्रम धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों को बताने वाला है। यह *संस्कार* विधि को भी प्रस्तुत करता है। *द्विजों* को *गर्भाधान संस्कार* अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने का अनुष्ठान सम्पन्न करना होता है। जो इस संस्कार को संपन्न करता है वह वास्तव में द्विज है, किन्तु जो लोग इसे नहीं सम्पन्न करते और *वर्णाश्रम धर्म* के नियमों से विपथ हो जाते हैं, वे *द्विजबन्धु* कहलाते हैं। ब्राह्मण की प्रमुख वृत्तियाँ हैं—अर्चाविग्रह का पूजन, अर्चाविग्रह पूजन की विधि की अन्यों को शिक्षा देना, वेदाध्ययन करना, वेदों का अध्यापन, अन्यों से दान लेना तथा अन्यों को दान देना। ब्राह्मण को इन छः वृत्तिपरक कार्यों से अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए। क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करे तथा उन पर कर लगाए, किन्तु ब्राह्मण से कर लेना वर्जित है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को सरकारी कर से मुक्त होना चाहिए। क्षत्रिय लोग ब्राह्मण के अतिरिक्त हर एक पर कर लगा सकते हैं। वैश्यों को भूमि जोतनी चाहिए, अन्न उत्पन्न करना चाहिए तथा गायों की रक्षा करनी चाहिए जबकि शूद्रों को, जो कभी भी गुण के दृष्टिकोण से ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं बन सकते, तीनों उच्च जातियों की सेवा करनी चाहिए और इसीसे संतुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मणों के लिए जीविका कमाने के अन्य साधनों की भी संस्तुति की गई है—यथा शालीन, यायावर, *शिल* तथा *उञ्छन*। ये चारों वृत्तिपरक कार्य क्रमशः एक दुसरे से श्रेष्ठतर हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक जीवन में निम्नवर्ण का है, वह तब तक उच्च-वर्ण का व्यवसाय स्वीकार नहीं कर सकता जब तक ऐसा करना सर्वथा आवश्यक न हो। आपात्काल में क्षत्रियों के अतिरिक्त सारे वर्ण अन्यों के वृत्तिपरक कार्यों को स्वीकार कर सकते हैं। क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण ऋत (*शिलोञ्छन*), अमृत (*अयाचित*), मृत (*याच्ञा*), *प्रमृत (कर्षण)* तथा सत्यानृत (*वाणिज्य*) कहलाने वाले जीविका के साधन ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मणों या क्षत्रियों द्वारा वैश्यों या शूद्रों की सेवा करना कुत्तों का व्यापार माना जाता है।

नारद मुनि ने यह भी बतलाया कि ब्राह्मण का लक्षण इन्द्रिय-संयम है, क्षत्रिय के लक्षण शक्ति तथा यश हैं, वैश्य का लक्षण ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की सेवा करना है तथा शूद्र का लक्षण तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है। स्त्री का गुण श्रद्धावान तथा पतिव्रता होना है। इस प्रकार नारद मुनि ने उच्च तथा निम्न जातियों के गुणों का वर्णन किया और यह संस्तुति की कि मनुष्य को अपनी जाति या पूर्वजों के

व्यवसाय का पालन करना चाहिए। वह सहसा अपने अभ्यस्त व्यवसाय को नहीं त्याग सकता अतएव यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य धीरे-धीरे जाग्रत हो। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतएव मनुष्य को केवल इन्हीं लक्षणों के आधार पर जानना चाहिए, जन्म से नहीं। जन्म के आधार पर उपाधि देना का विरोध नारद मुनि तथा समस्त महापुरुषों ने किया है।

श्रीशुक उवाच
श्रुत्वेहितं साधु सभासभाजितं
महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदान्वितः
पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; श्रुत्वा—सुनकर; ईहितम्—कथा, वृत्तान्त; साधु सभा-सभाजितम्—जो ब्रह्मा तथा शिव जैसे भागवतों की सभा में चर्चित होता है; महत्-तम-अग्रण्यः—साधु पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ (युधिष्ठिर); उरुक्रम-आत्मनः—भगवान् में सदैव अपना मन लगाये रखने वाले (प्रह्लाद महाराज) का जो सदैव असाधारण विधि से कार्य करता है; युधिष्ठिरः—राजा युधिष्ठिर ने; दैत्य-पतेः—असुरों के स्वामी का; मुदा-अन्वितः—प्रसन्न मुद्रा में; पप्रच्छ—पूछा; भूयः—पुनः; तनयम्—पुत्र से; स्वयम्भुवः—ब्रह्माजी के।

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : प्रह्लाद महाराज, जिनके कार्यकलाप तथा चरित्र की पूजा तथा चर्चा ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुष करते हैं, उनके विषय में सुनने के बाद महापुरुषों में सर्वाधिक आदरणीय राजा युधिष्ठिर महाराज ने नारद मुनि से अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में पुनः पूछा।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
भगवन्श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् ।
वर्णाश्रमाचारयुतं यत्पुमान्विन्दते परम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने पूछा; भगवन्—हे प्रभु; श्रोतुम्—सुनने के लिए; इच्छामि—मेरी इच्छा है; नृणाम्—मानव समाज के; धर्मम्—वृत्तिपरक कार्यों को; सनातनम्—सामान्य तथा (प्रत्येक के लिए) नित्य; वर्ण-आश्रम-आचार-युतम्—समाज तथा आध्यात्मिक प्रगति के चार विभागों के सिद्धान्तों पर आधारित; यत्—जिससे; पुमान्—सामान्य लोग; विन्दते—शान्तिपूर्वक भोग कर सकते हैं; परम्—परम ज्ञान (जिससे भक्ति प्राप्त की जा सकती है)।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे प्रभु, मैं आपसे धर्म के उन सिद्धान्तों के विषय में सुनने का इच्छुक हूँ जिनसे मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य भक्ति को प्राप्त कर सकता है। मैं मानव समाज के सामान्य वृत्तिपरक कर्तव्यों तथा वर्णाश्रम धर्म के नाम से विख्यात सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्रणाली के विषय में सुनना चाहता हूँ।

तात्पर्य : *सनातन धर्म* का अर्थ है भक्ति। *सनातन* शब्द का अर्थ है, जो नित्य है, जो कभी बदलता नहीं, अपितु सभी परिस्थितियों में अपरिवर्तित रहता है। हम अनेक बार विवेचना कर चुके हैं कि जीव का नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (सनातन धर्म) क्या है। इसकी व्याख्या श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—जीव का असली वृत्तिपरक कर्तव्य भगवान् की सेवा करना है। यदि कोई इस सिद्धान्त से विपथ भी होना चाहे तो भी वह दास बना रहता है, क्योंकि यह उसकी नित्य स्थिति है, किन्तु मनुष्य माया या भौतिक शक्ति की सेवा करता है। अतएव कृष्णभावनामृत आन्दोलन का मुख्य प्रयास भौतिक जगत की व्यर्थ में सेवा न करके भगवान् की सेवा करने के लिए मानव समाज को मार्ग दिखलाने का प्रयास करना होता है। हमारा वास्तविक अनुभव है कि प्रत्येक व्यक्ति, पशु, पक्षी—यहाँ तक कि प्रत्येक जीव—सेवा करने में लगा है। भले ही मनुष्य का शरीर या उसका बाह्य धर्म बदल जाये, किन्तु प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी की सेवा में लगा रहता है। अतएव सेवा करने की प्रवृत्ति नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म) कहलाती है। *वर्णाश्रम* संस्थान द्वारा यह नित्य वृत्तिपरक कर्तव्य व्यवस्थित किया जा सकता है क्योंकि इसमें चार *वर्ण* (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) एवं चार *आश्रम* (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) होते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर महाराज ने मानव समाज के लाभ के लिए नारद मुनि से *सनातन धर्म* के सिद्धान्तों के विषय में प्रश्न किये।

भवान्प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः ।
सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; प्रजापतेः—प्रजापति (ब्रह्मा) के; साक्षात्—प्रत्यक्ष; आत्म-जः—पुत्र; परमेष्ठिनः—इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष (ब्रह्मा) को; सुतानाम्—सारे पुत्रों में से; सम्मतः—सर्वश्रेष्ठ माने हुए; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; तपः—तपस्या; योग—योगाभ्यास; समाधिभिः—तथा समाधि या चिन्तन द्वारा (सभी तरह से आप उत्तम हैं)।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप प्रजापति (ब्रह्मा) के साक्षात् पुत्र हैं। आप अपनी तपस्या, योग तथा समाधि के कारण ब्रह्मा के समस्त पुत्रों में से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः ।
करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥ ४॥

शब्दार्थ

नारायण-पराः—भगवान् के प्रति सदैव आज्ञाकारी रहने वाले; विप्राः—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; धर्मम्—धार्मिक सिद्धान्त; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; परम्—परम; विदुः—जानते हैं; करुणाः—ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दयालु होते हैं (भक्त होने से); साधवः—जिनका आचरण अत्यन्त श्रेष्ठ है; शान्ताः—शान्त; त्वत्-विधाः—आपके ही समान; न—नहीं; तथा—इस तरह; अपरे—अन्य (भक्ति के अतिरिक्त अन्य विधियों के अनुयायी)।

शान्त जीवन तथा दया में आपसे श्रेष्ठ कोई नहीं है और आपसे बढ़कर कोई यह नहीं जानता कि भक्ति किस तरह की जाये या ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ किस प्रकार बना जाये। अतएव आप गुह्य धार्मिक जीवन के समस्त सिद्धान्तों के जानने वाले हैं और आपसे बढ़कर उन्हें अन्य कोई नहीं जानता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर जानते थे कि नारद मुनि मानव समाज के परम गुरु हैं, जो आध्यात्मिक मुक्ति के मार्ग की शिक्षा दे सकते हैं जिससे भगवान् को समझा जा सकता है। वस्तुतः इसी प्रयोजन से नारद मुनि ने *भक्तिसूत्र* का संग्रह किया और *नारद पञ्चरात्र* में निर्देश दिये। धार्मिक नियमों तथा जीवन की सिद्धि के विषय में सीखने के लिए मनुष्य को नारद मुनि की शिष्य-परम्परा से उपदेश ग्रहण करने चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सीधे ब्रह्म-सम्प्रदाय की पंक्ति में है। नारद मुनि ने ब्रह्मा से जो उपदेश प्राप्त किया था उसे ही उन्होंने व्यासदेव को दिया। व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव गोस्वामी को उपदेश दिया जिन्होंने *श्रीमद्भागवत* का प्रवचन किया। कृष्णभावनामृत आन्दोलन *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* पर आधारित है। चूँकि *श्रीमद्भागवत* शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया था तथा *भगवद्गीता* कृष्ण द्वारा कही गई थी, अतएव उनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम शिष्य-परम्परा के सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन करें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक मोक्ष या भक्ति में नित्य लगे रहने के सही मार्ग पर चल रहे होते हैं।

श्रीनारद उवाच
नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्मसेतवे ।
वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; नत्वा—नमस्कार करके; भगवते—भगवान् को; अजाय—अजन्मा, सदैव विद्यमान; लोकानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भर के; धर्म-सेतवे—धार्मिक सिद्धान्तों का रक्षक; वक्ष्ये—मैं बतलाऊँगा; सनातनम्—नित्य; धर्मम्—वृत्तिपरक कर्तव्य (धर्म); नारायण-मुखात्—नारायण के मुँह से; श्रुतम्—जिसे मैंने सुन रखा है।

श्री नारद मुनि ने कहा : मैं सर्वप्रथम समस्त जीवों के धार्मिक सिद्धान्तों के रक्षक भगवान् कृष्ण को नमस्कार करके नित्य धार्मिक पद्धति (सनातन धर्म) के सिद्धान्तों को बताता हूं जिन्हें मैंने नारायण के मुख से सुना है।

तात्पर्य : *अज* शब्द कृष्ण का सूचक है जिन्होंने *भगवद्गीता* (४.६) में बतलाया है—*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*—मैं सदैव विद्यमान रहता हूँ और इस प्रकार मैं कभी जन्म नहीं लेता। मेरे अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं आता।

योऽवतीर्यात्मनोऽंशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः ।
लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो (नारायण); अवतीर्य—अवतार लेकर; आत्मनः—अपने; अंशेन—अंश (नर) के द्वारा; दाक्षायण्याम्—महाराज दक्ष की पुत्री दाक्षायणी के गर्भ में; तु—निस्सन्देह; धर्मतः—धर्म महाराज से; लोकानाम्—सारे लोगों के; स्वस्तये—लाभ हेतु; अध्यास्ते—सम्पन्न करता है; तपः—तपस्या; बदरिकाश्रमे—बद्रिकाश्रम नामक स्थान में।.

भगवान् नारायण अपने अंश नर समेत इस संसार में दक्ष महाराज की मूर्ति नामक पुत्री से प्रकट हुए। धर्म महाराज द्वारा उनका जन्म समस्त जीवों के लाभ हेतु था। वे आज भी बदरिकाश्रम नामक स्थान के निकट महान् तपस्या करने में लगे हुए हैं।

धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

धर्म-मूलम्—धार्मिक सिद्धान्तों की जड़; हि—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; सर्व-वेद-मयः—समस्त वैदिक ज्ञान का सार; हरिः—परम पुरुष; स्मृतम् च—तथा शास्त्र; तत्-विदाम्—परमेश्वर को जानने वाले का; राजन्—हे राजा; येन—जिससे; च—भी; आत्मा—आत्मा, मन, शरीर तथा हर वस्तु; प्रसीदति—पूर्णतया प्रसन्न हो जाती है।.

परम पुरुष भगवान् समस्त वैदिक ज्ञान के सार, समस्त धर्मों के मूल तथा महापुरुषों की स्मृति हैं। हे राजा युधिष्ठिर, इस धर्म के सिद्धान्त को प्रमाणस्वरूप समझना चाहिए। इसी धार्मिक सिद्धान्त के आधार पर सबों की तुष्टि होती है, यहाँ तक कि मनुष्य के मन, आत्मा तथा शरीर की भी तुष्टि होती है।

तात्पर्य : जैसाकि यमराज ने कहा है—*धर्मः तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्।* मृत्यु के बाद प्रत्येक जीव की रक्षा करने वाले भगवान् का प्रतिनिधि यमराज है, जो इसका निर्णय करता है कि जीव कब और

कैसे अपना शरीर बदलेगा। वह अधिकारी है और उसका कहना है कि धर्म तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त नियमों तथा आचार संहिताओं से बना होता है। कोई धर्म का निर्माण नहीं कर सकता, अतएव वैदिक सिद्धान्तों के अनुयायी कृत्रिम धार्मिक पद्धतियों को अस्वीकार कर देते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वैदिक ज्ञान का अर्थ है भगवान् कृष्ण को समझना। अतएव हम चाहे वेदों की बात करें या शास्त्रों की, चाहे धर्म की बात करें या मनुष्य के वृत्तिपरक कर्तव्य के सिद्धान्तों की, इन सबका एकमात्र लक्ष्य भगवान् कृष्ण को समझना होना चाहिए। अतएव *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) का यह निष्कर्ष है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

दूसरे शब्दों में, धार्मिक नियमों का लक्ष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करना सीखना है। यह सेवा न तो किसी के उकसाने से होनी चाहिए, न भौतिक स्थितियों के रोके रुकनी चाहिए। तब मानव समाज सभी प्रकार से सुखी हो सकेगा।

स्मृतियाँ वैदिक ज्ञान के सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले शास्त्र हैं जिन्हें वैदिक सिद्धान्तों का प्रमाण माना जाता है। धर्म का पालन करने के लिए बीस प्रकार की भिन्न भिन्न स्मृतियाँ हैं जिनमें से मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ सर्वव्यापक हैं। *याज्ञवल्क्य स्मृति* में कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

मनुष्य को चाहिए कि वह श्रुतियों, वेदों तथा स्मृतियों से मानवीय आचरण सीखे। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहा है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

आशय यह है कि भक्त बनने के लिए मनुष्य को *श्रुति* तथा *स्मृति* में दिये गये नियमों का पालन करना चाहिए। उसे पुराणों तथा *पाञ्चरात्रिकी-विधि* के नियमों को मानना चाहिए। *श्रुति* तथा *स्मृति* का

पालन किये बिना न तो कोई शुद्ध भक्त बन सकता है और न भक्ति से रहित *श्रुति* तथा *स्मृति* से कोई जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अतएव सभी प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति के बिना धार्मिक सिद्धान्तों का प्रश्न ही नहीं उठता। धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में ईश्वर केन्द्रविन्दु रहता है। इस समय विश्व भर में धर्म के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, वह भक्तिभावना से लगभग रहित है, अतएव *श्रीमद्भागवत* के निर्णय के अनुसार वह निन्दनीय है। भक्ति के बिना तथाकथित धार्मिक सिद्धान्त मात्र प्रवञ्चना हैं।

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥ ८ ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥ ९ ॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥ १० ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥ ११ ॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—बिना तोड़े-मरोड़े सत्य का भाषण; दया—प्रत्येक दुखी व्यक्ति पर सहानुभूति; तपः—तपस्या (यथा एकादशी के दिन मास में दो बार उपवास करना); शौचम्—स्वच्छता (दिन में दो बार, सुबह-शाम, नियमित रूप से स्नान करना तथा भगवान् के नाम का जप करना याद रखना); तितिक्षा—सहनशक्ति (ऋतु परिवर्तनों या असुविधाजनक परिस्थितियों में भी अक्षुब्ध रहना); ईक्षा—सद्-असद् में अन्तर करना; शमः—मन का संयम (मन को मनमाना कार्य न करने देना); दमः—इन्द्रियों का संयम (इन्द्रियों को असंयमित न होने देना); अहिंसा—अहिंसा (किसी जीव को तीन प्रकार के तापों से पीड़ित न होने देना); ब्रह्मचर्यम्—अपने वीर्य का दुरुपयोग न होने देना (अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संभोग न करना तथा वर्जित अवसरों पर यथा मासिक धर्म के अवसर पर पत्नी के साथ संभोग न करना); च—तथा; त्यागः—अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत दान में देना; स्वाध्यायः—भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण, महाभारत जैसे दिव्य ग्रंथों का पठन (अथवा जो वैदिक संस्कृति के लोग नहीं हैं, उनके द्वारा बाइबिल या कुरान का पठन); आर्जवम्—सादगी(मानसिक द्वन्द्व से मुक्ति); सन्तोषः—कठिन प्रयास के बिना जो भी उपलब्ध हो उसी में सन्तुष्ट रहना; समदृक्-सेवा—उन साधु पुरुषों की सेवा करना जो एक जीव तथा दूसरे जीव में अन्तर नहीं करते तथा जो प्रत्येक जीव को आत्मा के रूप में देखते हैं (पण्डिताः समदर्शिनः); ग्राम्य-ईह-उपरमः—तथाकथित परोपकारी कार्यों में भाग न लेते हुए; शनैः—धीरे-धीरे; नृणाम्—मानव समाज में; विपर्यय-ईहा—अनावश्यक कार्य; ईक्षा—वाद-विवाद; मौनम्—गम्भीर तथा शान्त रहना; आत्म—अपने में; विमर्शनम्—शोध (यह कि मनुष्य शरीर है या आत्मा); अन्न-आद्य-आदेः—अन्न, पेय आदि का.; संविभागः—समान वितरण; भूतेभ्यः—विभिन्न जीवों के लिए; च—भी; यथा-अर्हतः—अनुकूल; तेषु—सारे जीवों में; आत्म-देवता-बुद्धिः—आत्मा या देवताओं के रूप में स्वीकार करना; सुतराम्—प्रारम्भिक रूप से; नृषु—सारे मनुष्यों में; पाण्डव—हे महाराज युधिष्ठिर; श्रवणम्—सुनना; कीर्तनम्—कीर्तन करना; च—भी; अस्य—उस (भगवान) का; स्मरणम्—स्मरण करना (भगवान् के शब्दों तथा कार्यों का); महताम्—महापुरुषों का; गतेः—आश्रय स्वरूप; सेवा—सेवा; इज्या—पूजा; अवनतिः—नमस्कार करना; दास्यम्—सेवा करना; सख्यम्—मित्र मानना; आत्म-समर्पणम्—अपना सब कुछ अर्पित कर देना; नृणाम्—सारे मनुष्यों का; अयम्—यह; परः—

सर्वश्रेष्ठ; धर्मः—धार्मिक सिद्धान्त; सर्वेषाम्—सबों में; समुदाहृतः—पूर्णतया वर्णित; त्रिंशत्-लक्षण-वान्—तीस लक्षणों से युक्त; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मा—सबों का परमात्मा; येन—जिससे; तुष्यति—तुष्ट होता है।

सभी मनुष्यों को जिन सामान्य नियम का पालन करना होता है, ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, (महीने में कुछ दिन उपवास करना), दिन में दो बार स्नान, सहनशीलता, अच्छे बुरे का विवेक, मन का संयम, इन्द्रिय संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दान, शास्त्रों का अध्ययन, सादगी, सन्तोष, साधु पुरुषों की सेवा, अनावश्यक कार्यों से क्रमशः अवकाश लेना, मानव समाज के अनावश्यक कार्यों की व्यर्थता समझना, गम्भीर तथा शान्त बने रहना एवं व्यर्थ की बातें करने से बचना, मनुष्य शरीर या इस आत्मा के विषय में विचार करना, सभी जीवों (पशुओं तथा मनुष्यों) में अन्न का समान वितरण करना, प्रत्येक आत्मा को (विशेषतया मनुष्य को) परमेश्वर का अंश मानना, भगवान् के कार्यकलापों तथा उनके उपदेशों को सुनना (भगवान् साधु पुरुषों के आश्रय हैं), इन कार्यों तथा उपदेशों का कीर्तन करना, इनका नित्य स्मरण करना, सेवा करने का प्रयास, पूजा करना, नमस्कार करना, दास बनना, मित्र बनना और आत्म-समर्पण करना। हे राजा युधिष्ठिर, मनुष्य जीवन में इन तीस गुणों को अर्जित करना चाहिए। मनुष्य इन गुणों को अर्जित करने मात्र से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है।

तात्पर्य : मनुष्यों को पशुओं से अलग समझने के लिए नारद मुनि ने संस्तुति की है कि प्रत्येक मनुष्य उपर्युक्त तीस गुणों की शिक्षा प्राप्त करे। आज-कल पूरे विश्व में सर्वत्र ही धर्मनिरपेक्ष राज्य का विज्ञापन किया जा रहा है, जो ऐसा राज्य है, जिसकी रुचि केवल सांसारिक कार्यों में होगी। किन्तु यदि राज्य के नागरिकों को उपर्युक्त सद्गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तो फिर सुख कैसे प्राप्त होगा? उदाहरणार्थ, यदि सारे लोग असत्यवादी हो जाँय तो राज्य कैसे सुखी रह सकेगा? अतएव चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध अथवा अन्य किसी सम्प्रदाय का हो, हर एक को सत्यवादी बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसी प्रकार हर एक को दयालु बनने तथा महीने में कुछ दिन उपवास करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को दिन में दो बार नहाना चाहिए, अपने दाँतों को तथा शरीर को स्वच्छ रखना चाहिए और भगवान् के पवित्र नाम का स्मरण करके मन को आन्तरिक रूप से विमल बनाना चाहिए। ईश्वर एक है, चाहे कोई हिन्दू हो, मुसलमान हो या ईसाई। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह भाषा सम्बन्धी उच्चारण की भिन्नता की परवाह न करके भगवान् के पवित्र

नाम का कीर्तन करे। साथ ही मनुष्य को व्यर्थ ही वीर्य स्खलित न करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। यह सभी मनुष्यों के लिए नितान्त आवश्यक है। व्यर्थ में वीर्य स्खलन न होने से मनुष्य की स्मृति, संकल्प, क्रियाशीलता तथा शारीरिक शक्ति अत्यन्त प्रबल बनती है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार तथा अनुभूति में सरल रहने और शरीर तथा मन से संतुष्ट रहने की शिक्षा दी जानी चाहिए। ये मनुष्य के सामान्य गुण हैं। इसमें धर्मनिरपेक्ष या धार्मिक राज्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जब तक मनुष्य को इन तीस गुणों की शिक्षा नहीं दी जाती तब तक शान्ति नहीं हो सकती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार संस्तुति की जाती है—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यं आत्मसमर्पणम् ॥

हर एक व्यक्ति को भगवान् का भक्त बन जाना चाहिए, क्योंकि भक्त बनने पर मनुष्य को अन्य सारे गुण स्वतः प्राप्त हो जाएँगे।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिश्र्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

"जिसमें कृष्ण की अविचल भक्ति है उसमें कृष्ण तथा देवताओं के सारे सद्गुण निरन्तर प्रकट होते रहते हैं। किन्तु जिसकी अनुरक्ति भगवान् में नहीं है उसमें सद्गुण नहीं होते, क्योंकि वह मनोरथ द्वारा भौतिक जगत में लगा रहता है, जो भगवान् का बाह्य रूप है।" (*भागवत* ५.१८.१२) अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन सबों को गले लगाने वाला है। मानव सभ्यता को चाहिए कि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे और विश्व शान्ति के लिए इन नियमों का अभ्यास करे।

संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् ।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

संस्काराः—संस्कार, शुद्धिकरण की विधियाँ; यत्र—जिसमें; अविच्छिन्नाः—बिना किसी क्रम भंग के; सः—ऐसा व्यक्ति; द्वि-जः—दो बार जन्मा; अजः—ब्रह्मा ने; जगाद—विधान किया; यम्—जो; इज्या—पूजा; अध्ययन—वेदाध्ययन; दानानि—तथा दान; विहितानि—बताये गये; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों का; जन्म—जन्म से; कर्म—तथा कर्म से; अवदातानाम्—विमल, पवित्र; क्रियाः—कार्यकलाप; च—भी; आश्रम-चोदिताः—चारों आश्रमों के लिए संस्तुत।

जो लोग अविच्छिन्न रूप से वैदिक मंत्रों द्वारा सम्पन्न होने वाले गर्भाधान संस्कार तथा अन्य नियत विधियों द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं तथा जिनकी स्वीकृति ब्रह्मा द्वारा दी जा चुकी है, वे द्विज कहलाते हैं। ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जो अपनी पारिवारिक परम्परा तथा अपने आचरण द्वारा शुद्ध किये जा चुके हैं उन्हें चाहिए कि भगवान् की पूजा करें, वेदों का अध्ययन करें तथा दान दें। इस पद्धति में उन्हें आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के नियमों का पालन करना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य के आचरण सम्बन्धी तीस सामान्य गुणों की सूची प्रस्तुत करने के बाद अब नारद मुनि चार वर्णों तथा चार आश्रमों के नियमों का वर्णन कर रहे हैं। मनुष्य को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, अन्यथा वह मनुष्य नहीं है। फिर ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों में वर्णाश्रम पद्धति चालू करनी चाहिए। वर्णाश्रम पद्धति में पहला संस्कार *गर्भाधान* का है, जो मैथुन के समय अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मंत्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जो व्यक्ति इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, अपितु संस्कार के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिए संभोग करता है, वह भी ब्रह्मचारी माना जाता है। मनुष्य को वैदिक जीवन के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करके इन्द्रिय-सुख के लिए ही वीर्य का विनाश नहीं करना चाहिए। पर सम्भोग में संयम तभी सम्भव है जब जनता को उपर्युक्त तीस गुणों में प्रशिक्षित किया जाये। अन्यथा यह सम्भव नहीं है। यदि कोई द्विज परिवार में जन्म भी ले, किन्तु यदि वह संस्कारों का पालन न करे तो वह *द्विजबन्धु* कहलाता है—अर्थात् वह द्विज नहीं अपितु द्विजों का मित्र है। इस पद्धति का अभिप्राय अच्छे नागरिक उत्पन्न करना है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो उनकी सन्तानें *वर्णसंकर* कहलाती हैं और जब वर्णसंकर सन्तानें बढ़ जाती हैं, तो सारे विश्व की स्थिति नारकीय बन जाती है। अतएव सारा वैदिक वाङ्मय वर्ण-संकर जनता उत्पन्न करने के विरुद्ध सावधान करता है। वर्णसंकर सन्तानें होने पर उनको शान्ति तथा सम्पन्नता के लिए ठीक से नियंत्रित नहीं किया जा सकता, चाहे कितनी ही बड़ी विधान सभाएँ, संसद या अन्य संस्थाएँ क्यों न हों।

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः ।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद्वा करादिभिः ॥ १४॥

शब्दार्थ

विप्रस्य—ब्राह्मण का; अध्ययन-आदीनि—वेदाध्ययन इत्यादि; षट्—छः (वेदों का अध्ययन, वेदों का अध्यापन, दैव पूजा, अन्यों को पूजा-विधि बताना, दान ग्रहण करना तथा दान देना); अन्यस्य—ब्राह्मण के अलावा अन्य (क्षत्रियों) का; अप्रतिग्रहः—अन्यों से दान लिए बिना (क्षत्रिय ब्राह्मणों के लिए नियत अन्य पाँच कर्तव्य निभा सकता है); राज्ञः—क्षत्रिय की; वृत्तिः—जीविका का साधन; प्रजा-गोप्तुः—प्रजा के पालक; अविप्रात्—जो ब्राह्मण नहीं हैं उससे; वा—अथवा; कर-आदिभिः—कर, दण्ड हेतु, जुर्माना आदि वसूल करके।

ब्राह्मण के लिए छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं। क्षत्रिय के लिए दान लेना वर्जित है किन्तु वह इनमें से अन्य पाँच कर्तव्य कर सकता है। राजा या क्षत्रिय को ब्राह्मण से कर वसूलने की अनुमति नहीं है, किन्तु वह अपनी अन्य प्रजा पर न्यूनतम कर तथा दण्ड के लिए जुर्माना लगाकर अपनी जीविका चला सकता है।

तात्पर्य : विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिनमें से तीन अनिवार्य हैं—यथा वेदाध्ययन अर्चा विग्रह पुजा और दान देना शिक्षा प्रदान करना, अन्यों को दैव पूजा के लिए प्रेरित करने तथा दान स्वीकार करने से ब्राह्मणों की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इसकी पुष्टि *मनु संहिता* में भी हुई है—

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

यजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥

ब्राह्मण के छः वृत्तिपरक कर्तव्यों में तीन अनिवार्य हैं। ये हैं—देवपूजन, वेदाध्ययन तथा दान देना। इसके बदले में ब्राह्मण को दान मिलना चाहिए जिससे उसकी जीविका चले। ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए कोई वृत्तिपरक व्यवसाय नहीं कर सकता। शास्त्रों का विशेष बल इस पर है कि जो अपने को ब्राह्मण कहता है, वह अन्य किसी की सेवा में रत नहीं हो सकता; अन्यथा वह अपने पद से तुरन्त च्युत होकर शूद्र बन जाता है। श्रील रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी अत्यन्त सम्मानित परिवार के थे, किन्तु चूंकि वे नवाब हुसैन शाह की छोटी-मोटी क्लर्की नहीं, अपितु मंत्री के रूप में सेवा करते थे, अतएव उन्हें ब्राह्मण समाज से निकाल दिया गया था। निस्सन्देह, वे मुसलमान बन गये और उन्होंने अपने नाम भी बदल दिये थे। जब तक ब्राह्मण शुद्ध न हो, वह अन्यों से दान नहीं ले सकता। दान केवल शुद्ध ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए। भले ही कोई ब्राह्मण-कुल में क्यों न उत्पन्न हो, किन्तु

यदि वह शूद्र का कर्म करता है, तो वह दान नहीं ले सकता, क्योंकि इसका घोर निषेध किया गया है। यद्यपि क्षत्रिय ब्राह्मणों के ही समान योग्य होते हैं, लेकिन वे भी दान नहीं ले सकते। इस श्लोक में *अप्रतिग्रह* शब्द द्वारा इसका जोरदार निषेध किया गया है। निम्न जातियों (वर्णों) के लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्षत्रियों तक को भी दान नहीं लेना चाहिए। राजा या सरकार नागरिकों पर कई प्रकार से कर लगा सकती है—शुल्क, कर, जुर्माना आदि बशर्ते कि राजा अपनी प्रजा को जीवन तथा माल की सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ हो। यदि वह सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम नहीं है, तो वह कर नहीं लगा सकता। फिर भी राजा को ब्राह्मणों पर तथा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लगे वैष्णवों पर कर नहीं लगाना चाहिए।

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः ।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वैश्यः—व्यवसायी वर्ग; तु—निस्सन्देह; वार्ता-वृत्तिः—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार में लगे; स्यात्—हो; नित्यम्—सदैव; ब्रह्म-कुल-अनुगः—ब्राह्मणों के निर्देशों का पालन करते हुए; शूद्रस्य—श्रमिकों का, चतुर्थ श्रेणी के लोग; द्विज-शुश्रूषा—तीन उच्च वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) की सेवा; वृत्तिः—जीविका-साधन; च—तथा; स्वामिनः—स्वामी; भवेत्—उसे होना चाहिए।

व्यवसायी वर्ग को सदैव ब्राह्मणों के आदेशों का पालन करना चाहिए और कृषि, व्यापार तथा गोरक्षा जैसे वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगे रहना चाहिए। शूद्र का एकमात्र कर्तव्य है उच्चवर्ण में से किसी को स्वामी बनना और उस की सेवा करना।

वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् ।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वार्ता—वैश्य की जीविका का साधन (कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार); विचित्रा—विभिन्न प्रकार; शालीन—बिना प्रयास के प्राप्त जीविका; यायावर—थोड़ा धान माँगने के लिए खेत में जाना; शिल—खेत में गिरे हुए अन्न को चुनना; उञ्छनम्—दूकानों में बोरों से गिरे हुए अन्न को चुनना; विप्र-वृत्तिः—ब्राह्मणों की जीविका; चतुर्धा—चार प्रकार की; इयम्—यह; श्रेयसी—श्रेयस्कर, श्रेष्ठतर; च—भी; उत्तर-उत्तरा—उत्तरोत्तर।

विकल्प के रूप में ब्राह्मण वैश्य की कृषि, गोरक्षा या व्यापार की वृत्तियाँ ग्रहण कर सकता है। जो कुछ बिना माँगे मिल जाये वह उस पर आश्रित रह सकता है, वह प्रति दिन धान के खेत में जाकर भिक्षा माँग सकता है, वह स्वामी द्वारा खेत में थोडा अन्न इकट्ठा कर सकता है; या अन्न

के व्यापारियों की दूकान में पिछले गिरे हुए अन्न को एकत्र कर सकता है। जीविका के ये चार साधन हैं जिन्हें ब्राह्मण भी अपना सकते हैं। इन चारों में से प्रत्येक साधन अपने पिछेले से (उत्तरोत्तर) श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : कभी-कभी ब्राह्मण को दान में जमीन तथा गौवें मिल जाती हैं। इस तरह वह वैश्य की भाँति अपनी जीविका उपार्जित कर सकता है, जिसमें भूमि में खेती करना, गायों की रक्षा करना आवश्यकता से अधिक अपनी बची हुई वस्तुओं को बेचना सम्मिलित हैं, किन्तु श्रेष्ठतर विधि है खेत में गिरे अन्न को चुनना और बिना भिक्षा मांगे दूकानदार की दूकान से गिरे अन्न को बीनना।

जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः ।
ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥ १७॥

शब्दार्थ

जघन्यः—निम्न (पुरुष); न—नहीं; उत्तमाम्—उच्च; वृत्तिम्—जीविका का साधन; अनापदि—जहाँ सामाजिक उपद्रव नहीं होते; भजेत्—स्वीकार करे; नरः—मनुष्य; ऋते—के अतिरिक्त; राजन्यम्—क्षत्रिय का व्यवसाय; आपत्सु—आपात्काल में; सर्वेषाम्—जीवन के प्रत्येक स्तर के प्रत्येक व्यक्ति का; अपि—निश्चय ही; सर्वशः—सारे व्यवसाय या वृत्तिपरक कर्तव्य।

आपात्काल के अतिरिक्त निम्न लोगों को उच्च वर्ग के वृत्तिपरक कार्य नहीं करने चाहिए। हाँ, यदि आपात्काल हो तो क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य सभी लोग अन्यों की जीविकाएँ स्वीकार कर सकते हैं।

तात्पर्य : निम्न जाति के लोगों को, विशेष रूप से वैश्यों तथा शूद्रों को, ब्राह्मण के वृत्तिपरक कर्तव्य स्वीकार नहीं करने चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण का वृत्तिपरक कर्तव्य वेदों का अध्यापन है, किन्तु जब तक आपात्काल न हो, क्षत्रियों, वैश्यों या शूद्रों को यह वृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। यहाँ तक कि क्षत्रिय भी ब्राह्मण के कार्यों को तब तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक आपात्काल न हो। और यदि वह ऐसा करे तो उसे अन्य किसी से दान नहीं लेना चाहिए। कभी-कभी ब्राह्मण लोग हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का विरोध करते हैं कि हम यूरोपवासियों को अर्थात् *मलेच्छों* तथा *यवनों* को ब्राह्मण बना रहे हैं, लेकिन यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में इस आन्दोलन को समर्थन मिलता है। इस समय समाज में अव्यवस्था फैली हुई है और हर व्यक्ति ने उस आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन छोड़ दिया है, जो विशेषतः ब्राह्मणों के लिए है। चूँकि सारे विश्व में आध्यात्मिक संस्कृति बन्द कर दी गई है, अतएव इस समय आपात्काल है, अतः अब वह समय आ गया है कि जब नीच तथा अधम को

शिक्षित किया जाये जिससे वे ब्राह्मण बनकर आध्यात्मिक प्रगति का कार्य अपना सकें। मानव समाज की आध्यात्मिक प्रगति बन्द हो चुकी है और इसे आपात्काल समझना चाहिए। यहाँ पर कृष्णभावनामृत नामक आन्दोलन के लिए नारद मुनि का ठोस समर्थन प्राप्त होता है।

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ।
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् ॥ १८ ॥
मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात्प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ।
सत्यानृतं च वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ॥ १९ ॥
वर्जयेत्तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ऋत-अमृताभ्याम्—ऋत तथा अमृत नामक वृत्तियों से; जीवेत—जीवित रहे; मृतेन—मृत वृत्ति द्वारा; प्रमृतेन वा—अथवा प्रमृत वृत्ति द्वारा; सत्यानृताभ्याम् अपि—सत्य अनृत वृत्ति के द्वारा भी; वा—अथवा; न—कभी नहीं; श्व-वृत्त्या—कूकर वृत्ति द्वारा; कदाचन—कभी भी; ऋतम्—ऋत; उञ्छशिलम्—खेत या बाजार से गिरे अन्न बीनने की वृत्ति; प्रोक्तम्—कहा गया; अमृतम्—अमृत वृत्ति; यत्—जो; अयाचितम्—किसी से माँगे बिना प्राप्त; मृतम्—मृत की वृत्ति; तु—लेकिन; नित्य-याच्ञा—प्रतिदिन किसानों से अन्न की भीख माँगना; स्यात्—हो; प्रमृतम्—प्रमृत वृत्ति; कर्षणम्—खेत जोतना; स्मृतम्—ऐसा स्मरण किया जाता है; सत्यानृतम्—सत्यानृत वृत्ति; च—तथा; वाणिज्यम्—व्यापार; श्व-वृत्तिः—कूकरों की वृत्ति; नीच-सेवनम्—नीचों (वैश्यों तथा शूद्रों) की सेवा; वर्जयेत्—छोड़ देनी चाहिए; ताम्—उसको (कूकर वृत्ति); सदा—सदैव; विप्रः—ब्राह्मण; राजन्यः च—तथा क्षत्रिय; जुगुप्सिताम्—अत्यन्त गर्हित; सर्व-वेद-मयः—सारे वैदिक ज्ञान में पटु; विप्रः—ब्राह्मण; सर्व-देव-मयः—साक्षात् समस्त देवता; नृपः—क्षत्रिय या राजा।

आपात्काल में मनुष्य ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत तथा सत्यनृत नामक विभिन्न वृत्तियों में से किसी एक को स्वीकार कर सकता है। किन्तु कूकर वृत्ति से कभी नहीं अपनानी चाहिए। उञ्छशिल वृत्ति में अर्थात् खेती से अन्न एकत्र करने की वृत्ति को होता है। इसे ही ऋत कहते हैं। बिना भीख माँगे एकत्र करना अमृत कहलाता है, अन्न की भीख माँगना मृत है, जमीन को जोतना प्रमृत है और व्यापार करना सत्यानृत है। किन्तु निम्न पुरुषों की सेवा करना श्ववृत्ति या कूकर वृत्ति कहलाती है। विशेषतः ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को शूद्रों की निम्न तथा गर्हित सेवा में नही लगना चाहिए। ब्राह्मणों को समस्त वैदिक ज्ञान में पटु होना चाहिए और क्षत्रियों को देवताओं की पूजा से भली भान्ति परिचित होना चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*—मानव समाज के चार विभाग प्रकृति के तीन गुणों एवं उनके नियत कर्मों के

अनुसार भगवान् द्वारा निर्मित हुए। पहले मानव समाज को चार विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—में बाँटने का सिद्धान्त कठोरता से पाला जाता था किन्तु वर्णाश्रम सिद्धान्त की क्रमिक उपेक्षा के कारण वर्णसंकर जनता का विकास हुआ और सारा वर्णाश्रम सिद्धान्त चौपट हो गया। इस कलियुग में लगभग हर व्यक्ति शूद्र है (*कलौ शूद्रसम्भवा:*) और ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि कृष्णभावनामृत आन्दोलन ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आन्दोलन है, किन्तु इसके द्वारा दैवी वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि समाज के इस विभाजन के बिना कहीं भी शान्ति एवं समृद्धि असम्भव है।

शमो दमस्तप: शौचं सन्तोष: क्षान्तिरार्जवम् ।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

शम:—मन का संयम; दम:—इन्द्रिय संयम; तप:—तपस्या; शौचम्—पवित्रता; सन्तोष:—तुष्टि; क्षान्ति:—क्षमाशीलता (क्रोध से विक्षुब्ध न होना); आर्जवम्—सरलता; ज्ञानम्—ज्ञान; दया—दया; अच्युत-आत्मत्वम्—अपने को ईश्वर का नित्य दास मानना; सत्यम्—सत्य; च—भी; ब्रह्म-लक्षणम्—ब्राह्मण के लक्षण।

ब्राह्मण के लक्षण इस प्रकार हैं—मन का संयम, इन्द्रिय संयम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, दया, सत्य तथा भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण।

तात्पर्य : *वर्णाश्रम-धर्म* व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लक्षणों का वर्णन हुआ है। अन्तिम लक्ष्य तो *अच्युतात्मत्वम्*—सदैव भगवान् कृष्ण या विष्णु के विषय सोचना है। कृष्णभावनामृत में उन्नति करने के लिए मनुष्य को उपर्युक्त गुणों से युक्त ब्राह्मण बनना होता है।

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागश्चात्मजय: क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यं च क्षत्रलक्षणम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

शौर्यम्—युद्ध में पराक्रम; वीर्यम्—अजेय होना; धृति:—धैर्य (यहाँ तक कि हारने पर भी क्षत्रिय गम्भीर रहता है); तेज:—अन्यों को पराजित करने की सामर्थ्य; त्याग:—दान देना; च—तथा; आत्म-जय:—शारीरिक आवश्यकताओं से अभिभूत न होना; क्षमा—क्षमाशीलता; ब्रह्मण्यता—ब्राह्मण नियमों के प्रति आज्ञाकारिता; प्रसाद:—जीवन की किसी भी परिस्थिति में प्रसन्न रहना; च—तथा; सत्यम् च—तथा सत्य; क्षत्र-लक्षणम्—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

युद्ध में प्रभावशाली, अजेय, धैर्यवान, तेजवान तथा दानवीर होना, शारीरिक आवश्यकताओं को वश में करना, क्षमाशील होना, ब्राह्मण नियमों का पालन करना तथा सदैव प्रसन्न रहना और सत्यनिष्ठ होना—ये क्षत्रिय के लक्षण हैं।

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देव-गुरु-अच्युते—देवताओं, गुरु तथा भगवान् विष्णु में; भक्तिः—भक्तिभाव; त्रि-वर्ग—पवित्र जीवन के तीन सिद्धान्तों (धर्म, अर्थ तथा काम) का; परिपोषणम्—सम्पन्न होना; आस्तिक्यम्—शास्त्रों, गुरु तथा परमेश्वर में श्रद्धा; उद्यमः—सक्रिय; नित्यम्—निरन्तर, अनवरत; नैपुण्यम्—निपुणता; वैश्य-लक्षणम्—वैश्य के लक्षण।

देवता, गुरु तथा भगवान् विष्णु के प्रति सदैव अनुरक्ति, धर्म, अर्थ तथा काम में प्रयत्नशीलता; गुरु तथा शास्त्र के शब्द में विश्वास; तथा धनार्जन में निपुणता सहित प्रयत्नशील होना—ये वैश्य के लक्षण हैं।

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

शूद्रस्य—शूद्र (समाज के चतुर्थ वर्ण, श्रमिक) का; सन्नतिः—उच्च वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) के प्रति आज्ञाकारिता; शौचम्—पवित्रता; सेवा—सेवाभाव; स्वामिनि—अपने पालने वाले स्वामी के प्रति; अमायया—द्विविधता के बिना; अमन्त्र-यज्ञः—बिना मंत्रों के यज्ञ करना; हि—ही; अस्तेयम्—चोरी न करने का अभ्यास; सत्यम्—सत्य; गो—गाय; विप्र—ब्राह्मण की; रक्षणम्—रक्षा।

समाज के उच्च वर्णों (ब्राह्मणों, क्षत्रिय तथा वैश्यों) को नमस्कार करना, सदैव स्वच्छ रहना, द्वैतभाव से मुक्त रहना, अपने स्वामी की सेवा करना, मंत्र पढ़े बिना यज्ञ करना, चोरी न करना, सदा सत्य बोलना तथा गायों एवं ब्राह्मणों को सदा संरक्षण प्रदान करना—ये शूद्र के लक्षण हैं।

तात्पर्य : यह आम अनुभव है कि श्रमिक या नौकर सामान्यतया चोरी करने के आदि होते हैं। किन्तु प्रथम श्रेणी का नौकर वह है, जो चोरी नहीं करता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रथम श्रेणी के शूद्र को सदैव स्वच्छ रहना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए और सदैव अपने स्वामी की सेवा करनी चाहिए। शूद्र यज्ञों तथा वैदिक अनुष्ठानों में अपने स्वामी के साथ उपस्थित रह सकता है, लेकिन उसे मंत्रोच्चार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह केवल उच्चवर्ण वाले ही यह कर

सकते हैं। जब तक कोई पूर्णतः शुद्ध न हो तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के स्तर को प्राप्त न हो चुका हो—अर्थात् द्विज न हो—तब तक मंत्रोच्चार सफल नहीं होता।

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; च—भी; पति-देवानाम्—जिन्होंने अपने पतियों को पूज्य मान रखा है; तत्-शुश्रूषा—अपने पति की सेवा करने में तत्परता; अनुकूलता—अपने पति के प्रति अनुकूल रहना; तत्-बन्धुषु—पति के मित्रों तथा सम्बन्धियों में; अनुवृत्तिः—उसी प्रकार अनुकूलता (पति के सन्तोष के लिए उनसे भी सद्व्यवहार करना); च—तथा; नित्यम्—नियमित रूप से; तत्-व्रत-धारणम्—पति के व्रतों को स्वीकार करते हुए अथवा पति के अनुसार कर्म करना।

पति की सेवा करना, अपने पति के अनुकूल रहना, पति के सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति भी समान रूप से अनुकूल रहना तथा पति के व्रतों का पालन करना—ये चार नियम पतिव्रता स्त्री के लिए पालनीय हैं।

तात्पर्य : एक शान्त गृहस्थ जीवन के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि स्त्री अपने पति के व्रत का पालन करे। पति के व्रत से किसी प्रकार का असामंजस्य पारिवारिक जीवन का उच्छेद कर देगा। इस प्रसंग में चाणक्य पण्डित का उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—*दम्पतयोः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागताः ।* जहां पति-पत्नी में झगड़ा नहीं होता वहां भाग्य की देवी (लक्ष्मी) स्वयं उस घर में आती हैं। स्त्री की शिक्षा इस श्लोक में दिए संकेतों के अनुसार होनी चाहिए। पतिव्रता स्त्री के लिए मूल सिद्धान्त यही है कि वह सदा पति के अनुकूल रहे। *भगवद्गीता* (१.४०) में कहा गया है—*स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः*—यदि स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो *वर्णसंकर* संतानें होती हैं। आधुनिक शब्दावली में वर्णसंकर तो हिप्पी हैं, जो विधि-विधानों को नहीं मानते। दूसरी व्याख्या यह है कि जब जनता वर्णसंकर होती है, तो कोई यह नहीं जान पाता कि कौन किस स्तर पर है। *वर्णाश्रम* प्रणाली समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार *वर्णों* तथा चार *आश्रमों* में विभाजित करती है, किन्तु *वर्णसंकर* समाज में ऐसा विभेद नहीं दिखता और कोई यह नहीं जान सकता कि कौन क्या है। ऐसे समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में अन्तर कर पाना कठिन होता है। शान्ति तथा प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम प्रणाली का आरम्भ भौतिक जगत में किया जाना चाहिए। जगत में मनुष्य के

कार्यकलापों के लक्षण सुस्पष्ट होने चाहिए और उसी के अनुसार उसको शिक्षा दी जानी चाहिए। तब आध्यात्मिक प्रगति स्वत: सम्भव हो जाएगी।

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥ २६ ॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सम्मार्जन—साफ करने; उपलेपाभ्याम्—जल या तरल पदार्थ से लीपने; गृह—घर; मण्डन—सजाने; वर्तनैः—घर में रहकर ऐसे कार्यों में व्यस्त रहने; स्वयम्—खुद; च—भी; मण्डिता—सुन्दर वस्त्रों से विभूषित; नित्यम्—सदैव; परिमृष्ट—स्वच्छ किया; परिच्छदा—वस्त्र तथा घरेलू बर्तन; कामैः—पति की इच्छानुसार; उच्च-अवचैः—बड़ा तथा छोटा दोनों; साध्वी—पतिव्रता स्त्री; प्रश्रयेण—विनयपूर्वक; दमेन—इन्द्रिय संयम से; च—भी; वाक्यैः—वाणी से; सत्यैः—सत्य से; प्रियैः—अत्यन्त सुहावने; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; काले काले—अनुकूल समय पर; भजेत्—पूजा करे; पतिम्—पति की।

पतिव्रता (साध्वी) स्त्री को चाहिए कि अपने पति की प्रसन्नता के लिए स्वयं को अच्छे-अच्छे वस्त्रों से सजाये तथा स्वर्णाभूषणों से अलंकृत हो। सदैव स्वच्छ तथा आकर्षक वस्त्र पहने। अपना घर बुहारे तथा उसे पानी तरल पदार्थों से धोए जिससे सारा घर सदा शुद्ध तथा स्वच्छ रहे। उसे गृहस्थी की सामग्री एकत्र करनी चाहिए और घर को अगुरु तथा पुष्पों से सुगन्धित रखना चाहिए। उसे अपने पति की इच्छा पूरी करने के लिए तैयार रहना चाहिए। साध्वी स्त्री को विनीत तथा सत्यनिष्ठ रहकर, अपनी इन्द्रियों पर संयम रख कर तथा मधुर वचन बोलकर काल तथा परिस्थिति के अनुसार अपने पति की प्रेमपूर्ण सेवा में लगना चाहिए।

सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् ।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टा—सदैव तुष्ट; अलोलुपा—लालची हुए बिना; दक्षा—सेवा करने में पटु; धर्म-ज्ञा—धार्मिक नियमों से पूर्णतया परिचित; प्रिय—सुहावना; सत्य—सत्यनिष्ठ; वाक्—बोलने में; अप्रमत्ता—अपने पति की सेवा में दत्तचित; शुचिः—सदैव स्वच्छ तथा शुद्ध; स्निग्धा—स्नेहिल; पतिम्—पति को; तु—लेकिन; अपतितम्—जो पतित नहीं है; भजेत्—पूजा करे।

साध्वी स्त्री को लालची नहीं होना चाहिए, अपितु उसे सभी परिस्थितियों में संतुष्ट रहना चाहिए। उसे गृहस्थी के काम-काज में अत्यन्त पटु होना चाहिए और धार्मिक नियमों से पूर्णतया अवगत होना चाहिए। उसे मधुर तथा सत्यभाषिणी होना चाहिए; उसे अत्यन्त सतर्क तथा सदैव

शुद्ध एवं पवित्र रहना चाहिए। इस प्रकार एक साध्वी स्त्री को उस पति की प्रेमपूर्वक सेवा करनी चाहिए जो पतित न हो।

तात्पर्य : धर्म के अधिकारी याज्ञवल्क्य के आदेशानुसार—*अशुद्धेः सम्प्रतिक्ष्यो हि महापातक-दूषितः।* जो *दशविधा संस्कार* के अनुसार शुद्ध नहीं किया गया होता उसे महान् पापकर्मों के फलों से दूषित माना जाता है। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं—*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः*—जो दुष्ट लोग मेरी शरण में नहीं आते वे अधम हैं। *नराधम* का अर्थ है "अभक्त"। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी कहा है—*येइ भजे सेइ बड़, अभक्त—हीन, छार।* जो भी भक्त होता है, वह पापरहित है। किन्तु जो भक्त नहीं है, वह अत्यन्त पतित तथा नीच है। अतएव यह संस्तुति की गई है कि पतिव्रता पत्नी पतित पति की संगति न करे। पतित पति वह है, जो चार प्रकार के पापकर्म करता है—यथा अवैध यौन, मांसाहार, द्यूत क्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन। विशेष रूप से जो व्यक्ति भगवान् का शरणागत नहीं होता वह कलुषित समझा जाता है। इस तरह साध्वी स्त्री को सलाह दी जाती है कि वह ऐसे पति की सेवा करने के लिए राजी न हो। ऐसा नहीं है कि यदि पति *नराधम* हो तो भी वह दासी की तरह सेवा करे। यद्यपि स्त्री के कर्तव्य पुरुष से भिन्न होते हैं, किन्तु साध्वी स्त्री पतित पति की सेवा करने के लिए नहीं बनाई गई। यदि उसका पति पतित हो तो संस्तुति की जाती है कि वह अपने पति की संगति त्याग दे। किन्तु पति की संगति त्यागने का अर्थ यह भी नहीं है कि वह फिर से विवाह कर ले और इस तरह वेश्यावृत्ति में प्रवृत्त हो जाए। यदि दुर्भाग्यवश कोई साध्वी स्त्री किसी पतित पति से ब्याही जाती है, तो उसे पती से विलग रहना चाहिए। इसी प्रकार पति भी अपनी पत्नी से विलग रह सकता है, यदि पत्नी शास्त्रों के वर्णन के अनुसार साध्वी न हो। निष्कर्ष यह निकलता है कि पति को शुद्ध वैष्णव होना चाहिए और पत्नी को यहाँ वर्णित समस्त लक्षणों से युक्त साध्वी होना चाहिए। तभी दोनों सुख से रहेंगे और कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक उन्नति करेंगे।

या पतिं हरिभावेन भजेत्श्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—जो स्त्री; **पतिम्**—अपने पति को; **हरि-भावेन**—मानसिक रूप से उसे हरि या भगवान् के समान मानकर; **भजेत्**—पूजा करती है या सेवा करती है; **श्रीः इव**—लक्ष्मी के समान; **तत्-परा**—अनुरक्त होकर; **हरि-आत्मना**—हरि के विचारों में लीन; **हरेः**

लोके—आध्यात्मिक जगत या वैकुण्ठलोक में; पत्या—अपने पति के साथ; श्रीः इव—लक्ष्मी के सदृश; मोदते—आध्यात्मिक नित्य जीवन का भोग करती है।

जो स्त्री लक्ष्मी जी के पदचिन्हों पर पूरी तरह चलकर अपने पति की सेवा में लगी रहती है, वह निश्चित रूप से अपने भक्त पति के साथ भगवद्धाम वापस जाती है और वैकुण्ठलोक में अत्यन्त सुखपूर्वक रहती है।

तात्पर्य : साध्वी स्त्री के लिए लक्ष्मी जी जैसी आज्ञाकारिता आदर्श होती है। *ब्रह्म-संहिता* (५.२९) में कहा गया है—*लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्।* विष्णु भगवान् वैकुण्ठलोक में हजारों लक्ष्मियों द्वारा पूजित होते हैं और गोलोक वृन्दावन में भगवान् कृष्ण हजारों गोपियों द्वारा पूजित होते हैं, जो सभी लक्ष्मी जी के ही समान हैं। स्त्री को लक्ष्मी जी के ही समान श्रद्धापूर्वक अपने पति की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को भगवान् का आदर्श दास होना चाहिए और स्त्री को लक्ष्मी के समान आदर्श पत्नी होना चाहिए। तब पति तथा पत्नी दोनों इतने श्रद्धायुक्त तथा प्रबल होंगे कि वे साथ-साथ कर्म करते हुए भगवद्धाम वापस जा सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का मत है—

हरिरस्मिन् स्थित इति स्त्रीणां भर्तरि भावना।

शिष्याणां च गुरौ नित्यं शूद्राणां ब्राह्मणादिषु।

भृत्यानां स्वामिनि तथा हरिभाव उदीरितः॥

स्त्री को चाहिए कि वह अपने पति को परमेश्वर माने। शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु को भगवान् माने; शूद्र को चाहिए कि ब्राह्मण को भगवान् माने तथा सेवक को चाहिए कि अपने स्वामी को भगवान् माने। इस प्रकार सभी स्वतः भगवद्भक्त हो जाएँगे। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार सोचने से वे सभी कृष्णभावनाभावित हो जाएंगे।

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् ।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्तिः—वृत्तिपरक कर्तव्य; सङ्कर-जातीनाम्—मिश्रित वर्णों के लोगों का (चारों वर्णों के अतिरिक्त); तत्-तत्—वे-वे; कुल-कृता—पारिवारिक परम्परा; भवेत्—हो; अचौराणाम्—जो वृत्ति से चोर नहीं हैं; अपापानाम्—जो पापी नहीं हैं; अन्त्यज—निम्न वर्ग के; अन्तेवसायिनाम्—अन्तेवसायी या चाण्डाल नाम से ज्ञात।

संकर जातियों में से जो चोर नहीं होते वे अन्तेवसायी या चण्डाल (कुत्ता खाने वाले) कहलाते हैं और उनके कुल में चले आने वाले रीति-रिवाजों को होते हैं।

तात्पर्य : समाज के चार प्रधान वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—की परिभाषा दी जा चुकी है और अब मिश्रित वर्ण *अन्त्यज* का विवरण दिया जा रहा है। मिश्रित वर्णों में दो विभाग हैं—*प्रतिलोमज* तथा *अनुलोमज।* यदि उच्च जाति की स्त्री निम्न जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो उनका यह संयोग *प्रतिलोम* कहलाता है। किन्तु यदि निम्न जाति की स्त्री उच्च जाति के पुरुष से विवाह करती है, तो यह संयोग *अनुलोम* कहलाता है। ऐसे वंशों के सदस्य ताई, धोबी जैसे परम्परागत कर्म करते हैं। *अन्त्यजों* में जो कुछ-कुछ शुद्ध होते हैं—न चोरी करते हैं और न मांसाहार तथा मद्यपान करते हैं, न अवैध मैथुन करते हैं, न जुआ खेलते हैं—वे *अन्तेवसायी* कहलाते हैं। निम्न जातियों में अन्तर्जातीय विवाह तथा मद्यपान की छूट रहती है, क्योंकि ये लोग ऐसे आचरण को पापपूर्ण नहीं मानते।

प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे ।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन्प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—सामान्यतया; स्व-भाव-विहितः—नियत, अपने गुण के अनुसार; नृणाम्—मानव समाज का; धर्मः—वृत्तिपरक कर्तव्य; युगे युगे—प्रत्येक युग में; वेद-दृग्भिः—वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मण के द्वारा; स्मृतः—मान्य; राजन्—हे राजा; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; च—तथा; इह—यहाँ (इस शरीर में); च—भी; शर्म-कृत्—शुभ, कल्याणकारी।

हे राजन्, वैदिक ज्ञान में पारंगत ब्राह्मणों का निर्णय है कि प्रत्येक युग में अपने-अपने भौतिक गुणों के अनुसार विभिन्न वर्णों के लोगों का आचरण इस जीवन में तथा अगले जीवन में कल्याणकारी होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३५) में कहा गया है—*श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्*—अपने-अपने नियत कर्मों को करना अन्यों के कर्म करने से कहीं अधिक अच्छा है, चाहे वे दोषपूर्ण ही क्यों न हों। *अन्त्यज* अर्थात् निम्नश्रेणी के लोंग चोरी करने, मद्यपान करने तथा अवैध मैथुन करने के अभ्यस्त होते हैं, किन्तु इन्हें पापपूर्ण नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, यदि शेर किसी आदमी को मार डालता है, तो वह पापपूर्ण नहीं है, किन्तु यदि कोई मनुष्य दूसरे व्यक्ति को मारता है, तो वह पापपूर्ण माना जाता है और मारने वाले को फाँसी दी जाती है। जो कृत्य पशु जगत में दैनिक काम है, वही मानव समाज में पापपूर्ण कृत्य है। इस प्रकार समाज में उच्च तथा निम्न वर्गों के लक्षणों के अनुसार

विभिन्न प्रकार के वृत्तिपरक कर्तव्य होते हैं। वैदिक ज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार ये कर्तव्य युग के अनुसार नियत किये जाते हैं।

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

वृत्त्या—वृत्ति से; स्व-भाव-कृतया—अपने भौतिक गुणों के अनुसार किया गया; वर्तमानः—विद्यमान; स्व-कर्म-कृत्—अपना-अपना कार्य करते हुए; हित्वा—त्याग कर; स्व-भाव-जम्—अपने ही गुणों से उत्पन्न; कर्म—कार्य; शनैः—धीरे-धीरे; निर्गुणताम्—दिव्य स्थिति; इयात्—प्राप्त कर सकता है।.

यदि कोई अपनी प्रकृति जन्य भौतिक स्थिति के अनुसार अपना वृत्तिपरक कार्य करता है तथा धीरे-धीरे इन कार्यों को छोड़ देता है, तो उसे निष्काम अवस्था प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने कुल के रिवाजों तथा कर्तव्यों को धीरे-धीरे छोड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति में भगवान् की सेवा करने का प्रयास करता है, तो वह अपने कर्मों से क्रमशः मुक्त हो जाता है और निष्काम अवस्था अर्थात् भौतिक इच्छाओं से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् ।
न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति ॥ ३३ ॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया ।
विरज्येत यथा राजन्नग्निवत्कामबिन्दुभिः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

उप्यमानम्—इस प्रकार जोतने से; मुहुः—पुनः-पुनः; क्षेत्रम्—खेत; स्वयम्—अपने आप; निर्वीर्यताम्—बंजर; इयात्—हो जाता है; न कल्पते—उपयुक्त नहीं है; पुनः—फिर; सूत्यै—अगली फसल उगाने के लिए; उप्तम्—बोया गया; बीजम्—बीज; च—तथा; नश्यति—नष्ट हो जाता है; एवम्—इस प्रकार; काम-आशयम्—कामेच्छाओं से पूर्ण; चित्तम्—अन्तःकरण; कामानाम्—वांछित वस्तुओं के; अति-सेवया—बारम्बार भोग के कारण; विरज्येत—विरक्त हो सकता है; यथा—जिस तरह; राजन्—हे राजा; अग्नि-वत्—अग्नि; काम-बिन्दुभिः—घी की छोटी-छोटी बूँदों से।.

हे राजन्, यदि कोई खेत को बारम्बार जोता-बोया जाता है, तो उसकी उत्पादन शक्ति घट जाती है और जो भी बीज बोये जाते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार घी की एक एक बूँद डालने से अग्नि कभी नहीं बुझती अपितु घी की धारा से वह बुझ जाएगी उसी प्रकार विषयवासना में अत्यधिक लिप्त होने पर ऐसी इच्छाएँ पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं।

तात्पर्य : यदि कोई अग्नि में निरन्तर बूँद-बूँद घी छिड़के तो अग्नि नहीं बुझेगी, किन्तु यदि ढेर सारा घी उड़ेल दिया जाये तो अग्नि सम्भवतः पूरी तरह बुझ जाए। इसी प्रकार जो अधिक पापी हैं और

निम्न जाति में उत्पन्न हैं उन्हें जी भर कर पाप करने दिया जाता है, क्योंकि सम्भव है कि वे इन कार्यों से ऊब कर उन्हें शुद्ध बनने का अवसर पा सकें।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; यत्—जो; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहे गये (ऊपर); पुंसः—मनुष्य के; वर्ण-अभिव्यञ्जकम्—विभाजन को सूचित करने वाले (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि); यत्—यदि; अन्यत्र—कहीं और; अपि—भी; दृश्येत—देखा जाता है; तत्—वह; तेन—उस लक्ष्य से; एव—निश्चय ही; विनिर्दिशेत्—उसका नाम धरना चाहिए।

यदि कोई उपर्युक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लक्षण प्रदर्शित करता है, तो भले ही वह भिन्न जाति का क्यों न हो, उसे वर्गीकरण के उन लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि किसी को जन्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं मान लेना चाहिए। यद्यपि आजकल ऐसा ही प्रचलन है, किन्तु शास्त्र इसे स्वीकार नहीं करते। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।* इस तरह गुणों तथा कार्यों के अनुसार समाज के चारों विभागों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—का निर्णय किया जाना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण परिवार में जन्म ले और ब्राह्मण गुण प्राप्त कर ले तो उसे ब्राह्मण माना जाना चाहिए, अन्यथा उसे ब्रह्मबन्धु मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र ब्राह्मण के गुण अर्जित कर ले तो भले ही वह शूद्र कुल में जन्मा हो, किन्तु वह शूद्र नहीं है; क्योंकि उसके ब्राह्मण गुण विकसित कर लिए हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन ब्राह्मण गुणों को विकसित करने के लिए है। चाहे कोई जिस जाति या कुल में उत्पन्न क्यों न हो, यदि उसमें ब्राह्मण के गुण विकसित हो गये हों, तो उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए और उसे *संन्यास* आश्रम प्रदान करना चाहिए। जब तक कोई ब्राह्मण गुणों से सम्पन्न नहीं होता, तब तक वह *संन्यास* नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव किसी व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की उपाधि प्रदान करने के लिए जन्म अनिवार्य लक्षण नहीं है। यह ज्ञान अत्यावश्यक है। यहाँ पर नारद मुनि स्पष्ट कहते हैं कि यदि किसी मनुष्य में संगत गुण पाये जाँय तो उसके जन्म के अनुसार उसकी जाति मानी जाए, अन्यथा नहीं। जिसने ब्राह्मण के गुण प्राप्त कर लिए हैं, चाहे वह कहीं भी जन्म ले, उसे ब्राह्मण मान लेना चाहिए। इसी प्रकार यदि

किसी ने शूद्र या चण्डाल के गुण विकसित कर लिए हैं, तो वह चाहे कहीं भी जन्मा हो, उसे लक्षणों के अनुसार स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''पूर्ण समाज: चातुर्वर्ण'' नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

पूर्ण समाज : चार आध्यात्मिक वर्ग

इस अध्याय में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के सामान्य वर्णन के साथ ही ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थ का विशेष वर्णन हुआ है। पिछले अध्याय में नारद मुनि ने समाज के वर्ण संस्थान का वर्णन किया है और अब वे इस अध्याय में चारों आश्रमों में आध्यात्मिक उन्नति की अवस्थाओं का वर्णन करेंगे जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के नाम से जानी जाती हैं।

ब्रह्मचारी को वास्तविक गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए, गुरु का सच्चा आदर करना चाहिए, उन्हें नमस्कार करना चाहिए और उनका तुच्छ सेवक बनकर उनके आदेशों का सदा पालन करना चाहिए। ब्रह्मचारी को आध्यात्मिक कार्यों में लगना चाहिए और गुरु के निर्देशन में वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य प्रणाली के अनुसार उसे मेखला, मृगचर्म, जनेऊ तथा जटा धारण करना चाहिए और हाथ में दण्ड तथा जलपात्र रखना चाहिए। उसे प्रतिदिन प्रात: भिक्षाटन करना चाहिए और शाम को जितनी भिक्षा मिले उसे लाकर गुरु को अर्पित कर देनी चाहिए ब्रह्मचारी को गुरु का आदेश मिलने पर ही प्रसाद स्वीकार करना चाहिए और यदि कभी गुरु अपने शिष्य को खाने की आज्ञा देना भूल जाये तो शिष्य को चाहिए कि अपने आप प्रसाद ग्रहण न करे प्रत्युत उपवास करे। ब्रह्मचारी को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि जितना नितान्त आवश्यक हो उतने ही भोजन से सन्तुष्ट रहे, अपने उत्तरदायित्व को निभाने में पटु बने, आज्ञाकारी बने तथा अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे तथा जहाँ तक सम्भव हो स्त्रियों की संगति से बचे। ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों के साथ रहने से पूरी तरह बचे और गृहस्थों तथा स्त्री-अनुरक्तों से कभी न मिले। न ही वह किसी स्त्री से एकान्त में बातें करे।

इस प्रकार अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को चाहिए कि अपने गुरु को दक्षिणा दे और तब अपने घर के लिए विदा हो तथा अगले आश्रम—*गृहस्थ आश्रम*—में प्रवेश करे; अन्यथा शुद्धतापूर्वक ब्रह्मचर्य आश्रम में ही स्थित रहे। शास्त्रों में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा संन्यास आश्रम के कार्यों का उल्लेख है। गृहस्थ को मनमाना कामासक्त-जीवन का भोग करने की छूट नहीं है। निस्सन्देह, वैदिक जीवन का पूर्ण उद्देश्य विषयासक्ति से मुक्त होना है। सारे आश्रम आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वीकृत हैं और यद्यपि गृहस्थ आश्रम में कुछ काल के लिए कामासक्त-जीवन के लिए छूट है, किन्तु यह मनमाने कामासक्त-जीवन की अनुमति प्रदान नहीं करता। अतएव गृहस्थ-जीवन में भी अवैध मैथुन की अनुमति नहीं है। गृहस्थ को विषय-सुख के लिए कोई स्त्री स्वीकार नहीं करनी चाहिए। वीर्य का विनाश भी अवैध मैथुन है।

गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम आता है, जो गृहस्थ तथा संन्यास के बीच में है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को अन्न खाने पर प्रतिबन्ध रहता है और उसे ऐसे फल भी नहीं खाने चाहिए जो पेड़ पर न पके हों। उसे अग्नि में भोजन पकाना भी मना रहता है। यद्यपि वह *चरू* अर्थात् वह अन्नजों यज्ञ की अग्नि में भेट किया जाता है खा सकता है। वह प्राकृतिक रूप में उगे फल तथा अन्न खा सकता है। उसे घास फूस की झोपड़ी में रहकर जाड़ा तथा गर्मी सहन करना होता है। वह नाखून या बाल नहीं काट सकता। उसे अपना शरीर तथा दाँत साफ करना मना रहता है। उसे वृक्ष की छाल पहननी होती है और *दण्ड* धारण करना पड़ता है। उसे बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में जीवन बिताने का अभ्यास करना होता है। अन्त में जब वह वृद्धावस्था के कारण वानप्रस्थ के कार्य नहीं कर पाता तो उसे सब कुछ बन्द करके शरीर त्याग देना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन्दान्तो गुरोर्हितम् ।
आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने कहा; ब्रह्मचारी—गुरु के घर पर रहने वाला विद्यार्थी, ब्रह्मचारी; गुरु-कुले—गुरु के निवासस्थान पर; वसन्—रहते हुए; दान्तः—निरन्तर इन्द्रिय संयम करते हुए; गुरोः हितम्—केवल गुरु के लाभ के लिए (अपने लाभ के लिए नहीं); आचरन्—अभ्यास करते हुए; दास-वत्—दास के समान अत्यन्त विनीत होकर; नीचः—विनम्र; गुरौ—गुरु में; सु-दृढ—दृढ़तापूर्वक; सौहृदः—मित्रता में या शुभकामना में।

नारद मुनि ने कहा : विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने का अभ्यास करे। उसे विनीत होना चाहिए और गुरु के साथ दृढ़ मित्रता की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह महान् व्रत लेकर गुरुकुल में केवल अपने गुरु के लाभ ही रहे।

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् ।
सन्ध्ये उभे च यतवाग्जपन्ब्रह्म समाहितः ॥ २॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातः काल; उपासीत—पूजा करे; गुरु—गुरु; अग्नि—आग (अग्नि यज्ञ द्वारा); अर्क—सूर्य; सुर-उत्तमान्—तथा पुरुषों में श्रेष्ठ (पुरुषोत्तम) भगवान् विष्णु को; सन्ध्ये—प्रातः तथा सायंकाल; उभे—दोनों; च—भी; यत-वाक्—बिना बोले, मौन रहकर; जपन्—मन ही मन गुनगुनाते हुए; ब्रह्म—गायत्री मंत्र में; समाहितः—पूर्णतया लीन।

दिन तथा रात्रि के संधिकाल में अर्थात् प्रातःकाल तथा संध्या समय उसे गुरु, अग्नि, सूर्यदेव तथा भगवान् विष्णु के विचारों में लीन रहना चाहिए और गायत्री मंत्र को जपते हुए उनकी पूजा करनी चाहिए।

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत्सुयन्त्रितः ।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

छन्दांसि—वेदों के मंत्र यथा हरे कृष्ण महामंत्र तथा गायत्री मंत्र; अधीयीत—उच्चारण करे या नियम से पढ़े; गुरोः—गुरु से; आहूतः—बुलाया जाकर; चेत्—यदि; सु-यन्त्रितः—आज्ञाकारी, सभ्य; उपक्रमे—प्रारम्भ में; अवसाने—अन्त में (वेद मंत्रों के पढ़ने में); च—भी; चरणौ—चरणकमलों पर; शिरसा—सिर के बल; नमेत्—नमस्कार करे।

गुरु द्वारा बताए जाने पर विद्यार्थी को चाहिए कि वह उनसे नियमपूर्वक वैदिक मंत्रों का अध्ययन करे। शिष्य को प्रतिदिन अपना अध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व तथा अध्ययन के अन्त में अपने गुरु को सादर नमस्कार करना चाहिए।

मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् ।
बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

मेखला—मूँज की मेखला; अजिन-वासांसि—मृगचर्म से बने वस्त्र; जटा—बालों की जटा; दण्ड—डण्डा; कमण्डलून्—कमण्डल या जलपात्र; बिभृयात्—उसे (ब्रह्मचारी को) सदैव पहनना या लिये रहना चाहिए; उपवीतम् च—तथा जनेऊ; दर्भ-पाणिः—शुद्ध कुश हाथ में लिये; यथा उदितम्—शास्त्रों में बताई विधि से।

अपने हाथ में शुद्ध कुश घास लिए हुए ब्रह्मचारी को मूँज की मेखला तथा मृगछाला का वस्त्र पहनना चाहिए। उसे शास्त्रोक्त विधि से जटा रखना चाहिए, दण्ड धारण करना चाहिए, कमण्डल लेना चाहिए और यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए।

सायं प्रातश्चरेद्भैक्ष्यं गुरवे तन्निवेदयेत् ।
भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नो चेदुपवसेत्क्वचित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सायम्—संध्या समय; प्रातः—प्रातःकाल; चरेत्—बाहर जाना चाहिए; भैक्ष्यम्—भिक्षा माँगने; गुरवे—गुरु को; तत्—वह जितना एकत्र करता है; निवेदयेत्—अर्पित करे; भुञ्जीत—खाए; यदि—यदि; अनुज्ञातः—(गुरु द्वारा) आज्ञा दिये जाने पर; नो—अन्यथा; चेत्—यदि; उपवसेत्—उपवास रखे; क्वचित्—कभी।.

ब्रह्मचारी को सुबह-शाम भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाना चाहिए और जो कुछ भी भिक्षा में मिले उसे लाकर गुरु को दे दे। वह तभी भोजन करे जब गुरु उसे भोजन करने का आदेश दे, अन्यथा यदि कभी गुरु आदेश न दे, तो वह कभी कभी उपवास करे।

सुशीलो मितभुग्दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
यावदर्थं व्यवहरेत्स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सु-शीलः—अत्यन्त नम्र तथा सभ्य; मित-भुक्—आवश्यकता से न तो कम और न अधिक भोजन करना; दक्षः—पटु, आलस्य से रहित, सदैव कार्यरत; श्रद्दधानः—शास्त्र तथा गुरु के आदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला; जित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखने वाला; यावत्-अर्थम्—जितना आवश्यक हो; व्यवहरेत्—बाह्यरूप से आचरण करे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्री-निर्जितेषु—पुरुष जो स्त्री के वश में होते हैं; च—भी।.

ब्रह्मचारी को सदाचारी तथा भद्र होना चाहिए। उसे न तो आवश्यकता से अधिक खाना चाहिए न एकत्र करना चाहिए। उसे सदैव क्रियाशील तथा पटु होना चाहिए और गुरु तथा शास्त्रों के आदेशों में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखते हुए स्त्रियों से या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों से उतनी ही संगति करनी चाहिए जितनी कि आवश्यक हो।

तात्पर्य : ब्रह्मचारी को काफी सतर्क रहना चाहिए कि वह स्त्रियों या स्त्रियों के वशीभूत पुरुषों की संगति न करे। यद्यपि भिक्षा माँगने के लिए बाहर जाने पर उसे ऐसे लोगों से बोलना ही पड़ता है, किन्तु यह सम्पर्क बहुत अल्प होना चाहिए और उसे केवल भिक्षा के सम्बन्ध में ही बातें करनी चाहिए। उसे उन व्यक्तियों से भी सावधान रहना चाहिए जो स्त्रियों के प्रति अनुरक्त होते हैं।

वर्जयेत्प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

वर्जयेत्—त्याग दे; प्रमदा-गाथाम्—स्त्रियों से बातें करना; अगृहस्थः—जिसने गृहस्थ आश्रम नहीं स्वीकार किया (ब्रह्मचारी या संन्यासी); बृहत्-व्रतः—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; प्रमाथीनि—प्रायः अजेय; हरन्ति—चुरा लेती हैं; अपि—भी; यतेः—संन्यासी का; मनः—मन।.

ब्रह्मचारी या अगृहस्थ को स्त्रियों से बातें करने या उनके विषय में बातें करने से दृढ़तापूर्वक बचना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि वे संन्यासी के मन को भी विचलित कर सकती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मचर्य का अर्थ है विवाह न करने का व्रत धारण करना तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य (*बृहद्व्रत*) रखना। ब्रह्मचारी या संन्यासी को स्त्रियों से बातें करने या स्त्री एवं पुरुष की वार्ता वाले साहित्य को पढ़ने से बचना चाहिए। स्त्रियों की संगति पर पाबन्दी का आदेश आध्यात्मिक जीवन का मूल मंत्र है। स्त्रियों से बातें करने या उनकी संगति करने का परामर्श किसी भी वैदिक ग्रन्थ में नहीं मिलता। समग्र वैदिक प्रणाली मनुष्य को विषयी जीवन से बचने की शिक्षा देती है, जिससे वह क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास की दिशा में बढ़ता जाए और भौतिक भोग का त्याग करे जो इस भवबन्धन का मूल कारण है। *बृहद्व्रत* उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने विवाह न करने का निश्चय किया हुआ है अथवा दूसरे शब्दों में, ऐसा व्यक्ति जो आजीवन कामासक्त-जीवन में अनुरक्त नहीं होता।

केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् ।
गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८॥

शब्दार्थ

केश-प्रसाधन—बाल काढ़ना; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्नपन—स्नान; अभ्यञ्जन-आदिकम्—तैल मर्दन आदि; गुरु-स्त्रीभिः—गुरु की पत्नी से; युवतिभिः—युवती; कारयेत्—करवाए; न—नहीं; आत्मनः—निज सेवा के लिए; युवा—यदि विद्यार्थी युवक हो।.

यदि गुरुपत्नी युवती हो तो युवा ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह न तो उससे अपने बाल कढ़वाए, न शरीर में तेल मालिश करवाए और न उसे माता तुल्य प्यार से स्नान कराने दे।

तात्पर्य : शिष्य तथा गुरु-पत्नी के मध्य माता-पुत्र का सा सम्बन्ध होता है। कभी-कभी माता अपने पुत्र के बाल काढ़ती है, उसके शरीर में तेल मलती है या उसे नहलाती है। इसी प्रकार गुरु-पत्नी भी माता होती है, अतएव उसे भी माता तुल्य शिष्य की परवाह करनी चाहिए। किन्तु यदि गुरु-पत्नी युवती हो तो युवक ब्रह्मचारी को चाहिए कि ऐसी माता को अपना स्पर्श न करने दे। इसका कठोर निषेध है। माताएँ सात प्रकार की हैं—

आत्ममाता गुरोः पत्नी ब्राह्मणी राजपत्निका।

धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः॥

ये माताएँ हैं—जन्मदात्री माता, गुरु की पत्नी, ब्राह्मण पत्नी, राजा की पत्नी, गाय, धाय तथा पृथ्वी। स्त्रियों के साथ अनावश्यक संगति वर्जित है यहाँ तक कि अपनी माता, बहिन या पुत्री के साथ भी। यही मानवीय सभ्यता है। जिस सभ्यता में मनुष्यों को स्त्रियों के साथ बिना रोक-टोक के मिलने दिया जाता है, वह पाशविक सभ्यता है। कलियुग में लोग अत्यन्त उदार हैं, लेकिन स्त्रियों से घुल-मिलकर बातें करना वास्तव में असभ्य जीवन-शैली है।

नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् ।
सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अग्निः—अग्नि; प्रमदा—स्त्री (पुरुष के मन को मोहने वाली); नाम—नाम ही; घृत-कुम्भ—घी के बर्तन के; समः—समान; पुमान्—मनुष्य; सुताम् अपि—अपनी पुत्री के भी; रहः—एकान्त स्थान में; जह्यात्—साथ न रहे; अन्यदा—किसी अन्य स्त्री के साथ भी; यावत्—जितना; अर्थ-कृत्—आवश्यक हो।.

स्त्री अग्नि के तुल्य है और पुरुष घी के घड़े के समान होता है। अतएव पुरुष को चाहिए कि अपनी पुत्री के साथ भी एकान्त में न रहे। इसी प्रकार उसे अन्य स्त्रियों की संगति से बचना चाहिए। स्त्रियों से आवश्यक कार्य के लिए ही मिलना चाहिए, अन्यथा नहीं।

तात्पर्य : यदि घी का बर्तन और अग्नि पास-पास रखे जाँय तो बर्तन का घी निश्चित रूप से पिघलेगा। स्त्री की उपमा अग्नि से और पुरुष की घी के बर्तन से दी गई है। कोई कितना ही इन्द्रियसंयमी क्यों न हो, स्त्री की उपस्थिति में उसका संयमित रह पाना लगभग अस्मभव हो जाता है, भले ही वह स्त्री उसकी निजी पुत्री, माता या बहन क्यों न हो। निस्सन्देह, संन्यासी तक का मन विचलित हो जाता है। अतएव वैदिक सभ्यता पुरुषों तथा स्त्रियों के मिलने पर प्रतिबन्ध लगाती है।

यदि कोई पुरुष-स्त्री के इस संयोग के निषेध के मूल सिद्धान्त को नहीं समझ सकता तो वह निरा पशु है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

कल्पयित्वात्मना यावदाभासमिदमीश्वरः ।
द्वैतं तावन्न विरमेत्ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कल्पयित्वा—निश्चय करके; आत्मना—आत्म-साक्षात्कार द्वारा; यावत्—जब तक; आभासम्—प्रतिबिम्ब (मूल शरीर तथा इन्द्रियों का); इदम्—यह (शरीर इन्द्रियाँ); ईश्वरः—मोह से पूर्णतया मुक्त; द्वैतम्—द्वन्द्व; तावत्—तब तक; न—नहीं; विरमेत्—देखता है; ततः—ऐसे द्वैत से; हि—निश्चय ही; अस्य—पुरुष का; विपर्ययः—प्रतिक्रिया, जवाबी कार्यवाही।

जब तक जीव पूर्णरूपेण स्वरूपसिद्ध नहीं है—जब तक वह देहात्मबुद्धि की भ्रान्त धारणा से मुक्त नहीं हो लेता जो कि मूल शरीर तथा इन्द्रियों का प्रतिबिम्ब मात्र है तब तक वह उस द्वैत भाव से छुटकारा नहीं पा सकता जो स्त्री तथा पुरुष के मध्य द्वैत का सूचक है। इस तरह हर इसकी हर सम्भावना रहती है कि वह नीचे गिर जाए, क्योंकि उसकी बुद्धि मोहित होती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दूसरी महत्त्वपूर्ण चेतावनी है कि मनुष्य अपने को स्त्री-आकर्षण से बचाए। जब तक कोई स्वरूपसिद्ध नहीं हो लेता तथा देहात्मबुद्धि से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक स्त्री तथा पुरुष का द्वैत निश्चय ही बना रहेगा। किन्तु वस्तुतः स्वरूपसिद्ध होने पर यह अन्तर जाता रहता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनीत साधु अपने असली ज्ञान के बल पर विद्वान तथा भद्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चण्डाल को सम दृष्टि से देखता है" (*भगवद्गीता* ५.१८)। आध्यात्मिक स्तर पर विद्वान व्यक्ति न केवल स्त्री-पुरुष के द्वैत का परित्याग कर देता है, अपितु पुरुष तथा पशु के द्वैत को भी त्याग देता है। आत्म-साक्षात्कार की यही परीक्षा है। मनुष्य को इसकी भलीभाँति अनुभूति होनी चाहिए कि जीव आत्मा है, किन्तु वह विविध भौतिक शरीरों का स्वाद ले रहा है। सिद्धान्त रूप में तो मनुष्य इसे समझता है, किन्तु जब उसे व्यावहारिक अनुभूति होती है, तो वह वास्तव में पण्डित बन जाता है। उस समय तक द्वैत बना रहता है और स्त्री-पुरुष की भी धारणा बनी रहती है। इस अवस्था में उसे स्त्रियों के साथ घुलमिल कर रहने में सतर्कता बरतनी होगी। किसी को अपने आपको पूर्ण समझ कर शास्त्रों के इस आदेश को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि मनुष्य को न केवल किसी स्त्री से अपितु अपनी पुत्री,

माता या बहन के साथ रहने में भी सतर्कता बरतनी चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं—

बहुत्वैनैव वस्तूनां यथार्थज्ञानमुच्यते।

अद्वैतज्ञानमित्येतद् द्वैतज्ञानं तदन्यथा॥

यथा ज्ञानं तथा वस्तु यथा वस्तुस्तथा मतिः।

नैव ज्ञानार्थयोर्भेदस्तत एकत्ववेदनम्॥

विविधता में एकता वास्तविक ज्ञान है, अतएव कृत्रिम रूप से विविधता का परित्याग अद्वैतवाद के पूर्ण ज्ञान को प्रतिबिम्बित नहीं करता। श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन के अनुसार विविधताएँ तो होती हैं, किन्तु वे सब मिलकर एक इकाई का निर्माण करती हैं। ऐसा ज्ञान पूर्ण एकत्व का ज्ञान है।

एतत्सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।
गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; **सर्वम्**—सारे; **गृहस्थस्य**—गृहस्थ का; **समाम्नातम्**—वर्णित; **यतेः अपि**—यहाँ तक कि संन्यासी का; **गुरु-वृत्तिः विकल्पेन**—गुरु के आदेशों का पालन करने के लिए; **गृहस्थस्य**—गृहस्थ का; **ऋतु-गामिनः**—प्रजनन के लिए ऋतुकाल के समय ही मैथुन करना।

सारे नियम तथा विधान गृहस्थ तथा संन्यासी दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। किन्तु गृहस्थ को उपयुक्त अवसर पर प्रजनन के लिए मैथुन करने के लिए गुरु अनुमति प्रदान करता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह गलत समझ लिया जाता है कि गृहस्थ को किसी भी समय मैथुन करने की अनुमति है। यह गृहस्थ जीवन की मिथ्या धारणा है। आध्यात्मिक जीवन में, चाहे कोई गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो, संन्यासी हो या ब्रह्मचारी, हर एक व्यक्ति गुरु के अधीन रहता है। ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को मैथुन में रत होने के लिए कठोर वर्जन है। इसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी कठोर प्रतिबन्ध है। गृहस्थों को गुरु के आदेशानुसार ही स्त्री-संभोग में अनुरक्त होना चाहिए। इसीलिए यहाँ पर उल्लेख है कि मनुष्य अपने गुरु के आदेशों का पालन करे (*गुरुवृत्तिर्विकल्पेन*)। गुरु की आज्ञा होने पर गृहस्थ कामासक्त जीवन स्वीकार कर सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.११) में हुई है। *धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—धार्मिक विधि-विधानों की अवज्ञा किये बिना कामासक्त-जीवन

बिताना ही धर्म है। गृहस्थ को गुरु की आज्ञा से प्रजनन (सन्तानोत्पति) के लिए उपयुक्त अवधि में स्त्रीगमन करने की अनुमति है। यदि गृहस्थ को गुरु किसी विशेष समय में स्त्रीसम्भोग करने की अनुमति देता है, तो गृहस्थ ऐसा कर सकता है, किन्तु यदि गुरु का आदेश न हो तो गृहस्थ ऐसा न करे। गृहस्थ को चाहिए कि *गर्भाधान संस्कार* अनुष्ठान सम्पन्न करने के लिए अपने गुरु की अनुमति प्राप्त कर ले। तभी वह सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपनी पत्नी के पास जाए, अन्यथा नहीं। सामान्यतया ब्राह्मण आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, किन्तु कुछ ब्राह्मण अपने गुरु की आज्ञा से गृहस्थ बनकर स्त्री-सम्भोग करते हैं। क्षत्रिय को एक से अधिक पत्नियों से विवाह की छूट है, किन्तु इसे भी गुरु की ही आज्ञा से करना चाहिए। गृहस्थ होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह चाहे जितनी बार विवाह करे और स्वेच्छापूर्वक कामासक्त जीवन के भोग में रत हो। यह कोई आध्यात्मिक जीवन नहीं है। आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य को अपना सारा जीवन गुरु के मार्ग-निर्देशन में संचालित करना होता है। जो गुरु के निर्देशानुसार आध्यात्मिक जीवन बिताता है, वही कृष्ण की कृपा प्राप्त कर सकता है। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसाद: ।* आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का इच्छुक व्यक्ति यदि मनमाने ढंग से कर्म करता है और गुरु के आदेशों का पालन नहीं करता तो उसको कोई शरण नहीं मिल पाती। *यस्यप्रसादान् न गति: कुतोऽपि।* गुरु के आदेश के बिना गृहस्थ को भी कामासक्त जीवन में अनुरक्त नहीं होना चाहिए।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु ।
स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये बृहद्व्रता: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अञ्जन—आँख में लगाया जाने वाला सुरमा; अभ्यञ्जन—शिर की मालिश; उन्मर्द—शरीर की मालिश; स्त्री-अवलेख—स्त्री पर दृष्टि डालना या स्त्री का चित्र बनाना; आमिषम्—मांसाहार; मधु—शराब या शहद पीना; स्रक्—शरीर को फूलों के हारों से सजाना; गन्ध-लेप—शरीर पर सुगन्धित लेप लगाना; अलङ्कारान्—शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना; त्यजेयु:—त्याग देना चाहिए; ये—जिन्होंने; बृहत्-व्रता:—ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर रखा है।

ब्रह्मचारियों या उन गृहस्थों को जिन्होंने उपर्युक्त विधि से वर्णित ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रखा है उनके लिए आँखों में सुरमा या अंजन लगाना, सिर में तेल मलना, हाथ से शरीर की मालिश करना, स्त्री को देखना या उसका चित्र बनाना, मांस खाना, शराब पीना, शरीर को

फूलों के हार से सजाना, शरीर में इत्र-फुलेल लगाना या शरीर को आभूषणों से अलंकृत करना मना है। उन्हें इन सबका परित्याग करना चाहिए।

उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च ।
त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥ १३॥
दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः ।
गृहं वनं वा प्रविशेत्प्रव्रजेत्तत्र वा वसेत् ॥ १४॥

शब्दार्थ

उषित्वा—रहते हुए; एवम्—इस प्रकार; गुरु-कुले—गुरु के संरक्षण में; द्वि-जः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, जिनका दो बार जन्म होता है; अधीत्य—वैदिक साहित्य पढ़कर; अवबुध्य—इसे ठीक से समझकर; च—तथा; त्रयीम्—वैदिक वाङ्मय; स-अङ्ग—सहायक अंशों सहित; उपनिषदम्—तथा उपनिषदों को; यावत्-अर्थम्—जहाँ तक सम्भव हो; यथा-बलम्—यथाशक्ति; दत्त्वा—देकर; वरम्—पारिश्रमिक (दक्षिणा); अनुज्ञातः—पूछे जाने पर; गुरोः—गुरु की; कामम्—इच्छाएँ; यदि—यदि; ईश्वरः—समर्थ; गृहम्—गृहस्थ जीवन; वनम्—विरक्त जीवन; वा—अथवा; प्रविशेत्—प्रवेश करना चाहिए; प्रव्रजेत्—या बाहर जाना चाहिए; तत्र—वहाँ; वा—या तो; वसेत्—रहना चाहिए।

उपर्युक्त विधि-विधानों के अनुसार द्विज को—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को—गुरु के संरक्षण में गुरुकुल में निवास करना चाहिए। वहाँ उसे वेद, वेदाङ्ग तथा उपनिषदों का अध्ययन अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य भर करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो शिष्य को चाहिए कि वह तब गुरु द्वारा माँगी गई दक्षिणा दे और तब गुरु के आदेशानुसार गुरुकुल छोड़ दे और अपनी इच्छा से किसी अन्य आश्रम को—यथा गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम—को स्वीकार करे।

तात्पर्य : निस्सन्देह, वेदों का अध्ययन करने और उसको समझने में कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है लेकिन समाज के तीन उच्च वर्णों—ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों—को अपनी-अपनी सामर्थ्य तथा बुद्धि के अनुसार वैदिक साहित्य सीखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शूद्रों तथा अन्त्यजों के अतिरिक्त सबों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य है। वैदिक साहित्य वह ज्ञान प्रदान करता है, जिससे मनुष्य परम सत्य—ब्रह्म, परमात्मा या भगवान्—को समझ सकता है। *गुरुकुल* का उपयोग वैदिक साहित्य के समझने के लिए ही किया जाना चाहिए। इस समय प्रशिक्षण तथा प्रौद्योगिकी के लिए अनेक शिक्षण संस्थान हैं, किन्तु ऐसे ज्ञान को परम सत्य के ज्ञान से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। अतएव प्रौद्योगिकी तो शूद्रों के लिए है जब कि वेद द्विजों के लिए हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में बताया गया है—*द्विजोऽधीत्यावबुध्य च त्रयीं साङ्गोपनिषदम्।* इस समय कलियुग में एक तरह से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है; कोई भी द्विज नहीं है और अतएव समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

इस श्लोक में ध्यान देने की दूसरी बात है कि ब्रह्मचर्य आश्रम से कोई भी व्यक्ति संन्यास आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम या गृहस्थ आश्रम में जा सकता है। ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थ बनना अनिवार्य नहीं है। चूँकि परम लक्ष्य तो परम सत्य को जानना है, अतएव विभिन्न आश्रमों में से गुजरना आवश्यक नहीं है। इस तरह कोई भी व्यक्ति ब्रह्मचारी आश्रम से सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। श्रील भक्ती सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सीधे ब्रह्मचारी आश्रम से संन्यास आश्रम ग्रहण किया था। दूसरे शब्दों में, उन्होंने गृहस्थ आश्रम या वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार करना अनिवार्य नहीं माना था।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् ।
भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अग्नौ—अग्नि में; गुरौ—गुरु में; आत्मनि—अपने में, आत्मा में; च—भी; सर्व-भूतेषु—प्रत्येक जीव में; अधोक्षजम्—भगवान् को, जो न तो भौतिक आँखों से देखे जा सकते हैं और न ही अन्य भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हैं; भूतैः—सारे जीवों के साथ; स्व-धामभिः—भगवान् के सामान के साथ-साथ; पश्येत्—देखना चाहिए; अप्रविष्टम्—बिना प्रविष्ट हुए; प्रविष्ट-वत्—प्रविष्ट हुए की भाँति।

मनुष्य को इसकी अनुभूति करनी चाहिए कि भगवान् विष्णु एक ही साथ अग्नि, गुरु, आत्मा तथा समस्त जीवों में सभी परिस्थितियों में प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं। वे प्रत्येक वस्तु के पूर्ण नियामक के रूप में बाह्य तथा आन्तरिक रूप से स्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वव्यापकता की अनुभूति ही परम सत्य का पूर्ण साक्षात्कार है, जिसे वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा प्राप्त करना होता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में कहा गया है—*अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थम्*—ब्रह्माजीण्ड में प्रत्येक जीव के हृदय में तथा परमाणु तक के भीतर स्थित हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब भी भगवान् विद्यमान रहते हैं, तो वे अपने नाम, रूप, पार्षदों तथा दासों के समेत रहते हैं। जीव भगवान् का अंश है। इस तरह मनुष्य को समझना चाहिए कि जब भगवान् परमाणु के भीतर प्रविष्ट हैं, तो जीव भी उसी में हैं। मनुष्य को भगवान् के अचिन्त्य गुण को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि भौतिक दृष्टि से कोई कभी यह नहीं समझ सकता कि भगवान् किस प्रकार सर्वव्यापी होकर भी अपने गोलोक वृन्दावन में स्थित हैं। यह अनुभूति तभी सम्भव है जब मनुष्य विविध आश्रमों के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कहना है—

अप्रविष्टः सर्वगतः प्रविष्टस्त्वनुरूपवान्।

एवं द्विरूपो भगवान् हरिरेको जनार्दनः॥

भगवान् अपने आद्यरूप में सभी वस्तुओं में प्रविष्ट नहीं हैं (*अप्रविष्टः*) लेकिन अपने निराकार रूप में वे प्रविष्ट हैं (*प्रविष्टः*)। इस प्रकार वे एक ही समय प्रविष्ट हैं और नहीं भी हैं। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी व्याख्या की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" भगवान् अपना विरोध कर सकते हैं। इस प्रकार एकत्व में विविधता है (*एकत्वं बहुत्वम्*)।

एवं विधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही ।
चरन्विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम् विधः—इस विधि से; ब्रह्मचारी—चाहे ब्रह्मचारी हो; वानप्रस्थः—चाहे कोई वानप्रस्थ आश्रम का हो; यतिः—या कि संन्यास आश्रम में हो; गृही—या गृहस्थाश्रम में हो; चरन्—आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास तथा परम सत्य के ज्ञान द्वारा; विदित-विज्ञानः—परम सत्य विषयक विज्ञान से पूर्णतया अवगत; परम्—परम; ब्रह्म—परम सत्य; अधिगच्छति—समझ सकता है।

इस प्रकार से अभ्यास करते हुए चाहे कोई ब्रह्मचारी आश्रम में हो, गृहस्थ आश्रम में हो अथवा वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में हो, उसे परम सत्य (ब्रह्म) की सर्वव्यापकता की सदैव अनुभूति होनी चाहिए, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म को समझा जा सकता है।

तात्पर्य : यह आत्म-साक्षात्कार का शुभारम्भ है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह समझना होगा कि ब्रह्म किस तरह सर्वत्र विद्यमान है और वह किस प्रकार कर्म करता है। यह विद्या *ब्रह्मजिज्ञासा* कहलाती है और मानव जीवन का यही असली लक्ष्य है। ऐसे ज्ञान के बिना कोई अपने को मनुष्य नहीं कह सकता प्रत्युत वह पशु जगत में रहता है। जैसाकि कहा गया है—*स एव गोखरः*—ऐसे ज्ञान के बिना वह गाय या गधे के तुल्य होता है।

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान्मुनिसम्मतान् ।
यानास्थाय मुनिर्गच्छेदृषिलोकमुहाञ्जसा ॥ १७॥

शब्दार्थ

वानप्रस्थस्य—वानप्रस्थ आश्रम वाले व्यक्ति के (अवकाश प्राप्त जीवन); वक्ष्यामि—अब मैं बतलाऊँगा; नियमान्—नियमों या विधि-विधानों को; मुनि-सम्मतान्—बड़े-बड़े मुनियों, दार्शनिकों तथा साधु पुरुषों द्वारा मान्य; यान्—जिनको; आस्थाय—अभ्यास करके या स्थापित करके; मुनिः—साधु व्यक्ति; गच्छेत्—प्रोन्नत कर दिया जाता है; ऋषि-लोकम्—ऋषियों, मुनियों वाले लोक (महर्लोक) को; उह—हे राजा; अञ्जसा—बिना कठिनाई के।

हे राजा, अब मैं वानप्रस्थ की योग्यताओं का वर्णन करूँगा, जो कि पारिवारिक जीवन से विरक्ति है। वानप्रस्थ के विधि-विधानों का कठोरता से पालन करते हुए वह महर्लोक नामक उच्चतर लोक को सरलता से भेजा जा सकता है।

न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।
अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कृष्ट-पच्यम्—भूमि को जोतकर उगाये गये अन्न; अश्नीयात्—खाना चाहिए; अकृष्टम्—बिना भूमि जोते उगे; च—तथा; अपि—भी; अकालतः— समय से पहले पका हुआ; अग्नि-पक्वम्—अग्नि में पकाया हुआ अन्न; अथ—भी; आमम्—आम; वा—अथवा; अर्क-पक्वम्—सूर्य के प्रकाश से अपने आप पका भोजन; उत—ऐसा आदेश है; आहरेत्—वानप्रस्थ खाए।

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को जुती हुई जमीन में उगा अन्न नहीं खाना चाहिए। उसे बिना जुती जमीन में उगे उन अन्नों को भी नहीं खाना चाहिए जो पूरी तरह पके न हों। न ही वानप्रस्थ को अग्नि में पका अन्न खाना चाहिए। निस्सन्देह, उसे सूर्य प्रकाश में पके फल ही खाने चाहिए।

वन्यैश्चरुपुरोडाशान्निर्वपेत्कालचोदितान् ।
लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं च परित्यजेत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

वन्यैः—बिना जोते जंगल में उत्पन्न फलों तथा अन्नों से; चरु—अग्नि-यज्ञ में आहुति में डाले जाने वाले अन्न; पुरोडाशान्—चरु से तैयार किए गए पिंड; निर्वपेत्—सम्पन्न करना चाहिए; काल-चोदितान्—अपने आप उगा; लब्धे—प्राप्त होने पर; नवे—नवीन; नवे अन्न-आद्ये—नया उत्पन्न किया गया अन्न; पुराणम्—पुराने अन्न का संग्रह; च—तथा; परित्यजेत्—छोड़ दे।

वानप्रस्थ को चाहिए कि जंगल में अपने आप उगे फलों तथा अन्नों से पुरोडाश को यज्ञ में डालने के लिए तैयार करे। जब उसे थोड़ा सा नया अन्न प्राप्त हो जाए तो वह अन्न के पुराने संग्रह को त्याग दे।

अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दरम् ।

श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट्स्वयम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अग्नि—अग्नि; अर्थम्—रखने के लिए; एव—केवल; शरणम्—झोपड़ी; उट-जम्—फूस की बनी; वा—अथवा; अद्रि-कन्दरम्—पर्वत की कन्दरा में; श्रयेत—वानप्रस्थी शरण ले; हिम—बर्फ; वायु—तेज हवा; अग्नि—आग; वर्ष—वर्षा; अर्क—सूर्य का; आतप—चमकना; षाट्—सहन करते हुए; स्वयम्—स्वयं।

वानप्रस्थ को चाहिए कि पवित्र अग्नि को रखने के लिए वह या तो फूस की झोपड़ी बनाए या केवल पर्वत की कन्दरा में शरण ले, किन्तु वह स्वयं हिमपात, प्रभंजन, अग्नि, वर्षा तथा सूर्य के ताप को सहन करने का अभ्यास करे।

केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् ।
कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

केश—सिर के बाल; रोम—शरीर पर उगे रोएँ; नख—नाखून; श्मश्रु—मूँछें; मलानि—तथा शरीर का मैल; जटिलः—बाल की जटा; दधत्—रखे; कमण्डलु—जलपात्र; अजिने—तथा मृगचर्म; दण्ड—डण्डा; वल्कल—पेड़ की छाल; अग्नि—आग; परिच्छदान्—वस्त्रों को।

वानप्रस्थ को चाहिए कि सिर पर जटा रखे और अपने शरीर के बाल, नाखून तथा मूँछें बढ़ने दे। वह अपने शरीर की धूल साफ न करे। वह कमण्डल, मृगछाला तथा दण्ड रखे, पेड़ की छाल का आवरण पहने और अग्नि जैसे (गेरुवे) रंग के वस्त्रों का प्रयोग करे।

चरेद्वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः ।
द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

चरेत्—रहता रहे; वने—जंगल में; द्वादश-अब्दान्—बारह वर्षों तक; अष्टौ—आठ वर्ष तक; वा—अथवा; चतुरः—चार वर्ष; मुनिः—सन्त विचारवान् व्यक्ति; द्वौ—दो; एकम्—एक; वा—अथवा; यथा—जिससे; बुद्धिः—बुद्धि; न—नहीं; विपद्येत—मोहग्रस्त; कृच्छ्रतः—कठिन तपस्या के कारण।

अत्यधिक विचारवान् होने के कारण वानप्रस्थी को बारह वर्ष, आठ वर्ष, चार वर्ष, दो वर्ष या कम से कम एक वर्ष तक जंगल में रहना चाहिए। उसे इस तरह व्यवहार करना चाहिए कि वह अत्यधिक तपस्या के कारण विचलित या त्रस्त न हो उठे।

यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा ।
आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अकल्पः—कार्य करने में अक्षम; स्व-क्रियायाम्—अपने नियत कार्यों में; व्याधिभिः—रोग के कारण; जरया—या वृद्धावस्था के कारण; अथवा—या; आन्वीक्षिक्याम्—आध्यात्मिक प्रगति में; वा—अथवा; विद्यायाम्—ज्ञान की प्रगति में; कुर्यात्—करे; अनशन-आदिकम्—पर्याप्त भोजन न ग्रहण करना।

जब वह रोग या वृद्धावस्था के कारण आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने या वेदाध्ययन में अपने निमत कार्य करने में असमर्थ हो जाये तब उसे अन्न न खाने के व्रत का अभ्यास करना चाहिए।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सन्न्यस्याहं ममात्मताम् ।
कारणेषु न्यसेत्सम्यक्सङ्घातं तु यथार्हतः ॥ २४॥

शब्दार्थ

आत्मनि—अपने में ही; अग्नीन्—शरीर के भीतर की अग्नि-तत्त्वयों को; समारोप्य—ठीक से रखकर; सन्न्यस्य—त्याग कर; अहम्—मिथ्या पहचान; मम—मिथ्या धारणा; आत्मताम्—अपने ही शरीर की; कारणेषु—पाँचों तत्त्वों में जो भौतिक शरीर के कारण हैं; न्यसेत्—लीन कर दे; सम्यक्—पूर्णतया; सङ्घातम्—संयोग, मेल; तु—लेकिन; यथा-अर्हतः—जैसा अनुकूल हो।

उसे अग्नि को अपने में (आत्मा में) भलीभाँति रख लेना चाहिए और इस तरह शारीरिक ममत्व को छोड़ दे जिसके कारण वह शरीर को निजी या आत्मा मानता है। वह धीरे-धीरे भौतिक शरीर को पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) में लीन कर दे।

तात्पर्य : पाँचों भौतिक तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) कारण हैं और शरीर कार्य है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि यह शरीर पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भौतिक शरीर तथा पाँच भौतिक तत्त्वों का यह तादात्म्य ही वह ज्ञान है। पूर्ण ज्ञान में ब्रह्म में तादात्म्य का अर्थ है भलीभाँति यह समझ लेना कि मनुष्य शरीर नहीं, अपितु आत्मा है।

खे खानि वायौ निश्वासांस्तेजःसूष्माणमात्मवान् ।
अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

खे—आकाश में; खानि—शरीर के सारे छिद्रों को; वायौ—वायु में; निश्वासान्—शरीर के भीतर चक्कर लगाने वाली विभिन्न वायु को (प्राण, अपान इत्यादि); तेजःसु—अग्नि में; उष्माणम्—शरीर की गर्मी को; आत्म-वान्—आत्मा को जानने वाला व्यक्ति; अप्सु—जल में; असृक्—रक्त; श्लेष्म—कफ; पूयानि—तथा मूत्र; क्षितौ—पृथ्वी में; शेषम्—शेष या बचे हुए को (चमड़ी, हड्डी तथा शरीर के अन्य कठोर अंग); यथा-उद्भवम्—जिससे सभी उत्पन्न।

गम्भीर, स्वरूपसिद्ध, ज्ञानवान व्यक्ति को चाहिए कि वह शरीर के विभिन्न अंगों को उनके मूल स्त्रोतों में लीन कर दे। शरीर के छिद्र आकाश द्वारा उत्पन्न हैं, श्वास की क्रिया वायु से उत्पन्न है, शरीर की ऊष्मा अग्नि द्वारा जनित है और वीर्य, रक्त तथा कफ जल द्वारा उत्पन्न हैं। त्वचा,

पेशी तथा अस्थि जैसी कठोर वस्तुएँ पृथ्वी द्वारा उत्पन्न हैं। इस प्रकार शरीर के सारे अवयव विभिन्न तत्त्वों द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव इन सबों को पुनः उन्हीं तत्त्वों में लीन कर देना चाहिए।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध होने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य शरीर के विभिन्न तत्त्वों के मूल स्रोतों को जान ले। यह शरीर त्वचा, अस्थि, पेशी, रक्त, वीर्य, मूत्र, मल, ऊष्मा, श्वास इत्यादि के मेल से बना है और ये सारी वस्तुएँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश से प्राप्त होती हैं। मनुष्य को इन समस्त शारीरिक अवयवों के स्रोतों से पूर्णतया अभिज्ञ होना चाहिए। तभी वह स्वरूपसिद्ध या आत्मवान् बनता है।

वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि ।
पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥ २६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् ।
दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शेनाध्यात्मनि त्वचम् ॥ २७॥
रूपाणि चक्षुषा राजन्ज्योतिष्यभिनिवेशयेत् ।
अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥ २८॥

शब्दार्थ

वाचम्—वाणी; अग्नौ—अग्नि देव में; स-वक्तव्याम्—वाणी के कर्म को; इन्द्रे—इन्द्र में; शिल्पम्—हाथ से कर्म करने की सामर्थ्य या कला-कौशल को; करौ—तथा हाथ में; अपि—निस्सन्देह; पदानि—पाँवों को; गत्या—चलने की शक्ति सहित; वयसि—भगवान् विष्णु में; रत्या—कामेच्छा; उपस्थम्—यौनेन्द्रियों समेत; प्रजापतौ—प्रजापति में; मृत्यौ—मृत्युदेव में; पायुम्—गुदा को; विसर्गम्—इसकी क्रिया सहित, मलोतसर्ग करना; च—भी; यथा-स्थानम्—सही स्थान में; विनिर्दिशेत्—सूचित करे; दिक्षु—विभिन्न दिशाओं में; श्रोत्रम्—श्रवेणन्द्रिय; स-नादेन—कम्पन समेत; स्पर्शेन—स्पर्श से; अध्यात्मनि—वायुदेव में; त्वचम्—स्पर्शेन्द्रिय को; रूपाणि—स्वरूप; चक्षुषा—आँखों की ज्योति समेत; राजन्—हे राजा; ज्योतिषि—सूर्य में; अभिनिवेशयेत्—लीन करे; अप्सु—जल में; प्रचेतसा—वरुण देव समेत; जिह्वाम्—जीभ को; घ्रेयैः—सुगन्ध विषय के साथ; घ्राणम्—सूँघने की शक्ति; क्षितौ—पृथ्वी में; न्यसेत्—लीन कर दे।

तत्पश्चात् वाणी-विषय को वाक् इन्द्रिय (जीभ) सहित अग्नि को समर्पित कर दे। कला-कौशल तथा दोनों हाथ इन्द्रदेव को दे दे। गति करने की शक्ति तथा पाँव भगवान् विष्णु को दे दे। उपस्थ सहित इन्द्रियसुख प्रजापति को सौंप दे। गुदा को मलोत्सर्ग क्रिया सहित उसके असली स्थान मृत्यु को सौंप दे। ध्वनि-कम्पन समेत श्रवणेन्द्रिय को दिशाओं के अधिपति को दे दे। स्पर्श समेत स्पर्शेन्द्रिय वायु को समर्पित कर दे। दृष्टि समेत रूप को सूर्य को सौंप दे। वरुण देव समेत जीभ जल को दे दे तथा दोनों अश्विनी कुमार देवों सहित घ्राणशक्ति पृथ्वी को अर्पित कर दे।

मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे ।
कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहं ममताक्रिया ।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥ २९ ॥
अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् ।
कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन को; मनोरथैः—भौतिक इच्छाओं समेत; चन्द्रे—चन्द्रमा में जो मनोदशा के देवता हैं; बुद्धिम्—बुद्धि को; बोध्यैः—बुद्धि के विषय समेत; कवौ परे—परम बुद्धिमान व्यक्ति ब्रह्माजी में; कर्माणि—भौतिक कार्यों को; अध्यात्मना—मिथ्या अहंकार समेत; रुद्रे—शिव (रूद्र) में; यत्—जहाँ; अहम्—मैं शरीर हूँ; ममता—शरीर सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु मेरी है; क्रिया—ऐसा कार्य; सत्त्वेन—जगत की धारणा सहित; चित्तम्—चेतना को; क्षेत्र-ज्ञे—आत्मा में; गुणैः—भौतिक गुणों के द्वारा संचालित भौतिक कार्यकलापों समेत; वैकारिकम्—भौतिक गुणों के अधीन जीवों को; परे—परमात्मा में; अप्सु—जल में; क्षितिम्—पृथ्वी; अपः—जल; ज्योतिषि—ज्योतिष्कों में, विशेषतया सूर्य में; अदः—चमक; वायौ—वायु में; नभसि—आकाश में; अमुम्—वह; कूटस्थे—देहात्मबुद्धि में; तत्—वह; च—भी; महति—महत्तत्व में; तत्—वह; अव्यक्ते—अप्रकट में; अक्षरे—परमात्मा में; च—भी; तत्—उस।

मन को मनोरथों समेत चन्द्रदेव में लीन कर दे। बुद्धि के सारे विषयों को बुद्धि समेत ब्रह्माजी में स्थापित कर दे। मिथ्या अहंकार, जो प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है और मनुष्य को यह सोचने के लिए प्रेरित करता है ''मैं यह शरीर हूँ और इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है'' उसे भौतिक कार्यकलापों समेत मिथ्या अहंकार के अधिपति रुद्र में लीन कर दे। भौतिक चेतना को विचार के लक्ष्य समेत प्रत्येक जीवात्मा में और भौतिक प्रकृति गुणों के अधीन कर्म करने वाले देवताओं को विकारयुक्त जीव समेत परब्रह्म में लीन कर दे। पृथ्वी को जल में, जल को सूर्य की ज्योति में, इस ज्योति को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को मिथ्या अहंकार में, मिथ्या अहंकार को समस्त भौतिक शक्ति (महत्तत्व) में, फिर इस महत्तत्व को अप्रकट अवयवों (भौतिक शक्ति का प्रधान स्वरूप) में तथा इस अप्रकट अवयव को परमात्मा में लीन कर दे।

इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् ।
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद्दग्धयोनिरिवानलः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अक्षरतया—आध्यात्मिक होने से; आत्मानम्—स्वयं (जीवात्मा); चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; अवशेषितम्—शेषलब्धि (तत्त्वों के एक-एक करके परमात्मा में लीन हो जाने पर); ज्ञात्वा—जानकर; अद्वयः—बिना अन्तर के या परमात्मा के ही गुण वाला; अथ—इस प्रकार; विरमेत्—भौतिक जगत से अलग हो जाए; दग्ध-योनिः—जिसका स्रोत (काष्ठ) जल चुका है; इव—सदृश; अनलः—लपटें।

जब इस तरह सारी भौतिक उपाधियाँ अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाँय तो जीव अन्ततोगत्वा पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता है और गुण में परब्रह्म जैसा। इस संसार से वह उसी तरह अवकाश ले ले जिस प्रकार काठ के जल जाने पर उससे उठने वाली लपटें शान्त हो जाती हैं। जब भौतिक शरीर विविध भौतिक तत्त्वों में लौट जाता है, तो केवल आध्यात्मिक जीव बचता है। यही ब्रह्म है और यह गुण में परब्रह्म के तुल्य है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''पूर्ण समाज: चार आध्यात्मिक वर्ग'' नामक बाहरवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेरह

सिद्ध पुरुष का आचरण

इस तेरहवें अध्याय में संन्यासियों के लिए अनुष्ठान दिये गये हैं और अवधूत के इतिहास का वर्णन भी हुआ है। इसकी समाप्ति विद्यार्थी के पूर्ण आध्यात्मिक उन्नयन के विवरण के साथ होती है।

श्री नारद मुनि विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के लक्षणों का वर्णन करते चले आ रहे हैं। अब वे इस अध्याय में संन्यासियों द्वारा पालन किए जाने वाले अनुष्ठानों का विशेष वर्णन करते हैं। गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर मनुष्य को वानप्रस्थ पद स्वीकार करना चाहिए जिसमें इस शरीर को अपने अस्तित्व का साधन मानकर धीरे-धीरे जीवन की शारीरिक आवश्यकत्ताओं को भूल जाना चाहिए। वानप्रस्थ जीवन के पश्चात् घर छोड़कर मनुष्य को संन्यासी रूप में विभिन्न स्थानों का भ्रमण करना चाहिए। शारीरिक सुख के बिना तथा शारीरिक आवश्यकताओं के लिए किसी की निर्भरता स्वीकार किये बिना उसे प्राय: कुछ भी पहने बिना अर्थात् नग्न घूमना चाहिए। उसे सामान्य मानव समाज के सम्पर्क में आये बिना भीख माँग कर आत्मतुष्ट रहना चाहिए। उसे हर जीव का मित्र होना चाहिए और कृष्णभावनामृत में अत्यन्त शान्त रहना चाहिए। संन्यासी को इस तरह अकेले विचरण करना चाहिए और जीवन या मृत्यु की परवाह नहीं करनी चाहिए। और उस क्षण की प्रतिक्षा करते रहना चाहिए जब उसे यह भौतिक शरीर त्यागना होगा। उसे न तो अनावश्यक पुस्तकें पढ़नी चाहिए, न ज्योतिष जैसा व्यवसाय ग्रहण करना चाहिए, न ही उसे महान् वक्ता बनने का यत्न करना चाहिए। उसे व्यर्थ का तर्क-वितर्क भी नहीं

करना चाहिए और न किसी परिस्थिति में किसी पर आश्रित रहना चाहिए। उसे अन्यों को अपना शिष्य बनने का प्रलोभन नहीं देना चाहिए ताकी उसके शिष्यों की संख्या बढ़ जाए। उसे जीविका के रूप में सामान्य पुस्तकें पढ़ने की आदत छोड़ देनी चाहिए, न ही मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र, शान्त तथा समभाव बन जाता है, तो वह मृत्यु के बाद मनवांछित स्थान को चुन सकता है। पूर्ण विद्वान होने पर भी उसे सदैव गूँगे के समान मौन बने रहना चाहिए और चंचल बालक की भाँति विचरण करते रहना चाहिए।

इस प्रसंग में नारद मुनि ने प्रह्लाद तथा एक साधु पुरुष की भेंट का वर्णन किया है, जो जीवन में अजगर वृत्ति धारण किये था। इस तरह उन्होंने परमहंस के लक्षणों का उल्लेख किया है। जिस व्यक्ति ने परमहंस अवस्था प्राप्त कर ली है, वह पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को भली भाँति जानता है। वह अपनी भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति में रुचि नहीं रखता, क्योंकि उसे भगवान् की भक्ति करने में सदैव आनन्द की प्राप्ति होती रहती है। वह अपने भौतिक शरीर की रक्षा नहीं चाहता। उसे भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है उसी से सन्तुष्ट रहकर सुख-दुख से पूर्णतया स्वतंत्र होकर समस्त अनुष्ठानों से परे रहता है। कभी वह कठिन तपस्या करता है, तो कभी भौतिक ऐश्वर्य ग्रहण करता है। उसकी एकमात्र चिन्ता कृष्ण को तुष्ट करने में रहती है, जिसके लिए वह अनुष्ठानों की परवाह न करता हुआ कुछ भी कर सकता है। उसकी तुलना भौतिकतावादी पुरुषों से नहीं की जाती, न ही उसे ऐसे लोगों के निर्णय की आवश्यकता होती है।

श्रीनारद उवाच
कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः ।
ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कल्पः—वह व्यक्ति जो संन्यास आश्रम की तपस्या करने या दिव्य ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए दक्ष है; तु—लेकिन; एवम्—इस प्रकार (जैसाकि पहले कहा गया है); परिव्रज्य—अपनी आत्मिक पहचान को समझते हुए तथा एक स्थान से दूसरे स्थान का विचरण करते हुए; देह-मात्र—केवल शरीर का पालन करते हुए; अवशेषितः—अन्ततः; ग्राम—गाँव में; एक—केवल एक; रात्र—रात गुजारने का; विधिना—विधि से; निरपेक्षः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहते हुए; चरेत्—एक स्थान से दूसरे की यात्रा करे; महीम्—पृथ्वी पर।

श्री नारद मुनि ने कहा : जो व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है उसे सारे भौतिक सम्बन्धों का परित्याग कर देना चाहिए और शरीर को सक्षम बनाये रखकर उसे प्रत्येक

गाँव में केवल एक रात बिताते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को शरीर की आवश्यकताओं के लिए किसी पर निर्भर रहे बिना सारे संसार में विचरण करना चाहिए।

बिभृयाद्यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न लिङ्गाद्दण्डादेरन्यत्किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

बिभृयात्—प्रयोग करे; यदि—यदि; असौ—संन्यास आश्रम का व्यक्ति; वासः—वस्त्र या अंगोछा; कौपीन—लंगोटा (गुप्तांगों को ढकने के लिए); आच्छादनम्—ढकने के लिए; परम्—केवल, इतना ही; त्यक्तम्—छोड़ा गया; न—नहीं; लिङ्गात्—संन्यासी के लक्षणों की अपेक्षा; दण्ड-आदेः—डंडा जैसा (त्रिदण्ड); अन्यत्—दूसरा; किञ्चित्—कुछ भी; अनापदि—सामान्य आपत्तिरहित समय में।

संन्यास आश्रम के व्यक्ति को अपना शरीर ढकने के लिए वस्त्र तक का भी उपयोग नहीं करना चाहिए। यदि उसे कुछ पहनना हो तो उसे कौपीन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पहनना चाहिए और यदि आवश्यकता न हो तो संन्यासी को दण्ड भी नहीं धारण करना चाहिए। संन्यासी को दण्ड तथा कमण्डल के अतिरिक्त कुछ भी साथ में नहीं रखना चाहिए।

एक एव चरेद्भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः ।
सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; एव—केवल; चरेत्—घूम सकता है; भिक्षुः—भिक्षा माँगने वाला संन्यासी; आत्म-आरामः—आत्मतुष्ट; अनपाश्रयः—किसी वस्तु पर आश्रित न रहकर; सर्व-भूत-सुहृत्—सभी जीवों का शुभचिन्तक बनकर; शान्तः—पूर्णतया शान्त; नारायण-परायणः—नारायण पर आश्रित होकर एवं उनका भक्त बनकर।

आत्मतुष्ट संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार-द्वार से भीख माँगकर जीवन-यापन करे। किसी व्यक्ति या स्थान पर आश्रित न रहकर उसे समस्त जीवों का सुहृद् होना चाहिए। उसे नारायण का शान्त अनन्य भक्त होना चाहिए। इस प्रकार उसे एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहना चाहिए।

पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये ।
आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पश्येत्—देखे; आत्मनि—परमात्मा में; अदः—इस; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; परे—परे; सत्-असतः—सृष्टि या सृष्टि का कारण; अव्यये—अव्यय ब्रह्म में; आत्मानम्—स्वयं; च—भी; परम्—सर्वश्रेष्ठ; ब्रह्म—ब्रह्म में; सर्वत्र—सभी जगह; सत्-असत्—कारण-कार्य में; मये—सर्वव्यापी।

संन्यासी को चाहिए कि वह परब्रह्म को प्रत्येक वस्तु में सदा व्याप्त देखने का प्रयास करे और ब्रह्माणु समेत प्रत्येक वस्तु को जिसमें यह ब्रह्माण्ड भी है, जो परब्रह्म पर टिका देखे।

सुप्तिप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ।
पश्यन्बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सुप्ति—अचेतनावस्था में; प्रबोधयोः—चेतना अवस्था में; सन्धौ—सन्धि अवस्था में; आत्मनः—अपनी आत्मा में; गतिम्—गति; आत्म-दृक्—जो आत्मा को देख सकता है; पश्यन्—देखने या समझने का प्रयास करते हुए; बन्धम्—जीवन की बद्ध अवस्था; च—तथा; मोक्षम्—जीवन की मुक्त अवस्था; च—भी; माया-मात्रम्—मात्र मोह; न—नहीं; वस्तुतः—वास्तव में।

उसे अचेतना तथा चेतना अवस्थाओं में इन दोनों के बीच की अवस्था में अपने आपको समझने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्म-स्थित होना चाहिए। इस प्रकार उसे यह अनुभव करना चाहिए कि जीवन की बद्ध तथा मुक्त अवस्थाएँ मात्र भ्रम हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। ऐसे उच्च ज्ञान से उसे सर्वव्यापी परम सत्य का दर्शन करना चाहिए।

तात्पर्य : अचेतना अवस्था अज्ञान, अंधकार या भौतिक जगत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चेतना अवस्था में मनुष्य जाग्रत रहता है। अचेतना तथा चेतना दोनों की मध्यावस्था में कोई स्थायी अस्तित्व नहीं रहता। अतएव जो व्यक्ति अपने को समझने में बढ़ा चढ़ा है उसे यह समझ लेना चाहिए कि अचेतन तथा चेतन मात्र भ्रम हैं, क्योंकि मूलतः इनका अस्तित्व नहीं होता। केवल परम सत्य का ही अस्तित्व है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.४) में पुष्टि की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप में मुझसे व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।" प्रत्येक वस्तु कृष्ण के निराकार रूप के आधार पर विद्यमान रहती है; कृष्ण के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। अतएव कृष्ण का श्रेष्ठ भक्त भगवान् को बिना भ्रम के सर्वत्र देख सकता है।

नाभिनन्देद्ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ।
कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अभिनन्देत्—प्रशंसा करे; ध्रुवम्—निश्चित, ध्रुव; मृत्युम्—मृत्यु; अध्रुवम्—अनिश्चित; वा—अथवा; अस्य—इस शरीर की; जीवितम्—उम्र; कालम्—शाश्वत समय; परम्—परम; प्रतीक्षेत—अवलोकन करे; भूतानाम्—जीवों का; प्रभव—प्राकट्य; अप्ययम्—अन्तर्धान होना।

चूँकि भौतिक शरीर का विनाश निश्चित है और मनुष्य की आयु स्थिर नहीं है अतएव न तो मृत्यु की, न ही जीवन की प्रशंसा की जानी चाहिए। प्रत्युत मनुष्य को नित्य काल का अवलोकन करना चाहिए जिसमें जीव अपने आपको प्रकट करता है और अन्तर्धान होता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव न केवल वर्तमान काल में अपितु भूतकाल में भी जन्म तथा मृत्यु की समस्या का हल निकालने का प्रयास करते रहे हैं। कुछ लोग मृत्यु पर बल देते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु को भ्रम बताते हैं जबकि अन्य लोग जीवन पर बल देते हैं और इसे अक्षुण्ण तौरपर सुरक्षित रखकर यथाशक्ति भोग करना चाहते हैं। ये दोनों प्रकार के लोग मूर्ख तथा मूढ़ हैं। यह सलाह दी जाती है कि मनुष्य शाश्वत काल का अवलोकन करे जो भौतिक शरीर के प्राकट्य तथा अन्तर्धान का कारण है। और इस शाश्वत काल में जीव के बन्धन को देखे। अतएव श्रीलभक्ति विनोद ठाकुर ने अपनी *गीतावली* में गाया है—

अनादि करम-फले, पड़ि' भवार्णव जले,

तरिंबारे ना देखि उपाय।

मनुष्य को शाश्वत काल की गतिविधियों का अवलोकन करना चाहिए, क्योंकि यही जन्म-मृत्यु का कारण है। वर्तमान युग की सृष्टि के पूर्व सारे जीव काल के अधीन थे। काल के ही अर्न्तगत यह भौतिक जगत उत्पन्न होता है और पुन: विनष्ट हो जाता है। *भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।* काल के वशीभूत होकर जीव जन्म-जन्मांतर प्रकट होते तथा मरते है। यह काल भगवान् की निराकार अभिव्यक्ति है, जो प्रकृति द्वारा बद्धजीवों को भगवान् की शरण में जाकर उससे उबरने का अवसर प्रदान करता है।

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंच न संश्रयेत् ॥ ७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; असत्-शास्त्रेषु—समाचार पत्र, उपन्यास, नाटक, कल्पित-कथा जैसा साहित्य; सज्जेत—पढ़े या आसक्त हो; न—न तो; उपजीवेत—रहने का प्रयास करे; जीविकाम्—किसी व्यावसायिक साहित्यिक वृत्तिपरक; वाद-वादान्—दर्शन के विविध पक्षों पर वृथा के तर्क वितर्क; त्यजेत्—छोड़ दे; तर्कान्—तर्कों को; पक्षम्—पक्ष, दल; कंच—कोई; न—नहीं; संश्रयेत्—शरण ग्रहण करे।

समय का व्यर्थ अपव्यय कराने वाले अर्थात् आध्यात्मिक लाभ से विहीन साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न तो कोई अपनी जीविका कमाने के लिए वृत्तिपरक शिक्षक बने, न वाद-विवाद में भाग ले। न ही वह किसी कारण या पक्ष की शरण ले।

तात्पर्य : आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने के इच्छुक व्यक्ति को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए कि वह सामान्य साहित्य पढ़ने से बचे। यह संसार ऐसे सामान्य साहित्य से भरा पड़ा है, जो व्यर्थ में मन को क्षुब्ध करने वाला होता है। ऐसा साहित्य जिसमें समाचारपत्र, नाटक, उपन्यास तथा पत्रिकाएँ सम्मिलित हैं वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नति के लिए नहीं है। इसे तो कौवों का क्रीड़ास्थल (*तद्वायसं तीर्थम्*) कहा गया है। आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करने वाले को ऐसे साहित्य का तिरस्कार करना चाहिए। न ही मनुष्य को विभिन्न तार्किकों या दार्शनिकों के निष्कर्षों से सम्बन्ध रखना चाहिए। निस्सन्देह, प्रचारकों को कभी-कभी विपक्षियों के कथन पर तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो ऐसे वाद-विवाद की मनोवृत्ति से बचना चाहिए। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

अप्रयोजनपक्षं न संश्रयेत्

नाप्रयोजनपक्षी स्यान्न वृथा शिष्यबन्धकृत।

न चोदासीनः शास्त्राणि न विरुद्धानि चाभ्यसेत्॥

न व्याख्ययोपजीवेत न निषिद्धान् समाचरेत्।

एवम्भूतो यतिर्याति तदेकशरणो हरिम्॥

''न तो वृथा साहित्य का प्रश्रय ग्रहण करे, न उन तथाकथित अनेक दार्शनिकों तथा विचारकों से सम्बन्ध रखे जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए व्यर्थ हैं। न ही फैशन या लोकप्रियता के लिए किसी को शिष्य बनाए। मनुष्य इन तथाकथित शास्त्रों के प्रति निरपेक्ष बना रहे—न तो पक्ष ले, न विरोध करे। न ही शास्त्रों की व्याख्या के लिए धन लेकर अपनी जीविका चलाए। संन्यासी को सदा उदासीन रहना चाहिए और भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए साधनों की खोज करनी चाहिए।''

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; शिष्यान्—शिष्यों को; अनुबध्नीत—भौतिक लाभ के लिए प्रेरित करे; ग्रन्थान्—व्यर्थ का साहित्य; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अभ्यसेत्—समझने या अनुशीलन करने का प्रयास करे; बहून्—अनेक; न—नहीं; व्याख्याम्—व्याख्यान को; उपयुञ्जीत—जीविका का साधन बनाए; न—न तो; आरम्भान्—अनावश्यक ऐश्वर्य; आरभेत्—बढ़ाने का यत्न करे; क्वचित्—कभी भी।

संन्यासी को चाहिए कि वह न तो अनेक शिष्य एकत्र करने के लिए भौतिक लाभों का प्रलोभन दे, न व्यर्थ ही अनेक पुस्तकें पढ़े, न जीविका के साधन के रूप में व्याख्यान दे। न व्यर्थ ही भौतिक ऐश्वर्य बढ़ाने का कभी कोई प्रयास करे।

तात्पर्य : सामान्यत: तथाकथित स्वामी तथा योगी लोगों को भौतिक लाभों का प्रलोभन देकर शिष्य बनाते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित गुरु हैं, जो रोगों को अच्छा करने या सोना बनाकर भौतिक ऐश्वर्य को बढ़ाने का वादा करके शिष्यों को आकर्षित करते हैं। ये रुपये-पैसे वाले प्रलोभन अज्ञानी व्यक्तियों के लिए होते हैं। संन्यासी को ऐसे भौतिक प्रलोभनों द्वारा शिष्य बनाना वर्जित है। कभी-कभी संन्यासी अनेक मन्दिर तथा मठ बनवाकर भौतिक ऐश्वर्य में फँस जाते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसे प्रयासों से बचना चाहिए। मन्दिरों तथा मठों का निर्माण आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए किया जाना चाहिए, न कि ऐसे लोगों के लिए नि:शुल्क होटलों की व्यवस्था करने के लिए जो भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों के लिए उपयोगी नहीं होते। मन्दिरों तथा मठों को सनकी व्यक्तियों के निकम्मे क्लबों की सीमाओं से दूर रखना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हम उस प्रत्येक व्यक्ति का स्वागत करते हैं, जो आन्दोलन के अनुष्ठानों की सीमाओं से दूर रखना—अवैध मैथुन न करने, नशा न करने, मांस न खाने तथा जुआ न खेलने—पालन के लिए तैयार हो जाता है। मन्दिरों तथा मठों में अनावश्यक, त्यक्त, आलसी व्यक्तियों की भीड़ करने की अनुमति बिल्कुल नहीं दी जानी चाहिए। इनका उपयोग केवल उन भक्तों के लिए होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए गम्भीर हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *आरम्भान्* शब्द का अर्थ *मठादि-व्यापारान्* लगाया है, जिसका अर्थ है ''मन्दिर तथा मठ बनाने के प्रयास''। संन्यासी का प्रधान कार्य तो कृष्णभावनामृत का प्रचार करना है, किन्तु यदि भगवत्कृपा से सुविधाएँ उपलब्ध हों तो वह

कृष्णभावनामृत के प्रचार छात्रों को आश्रय देने के लिए मन्दिरों तथा मठों का निर्माण करा सकता है। अन्यथा ऐसे मन्दिरों तथा मठों की कोई आवश्यकता नहीं है।

न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः ।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥ ९॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यतेः—संन्यासी का; आश्रमः—प्रतीकात्मक वेश (दण्ड तथा कमण्डलु); प्रायः—लगभग सदैव; धर्म-हेतुः—आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का कारण; महा-आत्मनः—जो वास्तव में महान् है; शान्तस्य—जो शान्त है; सम-चित्तस्य—समदर्शी का; बिभृयात्—(ऐसे प्रतीक) स्वीकार कर ले; उत—निस्सन्देह; वा—अथवा; त्यजेत्—त्याग दे।

ऐसे शान्त समदर्शी व्यक्ति को जो आध्यात्मिक चेतना में सचमुच बढ़ा-चढ़ा है, संन्यासी के प्रतीकों—यथा त्रिदण्ड तथा कमण्डल—को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह आवश्यकतानुसार इन प्रतीकों को कभी धारण कर सकता है, तो कभी छोड़ सकता है।

तात्पर्य : संन्यास आश्रम की चार अवस्थाएँ हैं—*कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य* तथा *परमहंस।* श्रीमद्भागवतमें परमहंसों की गणना संन्यासियों में की गई है। मायावादी निर्विशेषवादी संन्यासी इस परमहंस अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाते। इसका कारण परम सत्य विषयक उनकी निर्विशेष धारणा है। *ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।* परम सत्य का अनुभव तीन अवस्थाओं में किया जाता है जिनमें *भगवान्* अर्थात् भगवान् की अनुभूति परमहंसों के लिए है। निस्सन्देह, *श्रीमद्भागवत* स्वयं भी परमहंसों के निमित्त है (*परमो निर्मत्सराणाम् सताम्*)। जब तक कोई परमहंस अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता तब तक वह *श्रीमद्भागवत* को समझने का अधिकारी नहीं होता। वैष्णव सम्प्रदाय में परमहंसों या संन्यासियों का प्रथम कर्तव्य धर्म प्रचार है। प्रचार के लिए ऐसा संन्यासी दण्ड तथा कमण्डल जैसे संन्यास-प्रतीक धारण कर सकता है और कभी उन्हें नहीं भी। सामान्यतया वैष्णव संन्यासी परमहंस होने के कारण स्वतः बाबाजी कहलाते हैं और वे दण्ड या कमण्डल नहीं धारण करते। ऐसा संन्यासी संन्यास के प्रतीकों को धारण करने या न करने के लिए स्वतंत्र है। उसका एकमात्र विचार यही रहता है "कृष्णभावनामृत का प्रचार करने का अवसर कहाँ है?" कभी-कभी कृष्णभावनामृत आन्दोलन अपने प्रतिनिधि संन्यासियों को विदेश भेजता है जहाँ दण्ड तथा कमण्डल को अधिक पसन्द नहीं किया जाता। हम अपने धर्मप्रचारकों को अपनी पुस्तकों तथा दर्शन का परिचय कराने के लिए सामान्य वेश-भूषा में भेजते हैं। हमारी एकमात्र चिन्ता कृष्णभावनामृत के प्रति लोगों को

आकृष्ट करना होती है। इसे हम संन्यासी की या भद्रपुरुष की वेश-भूषा में कर सकते हैं। हमारा एकमात्र लक्ष्य कृष्णभावनामृत में रुचि को प्रसारित करना है।

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त-लिङ्गः—जिसमें संन्यास के लक्षण नहीं हैं; व्यक्त-अर्थः—जिसका अभिप्राय प्रकट हो; मनीषी—ऐसा महान् सन्त पुरुष; उन्मत्त—बेचैन; बाल-वत्—बच्चे के समान; कविः—महान् कवि या वक्ता; मूक-वत्—गूँगे व्यक्ति के समान; आत्मानम्—स्वयं; सः—वह; दृष्ट्या—उदाहरण से; दर्शयेत्—प्रस्तुत करे; नृणाम्—मानव समाज को।

साधु पुरुष भले ही मानव समाज के समक्ष अपने आपको प्रकट न करे, किन्तु उस के आचरण से उसका उद्देश्य प्रकट हो जाता है। उसे मानव समाज के समक्ष अपने को एक चंचल बालक की भाँति प्रस्तुत करना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ विचारवान् वक्ता होकर भी उसे अपने को मूक व्यक्ति की तरह प्रदर्शित करना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में अत्यन्त प्रगत महापुरुष कदाचित् अपने आपको संन्यासी के चिह्नों से न भी प्रकट करे। अपने को छिपाने के लिए वह चंचल बालक या मूक व्यक्ति के समान रह सकता है, यद्यपि वह सर्वश्रेष्ठ वक्ता या कवि होता है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ पर; अपि—यद्यपि सामान्य लोगों के समक्ष प्रकट नहीं होता; उदाहरन्ति—विद्वान साधु उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक घटना को; पुरातनम्—अत्यन्त प्राचीन; प्रह्लादस्य—प्रह्लाद महाराज की; च—भी; संवादम्—वार्तालाप; मुनेः—महान् सन्त पुरुष का; आजगरस्य—अजगर की वृत्ति धारण किये; च—भी।

इसके ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में विद्वान मुनिजन एक प्राचीन वार्तालाप की कथा सुनाते हैं, जो प्रह्लाद महाराज तथा अजगर वृत्ति धारण किये एक महामुनि के मध्य हुआ था।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज की भेंट जिस मुनि से हुई थी उसने अजगर वृत्ति धारण कर रखी थी। अजगर वर्षों तक एक ही स्थान पर रहा करता है और कहीं नहीं जाता है और जो कुछ स्वतः मिल जाता है, वही खाता है। प्रह्लाद महाराज अपने पार्षदों सहित इस महामुनि से मिले और उनसे इस प्रकार बोले।

तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यसानुनि ।
रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥ १२॥
ददर्श लोकान्विचरन्लोकतत्त्वविवित्सया ।
वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः ॥ १३॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष); शयानम्—लेटे हुए; धरा-उपस्थे—पृथ्वी पर; कावेर्याम्—कावेरी नदी के तट पर; सह्य-सानुनि—सह्य नामक पर्वत की तलहटी पर; रजः-वलैः—धूल-धूसरित; तनू-देशैः—शरीर के सारे अंगों से; निगूढ—अत्यन्त गहरा; अमल—निर्मल, स्वच्छ; तेजसम्—आध्यात्मिक शक्ति; ददर्श—देखा; लोकान्—विभिन्न लोकों में; विचरन्—घूमते हुए; लोक-तत्त्व—जीवों की प्रकृति (विशेषतया उनकी जो कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं); विवित्सया—समझने का प्रयास करने के लिए; वृतः—घिरा हुआ; अमात्यैः—राजसी पार्षदों से; कतिपयैः—कुछ; प्रह्लादः—महाराज प्रह्लाद; भगवत्-प्रियः—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

एकबार भगवान् के सर्वाधिक प्रिय सेवक प्रह्लाद महाराज अपने कतिपय विश्वस्त पार्षदों के साथ संत पुरुषों की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए विश्व का भ्रमण करने निकले। वे कावेरी तट पर पहुँचे जहाँ सह्य नामक एक पर्वत है। वहाँ पर उन्हें एक महान् साधु पुरुष मिला जो भूमि पर लेटा था और धूल-धूसरित था, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा था।

कर्मणाकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ।
न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति च ॥ १४॥

शब्दार्थ

कर्मणा—कर्म से; आकृतिभिः—शारीरिक बनावट से; वाचा—शब्दों से; लिङ्गैः—लक्षणों से; वर्ण-आश्रम—वर्णाश्रम के चार भौतिक और जार आध्यात्मिक विभागों से सम्बन्धित; आदिभिः—अन्य लक्षणों से; न विदन्ति—नहीं समझ सके; जनाः—सामान्य लोग; यम्—जिसको; वै—निस्सन्देह; सः—कि वह; असौ—यही व्यक्ति था; इति—इस प्रकार; न—नहीं; वा—अथवा; इति—इस प्रकार; च—भी।

लोग न तो उस साधु पुरुष के कर्मों से, न शारीरिक लक्षणों से, न उसके शब्दों से, न उसके वर्णाश्रम धर्म के लक्षणों से यह समझ पाये कि यह वही पुरुष है, जिसे वे जानते थे।

तात्पर्य : सह्य पर्वत की घाटी में कावेरी नदी के तट पर रहने वाले उस स्थान के निवासी यह नहीं समझ पाये कि वह साधु पुरुष वही है, जिसे वे जानते थे। इसीलिए कहा गया है—*वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञे ना भुझय।* उच्चकोटि का वैष्णव इस प्रकार रहता है कि कोई यह न समझ सके कि वह क्या है या क्या था। वैष्णव के भूतकाल को भी समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। प्रह्लाद महाराज ने इस सन्त पुरुष के विगत जीवन के विषय में पूछ-ताछ किये बिना तुरन्त ही सादर नमस्कार किया।

तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत्पादयोः शिरसा स्पृशन् ।
विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (साधु पुरुष को); नत्वा—प्रणाम करके; अभ्यर्च्य—तथा पूजा करके; विधि-वत्—शिष्टाचार के नियमानुसार; पादयोः—साधु पुरुष के चरणकमलों को; शिरसा—सिर के बल; स्पृशन्—स्पर्श करते हुए; विवित्सुः—उसके विषय में जानने के इच्छुक; इदम्—यह; अप्राक्षीत्—पूछा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त ने; असुरः—यद्यपि असुर कुल में उत्पन्न।

महाभागवत प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष की विधिवत् पूजा की और प्रणाम किया जिसने अजगर-वृत्ति धारण कर रखी थी। इस प्रकार उस साधु पुरुष की पूजा करके तथा उसके चरणकमलों को अपने सिर से स्पर्श करके प्रह्लाद महाराज ने उसे समझने के उद्देश्य से विनीत भाव से इस प्रकार पूछा।

बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान्यथा ॥ १६ ॥
वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह ।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

बिभर्षि—पालन कर रहे हो; कायम्—शरीर; पीवानम्—स्थूल; स-उद्यमः—उद्यम करने वाला; भोगवान्—भोग करने वाला; यथा—जिस तरह; वित्तम्—धन; च—भी; एव—निश्चय ही; उद्यम-वताम्—सदा आर्थिक विकास में लगे रहने वाले पुरुषों का; भोगः—इन्द्रिय तृप्ति; वित्त-वताम्—प्रचुर धनी व्यक्तियों का; इह—इस संसार में; भोगिनाम्—भोक्ताओं का, कर्मियों का; खलु—निस्सन्देह; देहः—शरीर; अयम्—यह; पीवा—अत्यन्त स्थूल; भवति—हो जाता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्य कुछ।

उस साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल (मोटा) देखकर प्रह्लाद महाराज ने कहा : महोदय, आप अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कोई उद्यम नहीं करते तो भी आपका शरीर उसी तरह हृष्ट-पुष्ट है जैसाकि भौतिकतावादी कर्मी (भोगी) का होता है। मुझे ज्ञात है कि यदि कोई अत्यन्त धनी हो और उसके पास कुछ भी काम करने को नहीं हो तो वह खाकर, सोकर और कोई काम न करके अत्यधिक स्थूल (मोटा) हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य कालान्तर में अत्यन्त स्थूल (मोटे) हो जाएं। वे अपने स्थूल (मोटे) शिष्यों को भोगी इन्द्रियों को भोगने वाले बनते देखकर अत्यन्त चिन्तित होते थे। इस दृष्टिकोण की पुष्टि यहाँ पर प्रह्लाद महाराज द्वारा की गई है। वे *अजगर वृत्ति* धारण किये एक साधु पुरुष को अत्यन्त स्थूल देखकर आश्चर्यचकित थे। भौतिक जगत में भी हम देखते हैं कि जब कोई गरीब दुबला व्यक्ति क्रमशः उद्योग या किसी और साधन के बल पर धन कमाने

लगता है, तो वह जी भरकर इन्द्रिय भोग करने लगता है। इस तरह वह स्थूल बन जाता है। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्थूल होना तनिक भी सन्तोषप्रद नहीं है।

न ते शयानस्य निरुद्यमस्य
ब्रह्मन्नु हार्थो यत एव भोगः ।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः
पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारा; शयानस्य—लेटे हुए; निरुद्यमस्य—बिना काम-काज के; ब्रह्मन्—हे साधु पुरुष; नु—निस्सन्देह; ह—स्पष्ट है; अर्थः—धन; यतः—जिससे; एव—निस्सन्देह; भोगः—इन्द्रियभोग; अभोगिनः—इन्द्रिय भोग में न लगे हुए का; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; विप्र—हे विद्वान ब्राह्मण; देहः—शरीर; पीवा—स्थूल; यतः—जिस तरह; तत्—वह तथ्य; वद—कृपा करके कहो; नः—हमको; क्षमम्—क्षमा करो; चेत्—यदि मैंने धृष्टता की हो।

हे अध्यात्मज्ञानी ब्राह्मण, आपको कुछ नहीं करना पड़ता जिसके कारण आप लेटे हुए हैं। यह भी माना जा सकता है कि इन्द्रियभोग के लिए आपके पास धन नहीं है। तो फिर आपका शरीर इतना स्थूल कैसे हो गया है? ऐसी परिस्थिति में यदि आप मेरे प्रश्न को प्रमादपूर्ण नहीं मानते तो कृपा करके बतलाएँ कि यह किस तरह से हुआ है?

तात्पर्य : सामान्यतया आध्यात्मिक उन्नति में लगे लोग एक ही बार भोजन करते हैं चाहे दोपहर के बाद या संध्या समय। यदि कोई केवल एक बार भोजन करे तो स्वाभाविक है कि वह स्थूल नहीं हो जाता। किन्तु यह विद्वान साधु अधिक स्थूल था, अतएव प्रह्लाद महाराज अत्यन्त आश्चर्यचकित थे। आत्म-साक्षात्कार का अनुभव होने से अध्यात्मवादी के मुखमण्डल पर निश्चय ही तेज आ जाता है और जो आत्म-साक्षात्कार में बढ़ा-चढ़ा हो उसका शरीर ब्राह्मण के शरीर जैसा माना जाता है। चूँकि तेजवान साधु पुरुष भूमि पर लेटा था और काम न करने पर भी काफी स्थूल था, इसलिए प्रह्लाद महाराज चकित थे और उससे इसके विषय में पूछना चाह रहे थे।

कविः कल्पो निपुणदृक्चित्रप्रियकथः समः ।
लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कविः—अत्यन्त विद्वान; कल्पः—दक्ष; निपुण-दृक्—बुद्धिमान; चित्र-प्रिय-कथः—मन को भाने वाले मधुर शब्द बोलने में समर्थ; समः—समदर्शी; लोकस्य—सामान्य लोगों का; कुर्वतः—लगे हुए; कर्म—सकाम कर्म; शेषे—तुम लेटे रहते हो; तत्-वीक्षिता—उन सब को देखते हुए; अपि—यद्यपि; वा—अथवा।

आप विद्वान, दक्ष तथा सभी प्रकार से बुद्धिमान प्रतीत होते हैं। आप बहुत अच्छा बोल सकते हैं और हृदय को भाने वाली बातें कर सकते हैं। आप देख रहे हैं कि सामान्य लोग सकाम कर्मों में लगे हुए हैं फिर भी आप यहाँ पर निष्क्रिय लेटे हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज ने उस साधु पुरुष के शारीरिक लक्षणों का अध्ययन किया और उसकी मुखाकृति से वे यह जान सके कि वह बुद्धिमान तथा दक्ष था, यद्यपि वह निष्क्रिय लेटा था। अत: स्वाभाविक था कि प्रह्लाद यह जानने के लिए उत्सुक हुए कि वह वहाँ निष्क्रिय क्यों पड़ा है।

श्रीनारद उवाच
स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः ।
स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सः—वह साधु (लेटा हुआ); इत्थम्—इस प्रकार से; दैत्य-पतिना—दैत्यों के राजा (प्रह्लाद) द्वारा; परिपृष्टः—पूछा जाने पर; महा-मुनिः—महान् साधु पुरुष ने; स्मयमानः—मुसकाते हुए; तम्—उसको (प्रह्लाद को); अभ्याह—उत्तर देने को तैयार हुआ; तत्-वाक्—उसके शब्दों का; अमृत-यन्त्रितः—अमृत के द्वारा मुग्ध होकर।

नारद मुनि ने आगे कहा : जब दैत्यराज प्रह्लाद महाराज इस तरह से साधु पुरुष से प्रश्न कर रहे थे तो वह शब्दों की अमृत वर्षा से मुग्ध हो गया और उसने मुसकाते हुए प्रह्लाद महाराज की उत्सुकता का इस प्रकार जवाब दिया।

श्रीब्राह्मण उवाच
वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान्नन्वार्यसम्मतः ।
ईहोपरमयोर्नृणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने उत्तर दिया; वेद—ठीक से जान लो; इदम्—ये सारी चीजें; असुर-श्रेष्ठ—हे असुरों में श्रेष्ठ; भवान्—आप; ननु—निस्सन्देह; आर्य-सम्मतः—जिनके कार्य सभ्य मनुष्यों द्वारा अनुमोदित होते हैं; ईहा—प्रवृत्ति का; उपरमयोः—ह्रास का; नृणाम्—सामान्य लोगों की; पदानि—विभिन्न अवस्थाएँ; अध्यात्म-चक्षुषा—दिव्य आँखों के द्वारा।

साधु ब्राह्मण ने कहा : हे असुरश्रेष्ठ, हे महान् तथा सभ्य पुरुष द्वारा सम्मान्य प्रह्लाद महाराज, आप जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से अवगत हैं, क्योंकि आप मनुष्य के चरित्र को अपनी स्वाभाविक दिव्य दृष्टि से देख सकते हैं और इस तरह आप कर्मों की स्वीकृति तथा अस्वीकृति के परिणामों से भलीभाँति परिचित हैं।

तात्पर्य : प्रह्लाद महाराज जैसा शुद्ध भक्त अपनी शुद्ध भक्तिदृष्टि के कारण अन्यों के मन की बात जान सकता है। उन जैसा भक्त दूसरे पुरुषों के चरित्र का अध्ययन बिना किसी कठिनाई के कर सकता है।

यस्य नारायणो देवो भगवान्हृद्गतः सदा ।
भक्त्या केवलयाज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; नारायणः देवः—भगवान् नारायण; भगवान्—भगवान्; हृत्-गतः—हृदय के अन्दर; सदा—सदैव; भक्त्या—भक्ति द्वारा; केवलया—अकेली; अज्ञानम्—अज्ञान को; धुनोति—स्वच्छ करता है; ध्वान्तम्—अंधकार को; अर्क-वत्—सूर्य के समान।

भगवान् नारायण, जो समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं आपके हृदय में अग्रणी हैं क्योंकि आप शुद्ध भक्त हैं। वे सदैव अज्ञान के अंधकार को उसी तरह दूर करते हैं जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड से अंधकार को दूर कर देता है।

तात्पर्य : *भक्त्या केवलया* शब्द सूचित करते हैं कि केवल भक्ति करने से मनुष्य पूर्ण ज्ञानी बन सकता है। कृष्ण समस्त ज्ञान के स्वामी हैं (*ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः*)। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) और जब भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे उसे उपदेश देते हैं। किन्तु भगवान् केवल भक्तों को ही ऐसा उपदेश देते हैं जिससे वे भक्ति में आगे बढ़ते जाँय। अन्यों को अर्थात् अभक्तों को वे उनकी शरणागति की विधि के अनुसार उपदेश देते हैं। शुद्ध भक्त का वर्णन *भक्त्या केवलया* शब्दों द्वारा हुआ है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *भक्त्या केवलया* का अर्थ *ज्ञान-कर्माद्यमिश्रया* "सकाम कर्मों या शुष्क ज्ञान से अमिश्रित" है। मात्र चरणकमलों की शरण में जाना ही भक्त की प्रबुद्धता तथा जागरूकता का कारण है।

तथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन्यथाश्रुतम् ।
सम्भाषणीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तथापि—फिर भी; ब्रूमहे—मैं उत्तर दूँगा; प्रश्नान्—सारे प्रश्नों का; तव—तुम्हारे; राजन्—हे राजा; यथा-श्रुतम्—जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है; सम्भाषणीयः—सम्बोधित किये जाने योग्य; हि—निस्सन्देह; भवान्—आप; आत्मनः—आत्मा की; शुद्धिम्—शुद्धि; इच्छता—इच्छा करने वाले के द्वारा।

हे राजन्, आप सब कुछ जानते हैं किन्तु आपने कुछ प्रश्न किये हैं, अतएव जैसा मैंने अधिकारियों से सुनकर सीखा है उसी के अनुसार उनका उत्तर देने का प्रयास करूँगा। मैं इस मामले में मौन नहीं रह सकता, क्योंकि जो आत्मशुद्धि का इच्छुक है उसके द्वारा आप जैसे व्यक्ति से वार्तालाप करना उपयुक्त होगा।

तात्पर्य : साधु पुरुष प्रत्येक व्यक्ति से बातें नहीं करना चाहता, अतएव वह गम्भीर तथा मौन बना रहता है। प्राय: सामान्य व्यक्ति को उपदेश दिये जाने की आवश्यकता भी नहीं रहती। कहा जाता है कि जब तक कोई उपदेश ग्रहण करने के लिए तैयार न हो साधु पुरुष को चाहिए कि उसे सम्बोधित न करे यद्यपि कभी-कभी साधु पुरुष महान् कृपावश सामान्य व्यक्तियों से बातें कर लेता है। किन्तु प्रह्लाद महाराज सामान्य व्यक्ति न थे, अतएव वे जो भी प्रश्न करते उसका उत्तर बड़े से बड़े पुरुष को भी देना होता था। अतएव वह साधु ब्राह्मण चुप नहीं रह सका, अपितु उत्तर देने लगा। किन्तु ये उत्तर उसके द्वारा कल्पित नहीं थे। इसकी जानकारी *यथाश्रुतम्* शब्दों से द्वारा दी गई है, जिसका अर्थ है ''जैसाकि मैंने अधिकारियों से सुना है।'' *परम्परा* पद्धति में जब प्रश्न प्रामाणिक होते हैं, तो उत्तर भी प्रामाणिक होते हैं। किसी को उत्तर बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे शास्त्रों का सन्दर्भ देना चाहिए और वैदिक ज्ञान के अनुसार उत्तर देना चाहिए। *यथाश्रुतम्* शब्द वैदिक ज्ञान को बताते हैं। वेदों को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह ज्ञान अधिकारियों से प्राप्त किया जाता है। वेदों के कथन *श्रुति-प्रमाण* कहलाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि श्रुति से—वेदों या वैदिक वाङ्मय से—साक्ष्य दे और तब उसका कथन सही होगा। अन्यथा उसके शब्द मनगढ़न्त होंगे।

तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूर्यया ।
कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तृष्णया—इच्छाओं के कारण; भव-वाहिन्या—प्रकृति के भौतिक नियमों की चपेट में; योग्यैः—क्योंकि यह; कामैः—भौतिक इच्छाओं से; अपूर्यया—अन्तहीन, एक के बाद एक; कर्माणि—कार्यकलाप; कार्यमाणः—कार्य करने के लिए बाध्य; अहम्—मैं; नाना-योनिषु—जीवन के विभिन्न रूपों में; योजितः—जीवन-संघर्ष में लगा हुआ।

अतृप्त भौतिक इच्छाओं के कारण मैं प्राकृतिक नियमों की तरंगों द्वारा बहा या लिए जा रहा था और जीवन की विभिन्न योनियों में जीवन-संघर्ष करते हुए विभिन्न कार्यकलापों में लगा रहा।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य अपनी विविध भौतिक इच्छाओं को पूरा करना चाहता है तब तक वह निरन्तर एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि जिस प्रकार एक घास का तिनका नदी में गिर जाता है, तो वह तरह-तरह के काष्ठ तथा पेड़ की टहनियों के साथ बहता रहता है उसी प्रकार जीव भव-सागर में तैरता रहता है और भौतिक दशाओं के बीच टक्कर खाता तथा उछलता है। यही जीवन-संघर्ष है। एक प्रकार के सकाम कर्म से जीव को एक प्रकार का शरीर प्राप्त होता है और उस शरीर से किये गये कर्मों से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि इन भौतिक कार्यकलापों को बन्द कर दे और ऐसा करने का अवसर मनुष्य-जीवन में ही प्राप्त हो पाता है। विशेष रूप से हमें अपनी कार्य शक्ति को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि तब भौतिक कार्यकलाप स्वतः रुक जाएँगे। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की शरण ग्रहण करके अपनी इच्छाएँ पूरी करे, क्योंकि वे इन्हें पूरा करना जानते हैं। अतएव भौतिक इच्छाओं के रहते हुए भी मनुष्य को भक्त की सेवा में लग जाना चाहिए। इससे उसका जीवन-संघर्ष शुद्ध हो जाएगा।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

''जिस व्यक्ति में व्यापक बुद्धि है, वह चाहे भौतिक इच्छाओं से पूर्ण हो, या किसी भी इच्छा से रहित हो या मुक्ति की कामना करता हो, उसे हर तरह से परम पुरुष भगवान् की पूजा करनी चाहिए।'' (*भागवत* २.३.१०)

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

''मनुष्य को चाहिए कि अनुकूल होकर तथा सकाम कर्म या दार्शनिक चिन्तन द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करे।'' (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.१.११)

यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् ।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥ २५॥

शब्दार्थ

यदृच्छया—भौतिक प्रकृति की तरंगों द्वारा ले जाया जाकर; लोकम्—मनुष्य रूप; इमम्—यह; प्रापितः—प्राप्त किया हुआ; कर्मभिः—विभिन्न सकाम कर्मों के प्रभाव द्वारा; भ्रमन्—एक जीवन से दूसरे जीवन में घूमते हुए; स्वर्ग—स्वर्गलोक; अपवर्गयोः—मुक्ति के; द्वारम्—द्वार तक; तिरश्चाम्—निम्न योनियों तक; पुनः—फिर; अस्य—मनुष्यों की; च—तथा।

मैंने विकास प्रक्रिया के दौरान जो अवांछित भौतिक इन्द्रियतृप्ति के कारण सकाम कर्मों से उत्पन्न होती है यह मनुष्य रूप प्राप्त किया है, जो हमें स्वर्गलोकों तक, मुक्ति तक, निम्न योनियों तक या मनुष्य के बीच पुनर्जन्म लेने तक पहुँचा सकता है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में सारे जीव प्रकृति के नियमों के अनुसार जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में पड़े हुए हैं। विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु का यह संघर्ष विकास प्रक्रिया कहलाता है, किन्तु पाश्चात्य जगत में इसकी गलत विवेचना की गई है। पशु से मनुष्य के विकास का डार्विन का विकास सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धान्त विपरीत दशा को अर्थात् मनुष्य से पशु बनने की प्रकिया को प्रस्तुत नहीं करता। लेकिन इस श्लोक में वैदिक प्रमाण के आधार पर विकास की भलीभाँति व्याख्या की गई है। मनुष्य जीवन, जो विकास प्रक्रिया के दौरान प्राप्त होता है ऊपर उठने (*स्वर्गापवर्ग*) या नीचे गिरने का (*तिरश्चाम् पुनरस्य च*) अवसर है। यदि कोई इस मनुष्य जीवन का उचित उपयोग करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है जहाँ इस लोक की अपेक्षा भौतिक सुख हजारों गुना श्रेष्ठ है या फिर वह ज्ञान का अनुशीलन कर सकता है, जिससे वह विकास प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है और अपने मूल आध्यात्मिक जीवन को फिर से प्राप्त करता है। यह *अपवर्ग* या मुक्ति कहलाता है।

भौतिक जीवन *प-वर्ग* कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर हमें दुख की पाँच विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना होता है। इन्हें प, फ, ब, भ तथा म अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। *प* का अर्थ है *परिश्रम,* *फ* का *फेन* (मुँह का झाग—यथा अधिक श्रम करने पर घोड़े के मुख से निकला झाग), *ब* का *व्यर्थता* या निराशा (कठिन श्रम करने पर भी अन्त में निराशा मिलती है), *भ* से *भय* (भौतिक जगत में मनुष्य भय की अग्नि से जलता रहता है, क्योंकि कोई नहीं जानता कि आगे क्या होगा) तथा *म* से *मृत्यु*। जीवन की इन पाँच विभिन्न अवस्थाओं को निरस्त करने पर ही *अपवर्ग* या भौतिक जगत के दण्ड से मुक्ति मिल सकती है।

तिरश्चाम् शब्द पतित जीवन का सूचक है। निस्सन्देह, मनुष्य-जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन-दशाओं का अवसर प्रदान करता है। पश्चिम के लोग सोचते हैं कि मनुष्य बन्दर से आया और अब वह अधिक सुखपूर्वक रह रहा है। किन्तु यदि कोई इस मनुष्य-जीवन का उपयोग *स्वर्ग* या *अपवर्ग* के लिए नहीं करता तो वह पुनः कूकरों-सूकरों के निम्न जीवन में जा पड़ता है। अतएव विज्ञ मनुष्य को सदैव विचार करना चाहिए कि क्या वह स्वर्गलोक जाना चाहेगा, अपने को विकास प्रक्रिया से मुक्त करने की तैयारी करेगा या फिर से विकास प्रक्रम द्वारा उच्च तथा निम्न योनियों में घूमता रहेगा? यदि कोई पुण्य करता है, तो वह स्वर्गलोक जा सकता है या मुक्ति प्राप्त कर सकता है और भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा वह कुत्ते या शूकर की निम्न योनि में गिर सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में बताया गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्।* जो लोग उच्चलोकों (देवलोक या स्वर्गलोक) को जाने के इच्छुक हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसी प्रकार जो मुक्ति चाहते हैं और भगवद्धाम वापस जाना चाहते हैं उन्हें वैसी ही तैयारी करनी चाहिए। इसीलिए हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन मानव समाज के लिए सर्वोत्कृष्ट वरदान है क्योंकि यह आन्दोलन लोगों को भगवद्धाम जाने की शिक्षा देता है। *भगवद्गीता* (१३.२२) में स्पष्ट कहा गया है कि जीवन के विभिन्न रूप भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के संयोग से प्राप्त होते हैं (*कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु*)। सतो, रजो या तमोगुणों की संगति के अनुसार ही मनुष्य को अपने अगले जन्म में उपयुक्त शरीर मिलता है। आधुनिक सभ्यता यह नहीं जानती कि जीव शाश्वत होते हुए भी प्रकृति की विभिन्न संगति के अनुसार विभिन्न रुग्ण परिस्थितियों में रखा जाता है जिन्हें अनेक योनियाँ कहते हैं। आधुनिक सभ्यता प्रकृति के नियमों से अनजान है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर मोहग्रस्त आत्मा अपने को उन सारे कार्यों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" (*भगवद्गीता* ३.२७) हर जीवात्मा प्रकृति के कठोर नियमों के पूर्ण नियंत्रण में है किन्तु मूढ़ लोग अपने को स्वतंत्र मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वे स्वतंत्र नहीं हो सकते। यह मूर्खता है। मूर्खतापूर्ण सभ्यता अतीव घातक है, अतएव

कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को यह अवगत कराने का प्रयास कर रहा है कि वे प्रकृति के कठोर नियमों के अन्तर्गत पूर्णतया परतंत्र हैं और यह उन्हें श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति प्रबल माया द्वारा सताये जाने से बचाने का प्रयास कर रहा है। इन भौतिक नियमों के पीछे परम नियन्ता कृष्ण हैं (*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*)। अतएव यदि कोई कृष्ण की शरण में जाता है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*) तो वह तुरन्त ही बाह्य प्रकृति के नियंत्रण से छूट सकता है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

तत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये ।
कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—भी; दम्-पतीनाम्—विवाह द्वारा जुड़े पुरुषों तथा स्त्रियों के; च—तथा; सुखाय—आनन्द के लिए, विशेषतया विषयी जीवन के आनन्द हेतु; अन्य-अपनुत्तये—दुख से बचने के लिए; कर्माणि—सकाम कर्मों को; कुर्वताम्—सदैव करते हुए; दृष्ट्वा—देखकर; निवृत्तः अस्मि—(ऐसे कार्यों से) अब मैं निवृत्त हूँ; विपर्ययम्—उल्टा।

इस मनुष्य-जीवन में पुरुष तथा स्त्री का मिलन मैथुन-सुख के लिए होता है, किन्तु हमने वास्तविक अनुभव से देखा है कि उनमें से कोई भी सुखी नहीं है। इसीलिए विपरीत परिणामों को देखकर मैंने भौतिकतावादी कार्यों में भाग लेना बन्द कर दिया है।

तात्पर्य : जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा—*यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* पुरुष या स्त्री दोनों ही विषय-भोग चाहते हैं और जब वे विवाह संस्कार द्वारा संयुक्त हो जाते हैं, तो वे कुछ काल तक तो सुखी रहते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा उनमें मतभेद आने लगता है और विवाह-विच्छेद के कई उदाहरण देखने में मिलते हैं। यद्यपि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष संभोग के द्वारा जीवन भोगने के लिए वास्तव में इच्छुक है, किन्तु परिणाम निकलता है कलह तथा दुख। विवाह की संस्तुति पुरुषों तथा स्त्रियों को सीमित यौन-जीवन की छूट देने के लिए की जाती है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में भी भगवान् ने की है—*धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि*—जो जीवन धर्मविरुद्ध नहीं है, वह कृष्ण है। प्रत्येक जीव यौन का भोग करने के लिए उत्सुक रहता है, क्योंकि भौतिकतावादी जीवन खाने, सोने, मैथुन तथा भय में निहित है। पशु-जीवन में खाने, सोने, मैथुन-सुख तथा भय को नियंत्रित नहीं किया जा सकता, किन्तु मानव समाज में इन सबको संयमित करना चाहिए। खाने की वैदिक योजना में कृष्ण को अर्पित भोजन या *यज्ञशिष्ट* तथा *प्रसाद* ग्रहण करने का विधान है। *यज्ञ शिष्टाःशिनः सन्तो मुच्यन्ते*

सर्वकिल्बिषैः—भगवान् के भक्तों को सारे पापों से मुक्त कर दिया जाता है, क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किया गया भोजन खाते हैं (*भगवद्गीता* ३.१३)। भौतिक जीवन में, विशेष रूप से खाते समय, मनुष्य पापकर्म करता है और पापकर्म करने से मनुष्य को प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर दण्डस्वरूप दूसरा शरीर ग्रहण करना पड़ता है। मैथुन तथा भोजन आवश्यक हैं, इसीलिए ये वैदिक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत मानव समाज को प्रदान किये जाते हैं जिससे लोग वैदिक आदेशों के अनुसार खा सकें, सो सकें, मैथुन कर सकें, भयावह जीवन से रक्षा पा सकें और क्रमशः ऊपर उठकर इस शरीर के दण्ड से मुक्त हो सकें। इस प्रकार विवाह के लिए वैदिक आदेश मानव समाज को छूट देता है—किन्तु इसमें यह भाव निहित रहता है विवाह संस्कार से स्त्री तथा पुरुष संयुक्त होकर एक दूसरे को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने में सहयोग देंगे। दुर्भाग्यवश, विशेष रूप से इस युग में स्त्री तथा पुरुष अनियंत्रित काम-भोग से संयुक्त होते हैं। इस तरह वे दण्डित होते हैं और उन्हें अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को पूरा करने के लिए पशु योनि में पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतएव वैदिक आदेश सावधान करते हैं—*नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते विड्भुजां* ये। मनुष्य को शूकरों की तरह यौन जीवन नहीं बिताना चाहिए और जो भी मिले, यहाँ तक कि मल भी, उसे खा नहीं लेना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अर्चाविग्रह पर अर्पित किया गया *प्रसाद* खाए और वैदिक आदेशों के अनुसार काम-भोग करे। उसे कृष्णभावनामृत के काम में लगकर अपने आपको संसार की भयावह स्थिति से बचाना चाहिए और कठिन श्रम से उत्पन्न थकान को मिटाने के लिए ही सोना चाहिए।

उस विद्वान ब्राह्मण ने कहा कि चूँकि सकाम कर्मियों द्वारा प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग किया जाता है अतएव मैंने समस्त सकाम कर्मों से संन्यास ले लिया है।

सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः ।
मनःसंस्पर्शजान्दृष्ट्वा भोगान्स्वप्स्यामि संविशन् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सुखम्—सुख; **अस्य**—उसका; **आत्मनः**—जीव का; **रूपम्**—प्राकृतिक स्थिति; **सर्व**—समस्त; **ईह**—भौतिक कर्म; **उपरतिः**—पूर्णतया स्थगित करके; **तनुः**—अभिव्यक्ति का माध्यम; **मनः-संस्पर्श-जान्**—इन्द्रियतृप्ति के लिए माँगों से उत्पन्न; **दृष्ट्वा**—देखकर; **भोगान्**—इन्द्रियभोगों को; **स्वप्स्यामि**—चुप बैठा हूँ और इन भौतिक कार्यों के विषय में गहराई से सोच रहा हूँ; **संविशन्**—ऐसे कार्यों में पैठकर।

जीवों के लिए जीवन का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक सुख का है और यही असली सुख है। यह सुख तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द कर दे। भौतिक इन्द्रियभोग कोरी कल्पना है, अतएव इस विषय पर विचार कर मैंने सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द कर दिये हैं और अब यहाँ लेटा हुआ हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर मायावादी तथा वैष्णव दर्शन का अन्तर बताया गया है। मायावादी तथा वैष्णव दोनों ही जानते हैं कि भौतिकतावादी कार्यकलाप में कोई सुख नहीं है। अतएव मायावादी दार्शनिक *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या* के नारे से चिपके रह कर मिथ्या भौतिक कार्यकलापों से दूर रहना चाहते हैं। वे समस्त कार्यकलापों को बन्द करके परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं। किन्तु वैष्णव दर्शन के अनुसार यदि कोई भौतिक कार्य करना मात्र बन्द कर दे तो वह दीर्घकाल तक निष्क्रिय नहीं रह सकता; फलत: प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक कार्यों में लग जाना चाहिए जो इस संसार के दुखों की समस्या को हल कर देंगे। अतएव यह कहा जाता है कि यद्यपि मायावादी दार्शनिक भौतिकतावादी कार्यों से विलग रहने का प्रयास करके ब्रह्म में लीन होना चाहते हैं और वे ब्रह्म में वास्तव में लीन भी हो जाँएं, किन्तु सक्रिय न होने के कारण वे पुन: भौतिक कर्म में आ गिरते हैं (*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:*)। अत: तथाकथित त्यागी ब्रह्म के ध्यान में लीन न रह पाने से अस्पताल तथा पाठशालाएँ आदि खोलने के चक्कर में भौतिक कार्यों में लौट आता है। अतएव केवल ऐसे ज्ञान का अनुशीलन पर्याप्त नहीं है कि भौतिकतावादी कार्यकलाप सुख प्रदान नहीं प्रदान कर सकते, इसलिए मनुष्य ऐसे कर्मों को करना बन्द कर दे। मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी कार्यकलापों को त्याग कर आध्यात्मिक कार्यकलाप अंगीकार करे। तब इस समस्या का हल निकल आएगा। आध्यात्मिक कार्यकलाप कृष्ण के आदेश से सम्पन्न होने वाले कार्यकलाप हैं (*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्*)। जो कुछ कृष्ण कहते हैं, यदि उसे कोई करता है, तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं होते। उदाहरणार्थ, जब अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार युद्ध किया तो उसके कार्यकलाप भौतिक नहीं थे। इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करना भौतिकतावादी कार्य है, किन्तु भगवान् के आदेश से युद्ध करना आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक कार्यों से मनुष्य भगवद्धाम वापस जाने के योग्य बनता है और तब वह नित्य आनन्दमय जीवन बिताता है। यहाँ, इस जगत में प्रत्येक वस्तु मात्र मनोधर्म है, जिससे हमें कभी

भी असली सुख नहीं मिल सकता। अतएव भौतिकतावादी कार्यकलापों को बन्द करके आध्यात्मिक कार्यों में लगना ही व्यावहारिक समाधान है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* यदि कोई भगवान्—यज्ञ या विष्णु—को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है, तो उसे मुक्त जीवन में स्थित समझा जाता है। किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाता वह बन्धनमय जीवन में रहता जाता है।

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—बद्ध पुरुष; आत्मनः—अपना; स्व-अर्थम्—निजी हित; सन्तम्—अपने भीतर स्थित होकर; विस्मृत्य—भुलाकर; वै—निस्सन्देह; पुमान्—जीव; विचित्राम्—आकर्षक मिथ्या वस्तुएँ; असति—भौतिक जगत में; द्वैते—आत्मा के अतिरिक्त; घोराम्—अत्यन्त भयावह (जन्म-मृत्यु को बारबार स्वीकार करने से); आप्नोति—फँस जाता है; संसृतिम्—संसृति में।

इस प्रकार बद्ध आत्मा शरीर के भीतर रहकर अपने हित को भूल जाता है, क्योंकि वह अपनी पहचान शरीर के रूप में करने लगता है। चूँकि, शरीर भौतिक होता है अतएव उसकी सहज प्रवृत्ति भौतिक जगत की विविधताओं की ओर आकृष्ट होने की रहती है। इस तरह जीव इस संसार के कष्टों को भोगता है।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति सुखी बनना चाहता है, क्योंकि जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है—*सुखम् अस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः*—जब जीव अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप में रहता है, तो वह स्वभाव से सुखी रहता है। आध्यात्मिक प्राणी के लिए दुखी रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार कृष्ण सदैव प्रसन्न रहते हैं उसी तरह उनके अंश रूप जीव भी स्वभाव से सुखी रहते हैं, किन्तु इस संसार में भेजे जाने से तथा कृष्ण से अपना नित्य सम्बन्ध भूल जाने के कारण वे अपने असली स्वभाव को भूल चुके हैं। चूँकि हममें से प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण का अंश है, अतएव उनसे हमारा अत्यन्त वत्सल सम्बन्ध है, किन्तु हम अपना स्वरूप भूल जाने तथा शरीर को ही आत्मा मान लेने के कारण जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के सभी कष्टों से पीड़ित हैं। भौतिकतावादी जीवन की यह भ्रान्ति तब तक बनी रहती है जब तक मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को समझ नहीं लेता। बद्धजीव द्वारा सुख की खोज निश्चय ही मात्र भ्रम है, जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

**जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया ।
मृगतृष्णामुपाधावेत्तथान्यत्रार्थदृक्स्वतः ॥ २९ ॥**

शब्दार्थ

जलम्—जल; तत्-उद्भवैः—उस जल से उत्पन्न घास द्वारा; छन्नम्—ढका; हित्वा—छोड़कर; अज्ञः—मूर्ख पशु; जल-काम्यया—जल पीने की अभिलाषा से; मृगतृष्णाम्—मृगतृष्णा के; उपाधावेत्—पीछे दौड़ता है; तथा—उसी प्रकार; अन्यत्र—कहीं दूसरी जगह; अर्थ-दृक्—स्वार्थरत; स्वतः—अपने में।

जिस प्रकार एक हिरन अज्ञानतावश घास से ढके कुएँ के जल को न देख कर जल के लिए अन्यत्र दौड़ता फिरता रहता है उसी प्रकार भौतिक शरीर से आवृत यह जीव अपने भीतर के सुख को नहीं देख पाता और भौतिक जगत में सुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : यह एक उपयुक्त दृष्टान्त है कि ज्ञान के अभाव में जीव किस तरह अपने से बाहर सुख की तलाश में दौड़ता रहता है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को आध्यात्मिक प्राणी के रूप में जान लेता है, तो वह परम पुरुष कृष्ण को समझ सकता है और तभी कृष्ण तथा उसके बीच असली सुख का आदान-प्रदान होता है। यह ध्यान देना रोचक होगा कि किस तरह यह श्लोक आत्मा से शरीर के विकास को इंगित करता है। आधुनिक भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि जीव पदार्थ से निकलता है, लेकिन तथ्य तो यह है कि पदार्थ जीवन से उत्पन्न होता है। यहाँ पर जीव या आत्मा की तुलना जल से की गई है, जिसमें से घास के रूप में पदार्थ-पुंज प्रकट होता है। जो आत्मा के विज्ञान को नहीं जानता वह सुख को आत्मा में तलाश करने के लिए शरीर के अन्दर नही देखते। वरन् सुख की तलाश करने बाहर भागता है, जिस प्रकार घास के नीचे पानी के होने को न जानते हुए हिरण रेगिस्तान में जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन उन दिग्भ्रमित मनुष्यों के अज्ञान को दूर करने का प्रयास कर रहा है, जो जीवन की सीमा से बाहर जल का अनुसंधान करना चाहते हैं। *रसो वै सः। रसोऽहमप्सु कौन्तेय।* जल का स्वाद कृष्ण है। अपनी प्यास बुझाने के लिए कृष्ण की संगति रूपी जल को चखना चाहिए। यही वैदिक आदेश है।

**देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः ।
दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

देह-आदिभिः—शरीर, मन, अहंकार तथा बुद्धि से; दैव-तन्त्रैः—परम शक्ति के अधीन; आत्मनः—आत्मा का; सुखम्—सुख; ईहतः—खोज करते हुए; दुःख-अत्ययम्—दुखों की कमी; च—भी; अनीशस्य—प्रकृति के अधीन जीव; क्रियाः—कार्यकलाप तथा योजनाएँ; मोघाः कृताः कृताः—पुनः-पुनः व्यर्थ हो जाती हैं।

जीव सुख प्राप्त करना चाहता है और दुख के कारणों से छूटना चाहता है, लेकिन चूँकी जीवों के शरीर प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण में होते हैं, अतएव जीव एक के बाद एक विभिन्न शरीरों को पाकर जितनी भी योजनाएँ बनाता है वे अन्ततोगत्वा व्यर्थ हो जाती हैं।

तात्पर्य : चूँकि भौतिकतावादी व्यक्ति इस घोर अंधकार में रहता है कि प्रकृति के नियम किस प्रकार उसके कर्मों के अनुसार उस पर प्रभाव डालते हैं अतएव वह भूल करके आर्थिक विकास के उच्चलोकों में जाने के उद्देश्य से पुण्यकर्मों द्वारा तथा अन्य विधियों से मनुष्य-जीवन में शारीरिक सुपास भोगने की योजनाएँ बनाता है। किन्तु वास्तव में वह अपने कर्मफलों का शिकार बनता है। भगवान् सभी जीवों के अन्तस्तल में परमात्मा रूप में स्थित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

''मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होती है।'' जीव की इच्छाएँ तथा कार्यकलाप परमात्मा द्वारा देखे जाते हैं, क्योंकि वे *उपद्रष्टा* हैं और वे जीव की विविध इच्छाओं की पूर्ती के लिए प्रकृति को आदेश देते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में स्पष्ट कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् सबों के हृदय में आसीन रहते हैं और जो जैसा चाहता है उसी के अनुसार भगवान् उसे विविध प्रकार के शरीर प्रदान करते हैं, जो यंत्रों के समान हैं। जीव ऐसे यंत्र पर आरूढ़ होकर प्रकृति तथा उसके गुणों के वशीभूत रहकर ब्रह्माण्ड भर में घूमता है। इस तरह जीव कर्म करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है, अपितु प्रकृति के पूर्णतया अधीन रहता है और यह प्रकृति भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में रहती है।

ज्योंही जीव भौतिक इच्छाओं द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के लिए प्रताड़ित किया जाता है त्योंही उस पर प्रकृति का नियंत्रण हो जाता है, जिसका अधीक्षण परमात्मा द्वारा होता है। इसका परिणाम यह

होता है कि मनुष्य बारम्बार योजनाएँ बनाता है और निराश होता रहता है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति होने के कारण वह इस निराशा का कारण नहीं देख पाता। इस कारण का स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में हुआ है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—चूँकि मनुष्य परमेश्वर की शरण ग्रहण नहीं करता, अतएव उसे प्रकृति तथा उसके कठोर नियमों के अन्तर्गत कार्य करना होता है। इस बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय भगवान् की शरण ग्रहण करना है। मनुष्य जीवन में जीव को यह उपदेश परम पुरुष कृष्ण से ग्रहण करना चाहिए—*सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—"तुम सुख प्राप्त करने और दुख भगाने की योजना मत बनाओ। तुम इसमें कभी सफल नहीं होगे। तुम केवल मेरी शरण में आओ।" किन्तु दुर्भाग्यवश वह *भगवद्गीता* में स्पष्ट रूप में दिये गये भगवान् के इस आदेश को स्वीकार नहीं करता। इस तरह मनुष्य प्रकृति के नियमों का नित्य बन्दी बन जाता है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—यदि मनुष्य विष्णु या यज्ञ नाम से विख्यात कृष्ण की तुष्टि के लिए कर्म नहीं करता तो वह कर्मफलों के बन्धन में फँस जाएगा। ये बन्धन *पाप* तथा *पुण्य* कहलाते हैं। पुण्यकर्मों से मनुष्य उच्चलोकों को जाता है और पापकर्मों से अधम जीवयोनियों को प्राप्त होता है जिनमें वह प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित किया जाता है। जीवन की अधम योनियों में विकास प्रक्रम पाया जाता है और जब इन योनियों में जीव के बन्धन या दण्ड की अवधि समाप्त हो जाती है, तो उसे पुनः मनुष्य जीवन प्रदान किया जाता है और इसका अवसर दिया जाता है कि वह किस तरह योजना बनाए। यदि वह अवसर को पुनः खो देता है, तो उसे जन्म-मृत्यु के चक्कर में पुनः डाल दिया जाता है और *संसार-चक्र* में कभी वह नीचे जाता है, तो कभी ऊपर आता है। जिस प्रकार चक्र (पहिया) कभी नीचे तो कभी ऊपर जाता है उसी प्रकार प्रकृति के कठोर नियम जीव को कभी सुखी बनाते हैं, तो कभी दुखी। सुख-दुख के चक्र में वह जिस प्रकार कष्ट उठाता है उसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

आध्यात्मिक-आदिभिः—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक; **दुःखैः**—भौतिक जीवन के तीन प्रकार के दुखों से; **अविमुक्तस्य**—ऐसी दुखी अवस्थाओं से मुक्त न होने वाले का; **कर्हिचित्**—कभी-कभी; **मर्त्यस्य**—मरणशील जीव का; **कृच्छ्र-**

उपनतैः—दारुण दुखों के कारण प्राप्त वस्तुएँ; अर्थैः—यदि कुछ लाभ भी प्राप्त हो सके; कामैः—भौतिक इच्छाओं से पूरित; क्रियेत—जो वे करते हैं; किम्—और ऐसे सुख का क्या महत्त्व है।.

भौतिकतावादी कार्यकलाप सदैव तीन प्रकार के दुखों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक—से मिले-जुले होते हैं। अतएव यदि कोई ऐसे कार्य सम्पन्न करके कुछ सफलता प्राप्त भी कर ले तो उससे क्या लाभ है? उसे फिर भी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि तथा अपने कर्मफलों को भोगना होगा।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन—शैली के अनुसार यदि कोई निर्धन व्यक्ति कठिन श्रम करके जीवन के अन्त में कुछ लाभ प्राप्त करता है, तो यह सफलता मानी जाती है। यद्यपि वह तीन प्रकार के कष्टों—अध्यात्मिक, अधिदैविक तथा अधिभौतिक कष्टों को भोग करके पुनः मर जाता है। भौतिकतावादी जीवन के इन तीन प्रकार के कष्टों से कोई भी बच नहीं पाता। ये कष्ट हैं—तन तथा मन से सम्बन्धित; समाज, जाति, राष्ट्र तथा अन्य जीवों द्वारा थोपे गये कष्टों से सम्बन्धित; भूकम्प, सूखा, बाढ़, संक्रामक रोग इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों से सम्बन्धित। यदि कोई इन तीनों कष्टों को सहते हुए अत्यधिक श्रम करता है और थोड़ा सा लाभ पाने में सफल हो जाता है, तो ऐसे लाभ से क्या लाभ? इसके अतिरिक्त यदि कोई कर्मी सम्पत्ति संग्रह करने में सफल भी हो जाता है, तो वह उसको भोग नहीं पाता, क्योंकि उसे निराशा में मरना होगा। मैंने एक मरणासन्न व्यक्ति को अपने डाक्टर से अपनी आयु चार वर्ष बढ़ा देने की याचना करते देखा है, जिससे वह अपनी योजना पूरी कर सके। निस्सन्देह, वह डाक्टर उस व्यक्ति की आयु को बढ़ाने में असमर्थ था, अतएव वह व्यक्ति निराशा में मर गया। प्रत्येक व्यक्ति को इसी तरह मरना है और प्रकृति हर व्यक्ति की मानसिक अवस्था का पता लगाकर उसे एक विभिन्न शरीर में उस इच्छा को पूरा करने का दूसरा अवसर प्रदान करती है। भौतिक सुख की सारी भौतिक योजनाएँ निरर्थक हैं, किन्तु माया के वशीभूत होकर हम उन्हें अत्यन्त मूल्यवान समझते हैं। ऐसे अनेक राजनीतिक, समाजसुधारक तथा दार्शनिक हुए हैं जिनकी मृत्यु अत्यन्त दुखद हुई है और उन्हें उनकी योजनाओं का कोई लाभ नहीं मिला। अतएव विज्ञ तथा विवेकवान् व्यक्ति कभी भी मात्र निराशा में मरने के लिए तीन प्रकार के कष्टों के अन्तर्गत कठिन श्रम करके कभी करना नहीं चाहता।

पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् ।

भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

पश्यामि—देखता हूँ; धनिनाम्—अत्यन्त धनी व्यक्तियों में; क्लेशम्—कष्ट; लुब्धानाम्—अत्यन्त लालची; अजित-आत्मनाम्—अपनी इन्द्रियों के शिकार बनने वाले; भयात्—डर के कारण; अलब्ध-निद्राणाम्—जिन्हें अनिद्रा का रोग है; सर्वतः—चारों ओर से; अभिविशङ्किनाम्—विशेष रूप से भयभीत।

ब्राह्मण ने आगे कहा : मैं सचमुच देख रहा हूँ कि अपनी इन्द्रियों के वशीभूत हुआ एक धनी व्यक्ति किस तरह धन संचित करने का अत्यन्त लोभी होता है। अतएव सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य होते हुए भी चारों ओर से भय के कारण वह अनिद्र रोग का शिकार बन जाता है।

तात्पर्य : लालची पूँजीपति अनेक कष्ट सह कर सम्पत्ति का संचय करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उनका चित्त सदैव क्षुब्ध रहता है क्योंकि वे तरह-तरह के अनुचिता साधनों से धन संग्रह करते हैं। इस तरह वे रात्रि के समय सो नहीं पाते और मानसिक शान्ति पाने के लिए उन्हें नींद की गोलियाँ खानी पड़ती हैं। कभी-कभी गोलियाँ भी कारगर नहीं होतीं। अतएव इतने श्रम से एकत्र किये गये धन का परिणाम सुख नहीं अपितु केवल दुख होता है। ऐसा सुखद पद प्राप्त करने से क्या लाभ यदि मन की शान्ति भंग हो जाये? अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—

संसार बिषानले, दिबानिशि हियाज्वले।

जुड़ाइते ना कैनु उपाय

"मैं भौतिक भोग के विषकारी प्रभाव से कष्ट भोग रहा हूँ। इस तरह मेरा हृदय अहर्निश जलता रहता है और अपनी क्रिया बन्द करने वाला है।" लालची पूँजीपति द्वारा अनावश्यक रूप से सम्पत्ति संग्रह करने का परिणाम यह होता है कि उसे चिन्ता की ज्वाला में जलना पड़ता है और सदैव यही चिन्ता लगी रहती है कि वह अपना धन किस तरह बचाए और उसे कैसे लगाए ताकि उसे और धन मिल सके। निश्चय ही ऐसा जीवन बहुत सुखी नहीं होता, किन्तु माया के फेर में पड़कर भौतिकतावादी लोग ऐसे कार्यकलापों में लगे रहते हैं।

जहाँ तक हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सम्बन्ध है हम भगवत्कृपा से अपना साहित्य बेचकर सहज ही धन पा रहे हैं। यह साहित्य हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बेचा जाता। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करने के लिए हमें अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है अतएव इस उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए कृष्ण आवश्यक धन की पूर्ति करते हैं। कृष्ण का मिशन

सारे विश्व में कृष्णभावनामृत को प्रसारित करना है और इस कार्य के लिए स्वाभाविक है कि हमें प्रचुर धन चाहिए। अतएव श्रील रूप गोस्वामी प्रभुपाद की सलाह के अनुसार हमें उस धन के प्रति अपनी आसक्ति नहीं त्यागनी चाहिए जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार कर सके। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.२५६) में कहा है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।

मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

''जब मुक्ति के इच्छुक लोग भगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं, चाहे वे भौतिक ही क्यों न हों तो यह अपूर्ण वैराग्य कहलाता है।'' जो धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में सहायता करता है, वह भौतिक जगत का अंश नहीं होता, अतएव हमें चाहिए कि उसे भौतिक समझ कर त्यागें नहीं। श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश है—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।

निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

''जब कोई किसी भी वस्तु के प्रति आसक्त नहीं रहता अपितु प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की समझ कर ग्रहण करता है, तो वह स्वामित्व से ठीक ऊपर स्थित होता है'' (*भक्ति रसामृतसिन्धु* १.२.२५५)। धन तो प्रचुर मात्रा में आता रहता है लेकिन हमें चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए इस धन के प्रति आसक्त न हों, प्रत्येक छदाम का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार में हो, इन्द्रियतृप्ति में नहीं। प्रचारक के लिए उस समय संकट उत्पन्न होता है जब उसे पर्याप्त मात्रा में धन मिलता है, क्योंकि ज्योंही इस संग्रह में से एक भी छदाम अपनी निजी इन्द्रिय-तृप्ति में खर्च करता है त्योंही वह पतित हो जाता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारकों को अत्यंत सावधान रहना चाहिए कि इस आन्दोलन के लिए आवश्यक प्रचुर धन का दुरुपयोग न करें। हम इस धन को अपने दुख का कारण न बनाएँ अपितु इसका उपयोग कृष्ण के लिए करें। यह हमारें शाश्वत सुख का कारण बन सकेगा। धन ही लक्ष्मी है, जो नारायण की सङ्गिनी हैं। लक्ष्मी जी को सदैव नारायण के साथ रहना चाहिए तब च्युत होने का कोई भय नहीं रहता।

राजतश्चौरत: शत्रो: स्वजनात्पशुपक्षित: ।
अर्थिभ्य: कालत: स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

राजत:—राज्य से; चौरत:—चोरों तथा ठगों से; शत्रो:—शत्रुओं से; स्व-जनात्—सम्बन्धियों से; पशु-पक्षित:—पशुओं तथा पक्षियों से; अर्थिभ्य:—भिखारियों तथा दान लेने वालों से; कालत:—समय से; स्वस्मात्—तथा अपने आप से; नित्यम्—नित्य; प्राण-अर्थ-वत्—जीवन या धन वाले के लिए; भयम्—डर।

जिन्हें भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली तथा धनी माना जाता है वे सामान्यत: सरकारी नियमों, चोर-उचक्कों, शत्रुओं, स्वजनों, पशुओं, पक्षियों, दान लेने वालों, काल, यहाँ तक कि अपने आप से चिन्तित रहते हैं। इस प्रकार वे अनिवार्यत: भयभीत रहते हैं।

तात्पर्य : *स्वस्मात्* शब्द का अर्थ है ''अपने आप से''। धन के प्रति आसक्ति के कारण सबसे धनी पुरुष अपने आप से भी भयभीत रहता है। वह डरता रहता है कि हो सकता है कि मैंने धन को ठीक से तिजोरी में बन्द न किया हो या मुझसे कुछ त्रुटि हो गई हो। सरकार तथा उसके द्वारा लगाये गये आयकर एवं चोरों के अतिरिक्त धनी व्यक्ति के सम्बन्धी भी सदैव यही सोचते रहते हैं कि किस तरह उससे लाभ उठा कर उसका धन ले लिया जाये। कभी-कभी ये सम्बन्धी *स्व-जनक-दस्यु* कहलाते हैं जिसका अर्थ है ''सम्बन्धियों के रूप में धूर्त तथा चोर''। अतएव सम्पत्ति जोड़ने या व्यर्थ ही अधिकाधिक धन के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीव का असली उद्देश्य तो यह पूछना है कि ''मैं कौन हूँ''? और अपने आपको समझना है। मनुष्य को इस संसार में जीव की स्थिति समझनी चाहिए और यह जानना चाहिए कि भगवद्धाम किस तरह लौटा जा सकता है।

शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादय: ।
यन्मूला: स्युर्नृणां जह्यात्स्पृहां प्राणार्थयोर्बुध: ॥ ३४॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; मोह—मोह; भय—डर; क्रोध—क्रोध; राग—आसक्ति; क्लैब्य—दरिद्रता; श्रम—वृथा मेहनत; आदय:—इत्यादि; यत्-मूला:—इन सबों का मूल कारण; स्यु:—हो जाँए; नृणाम्—मनुष्यों का; जह्यात्—छोड़ देना चाहिए; स्पृहाम्—इच्छा; प्राण—शारीरिक शक्ति या प्रतिष्ठा; अर्थयो:—तथा धन संग्रह करने के लिए; बुध:—बुद्धिमान।

मानव समाज के बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे शोक, लोभ, भय, क्रोध, अनुराग, दरिद्रता तथा अनावश्यक श्रम के मूल कारण को त्याग दें। इन सबों का मूल कारण अनावश्यक प्रतिष्ठा तथा धन की लालसा है।

तात्पर्य : यहाँ पर वैदिक सभ्यता तथा आधुनिक आसुरी सभ्यता का अन्तर दिया गया है। वैदिक सभ्यता में आत्म-साक्षात्कार करने पर बल रहता था और इसके लिए जीवन-निर्वाह हेतु थोड़ी सी आमदनी की संस्तुति की जाती थी। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित किया गया था और इस समाज के सदस्य अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने प्रयासों को सीमित रखते थे। विशेषत: ब्राह्मणों में भौतिक इच्छाएँ नहीं रहती थीं, किन्तु क्षत्रियों को जनता पर शासन करना होता था, अतएव उनके पास धन तथा प्रतिष्ठा का होना आवश्यक था। लेकिन वैश्य कृषि-उपज तथा गाय के दूध से ही सन्तुष्ट थे और यदि इन उत्पादनों की अधिकता होती थी तो व्यापार करने की अनुमति दी जाती थी। शूद्र भी सुखी थे, क्योंकि तीनों उच्च-वर्णों से उन्हें भोजन तथा आश्रय प्राप्त होता था। किन्तु आज की आसुरी सभ्यता में न तो ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय का प्रश्न ही नहीं उठता हैं, तो केवल तथाकथित श्रमिक तथा समृद्ध व्यापारी जिनका कोई जीवन-उद्देश्य नहीं है।

वैदिक सभ्यता के अनुसार जीवन की चरम सिद्धि संन्यास ग्रहण करना है किन्तु अब लोग यह नहीं जानते कि संन्यास क्यों ग्रहण किया जाता है। न समझ पाने के कारण वे सोचते हैं कि संन्यास सामाजिक उत्तरदायित्व से बच निकलने के लिए ग्रहण किया जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। सामान्यतया आध्यात्मिक जीवन की चतुर्थ अवस्था में संन्यास स्वीकार किया जाता है। मनुष्य ब्रह्मचारी से प्रारम्भ करके पहले गृहस्थ बनता है, फिर वानप्रस्थ और अन्त में संन्यासी बनता है, जिससे वह अपनी जीवन-अवधि का लाभ उठाकर अपने आपको आत्म-साक्षात्कार में लगा सके। संन्यास का अर्थ द्वार-द्वार जाकर भीख माँगकर इन्द्रियतृप्ति के लिए धन संग्रह करना नहीं है। किन्तु, चूँकि लोग कलियुग में न्यूनाधिक रूप में इन्द्रियतृप्ति की ओर उन्मुख हैं, अतएव अपरिपक्व संन्यास की संस्तुति नहीं की जाती। श्रील रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* (२) में कहा है—

अत्याहार: प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रह: ।

जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥

''जो मनुष्य निम्नलिखित छ: प्रकार के कार्यों में अत्यधिक फँसा रहता है उसकी भक्ति भ्रष्ट हो जाती है। ये हैं (१) आवश्यकता से अधिक खाना या आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करना,

(२) उन संसारी वस्तुओं के लिए घोर प्रयास करना जिन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, (३) संसारी विषयों के बारे में वृथा बातें (४) आध्यात्मिक प्रगति के लिए नहीं, अपितु मात्र पालन करने के लिए शास्त्रीय विधि-विधानों का अभ्यास करना, या शास्त्रों के विधिविधानों का तिरस्कार करके स्वतंत्र रूप से या मनमाने ढंग से कार्य करना, (५) ऐसे संसारी पुरुषों की संगति करना जिनकी रुचि कृष्णभावनामृत में नहीं है तथा (६) भौतिक उपलब्धियों के लिए लालची बनना।'' संन्यासी के पास ऐसा संस्थान होना चाहिए जो कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए हो; उसे चाहिए कि अपने लिए धन संचय न करे। हमारी तो संस्तुति है कि ज्योंही हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में धन संचित हो जाये त्योंही इसका पचास प्रतिशत पुस्तकों के मुद्रण में लगा दिया जाये और शेष पचास प्रतिशत को सारे विश्व में केन्द्र स्थापित करने के कार्य में लगाया जाये। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के व्यवस्थापकों को इस विषय में अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए। अन्यथा यह धन शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, विपन्नता तथा वृथा श्रम का कारण बनेगा। जब मैं वृन्दावन में अकेला था तो मैंने कभी मठ या मन्दिर बनाने का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत *बैक टु गॉडहेड* पत्रिका बेचकर जो थोड़ा बहुत धन एकत्र कर लेता था उसी से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता था और उसी धन से अपना कार्य चलाता था और साहित्य भी छापता था। जब मैं विदेश गया तो वहाँ भी इसी सिद्धान्त के अनुसार रहा, किन्तु जब यूरोप तथा अमरीका-वासियों ने प्रचुर धन देना शुरू कर दिया तो मैंने मन्दिर बनवाया तथा अर्चाविग्रह पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। अब भी उसी सिद्धान्त का पालन होना चाहिए। जो भी धन संग्रह किया जाता है उसे कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति पर एक छदाम भी व्यय नहीं होना चाहिए। यही *भागवत* सिद्धान्त है।

मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ ।
वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मधुकार—मधुमक्खियाँ जो शहद एकत्र करने के लिए एक फूल से दूसरे फूल पर जाती हैं; महा-सर्पौ—बड़ा साँप (अजगर, अन्यत्र नहीं जाता); लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; नः—हमारा; गुरु—गुरु; उत्तमौ—उच्चकोटि का; वैराग्यम्—वैराग्य, त्याग; परितोषम् च—तथा संतोष; प्राप्ताः—प्राप्त किया हुआ; यत्-शिक्षया—जिसके आदेश से; वयम्—हम।

मधुमक्खी तथा अजगर दो श्रेष्ठ गुरु हैं, जो हमें इस सम्बन्ध में आदर्श उपदेश देते हैं कि किस तरह थोड़ा-थोड़ा संग्रह करके सन्तुष्ट रहा जाये और किस तरह एक ही स्थान में ठरहा जाये—हिला न जाये।

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् ।
कृच्छ्राप्तं मधुवद्वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत्पतिम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विरागः—विरक्ति; सर्व-कामेभ्यः—समस्त भौतिक इच्छाओं से; शिक्षितः—पढ़ाया गया; मे—मुझको; मधु-व्रतात्—मधुमक्खी से; कृच्छ्र—अत्यन्त कठिनाई से; आप्तम्—अर्जित; मधु-वत्—शहद के समान (धन ही शहद है); वित्तम्—धन; हत्वा—मारकर; अपि—भी; अन्यः—दूसरा; हरेत्—ले लेता है; पतिम्—स्वामी को।

मधुमक्खी से मैंने सीखा है कि धन संग्रह करने से किस तरह विरक्त रहना चाहिए, क्योंकि यद्यपि धन शहद जैसा है, किन्तु कोई भी धन के स्वामी को मार कर धन को ले जा सकता है।

तात्पर्य : छत्ते में एकत्र किए गए शहद को कोई भी बलपूर्वक ले जा सकता है। अतएव जो धन संग्रह करता है उसके मन में यह विचार उठना चाहिए कि वह सरकार या चोरों द्वारा सताया जा सकता है और उसके शत्रु उसका वध भी कर सकते हैं। इस कलियुग में तो विशेष करके सरकार स्वयं कानून के बल पर इस धन को छीन सकती है, नागरिकों से उसकी रक्षा करना दूर रहा। अतएव विद्वान ब्राह्मण ने निश्चय किया था कि वह धन संग्रह नहीं करेगा। मनुष्य को अपने पास उतना ही धन रखना चाहिए जितने की उसे तुरन्त आवश्यकता हो। अपने पास बहुत अधिक धन रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे यह भय बना रहता है कि सरकार या चोर इसे लूट न ले।

अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् ।
नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अनीहः—और अधिक रखने की इच्छा का होना; परितुष्ट—अत्यन्त सन्तुष्ट; आत्मा—आत्मा; यदृच्छा—अपने आप, बिना यत्न के; उपनतात्—मिली हुई वस्तुओं से; अहम्—मैं; नो—नहीं; चेत्—यदि ऐसा; शये—लेटा रहता हूँ; बहु—अनेक; अहानि—दिन; महा-अहिः—अजगर; इव—सदृश; सत्त्व-वान्—धैर्यवान्।

मैं किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु जो कुछ भी अपने आप मिल जाता है उसी से सन्तुष्ट रहता हूँ। यदि मुझे कुछ भी नहीं मिलता तो अजगर की तरह मैं अविक्षिप्त रहते हुए धैर्यपूर्ण रहता हूँ और कई-कई दिनों तक पड़ा रहता हूँ।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि मधुमक्खियों से विरक्ति सीखे, क्योंकि वे बूँद-बूँद करके मधु का संचय करती हैं और अपने छत्ते में रखती हैं, किन्तु कोई न कोई आकर इस मधु को बलपूर्वक निकाल ले जाता है और मधुमक्खियों के पास कुछ नहीं बचता। अतएव मधुमक्खियों से सीखना चाहिए कि

आवश्यकता से अधिक धन न रखा जाये। इसी प्रकार अजगर से एक ही स्थान पर बिना भोजन किये कई दिनों तक पड़े रहने की और जब अपने आप कुछ मिले तभी खाने की सीख लेनी चाहिए। इस तरह विद्वान ब्राह्मण ने मधुमक्खी तथा अजगर इन दो प्राणियों से प्राप्त शिक्षाएँ दीं।

क्वचिदल्पं क्वचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा
क्वचिद्भूरि गुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ।
श्रद्धयोपहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम्
भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवा नक्तं यदृच्छया ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; अल्पम्—अत्यन्त थोड़ा; क्वचित्—कभी; भूरि—काफी मात्रा; भुञ्जे—खाता हूँ; अन्नम्—भोजन; स्वादु—स्वादिष्ट; अस्वादु—बासी; वा—अथवा; क्वचित्—कभी; भूरि—अधिक; गुण-उपेतम्—सुगंधित; गुण-हीनम्—गंधरहित; उत—चाहे; क्वचित्—कभी; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; उपहृतम्—किसी के द्वारा लाया गया; क्वापि—कभी; कदाचित्—कभी; मान-वर्जितम्—बिना सम्मान के प्रदत्त; भुञ्जे—खाता हूँ; भुक्त्वा—खाकर; अथ—इस तरह; कस्मिन् चित्—कभी किसी स्थान पर; दिवा—दिन; नक्तम्—अथवा रात्रि में; यदृच्छया—जैसा भी मिल जाय।

कभी मैं थोड़ा खाता हूँ और कभी अधिक। कभी भोजन स्वादिष्ट होता है, तो कभी बासी। कभी बड़े आदर के साथ मुझे प्रसाद दिया जाता है और कभी अत्यन्त उपेक्षा से भोजन मिलता है। कभी मैं दिन में खाता हूँ तो कभी रात में। इस प्रकार मुझे जो कुछ आसानी से मिल जाता है उसे ही खाता हूँ।

क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा ।
वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्षौमम्—लिनन का कपड़ा; दुकूलम्—रेशमी या सूती; अजिनम्—मृगचर्म; चीरम्—चिरकुट, लंगोट; वल्कलम्—छाल; एव—जैसा हो; वा—अथवा; वसे—धारण करता हूँ; अन्यत्—अन्य कुछ; अपि—यद्यपि; सम्प्राप्तम्—उपलब्ध; दिष्ट-भुक्—भाग्यवश; तुष्ट—संतुष्ट; धीः—मन; अहम्—मैं हूँ।

शरीर ढकने के लिए मेरे भाग्य से मुझे जो कुछ भी मिल जाता है, चाहे क्षौम वस्त्र हो या रेशमी या सूती कपड़ा, चाहे पेड़ की छाल हो या मृगछाला, उसे मैं काम में लाता हूँ। मैं पूर्ण संतुष्ट रहता हूँ तथा विचलित नहीं होता।

क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ।
क्वचित्प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; शये—लेटता हूँ; धर-उपस्थे—पृथ्वी की सतह पर; तृण—घास पर; पर्ण—पत्तियाँ; अश्म—पत्थर; भस्मसु—या राख के ढेर पर; क्वचित्—कभी; प्रासाद—महल में; पर्यङ्के—उच्चकोटि के बिस्तर पर; कशिपौ—तकिया पर; वा—अथवा; पर—दूसरे की; इच्छया—इच्छा से।

कभी मैं पृथ्वी पर, कभी पत्तियों पर, घास या पत्थर पर तो कभी राख के ढेर पर अथवा कभी-कभी अन्यों की इच्छा से महल के उच्च कोटि के बिस्तर तथा तकिये पर सोता हूँ।

तात्पर्य : विद्वान ब्राह्मण का यह वर्णन सूचित करता है कि जन्म विभिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि अपने शरीर के अनुसार ही कोई लेटता है। कभी कोई पशु के रूप में जन्मता है, तो कभी राजा के रूप में। जब वह पशु के रूप में जन्म लेता है, तो उसे जमीन पर लेटना पड़ता है और जब वह राजा या धनी के रूप में जन्म लेता है, तो बड़े-बड़े महलों के उत्तम कमरों में लेटता है, जो बिस्तर तथा फर्नीचर से सज्जित रहते हैं। किन्तु ऐसी सुविधाएँ जीव की इच्छा से उपलब्ध नहीं होतीं, प्रत्युत *परेच्छया* अर्थात् माया के प्रबन्ध से प्राप्त होती हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और उन सारे जीवों के घूमने का निर्देश करते हैं, जो मानो माया रूपी यंत्र पर आरूढ़ हों।'' जीव को अपनी भौतिक इच्छाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं, जो भगवान् के आदेशानुसार प्रकृति द्वारा प्रदत्त यंत्रों के समान हैं। भगवत्कृपा से हर एक को लेटने के विविध साधनों से सम्पन्न विभिन्न शरीर धारण करने होते हैं।

क्वचित्स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलङ्कृतः ।
रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद्विभो ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; स्नातः—ठीक से नहाया; अनुलिप्त-अङ्गः—सारे शरीर में चन्दन का लेप लगा; सु-वासाः—सुन्दर वस्त्रों से सज्जित; स्रग्वी—पुष्प हारों से सजा; अलङ्कृतः—विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुशोभित; रथ—रथ; इभ—हाथी; अश्वैः—या घोड़े की पीठ पर; चरे—मैं विचरण करता हूँ; क्वापि—कभी; दिक्-वासाः—पूर्णतया नग्न; ग्रह-वत्—मानो भूत-प्रेत पीछा किये हों; विभो—हे स्वामी।

हे स्वामी, कभी मैं ठीक से स्नान करके सारे शरीर में चन्दन का लेप करता हूँ, फूलों की माला पहनता हूँ और सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करता हूँ। फिर मैं राजा की तरह हाथी की पीठ पर या रथ या घोड़े पर सवार होकर विचरण करता हूँ। किन्तु कभी-कभी मैं भूत-प्रेत द्वारा सताये व्यक्ति की तरह नंग-धड़ंग घूमता हूँ।

**नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥ ४२ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; निन्दे—निन्दा करता हूँ; न—न तो; च—भी; स्तौमि—प्रशंसा करता हूँ; स्व-भाव—जिसका स्वभाव; विषमम्—विपरीत; जनम्—जीव या मनुष्य; एतेषाम्—उन सबों का; श्रेयः—चरम लाभ; आशासे—चाहता हूँ, मनाता हूँ; उत—निस्सन्देह; ऐकात्म्यम्—एकात्मता; महा-आत्मनि—परमात्मा या परब्रह्म (कृष्ण) में।

विभिन्न लोग विभिन्न स्वभाव के होते हैं; अतएव उनकी प्रशंसा करना या उनकी निन्दा करना मेरा कार्य नहीं है। मैं तो इस आशा से उनके कल्याण की कामना करता हूँ कि वे परमात्मा, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ एकात्मता स्वीकार करेंगे।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य भक्तियोग पद तक पहुँच जाता है त्योंही वह भली भाँति जान जाता है कि भगवान् वासुदेव ही जीवन-लक्ष्य हैं (*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*)। समस्त वैदिक वाङ्मय का यही आदेश है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः; सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*)। किसी की भौतिक योग्यताओं के लिए प्रशंसा करने या दुर्गुणों के लिए निन्दा करने से कोई लाभ नहीं होता। भौतिक जगत में अच्छे तथा बुरे का कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि अच्छा व्यक्ति स्वर्ग को जा सकता है और बुरा व्यक्ति अधोलोक को जा सकता है। विभिन्न स्वभावों के लोग कभी ऊपर उठाए जाते हैं और कभी गिरा दिए जाते हैं किन्तु यह जीवन-लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो उत्थान-पतन से मुक्त होकर कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। अतएव सन्त पुरुष तथाकथित अच्छे तथा बुरे में भेदभाव नहीं बरतता, प्रत्युत वह कामना करता है कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्णभावनामृत में सुखी रहे, जो जीवन का चरम लक्ष्य है।

**विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ।
मनो वैकारिके हुत्वा तं मायायां जुहोत्यनु ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

विकल्पम्—भेदभाव (अच्छे-बुरे, एक दूसरे व्यक्ति, एक दूसरे राष्ट्र में); जुहुयात्—आहुति डाले; चित्तौ—चेतना रूपी अग्नि में; ताम्—उस चेतना को; मनसि—मन में; अर्थ-विभ्रमे—समस्त स्वीकृति तथा अस्वीकृति की जड़; मनः—उस मन को; वैकारिके—पदार्थ के साथ अपनी पहचान के मिथ्या अहंकार में; हुत्वा—आहुति देकर ; तम्—इस मिथ्या अहंकार को; मायायाम्—माया में; जुहोति—आहुति डालता है; अनु—इस सिद्धान्त का पालन करते हुए।

अच्छे तथा बुरे के भेदभाव की जो मानसिक कल्पना (मनोरथ) है उसे इकाई रूप में स्वीकार करके उसे मन में लगाना चाहिए और तब मन को मिथ्या अहंकार में लगाना चाहिए। इस मिथ्या अहंकार को माया में लगाना चाहिए। मिथ्या भेदभाव से लड़ने की विधि यही है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि योगी किस तरह भौतिक राग से मुक्त हो सकता है। भौतिक आकर्षण के कारण *कर्मी* अपने को देख नहीं सकता। ज्ञानी पदार्थ तथा आत्मा में अन्तर जान सकता है, किन्तु योगी जिन में सर्वोत्कृष्ट भक्ति योगी भगवद्धाम जाना चाहते है। कर्मी लोग घोर मोह में रहते हैं; ज्ञानी न तो मोह में रहते हैं न वास्तविक ज्ञान में किन्तु योगीजन, विशेष रूप से भक्ति योगी, पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२६) में पुष्टि की गई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो पूर्ण भक्ति में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में च्युत नहीं होता, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।'' इस तरह भक्त का पद सुरक्षित है। वह तुरन्त आध्यात्मिक पद तक उन्नत कर दिया जाता है। अन्य लोग, यथा ज्ञानी तथा हठयोगी भौतिक भेद-भाव को त्यागने तथा ''मैं पदार्थ से उत्पन्न यह शरीर हूँ'' इस मिथ्या अहंकार को त्यागने के बाद ही धीरे-धीरे इस पद को प्राप्त करते हैं। मनुष्य को इस मिथ्या अहंकार को माया में लीन करना होता है और इस माया को परम शक्तिमान में लीन करना होता है। भौतिक आकर्षण से मुक्त होने की यही विधि है।

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात्सत्यदृङ्मुनिः ।
ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

आत्म-अनुभूतौ—आत्म-साक्षात्कार में; ताम्—उस; मायाम्—शरीर के मिथ्या अहंकार को; जुहुयात्—आहुति कर देना चाहिए; सत्य-दृक्—परम सत्य की वास्तविक अनुभूति करने वाले का; मुनिः—विचारवान् व्यक्ति; ततः—इस आत्म-साक्षात्कार के कारण; निरीहः—भौतिक इच्छाओं से रहित; विरमेत्—भौतिक कार्यों से अवकाश ले लेना चाहिए; स्व-अनुभूति-आत्मनि—आत्म-साक्षात्कार में; स्थितः—स्थित।

विद्वान विचारवान् व्यक्ति को इसकी अनुभूति होनी चाहिए कि यह भौतिक जगत मोह है किन्तु ऐसा आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है। ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति को, जिसने सत्य का

वास्तविक साक्षात्कार किया है, आत्म-साक्षात्कार होने के कारण समस्त भौतिक कार्यकलापों से अवकाश ले लेना चाहिए।

तात्पर्य : शरीर की पूरी बनावट संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि आत्मा शरीर के भौतिक अवयवों—यथा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि—से सर्वथा भिन्न है। अतएव विचारवान व्यक्ति (*मनीषी या मुनि*) द्वारा ही शरीर तथा आत्मा के भेद की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है और इस व्यष्टि आत्मा को समझ लेने के बाद परमात्मा को सरलता से समझा जा सकता है। इस प्रकार यदि मनुष्य अनुभव करता है कि व्यष्टि आत्मा परमात्मा के अधीन है, तो उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में बतलाया गया है, शरीर के भीतर दो आत्माएँ हैं। शरीर *क्षेत्र* है और इसमें रहने वाले दो *क्षेत्रज्ञ* हैं जिनके नाम हैं परमात्मा तथा आत्मा। परमात्मा तथा आत्मा एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे दो पक्षियों के समान हैं—एक पक्षी जो कि भुलक्कड़ है वृक्ष के फल खा रहा है और दूसरे पक्षी के आदेशों की परवाह नहीं करता जो अपने इस मित्र पक्षी के कार्यकलापों का साक्षी मात्र है। जब भुलक्कड़ पक्षी अपने परम मित्र को समझता है, जो सदैव उसके साथ रहकर विभिन्न शरीरों में मार्गदर्शन करने का प्रयास करता है, तो वह उस परम पक्षी के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है। जैसाकि योग विधि में बताया गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।* जब कोई पूर्ण योगी बन जाता है, तो ध्यान द्वारा वह अपने परम मित्र को देख सकता है और उसकी शरण में जाता है। यही भक्तियोग का या कृष्णभावनामृतमय के वास्तविक जीवन का शुभारम्भ है।

स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् ।
व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान्हि भगवत्परः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

स्व-आत्म-वृत्तम्—आत्म-साक्षात्कार के इतिहास की सूचना; मया—मेरे द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; ते—तुम्हें; सु-गुप्तम्—अत्यन्त गोपनीय; अपि—यद्यपि; वर्णितम्—बतलाई गई; व्यपेतम्—के बिना; लोक-शास्त्राभ्याम्—सामान्य व्यक्ति या सामान्य ग्रंथों का मत; भवान्—आप; हि—निस्सन्देह; भगवत्-परः—भगवान् का भलीभाँति साक्षात्कार करके।

प्रह्लाद महाराज, आप निश्चय ही स्वरूपसिद्ध आत्मा तथा भगवद्भक्त हैं। आप न तो जन-मत की परवाह करते हैं, न ही तथाकथित शास्त्रों की। इस कारण मैंने आपसे निःसंकोच भाव से अपने आत्म-साक्षात्कार का इतिहास कह सुनाया।

तात्पर्य : जो व्यक्ति वास्तव में कृष्ण भक्त है, वह तथाकथित जनमत तथा वैदिक या दार्शनिक ग्रंथों की परवाह नहीं करता। प्रह्लाद महाराज ऐसे ही भक्त हैं जिन्होंने अपने पिता तथा उन्हें सिक्षा देने के लिए निमुक्त किए गए अपने तथाकथित शिक्षकों के झूठे उपदेशों का उल्लंघन किया। उल्टे, वे अपने गुरु नारद मुनि के आदेशों का पालन करते रहे और इस तरह वे सदैव महाभागवत बने रहे। बुद्धिमान भक्त का यही स्वभाव है। *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा है—*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* जो वास्तव में अत्यन्त बुद्धिमान है उसे अपने को कृष्ण का नित्य दास मानते हुए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए और भगवन्नाम के कीर्तन—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का अभ्यास करना चाहिए।

श्रीनारद उवाच
धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः ।
पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मम्—वृत्तिपरक कर्तव्य; पारमहंस्यम्—परमहंसों अर्थात् अत्यन्त पूर्ण मनुष्यों का; वै—निस्सन्देह; मुनेः—साधु पुरुष से; श्रुत्वा—सुनकर; असुर-ईश्वरः—असुरों के राजा प्रह्लाद महाराज ने; पूजयित्वा—साधु पुरुष की पूजा करके; ततः—तत्पश्चात्; प्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; आमन्त्र्य—अनुमति लेकर; प्रययौ—उस स्थान को छोड़ दिया; गृहम्—अपने घर जाने के लिए।

नारद मुनि ने आगे कहा : साधु से ये उपदेश सुन कर असुरराज प्रह्लाद महाराज पूर्ण पुरुष (परमहंस) के वृत्तिपरक कर्तव्य समझ गये। इस प्रकार उन्होंने उस सन्त की विधिपूर्वक पूजा की और उससे अनुमति लेकर अपने घर के लिए विदा हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य ८.१२८) में उद्धृत किया गया है, श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।

येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ 'गुरु' हय॥

कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कृष्ण के विज्ञान से पूर्ण तथा अवगत हो गुरु बन सकता है। अतएव प्रह्लाद महाराज असुरों पर शासन करने वाले गृहस्थ होते हुए भी परमहंस थे; फलस्वरूप वे हमारे गुरु हैं। इसीलिए गुरुओं की सूची में प्रह्लाद महाराज के नाम का उल्लेख है—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।

प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(भागवत ६.३.२०)

निष्कर्ष यह निकला कि परमहंस श्रेष्ठ भक्त होता है (*भगवत्प्रिय*)। ऐसा परहंस किसी भी अवस्था में—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में—समान रूप से मुक्त तथा उत्कृष्ट रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंध के अन्तर्गत ''सिद्ध पुरुष का आचरण'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

आदर्श पारिवारिक जीवन

इस अध्याय में देश, काल तथा कर्ता के अनुसार गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों का वर्णन हुआ है। जब युधिष्ठिर महाराज ने गृहस्थ के वृत्तिपरक कर्तव्यों के विषय में अत्यन्त जिज्ञासा प्रकट की तो नारद मुनि ने उपदेश दिया कि गृहस्थ का सर्वोपरि कर्तव्य वासुदेव कृष्ण पर पूर्णाश्रित रहना तथा निर्धारित भक्ति के द्वारा सभी प्रकार से उन्हें प्रसन्न करना है। यह भक्ति गुरु के उपदेशों तथा भगवद्भक्ति में लगे भक्तों की संगति पर निर्भर करेगी। भक्ति का शुभारम्भ श्रवणम् अर्थात् सुनने से होता है। मनुष्य को चाहिए कि सिद्धात्माओं के मुखों से सुने। इस तरह गृहस्थ की अपनी पत्नी तथा सन्तानों के प्रति आकर्षण क्रमशः घटेगा।

गृहस्थ को चाहिए कि अपने परिवार के पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करे। उसे चाहिए कि केवल धन संग्रह करने तथा भौतिक सुविधाओं में व्यर्थ की वृद्धि करने के लिए अत्यधिक उद्यम न करे। यद्यपि गृहस्थ को अपनी जीविका चलाने के लिए ऊपर से अत्यधिक सक्रिय रहना चाहिए, किन्तु भीतर से उसे भौतिक लाभ से अनासक्त रहकर पूर्णतः स्वरूपसिद्ध व्यक्ति बनना चाहिए। पारिवारिक सदस्यों के साथ बर्ताव या मैत्री मात्र उनके प्रयोजन की सिद्धि के लिए होनी चाहिए, उनमें अत्यधिक लिप्त नहीं रहना चाहिए। गृहस्थ को पारिवारिक सदस्यों तथा समाज के आदेशों को ऊपर-ऊपर ग्रहण करना चाहिए लेकिन सार रूप में उसे गुरु तथा शास्त्र द्वारा बताये गये

वृत्तिपरक कर्तव्यों में लगना चाहिए। उसे विशेष रूप से धन कमाने के लिए कृषि कार्यों में लगना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४४) में कहा गया है—*कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यम्*—गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य हैं कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार। यदि सौभाग्यवश या भगवत्कृपा से अधिक धन आ जाये तो इसका समुचित उपयोग यह होगा कि उसे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में लगाया जाये। उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए अधिक धन कमाने के लिए उत्सुक नहीं होना चाहिए। गृहस्थ को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जो आवश्यकता से अधिक धन एकत्र करने के लिए प्रयास करता है, वह चोर माना जाता है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

गृहस्थ को निम्न वर्ग के जीवों से यथा पशुओं, पक्षियों तथा मधुमक्खियों से स्नेह करना चाहिए और उनसे अपनी सन्तान के समान व्यवहार करना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि इन्द्रियतृप्ति के लिए वह पशु या पक्षियों को न मारे। उसे चाहिए कि कुत्तों तथा अधम प्राणियों तक की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों का शोषण न करे। वस्तुत: *श्रीमद्भागवत* के आदेशों के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ एक महान् साम्यवादी होता है, जो हर एक को जीविका प्रदान करता है। गृहस्थ को चाहिए कि उसके पास जो कुछ भी हो उसे बिना किसी भेद-भाव के सभी जीवों में वितरित कर दे। सर्वश्रेष्ठ विधि तो प्रसाद वितरण है।

गृहस्थ को चाहिए कि अपनी पत्नी से अत्यधिक लिप्त न रहे, उसे चाहिए कि वह अपनी पत्नी को भी दत्तचित होकर अतिथि की सेवा में लगाए। भगवत्कृपा से गृहस्थ जो भी धन संग्रह करे उसे पाँच प्रकार के कार्यों में व्यय करे—भगवान् की पूजा में, वैष्णव तथा सन्त पुरुषों के स्वागत में, साधारण जनता तथा सभी जीवों में प्रसाद वितरण करने में अपने पितरों को प्रसाद अर्पण करने में तथा स्वयं प्रसाद ग्रहण करने में। गृहस्थ को उपर्युक्त विधि से हर एक की पूजा करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि ऐसी कोई वस्तु तब तक न खाये जब तक वह भगवान् को भेंट न की जा चुकी हो। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.१३) में कहा गया है—*यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै:*—भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर दिये जाते हैं, क्योंकि वे यज्ञ में भेंट किया गया भोजन पाते हैं। गृहस्थ को पुराणों में बताए गए तीर्थ-स्थानों पर आ जाना चाहिए। इस तरह

अपने परिवार, समाज, देश तथा अन्ततः मानवता के लाभ के लिए उसे भगवान् की पूजा में लगना चाहिए।

श्रीयुधिष्ठिर उवाच
गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा ।
यायाद्देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-युधिष्ठिरः उवाच—युधिष्ठिर महाराज ने कहा; गृहस्थः—अपने परिवार के साथ रहने वाला व्यक्ति; एताम्—इस (पिछले अध्याय में वर्णित विधि); पदवीम्—मुक्ति पद को; विधिना—वैदिक शास्त्र के आदेशानुसार; येन—जिससे; च—भी; अञ्जसा—सरलता से; यायात्—पा सके; देव-ऋषे—हे देवताओं में श्रेष्ठ साधु; ब्रूहि—कृपा करके बताएँ; मादृशः—मेरे समान; गृह-मूढ-धीः—जीवन लक्ष्य से पूर्णतया अनजान।

महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि से पूछा : हे स्वामी, हे महर्षि, कृपा करके यह बतलाएँ कि जीवन-लक्ष्य के ज्ञान से रहित, घर पर रहने वाले हम लोग किस तरह वेदों के आदेशानुसार सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं?

तात्पर्य : पिछले अध्यायों में नारद मुनि बतला चुके हैं कि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी को किस-किस तरह कर्म करना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के आचरणों का वर्णन किया, क्योंकि ये तीनों आश्रम जीवन-उद्देश्य की पूर्ति के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमें यह ध्यान देना चाहिए कि इन तीनों आश्रमों में विषयी-जीवन बिताने की तनिक भी गुंजाईश नहीं है जब कि गृहस्थ जीवन में मैथुन की छूट है। इसीलिए नारद मुनि ने सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास का वर्णन किया, क्योंकि वे बता देना चाहते थे कि मैथुन की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जो मैथुन का इच्छुक हो उसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए शास्त्रों तथा गुरु की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। युधिष्ठिर महाराज यह सब समझ सके इसीलिए उन्होंने अपने आपको *गृह-मूढ-धीः* अर्थात् जीवन-लक्ष्य के विषय में पूर्णतया अनजान कहकर प्रस्तुत किया। गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से जीवन के लक्ष्य के बारे में अनजान रहता है—उसकी बुद्धि बहुत बढ़ी-चढ़ी नहीं होती। अतएव जितनी जल्दी हो सके, मनुष्य को चाहिए कि घर के तथाकथित सुविधा-सम्पन्न जीवन को छोड़ दे और तपस्या करने की तैयारी करे। *तपो दिव्यं पुत्रका।* ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को जो उपदेश दिये उनके अनुसार हमें सुविधाजनक स्थिति न उत्पन्न करके तपस्या करनी चाहिए। मनुष्य को इसी तरह से जीवन का चरम लक्ष्य पूरा करने के लिए जीवित रहना चाहिए।

श्रीनारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन्यथोचिताः ।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद मुनि ने उत्तर दिया; गृहेषु—घर पर; अवस्थितः—रुककर (गृहस्थ सामान्यतया अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ घर पर रहा करता है); राजन्—हे राजा; क्रियाः—कार्य; कुर्वन्—करते हुए; यथोचिताः—उपयुक्त (गुरु तथा शास्त्र द्वारा आदिष्ट); वासुदेव—भगवान् वासुदेव को; अर्पणम्—अर्पित करना; साक्षात्—प्रत्यक्ष; उपासीत—पूजा करे; महा-मुनीन्—महान् भक्तों को।

नारद मुनि ने उत्तर दियाः हे राजन्, जो लोग घर पर गृहस्थ बन कर रहते हैं उन्हें अपनी जीविका अर्जित करने के लिए कार्य करना चाहिए और अपने कर्मों का फल स्वयं भोगने का प्रयास न करके इन फलों को वासुदेव कृष्ण को अर्पित करना चाहिए। इस जीवन में वासुदेव को किस तरह प्रसन्न किया जाये इसे भगवद्भक्तों की संगति के माध्यम से भलीभाँति सीख जा सकता है।

तात्पर्य : गृहस्थ जीवन की रूपरेखा भगवान् को समर्पण करने की होनी चाहिए। *भगवद्गीता* (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

‘‘जो अपने कर्मफलों के प्रति अनासक्त रहता है और जो करणीय है उसे करता है, वह संन्यासी है और वही असली योगी है—वह नहीं जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।’’ कोई चाहे ब्रह्मचारी के रूप में कार्य करे या गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी के रूप में, उसे भगवान् वासुदेव कृष्ण की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। यही हर एक के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। नारद मुनि पहले ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के लिए जीवन-उद्देश्यों का वर्णन कर चुके हैं, अतएव अब वे यह बता रहे हैं कि गृहस्थ को किस तरह रहना चाहिए। मूल उद्देश्य तो भगवान् को तुष्ट करना है।

भगवान् को तुष्ट करने की विधि को यहाँ पर वर्णित *साक्षाद् उपासीत महामुनीन्* से सीखा जा सकता है। *महा-मुनीन्* शब्द महान् सन्त पुरुषों या भक्तों को बताता है। सन्त पुरुष सामान्यतया *मुनि* कहलाते हैं जिसका अर्थ है दिव्य कार्यों से प्रयोजन रखनेवाले विचारवान् दार्शनिक। *महामुनि* सूचक है

उन व्यक्तियों का जिन्होंने न केवल जीवन-लक्ष्य का अध्ययन कर लिया है अपितु जो भगवान् वासुदेव को तुष्ट करने में वास्तव में लगे हुए हैं। ये लोग भक्त कहलाते हैं। भक्तों की संगति किये बिना *वासुदेवार्पण* की विधि नहीं सीखी जा सकती—जिसका अर्थ है वासुदेव या भगवान् कृष्ण को अपना जीवन समर्पित करना।

भारत में इस विधि का कड़ाई से पालन होता था। यहाँ तक कि पचास वर्ष पूर्व मैंने बंगाल के गाँवों तथा कलकत्ता के बाहरी भागों में लोगों को नित्यप्रति अपना सारा काम समाप्त करने के बाद या संध्या के समय सोने के पूर्व *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करते देखा है। प्रत्येक व्यक्ति को *भागवत* का श्रवण करना चाहिए। प्रत्येक गाँव में *भागवत* कक्षाएँ चलती थीं जिससे लोगों को *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करने का लाभ प्राप्त था, जो जीवन लक्ष्य के बारे में सब कुछ बताता था। इसका वर्णन अगले श्लोक में किया जाएगा।

शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् ।
श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥ ३॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु ।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; भगवतः—भगवान् की; अभीक्ष्णम्—सदैव; अवतार—अवतारों की; कथा—कथाएँ; अमृतम्—अमृत; श्रद्दधानः—भगवान् के विषय में सुनने में अत्यन्त श्रद्धालु; यथा-कालम्—समय के अनुसार (सामान्यतया गृहस्थ को सायंकाल या दोपहर में अवकाश मिलता है); उपशान्त—भौतिक कार्यों से पूर्णतया छुटकारा पाकर; जन—लोगों के द्वारा; आवृतः—घिर कर; सत्-सङ्गात्—ऐसी अच्छी संगति से; शनकैः—धीरे-धीरे; सङ्गम्—संगति; आत्म—शरीर में; जाया—पत्नी में; आत्म-ज-आदिषु—तथा सन्तानों में भी; विमुञ्चेत्—ऐसी संगति से छुटकारा पा ले; मुच्यमानेषु—विलग होकर; स्वयम्—स्वयं; स्वप्न-वत्—सपने की तरह; उत्थितः—जाग्रत।

गृहस्थ व्यक्ति को चाहिए कि वह साधु पुरुषों की संगति बारम्बार करे और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक भगवान् तथा उनके अवतारों के कार्यकलापों के अमृत का उस रूप में श्रवण करे जिस रूप में वे श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णित हैं। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे अपनी पत्नी तथा सन्तानों के स्नेह से उसी तरह विरक्त होता रहे जिस प्रकार जाग जाने पर मनुष्य स्वप्न से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन की स्थापना विश्व-भर के गृहस्थों को *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* का विशेष श्रवण करने का अवसर प्रदान करने के लिए की गई है। यह विधि जिसे कई

प्रकार से वर्णित किया गया है *श्रवण* तथा *कीर्तन* करने की है (*शृण्वतां स्वकथा: कृष्ण: पुण्यश्रवणकीर्तन:*) जो प्रत्येक व्यक्ति को और विशेष रूप से गृहस्थों को, जो *मूढधी:* हैं, कृष्ण के विषय में सुनने का विशेष अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। वे लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन के विभिन्न केन्द्रों में उन भाषणों को, जिनमें *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* से कृष्ण कथाओं की व्याख्या की जाती है, मात्र सुनकर आजकल बहुप्रचलित अवैध मैथुन, मांसाहार, मादक द्रव्यसेवन तथा जुआ खेलने में व्यस्त रहने की पापपूर्ण मनोवृत्ति से शुद्ध हो सकेंगे। उन्हें इसी प्रकार प्रबुद्ध किया जा सकता है। *पुण्यश्रवण कीर्तन: ।* हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—मात्र इस *कीर्तन* में सम्मिलित होने तथा *भगवद्गीता* से कृष्ण के विषय में *श्रवण* करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है और विशेष रूप से तब जब वह प्रसाद भी ग्रहण करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यही सब हो रहा है।

यहाँ पर एक अन्य विशेष वर्णन हुआ है—*शृण्वन्भगवतोऽभीक्ष्णम् अवतार-कथामृतम् ।* ऐसा नहीं है कि यदि किसी ने एक बार *भगवद्गीता* पूरी कर ली तो उसे फिर नहीं सुनना चाहिए। यहाँ पर *अभीक्ष्णम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें बारम्बार सुनना चाहिए। बन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता—यदि किसी ने इन कथाओं को अनेक बार पढ़ा हो तो भी उसे बारम्बार पढ़ना चाहिए, क्योंकि भगवत्कथा अर्थात् कृष्ण की वाणी और कृष्ण के द्वारा कहे वचन अमृतम् है। जो जितना ही अधिक *अमृतम्* पीता है, वह उतना ही नित्य जीवन में प्रगति करता है।

यह मनुष्य-जीवन मोक्ष के लिए है, लेकिन दुर्भाग्यवश कलियुग के प्रभाव से *गृहस्थ* लोग प्रतिदिन गधों के समान कठिन श्रम करते हैं। वे प्रात:काल उठते और जीविकोपार्जन के लिए सौ मील तक की यात्रा करते हैं। विशेष रूप से पाश्चात्य देशों में मैंने देखा है कि लोग जीविकोपार्जन के लिए कार्यालयों तथा फैक्टरियों में जाने के लिए प्रात: पाँच बजे जाग जाते हैं। कलकत्ता तथा बम्बई में भी लोग ऐसा ही करते हैं। वे अपने-अपने कार्यालय या फैक्टरी में कठिन श्रम करते हैं और घर लौटते समय तीन-चार घण्टे यातायात में बिताते हैं। तब वे दस बजे सो जाते हैं और पुन: अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्टरियों में जाने के लिए प्रात:काल जग जाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार के कठिन श्रम को शूकरों तथा मलभक्षियों का जीवन कहा गया है। *नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामान् अर्हते*

विड्भुजां—ये उन समस्त जीवों में से जिन्होंने इस जगत में भौतिक देह धारण करना स्वीकार किया है और जिसे यह मनुष्य का शरीर मिला है उसे केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए अहर्निश कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह इन्द्रियतृप्ति तो कूकरों तथा मलभक्षी शूकरों को भी सुलभ है (*भागवत* ५.५.१)। मनुष्य को चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* सुनने के लिए कुछ समय निकाले। यही वैदिक संस्कृति है। मनुष्य को जीविकोपार्जन के लिए अधिक से अधिक आठ घण्टे कार्य करना चाहिए और दोपहर के बाद या संध्या समय गृहस्थ को भक्तों की संगति में कृष्ण के अवतारों एवं उनके कार्यकलापों के विषय में सुनना चाहिए और इस तरह धीरे-धीरे माया के बन्धन से मुक्त हो जाना चाहिए। किन्तु गृहस्थ कृष्ण-कथा सुनने के लिए समय न निकाल कर अपने-अपने कार्यालयों तथा फैक्टरियों में कठिन श्रम करने के बाद होटलों या क्लबों में जाने के लिए समय निकालते हैं जहाँ वे कृष्ण-कथा न सुनकर असुरों तथा अभक्तों की राजनीतिक गतिविधियों को सुनकर प्रसन्न होते हैं और मैथुन, शराब, स्त्री तथा मांस का भोग करके समय का अपव्यय करते हैं। यह *गृहस्थ* जीवन न होकर आसुरी जीवन होता है। किन्तु कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में फैले हुए अपने केन्द्रों में ऐसे पतित तथा निन्दनीय व्यक्तियों को कृष्ण के विषय में श्रवण करने का अवसर प्रदान करता है।

स्वप्न में हम मैत्री तथा प्रेम का समाज बना लेते हैं, किन्तु जब हम जागते हैं, तो देखते हैं कि सब छूमन्तर हो गया। इसी प्रकार मनुष्य का समाज, परिवार तथा प्रेम भी स्वप्न हैं और मनुष्य के मरते ही यह स्वप्न समाप्त हो जाता है। इसीलिए मनुष्य चाहे सूक्ष्म रूप में या स्थूल रूप में स्वप्न देखे, ऐसे सारे स्वप्न मिथ्या तथा क्षणिक होते हैं। मनुष्य का असली कार्य तो यह समझना है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। अत: उसके कार्यकलाप भिन्न होने चाहिए तभी वह सुखी हो सकता है।

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''जो दिव्य पद पर स्थित है, उसे तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी पछताता है न किसी चीज की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर समान दृष्टि रखता है। उस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।'' (*भगवद्गीता* १८.५४) भक्ति में लगा हुआ व्यक्ति सरलता से भौतिकतावादी जीवन के स्वप्न से मुक्त हो जाता है।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यावत्-अर्थम्—जीविका के लिए जितने प्रयास की आवश्यकता हो उतना ही; उपासीनः—कमाते हुए; देहे—शरीर में; गेहे—घरेलू मामलों में; च—भी; पण्डितः—विद्वान; विरक्तः—अनासक्त; रक्त-वत्—अत्यधिक आसक्त की भाँति; तत्र—उसमें; नृ-लोके—मानव समाज में; नरताम्—मानव जीवन में; न्यसेत्—चित्रित करे।

वास्तविक विद्वान को चाहिए कि वह शरीर पालन के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अर्जित करने के लिए कार्य करे और पारिवारिक मामलों से अनासक्त होकर मानव समाज में रहे, यद्यपि बाहर से वह उसमें अत्यधिक आसक्त प्रतीत हो।

तात्पर्य : यह आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्र है। जब श्री चैतन्य महाप्रभु ने रामानन्द राय से जीवन-लक्ष्य के विषय में पूछा तो उन्होंने शास्त्रों की संस्तुति के अनुसार उसका विभिन्न विधियों से वर्णन किया और अन्त में बताया कि मनुष्य अपने पद पर बना रहकर, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, या संन्यासी इत्यादि हो, जीवन के उद्देश्य के विषय में जिज्ञासा करे (*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*)। मनुष्य-जीवन का यही सही उपयोग है। जब अनावश्य मनुष्य इस मानव स्वरूप का दुरुपयोग पशुओं जैसी वृत्तियों में—खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने में—करता है और उस माया के चंगुल से छूटने का प्रयत्न नहीं करता जो जन्म, मरण, जरा तथा व्याधि के चक्कर में डालती रहती है, तो उसे निम्न-योनियों में ढकेल कर दण्ड दिया जाता है जहाँ से प्रकृति के नियमों के अनुसार उसे विकास करना पड़ता है। *प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।* प्रकृति की पकड़ में पूरी तरह रह कर जीव को पुनः निम्न-योनि से उच्चतर योनियों में तब तक विकास करना होता है जब तक वह मनुष्य-जीवन में नहीं लौट आता और भौतिक चंगुल से छूटने का अवसर प्राप्त नहीं करता। किन्तु बुद्धिमान मनुष्य शास्त्रों से तथा गुरु से सीखता है कि हम सभी जीव शाश्वत हैं, किन्तु प्रकृति के नियमों के अधीन विभिन्न गुणों की संगति करने से कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त होते रहते हैं। अतएव वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसे मनुष्य-जीवन में व्यर्थ की आवश्यकताओं के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु उसे अत्यन्त सादा जीवन बिताना चाहिए जिससे शरीर का पालन हो सके। मनुष्य को निश्चय ही जीविका का कोई साधन चाहिए और उसके *वर्ण* तथा *आश्रम* के अनुसार शास्त्रों में जीविका के साधनों की संस्तुति की हुई है। अतएव भगवान् का निष्ठावान् भक्त अधिक धन की लालसा न करके अपनी

जीविका चलाने के लिए कोई न कोई साधन खोज लेता है और जब वह ऐसा करता है, तो कृष्ण उसकी सहायता करते हैं। अतएव उसके लिए जीविकोपार्जन कोई समस्या नहीं बनती। असली समस्या तो जन्म, मृत्यु तथा जरा के बन्धन से मुक्त होने की है। इस स्वतंत्रता को प्राप्त करना तथा व्यर्थ की आवश्यकताओं का अनुसन्धान न करना ही वैदिक सभ्यता का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को अपने आप जो भी जीविका के साधन प्राप्त हो जाँय उनसे संतुष्ट रहना चाहिए। आधुनिक भौतिकतावादी सभ्यता आदर्श सभ्यता से सर्वथा विपरीत है। मानव समाज के तथाकथित नेता प्रतिदिन किसी न किसी ऐसी वस्तु का आविष्कार करते रहते हैं जिससे जीवन-शैली जटिल बनती जाती है और लोग जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चक्र में अधिकाधिक फँसते जाते हैं।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे ।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञातयः—सम्बन्धी, पारिवारिक सदस्य; पितरौ—माता तथा पिता; पुत्राः—सन्तानें; भ्रातरः—भाई; सुहृदः—मित्र; अपरे—तथा अन्य लोग; यत्—जो भी; वदन्ति—सुझाते हैं (जीविका के साधन के लिए); यत्—जो भी; इच्छन्ति—चाहते हैं; च—तथा; अनुमोदेत—उसे मानना चाहिए; निर्ममः—गम्भीरता से न ग्रहण करते हुए।

मानव समाज में बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि अपने कार्यकलापों की योजना को अत्यन्त सहज बनाए। यदि उसका मित्र, पुत्र, माता-पिता, भाई या अन्य कोई कुछ सुझाव देता है, तो उसे ऊपर से मानते हुए यह कहना चाहिए ''हाँ, यह ठीक है'' किन्तु भीतर से उसे दृढ़संकल्प होना चाहिए कि कहीं वह अपने जीवन को दूभर न बना ले जिससे जीवन का प्रयोजन पूरा न हो सके।

दिव्यं भौमं चान्तरीक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् ।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत्कुर्यात्स्वतो बुधः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—आकाश से वर्षा होने के कारण सरलता से प्राप्य; भौमम्—खानों तथा समुद्र से प्राप्त; च—तथा; आन्तरीक्षम्—भाग्य से प्राप्त; वित्तम्—सारी सम्पत्ति; अच्युत-निर्मितम्—भगवान् द्वारा बनायी गयी; तत्—वस्तुएँ; सर्वम्—सारी; उपयुञ्जान—(मानव समाज या सारे जीवों के लिए) उपयोग में लाते हुए; एतत्—यह (शरीर पालन); कुर्यात्—करे; स्वतः—अतिरिक्त श्रम किये बिना, स्वतः प्राप्त; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति।

भगवान् द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग जीवों के शरीरों तथा आत्माओं का पालन करने के लिए किया जाना चाहिए। जीवन की आवश्यकताएँ तीन प्रकार की हैं—वे जो

आकाश से (वर्षा से) उत्पन्न हैं, वे जो पृथ्वी से (खानों, समुद्रों या खेतों से) उत्पन्न हैं तथा वे जो वायुमण्डल से (जो अचानक तथा अनपेक्षित रूप से) उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : विविध प्रकार के जीव भगवान् के बच्चों के समान हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.४) में भगवान् द्वारा पुष्टि की गई है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या: ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता ॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह समझ लो कि सारी जीवयोनियाँ इस प्रकृति में जन्म द्वारा सम्भव बनाई जाती है और मैं उनका वीर्यदाता पिता हूँ।'' भगवान् कृष्ण समस्त योनियों तथा रूप वाले जीवों के पिता हैं। जो बुद्धिमान है, वह यह देख सकता है कि चौरासी लाख योनियों में सारे जीव भगवान् के अंश हैं और उनके पुत्र हैं। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के भीतर प्रत्येक वस्तु भगवान् की सम्पत्ति है (*ईशावास्यमिदं सर्वम्*) अतएव हर वस्तु उनसे सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुन: ।

मुमुक्षुभि: परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

''जो व्यक्ति किसी वस्तु को कृष्ण से उसके सम्बन्ध को जाने बिना त्यागता है उसका वैराग्य अपूर्ण कहा जाता है।'' (*भक्तिरसामृत सिन्धु* १.२.२५६) यद्यपि मायावादी विचारक यह कहते हैं कि यह सृष्टि मिथ्या है, किन्तु वास्तव में यह ऐसी है नहीं। यह तथ्य है, किन्तु यह विचार मिथ्या है कि प्रत्येक वस्तु मानव समाज की है। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, क्योंकि वह उनके द्वारा उत्पन्न की गई है। सारे जीव भगवान् के पुत्र, उनके शाश्वत अंश रूप में होने के कारण अपने पिता की सम्पत्ति का उपयोग प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार करने के अधिकारी हैं। जैसाकि *उपनिषदों* में कहा गया है— *तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मा गृध: कस्य स्विद्धनम्।* प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् द्वारा उसके लिए निर्धारित की गई वस्तुओं से संतुष्ट रहना चाहिए। किसी दूसरे के अधिकारों में या सम्पत्ति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१४) में कहा गया है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भव: ।

यज्ञाद् भवन्ति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

''सारे जीव अन्न पर निर्भर हैं और यह अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ नियत कर्तव्यों से उत्पन्न होता है।'' जब काफी अन्न उत्पन्न होता है, तो पशु तथा मनुष्य दोनों का ही उदर-पोषण बिना किसी कठिनाई के हो जाता है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। *प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।* प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के अधीन कर्म कर रहा है। केवल मूर्ख ही यह सोचते हैं कि वे ईश्वर द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं में सुधार ला सकते हैं। गृहस्थों का यह विशेष दायित्व है कि वे यह देखें कि मनुष्यों, जातियों, समाजों या राष्ट्रों के मध्य किसी प्रकार के संघर्ष के बिना भगवान् के नियमों का पालन हो। मानव समाज को ईश्वर के उपहारों का, विशेष रूप से उस अन्न का, सदुपयोग करना चाहिए जो आकाश से होने वाली वर्षा के कारण उत्पन्न होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*यज्ञाद् भवति पर्जन्यः ।* यह वर्षा नियमित रूप से हो इसके लिए मनुष्यों को यज्ञ करने चाहिए। पूर्व काल में घी तथा अन्न की आहुति डाल कर यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु इस युग में ऐसा कर पाना असम्भव है, क्योंकि मानव समाज के पापकर्मों के कारण घी तथा अन्न का उत्पादन घट गया है। किन्तु लोगों को चाहिए कि कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करे जैसाकि शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)। यदि विश्व भर के लोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन को ग्रहण कर लें और भगवान् के दिव्य नाम तथा कीर्ति का कीर्तन करें तो वर्षा का अभाव न रहे; फलस्वरूप अन्न, फल तथा फूल ठीक से उत्पन्न हों और जीवन की सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। गृहस्थों को ऐसे प्राकृतिक उत्पादन की व्यवस्था का भार उठाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—*तस्येव हेतोः प्रयतेत कोविदः ।* बुद्धिमान मनुष्य को भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा कृष्णभावनामृत का प्रसार करना चाहिए और तब जीवन की सारी आवश्यकताएँ स्वतः प्राप्त हो जाएँगी।

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जितना; भ्रियेत—भरा जा सकता है; जठरम्—पेट; तावत्—उतना; स्वत्वम्—स्वामित्व; हि—निश्चय ही; देहिनाम्—जीवों का; अधिकम्—इससे अधिक; यः—जो; अभिमन्येत—स्वीकार कर सकता है; सः—वह; स्तेनः—चोर; दण्डम्—दण्ड के; अर्हति—योग्य है।

शरीर के पालन के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतने के स्वामित्व का ही अधिकार रखना चाहिए, किन्तु जो इससे अधिक का स्वामी बनने की कामना करता है उसे चोर मानना चाहिए और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डनीय है।

तात्पर्य : ईश्वर की कृपा से हमें कभी कभी काफी मात्रा में अन्न मिल जाता है, अथवा सहसा कहीं से अन्न-दान प्राप्त हो जाता है या व्यापार में अप्रत्याशित लाभ हो जाता है। इस प्रकार हमें आवश्यकता से अधिक धन मिल सकता है। तो फिर उसको किस प्रकार खर्च किया जाये? बैक में बचत बढ़ाने के लिए धन का संग्रह करने की आवश्यकत्ताा चाहिए। *भगवद्गीता* (१६.१३) में ऐसी प्रकृति को आसुरी कहा गया है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

आसुरी लोग सोचते हैं "आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं के अनुसार मैं और अधिक धन प्राप्त कर लूँगा। इस समय मेरे पास इतना है और भविष्य में यह इससे भी अधिक हो जाएगा।" असुर को तो इसी की चिन्ता रहती है कि आज बैक में मेरा कितना धन है और कल यह कैसे बढ़ पाएगा, किन्तु शास्त्रों द्वारा या वर्तमान युग में सरकार द्वारा धन के अनियंत्रित संग्रह की अनुमति नहीं दी जाती है। वास्तव में जिसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक धन हो उसे इस धन को कृष्ण पर खर्च करना चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार इस अतिरिक्त धन को कृष्णभावनामृत आन्दोलन को दे दिया जाना चाहिए, जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२७) में आदेश दिया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी भेंट करो तथा दान में दो और जितनी भी तपस्याएँ करो, उन सबों को मेरी भेंट के रूप में करो।" गृहस्थों को अपना अतिरिक्त धन कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए ही खर्च करना चाहिए।

गृहस्थों को चाहिए कि वे विश्व भर में भगवान् के मन्दिरों के निर्माण तथा *भगवद्गीता* या कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए दान दें। *शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णम् अवतारकथामृतम्।* शास्त्रों में—पुराणों तथा अन्य वैदिक साहित्य में—भगवान् के दिव्य कार्यकलापों का वर्णन करने वाली अनेक कथाएँ हैं जिन्हें हर एक को पुनः पुनः सुनना चाहिए। उदाहरणार्थ, मान लो कि हम प्रतिदिन पूरी *भगवद्गीता* के अठारह: अध्यायों का पाठ करते हैं, तो हमें प्रत्येक बार नयी व्याख्या मिलेगी। दिव्य साहित्य का यही गुण है। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्य को अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी अतिरिक्त आय को कृष्णभावनामृत के प्रसार द्वारा सारे मानव समाज के लाभ हेतु व्यय करे। विशेष रूप से भारत में ऐसे सैकड़ों हजारों मन्दिर हैं जिन्हें समाज के उन धनी लोगों ने बनवाया है, जो न तो चोर कहलाना चाहते थे और न ही दण्डित होना चाहते थे।

यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि बताया गया है, जो आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करता है, वह चोर है और प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होगा। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन जोड़ लेता है, वह अधिकाधिक भौतिक सुविधाओं का भोग करना चाहता है। भौतिकतावादी व्यक्ति अनेक कृत्रिम आवश्यकताएं उत्पन्न करते हैं और उनके प्रलोभन में आकर और अधिक धन संग्रह करने का यत्न करते हैं। आधुनिक आर्थिक विकास की यही विचारधारा है। प्रत्येक व्यक्ति धन कमाने में लगा हुआ है और यह धन बैंक में रखा जाता है। तब बैंक द्वारा यह धन जनता को दिया जाता है। इस प्रकार के चक्र में प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक धन पाने में लगा हुआ है, जिससे मानव जीवन का आदर्श लक्ष्य खोया जा रहा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति चोर है अतएव वह दण्डनीय है। जन्म-मृत्यु के चक्र में प्रकृति के नियमों द्वारा दण्ड मिलता है। कोई भी व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह सन्तुष्ट होकर नहीं मरता, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव मृत्यु के समय मनुष्य अत्यधिक दुखी रहता है, क्योंकि वह अपनी इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाता। तब प्रकृति के नियम के अनुसार उसे दूसरा शरीर मिलता है, जिससे वह अपनी अपूर्ण इच्छाएँ पूरी कर सके। वह दूसरा जन्म लेकर दूसरा शरीर धारण करके स्वेच्छा से जीवन के ताप-त्रय स्वीकार करता है।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।

आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मृग—हिरन; उष्ट्र—ऊँट; खर—गदहा; मर्क—बन्दर; आखु—चूहा; सरीसृप्—साँप; खग—पक्षी; मक्षिकाः—मक्खियाँ; आत्मनः—अपने; पुत्र-वत्—पुत्र के समान; पश्येत्—देखे; तैः—उन पुत्रों से; एषाम्—इन पशुओं का; अन्तरम्—अन्तर; कियत्—कितना कम।

मनुष्य को चाहिए कि हिरन, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, साँप, पक्षी तथा मक्खी जैसे पशुओं के साथ अपने पुत्र के ही समान बर्ताव करे। इन निर्दोष पशुओं तथा पुत्रों के बीच वास्तव में अन्तर ही कितना है?

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को पशुओं तथा अपने घर के अबोध बालकों में कोई अन्तर नहीं दिखता। यहाँ तक कि हमारे सामान्य जीवन में भी पालतू कुत्ते या बिल्ली को बिना किसी ईर्ष्या के बच्चों की तरह माना जाता है। बच्चों की ही तरह बुद्धिहीन पशु भी परमेश्वर के पुत्र हैं अतएव कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, बच्चों तथा बेचारे पशुओं में भेद-भाव नहीं बरतना चाहिए। दुर्भाग्यवश आधुनिक समाज ने विभिन्न योनि के पशुओं को मारने के लिए अनेक साधन ढूँढ़ निकाले हैं। उदाहरणार्थ, खेतों में ऐसे अनेक चूहे, मक्खियाँ तथा अन्य प्राणी होते हैं, जो उपज को हानि पहुँचाते हैं अतएव कभी-कभी उन्हें जीवनासि दवाओं के द्वारा मार दिया जाता है। लेकिन इस श्लोक में इस प्रकार के वध का निषेध किया गया है। प्रत्येक जीव को भगवान् द्वारा प्रदत्त भोजन से पोषित होना चाहिए। मानव समाज को अपने आपको ईश्वर की सम्पत्ति का एकमात्र भोक्ता नहीं समझ लेना चाहिए; प्रत्युत मनुष्य को यह समझना चाहिए कि अन्य पशुओं को भी ईश्वर की सम्पत्ति में अधिकार है। इस श्लोक में साँप का भी उल्लेख है, जिसका अर्थ यह हुआ कि गृहस्थ को सर्प से भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। यदि प्रत्येक प्राणी भगवान् के उपहारस्वरूप अन्न को खाकर संतुष्ट है, तो एक दूसरे जीव में परस्पर ईर्ष्या किस लिए? आधुनिक काल में लोग समाज में साम्यवादी विचारों के प्रति अधिक उन्मुख रहते हैं लेकिन हम यह नहीं समझ पाते कि *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में जो कुछ बताया गया है, उससे बढ़कर कोई अन्य साम्यवादी विचार हो सकता हो? यहाँ तक कि साम्यवादी देशों में भी बेचारे पशुओं का वध बिना विचारे किया जाता है यद्यपि इन पशुओं को भी जीवित रहने के लिए अपना नियत भोजन ग्रहण करने का अधिकार है।

त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि ।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

त्रि-वर्गम्—तीन सिद्धान्त, धर्म, अर्थ तथा काम; न—नहीं; अति-कृच्छ्रेण—कठिन प्रयत्न के द्वारा; भजेत—सम्पन्न करे; गृह-मेधी—गृहस्थ जीवन में ही रुचि रखने वाला व्यक्ति; अपि—यद्यपि; यथा-देशम्—स्थान के अनुसार; यथा-कालम्—समय के अनुसार; यावत्—जो भी; दैव—भगवत्कृपा से; उपपादितम्—प्राप्त।

यदि कोई ब्रह्मचारी, संन्यासी या वानप्रस्थ न होकर मात्र गृहस्थ हो तो भी उसे धर्म, अर्थ या काम के लिए अधिक श्रम नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि गृहस्थ जीवन में भी स्थान तथा काल के अनुसार न्यूनतम प्रयास से जो कुछ भगवत्कृपा से उपलब्ध हो जाये, उसी से अपना जीवन-यापन करते हुए सन्तुष्ट रहना चाहिए। मनुष्य को अपने आपको उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए।

तात्पर्य : मानव जीवन में चार सिद्धान्तों की पूर्ति होनी चाहिए—*धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष*। सर्वप्रथम मनुष्य को विभिन्न विधि-विधानों का पालन करते हुए धार्मिक बनना चाहिए और तब अपने परिवार के पालन हेतु एवं अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए कुछ धन कमाना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार विवाह है क्योंकि सम्भोग या मैथुन भौतिक शरीर की प्रमुख आवश्यकता है। *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्।* मैथुन यद्यपि जीवन की अत्यन्‌ उन्नत आवश्यकता नहीं है, लेकिन भौतिक प्रवृत्तियों के कारण पशु और मनुष्य दोनों में ही कुछ न कुछ इन्द्रियतृप्ति की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को वैवाहिक जीवन से तुष्ट रहना चाहिए और अतिरिक्त इन्द्रियतृप्ति या विषयी जीवन में शक्ति व्यय नहीं करनी चाहिए।

जहाँ तक आर्थिक विकास की बात है, यह उत्तरदायित्व वैश्यों तथा गृहस्थों पर छोड़ देना चाहिए। मानव समाज को वर्णों तथा आश्रमों में विभाजित होना चाहिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। ब्राह्मण गृहस्थों को *अध्ययन, अध्यापन, यजन* तथा *याजन* के जीवन से सन्तुष्ट रहना चाहिए। ब्राह्मण को ये कार्य पारिश्रमिक लिए बिना करने चाहिए किन्तु जिस व्यक्ति को वह मनुष्य बनने की शिक्षा दे उससे वह दान ले सकता है। जहाँ तक क्षत्रियों का सम्बन्ध है, वे पृथ्वी के राजा माने जाते हैं और पृथ्वी का वितरण वैश्यों में कृषि कार्यों, गोरक्षा तथा व्यापार के लिए होना चाहिए। शूद्रों को कार्य करना चाहिए।

कभी-कभी उन्हें वस्त्र निर्माताओं, बुनकरों, लुहारों, सुनारों इत्यादि के वृत्तिपरक कार्यों में लगना चाहिए या फिर अन्न उत्पादन करने के कठिन श्रम में लगना चाहिए।

ये वे विभिन्न वृत्तिपरक कर्तव्य हैं जिन्हें जीविकोपार्जन के लिए मनुष्यों को करना चाहिए और इसी तरह मानव समाज को सीधा-सादा होना चाहिए। किन्तु इस समय प्रत्येक व्यक्ति तकनीकी विकास में लगा हुआ है, जिसे *भगवद्गीता* में *उग्र कर्म* अर्थात् अत्यन्त कठिन प्रयास कहा गया है। यही उग्र कर्म मानव मस्तिष्क के अन्दर क्षोभ का कारण है। मनुष्य नाना पापपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहते हैं और कसाईघर, मदिरालय तथा सिगरेट फैक्टरियाँ खोल कर तथा इन्द्रिय-भोग के लिए रात्रि क्लब एवं अन्य प्रतिष्ठान खोलकर अपने को पतित बनाते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन को बर्बाद कर देते हैं। निस्सन्देह, इन सारे कार्यों में गृहस्थ फँसते हैं, अतएव यहाँ पर *अपि* शब्द के प्रयोग द्वारा यह सलाह दी गई है कि गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपने आप को उग्र कर्म में नहीं लगाना चाहिए। मनुष्य की जीविका के साधन अत्यन्त सरल होने चाहिए। जो गृहस्थ नहीं है अर्थात् ब्राह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी हैं, उन्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता है। इस का अर्थ यह हुआ कि सारी जनसंख्या के तीन चौथाई लोगों के इन्द्रियतृप्ति छोड़कर मात्र कृष्णभावनामृत की प्रगति में लग जाना चाहिए। केवल एक चौथाई जनसंख्या को गृहस्थ होना चाहिए और उसे भी सीमित इन्द्रियतृप्ति के नियमों के अनुसार रहना चाहिए। गृहस्थों, वानप्रस्थों, ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों को कृष्णभावनाभावित बनने में ही सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। इस प्रकार की सभ्यता *दैववर्णाश्रम* कहलाती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का एक उद्देश्य दैववर्णाश्रम की स्थापना करना है, तथाकथित *वर्णाश्रम* को प्रोत्साहित करना नहीं जो मानव समाज द्वारा वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित प्रयासों के अनुसार नहीं होता।

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्य: कामान्संविभजेद्यथा ।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यत: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आ—यहाँ तक कि; **श्व**—कुत्ता; **अघ**—पापपूर्ण पशु या जीव; **अन्ते अवसायिभ्य:**—सबसे नीच चाण्डाल को; **कामान्**—जीवन की आवश्यकताएँ; **संविभजेत्**—विभाजित करे; **यथा**—जितना; **अपि**—भी; **एकाम्**—एक; **आत्मन:**—अपनी; **दाराम्**—स्त्री को; **नृणाम्**—सामान्य लोगों का; **स्वत्व-ग्रह:**—स्त्री को अपना ही समझ कर स्वीकार किया जाता है; **यत:**—जिसके कारण।

कुत्तों, पतित पुरुषों तथा चाण्डाल समेत अछूतों को उनकी समुचित आवश्यकताएँ प्रदान करके उनका पालन करना चाहिए। आवश्यकताएँ गृहस्थों द्वारा पूरी की जानी चाहिए। यहाँ तक कि घर की अपनी उस पत्नी को भी, जिससे मनुष्य घनिष्ठतापूर्वक आसक्त होता है, अतिथियों तथा सामान्य जनों के स्वागत में नियुक्त करना चाहिए।

तात्पर्य : यद्यपि आधुनिक समाज में कुत्ते को घरेलू साज-सामान माना जाता है, लेकिन वैदिक गृहस्थ जीवन पद्धति में कुत्ता अस्पृश्य होता था। जैसाकि यहाँ बताया गया है कुत्ते का पालन उचित भोजन देकर किया जा सकता है, लेकिन उसे घर में घुसने नहीं दिया जाता, शयन कक्ष की बात तो कोसों दूर रही। जाति से निकाले व्यक्ति या अछूत चाण्डालों को भी जीवन की आवश्यताएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में *यथा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है "जितने का पात्र हो।" जाति से निकाले गये लोगों को आवश्यकता से अधिक धन नहीं दिया जाना चाहिए, अन्यथा वे उसका दुरुपयोग करेंगे। उदाहरणार्थ, इस समय निम्न जाति के लोगों को सामान्यत: काफी मजदूरी दी जाती है, लेकिन ऐसे लोग अपने धन को ज्ञान का अनुशीलन करने तथा जीवन में प्रगति करने में उपयोग न करके शराब पीने तथा इसी प्रकार के पापकर्मों में लगाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में कहा गया है— *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:*—लोगों के कार्य तथा गुणों के अनुसार मानव समाज के चार विभाग होने चाहिए। निम्नतम गुणों वाले व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते जिसमें उच्चतर बुद्धि की आवश्यकता हो। यद्यपि मनुष्यों के कर्मों तथा गुणों के अनुसार ऐसा विभाजन होना चाहिए, किन्तु फिर भी यहाँ यह सुझाया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहिए। आजकल के साम्यवादी प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताएँ दिलाने के पक्ष में हैं, किन्तु वे केवल मनुष्यों के बारे में विचार करते हैं, निम्नतर पशुओं पर नहीं। किन्तु भागवत में दिये गये सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि इस में संस्तुति की गई हैं कि प्रत्येक जीव को, चाहे मनुष्य हो या पशु, उनके गुण-दोष पर विचार किये बिना जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जानी चाहिए।

अपनी पत्नी को भी जनता की सेवा के लिए दे देने के पीछे यह भावना होती है कि वह अपनी पत्नी के घनिष्ठ सम्बन्ध को अथवा अत्यधिक आसक्ति को धीरे-धीरे त्याग दे, क्योंकि इस के कारण वह अपनी पत्नी को अपनी अर्धाङ्गिनी या अपने से अभिन्न सोचता है। जैसाकि पहले ही सुझाया गया

है स्वामित्व की भावना को, यहाँ तक कि अपने परिवार के स्वामित्व को भी त्याग देना होगा। भौतिक जीवन का स्वप्न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधने के लिए कारणस्वरूप है, अतएव इस स्वप्न को त्याग देना चाहिए। फलत: मानव जीवन में अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति को त्यागना होगा, जैसाकि यहाँ पर सुझाव दिया गया है।

जह्याद्यदर्थे स्वान्प्राणान्हन्याद्वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद्यस्तेन ह्यजितो जित: ॥ १२॥

शब्दार्थ

जह्यात्—छोड़ दे; यत्-अर्थे—जिसके लिए; स्वान्—अपना; प्राणान्—जीवन को; हन्यात्—मार डाले; वा—अथवा; पितरम्—पिता को; गुरुम्—गुरु या शिक्षक को; तस्याम्—उसमें; स्वत्वम्—अधिकार, स्वामित्व; स्त्रियाम्—पत्नी में; जह्यात्—त्याग दे; य:—जो (भगवान्); तेन—उसके द्वारा; हि—निस्सन्देह; अजित:—जो जीता नहीं जा सकता; जित:—जीता गया।.

मनुष्य अपनी पत्नी को इतनी गम्भीरतापूर्वक अपना मानता है कि वह कभी-कभी उसके लिए स्वयं को या अन्यों को यथा अपने माता-पिता या गुरु अथवा शिक्षक को मार डालता है। अतएव यदि कोई ऐसी पत्नी के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर सकता है, तो वह उन भगवान् को जीत लेता है, जो अजेय हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक पति अपनी पत्नी पर अत्यधिक आसक्त रहता है; अतएव अपनी पत्नी से सम्बन्ध तोड़ पाना अतीव कठिन होता है, किन्तु यदि कोई किसी भी प्रकार से उसे त्याग कर भगवान् की सेवा कर सकता है, तो किसी के द्वारा भी न जीते जा सकने वाले भगवान् उस भक्त के वश में आ जाते हैं। यदि भगवान् भक्त पर प्रसन्न हो जाँय तो फिर कौन सी वस्तु दुर्लभ है? तो फिर मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों से स्नेह तोड़कर भगवान् की शरण क्यों नहीं लेनी चाहिए? इसमें कौन सी भौतिक क्षति है? गृहस्थ जीवन का अर्थ है अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति जब कि संन्यास का अर्थ है अपनी पत्नी से विरक्ति तथा कृष्ण से आसक्ति।

कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् ।
क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदि: ॥ १३॥

शब्दार्थ

कृमि—कीड़े-मकोड़े; विट्—विष्ठा, मल; भस्म—राख; निष्ठ—आसक्ति; अन्तम्—अन्त में; क्व—क्या है; इदम्—यह (शरीर); तुच्छम्—अत्यन्त नगण्य; कलेवरम्—भौतिक शरीर; क्व—क्या है; तदीय-रतिः—उस शरीर के प्रति आकर्षण; भार्या—पत्नी; क्व अयम्—इस शरीर का क्या लाभ; आत्मा—परमात्मा; नभः-छदिः—आकाश के समान सर्वव्यापी।

समुचित विचार-विमर्श करके मनुष्य को अपनी पत्नी के शरीर के प्रति आकर्षण त्याग देना चाहिए, क्योंकि यह शरीर अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। तो भला इस तुच्छ शरीर का क्या महत्त्व है? परम पुरुष कितना महान् है, जो आकाश के समान सर्वव्यापी है?

तात्पर्य : यहाँ पर भी इसी बात पर बल दिया है कि मनुष्य अपनी पत्नी के प्रति या विषयी जीवन के प्रति आसक्ति त्याग दे। यदि मनुष्य बुद्धिमान हुआ तो वह अपनी पत्नी के शरीर को पदार्थ का एक पिंड मान सकता है, जो अन्ततोगत्वा छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों, मल या राख में परिणत हो जाएगा। विभिन्न समाजों में अन्त्येष्टि क्रिया के समय मनुष्य के शरीर से तरह-तरह से बर्ताव किया जाता है। कुछ समाजों में गिद्धों द्वारा शरीर को खा लेने दिया जाता है, जिससे मनुष्य-शरीर गिद्ध की विष्ठा बन जाता है। कभी-कभी शरीर को ऐसे ही फेंक दिया जाता है, तब उसे छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े खा जाते हैं। किसी-किसी समाज में मृत्यु के बाद शरीर को तुरन्त जला दिया जाता है, जिससे वह भस्म हो जाता है। प्रत्येक दशा में यदि बुद्धिमानी के साथ शरीर की संरचना और इस के परे आत्मा के बारे में सोचा जाये तो शरीर का क्या महत्त्व है? *अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:*—शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है किन्तु आत्मा तो नित्य है। यदि मनुष्य अपने शरीर के प्रति आसक्ति त्यागकर आत्मा के प्रति आसक्ति बढ़ाए तो उसका जीवन सफल हो जाए। यह सोचने-विचारने मात्र का विषय है।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः ।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सिद्धैः—भगवान् की दया से प्राप्त वस्तुएँ; यज्ञा-अवशिष्ट-अर्थैः—पञ्च महायज्ञ सम्पन्न करने के बाद या भगवान् को यज्ञ अर्पित करने के बाद प्राप्त वस्तुएँ; कल्पयेत्—विचार करे; वृत्तिम्—जीविका का साधन; आत्मनः—अपने लिए; शेषे—अन्त में; स्वत्वम्—अपनी पत्नी, बच्चों, घर, व्यापार इत्यादि का तथाकथित स्वामित्व; त्यजन्—त्यागते हुए; प्राज्ञः—बुद्धिमान लोग; पदवीम्—पद; महताम्—आध्यात्मिक चेतना में पूर्णतया सन्तुष्ट महापुरुषों का; इयात्—प्राप्त करना चाहिए।

बुद्धिमान व्यक्ति को प्रसाद खाकर या पाँच विभिन्न प्रकार के यज्ञ सम्पन्न करके तुष्ट रहना चाहिए। ऐसे कार्यों से मनुष्य शरीर तथा शरीर के तथाकथित स्वामित्व के प्रति अपनी अनुरक्ति

को त्याग सकता है। जब वह ऐसा करने में समर्थ होता है, तो वह महात्मा के पद पर दृढ़ स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : प्रकृति ने पहले से हमें भोजन देने की व्यवस्था कर रखी है। भगवान् के आदेश से चौरासी लाख योनियों में प्रत्येक जीव के लिए खाने की वस्तुओं की व्यवस्था है। *एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* प्रत्येक जीव को कुछ न कुछ खाना पड़ता है और वास्तव में, भगवान् ने पहले से उसके जीवन की आवश्यकता के लिए व्यवस्था कर रखी है। भगवान् ने हाथी और चींटी दोनों ही के लिए भोजन बनाया है। सारे जीव भगवान् के भरोसे जीवित हैं, अतएव बुद्धिमान मनुष्य को भौतिक सुविधाओं के लिए कठिन श्रम नहीं करना चाहिए। प्रत्युत उसे कृष्णभावनामृत में अग्रेसर होने के लिए अपनी शक्ति बचानी चाहिए। आकाश, वायु, स्थल तथा समुद्र में उत्पन्न की गई सारी वस्तुएँ भगवान् की हैं और हर जीव को भोजन दिया जाता है। अतएव मनुष्य को आर्थिक विकास के विषय में अधिक उत्सुक नहीं रहना चाहिए और न ही जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरने के खतरे के लिए व्यर्थ ही समय तथा शक्ति का अपव्यय करना चाहिए।

देवानृषीन्नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम् ।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

देवान्—देवताओं को; ऋषीन्—ऋषियों को; नृ—मानव समाज को; भूतानि—जीवों को; पितृन्—पुरखों को; आत्मानम्—अपने को या परमात्मा को; अन्वहम्—नित्यप्रति; स्व-वृत्त्या—अपनी जीविका के साधन से; आगत-वित्तेन—स्वतः आने वाले धन से; यजेत—पूजा करे; पुरुषम्—प्रत्येक के हृदय स्थित व्यक्ति को; पृथक्—अलग से।.

मनुष्य को चाहिए कि प्रतिदिन वह उन परम पुरुष की पूजा करे जो हर एक के हृदय में स्थित हैं और इसी आधार पर उसे देवताओं, साधु पुरुषों, सामान्य मनुष्यों तथा जीवों, अपने पुरखों तथा स्वयं की अलग-अलग पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित परम पुरुष की पूजा कर सकता है।

यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः ।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; आत्मनः—अपना; अधिकार-आद्याः—पूर्ण अधिकार के अन्तर्गत उसके पास की वस्तुएँ; सर्वाः—सारी; स्युः—हो जाता है; यज्ञ-सम्पदः—यज्ञ सम्पन्न करने की सामग्री या भगवान् को प्रसन्न करने के साधन; वैतानिकेन—यज्ञ करने को बताने वाली प्रामाणिक पुस्तकों से; विधिना—विधानों के अनुसार; अग्नि-होत्र-आदिना—अग्नि में यज्ञ करने से.; यजेत्—भगवान् की पूजा करे।.

जब कोई व्यक्ति सम्पत्ति तथा ज्ञान से समृद्ध हो, जो उसके पूर्ण नियंत्रण में हों और जिनसे वह यज्ञ सम्पन्न कर सके या भगवान् को प्रसन्न कर सके तो उसे शास्त्रों के निर्देशानुसार अग्नि में आहुतियाँ डालकर यज्ञ करना चाहिए। इस तरह उसे भगवान् की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : यदि गृहस्थ वैदिक ज्ञान में पटु हो और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए पूजा करने हेतु काफी धनवान हो गया हो तो उसे चाहिए कि वह प्रामाणिक शास्त्रों के आदेशानुसार यज्ञ सम्पन्न करे। *भगवद्गीता* (३.९) में स्पष्ट कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—प्रत्येक व्यक्ति को अपना वृत्तिपरक कर्म करना चाहिए, किन्तु इन कर्मों के फल को यज्ञ को अर्पित कर देना चाहिए जिससे भगवान् प्रसन्न हों। यदि कोई इतना भाग्यवान् हो कि दिव्य ज्ञान के साथ-साथ उसके पास धन भी हो जिससे यज्ञ सम्पन्न किया जा सके तो उसे शास्त्रों के आदेशों के अनुसार यज्ञ करने चाहिए। *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद् हरिकीर्तनात्॥

सारी वैदिक सभ्यता का लक्ष्य भगवान् को प्रसन्न करना है। सत्ययुग में ऐसा अपने हृदय में भगवान् का तथा त्रेता युग में बहुमूल्य यज्ञ संपन्न करके ध्यान करके किया जाता था। वही लक्ष्य द्वापर युग में मन्दिर में भगवान् की पूजा करके प्राप्त किया जा सकता था और इस कलियुग में *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा उसी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अतएव जिसके पास विद्या तथा सम्पत्ति दोनों हों उसे चाहिए कि इनका उपयोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए और धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है। पहले से चल रहे संकीर्तन आन्दोलन हरे कृष्ण आन्दोलन अथवा कृष्णभावनामृत आन्दोलन की सहायता करके करे। सारे शिक्षित तथा सम्पत्तिवान् व्यक्तियों को इस आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए, क्योंकि सारी विद्या तथा धन भगवान् की सेवा के निमित्त हैं। यदि इन्हें भगवान् की सेवा में नहीं लगाया जाता तो इन बहुमूल्य निधियों को माया की सेवा में लगाना पड़ेगा। इस समय तथाकथित विज्ञानियों, दार्शनिकों तथा कवियों की विद्या माया की सेवा में लगी हुई है और

धनी लोगों का धन भी माया की सेवा में लगा हुआ है लेकिन माया की सेवा से विश्व में अराजक स्थिति उत्पन्न होती है। अतएव धनवान व्यक्ति को तथा शिक्षित व्यक्ति को अपने ज्ञान तथा ऐश्वर्य का त्याग भगवान् को सन्तुष्ट करने में कर देना चाहिए और *सङ्कीर्तन* आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए (*यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः*)।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान्सर्वयज्ञभुक् ।
इज्येत हविषा राजन्यथा विप्रमुखे हुतैः ॥ १७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अग्नि—आग; मुखतः—मुख से, ज्वाला से; अयम्—यह; वै—निश्चय ही; भगवान्—भगवान् श्रीकृष्ण; सर्व-यज्ञ-भुक्—सभी प्रकार के यज्ञों के फलों का भोक्ता; इज्येत—पूजा जाता है; हविषा—घी की आहुति से; राजन्—हे राजा; यथा—जिस प्रकार; विप्र-मुखे—ब्राह्मण के मुँह से होकर; हुतैः—उत्तम भोजन की भेंट करके।

भगवान् श्री कृष्ण सारी यज्ञ-आहुतियों के भोक्ता हैं। यद्यपि वे अग्नि में डाली गई आहुतियाँ खाते हैं फिर भी हे राजा, जब उन्हें अन्न तथा घी से बना व्यंजन योग्य ब्राह्मणों के मुख से होकर अर्पित किया जाता है, तो वे और भी प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—सभी कर्म यज्ञ के लिए किये जाने चाहिए और यज्ञ कृष्ण को तुष्ट करने के निमित्त होना चाहिए। *भगवद्गीता* में अन्यत्र (५.२९) भी कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*—वे परमेश्वर हैं और प्रत्येक वस्तु के भोक्ता हैं। यद्यपि यज्ञ कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है, किन्तु जब अन्न तथा घी को अग्नि में न डालकर प्रसाद के रूप में सर्वप्रथम ब्राह्मणों को और बाद में अन्यों को वितरित किया जाता है, तो वे अधिक प्रसन्न होते हैं। इस विधि से कृष्ण अन्य किसी विधि की तुलना में अधिक प्रसन्न होते हैं। वर्तमान काल में तो अग्नि तथा घी की आहुति डाल कर यज्ञ करने की बहुत कम सम्भावना रह गई है। विशेष रूप से भारत में तो घी न होने के बराबर है। प्रत्येक वस्तु जो घी से तैयार होनी चाहिए अब एक प्रकार के तेल से बनाई जाती है। किन्तु यज्ञ अग्नि में तेल डालने की संस्तुति कमी नहीं की जाती है। कलियुग में अन्न तथा घी की उपलब्ध मात्रा धीरे-धीरे घट रही है और लोग चिन्तित हैं कि वे इनकी प्रचुर मात्रा उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में शास्त्रों का आदेश है—*यज्ञैः संङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* इस युग में बुद्धिमान लोग संकीर्तन आन्दोलन द्वारा यज्ञ सम्पन्न करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि संकीर्तन आन्दोलन में सम्मिलित हो

और अपने ज्ञान तथा धन की आहुति इस आन्दोलन की अग्नि में डाले। हम अपने *सङ्कीर्तन* आन्दोलन या हरे कृष्ण आन्दोलन में अर्चाविग्रह पर भव्य प्रसाद चढ़ाते हैं और बाद में उस प्रसाद को ब्राह्मणों, वैष्णवों एवं सामान्य लोगों में वितरित करते हैं। कृष्ण का प्रसाद ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दिया जाता है और ब्राह्मणों एवं वैष्णवों का प्रसाद जनता को। इस प्रकार का यज्ञ जिसमें हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन किया जाता है और प्रसाद वितरण होता है, या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ की सर्वाधिक पूर्ण तथा प्रामाणिक विधि है।

तस्माद्ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः ।
तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥ १८॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; ब्राह्मण-देवेषु—ब्राह्मणों तथा देवताओं के माध्यम से; मर्त्य-आदिषु—सामान्य मनुष्यों तथा अन्य जीवों के माध्यम से; यथा-अर्हतः—अपनी सामर्थ्य के अनुसार; तैः तैः—उन सभी; कामैः—भोग की विविध वस्तुओं से, यथाभव्य भोजन, पुष्पों की माला, चन्दन आदि से.; यजस्व—पूजा करे; एनम्—इस; क्षेत्र-ज्ञम्—सभी प्राणियों के हृदय में वास करने वाले परमेश्वर को; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; अनु—बाद में।.

अतएव हे राजा, सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा देवताओं को प्रसाद प्रदान करो और जब वे भलीभाँति खा चुकें तो तुम अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य जीवों को प्रसाद बाँटो। इस प्रकार तुम सारे जीवों की अर्थात् प्रत्येक जीव के भीतर के परम पुरुष की पूजा कर सकोगे।

तात्पर्य : समस्त जीवों को प्रसाद बांटने की विधी यह है कि सर्वप्रथम ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को प्रसाद दिया जाता है, क्योंकि देवताओं का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करते हैं। इस प्रकार सबों के हृदय में स्थित भगवान् की पूजा हो जाएगी। प्रसाद अर्पित करने की यह वैदिक विधि है। जब भी प्रसाद-वितरण उत्सव मनाया जाता है, तो सर्वप्रथम ब्राह्मणों को प्रसाद दिया जाता है, फिर बच्चों और वृद्धों को; तब स्त्रियों को और अन्त में कुत्तों तथा अन्य घरेलू पशुओं को दिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि परम पुरुष नारायण हर एक के हृदय में स्थित हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति नारायण बन चुका है या कोई निर्धन व्यक्ति नारायण बन गया है। यहाँ ऐसे निष्कर्ष को अस्वीकार किया गया है।

कुर्यादपरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः ।

श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कुर्यात्—करना चाहिए; अपर-पक्षीयम्—कृष्ण पक्ष में; मासि—आश्विन (अक्टूबर-नवम्बर) महीने में; प्रौष्ठ-पदे—भाद्र (अगस्त-सितम्बर) माह में; द्विजः—दो बार उत्पन्न; श्राद्धम्—आहुतियाँ; पित्रोः—पितरों के लिए; यथा-वित्तम्—अपनी आय के अनुसार; तत्-बन्धूनाम् च—तथा पूर्वजों के सम्बन्धियों को भी; वित्त-वान्—जो पर्याप्त धनी है।

काफी धनवान ब्राह्मण को भाद्र मास के कृष्ण पक्ष में पितरों को आहुति देनी चाहिए। इसी प्रकार पूर्वजों के सम्बन्धियों को आश्विन मास में महालया पर्व* के अवसर पर आहुति देनी चाहिए।

अयने विषुवे कुर्याद्व्यतीपाते दिनक्षये ।
चन्द्रादित्योपरागे च द्वादश्यां श्रवणेषु च ॥ २० ॥
तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके ।
चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥ २१ ॥
माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे ।
राकया चानुमत्या च मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥ २२ ॥
द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः ।
तिसृष्वेकादशी वासु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अयने—मकर संक्राति के दिन, जब सूर्य उत्तरायण दिशा में जाने लगता है तथा कार्तिक संक्रान्ति के दिन जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है; विषुवे—मेष संक्रान्ति तथा तुला संक्रान्ति पर; कुर्यात्—करे; व्यतीपाते—व्यतीपात योग में; दिन-क्षये—उस दिन जब तीनों तिथियाँ मिलती हैं; चन्द्र-आदित्य-उपरागे—सूर्य अथवा चन्द्र ग्रहण के समय; च—तथा; द्वादश्याम् श्रवणेषु—श्रावण नक्षत्र में तथा द्वादशी के दिन; च—तथा; तृतीयायाम्—अक्षय तृतीया के दिन; शुक्ल-पक्षे—शुक्ल पक्ष में; नवम्याम्—नवमी के दिन; अथ—भी; कार्तिके—कार्तिक (अक्टूबर, नवम्बर) मास में; चतसृषु—चतुर्थी को; अपि—भी; अष्टकासु—अष्टका के दिन; हेमन्ते—शीत ऋतु के पूर्व; शिशिरे—शीत ऋतु में; तथा—भी और; माघे—माघ (जनवरी फरवरी) मास में; च—तथा; सित-सप्तम्याम्—शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन; मघा-राका-समागमे—मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के संयोग के समय; राकया—पूर्ण चन्द्रमा के दिन; च—तथा; अनुमत्या—शुक्ल पक्ष में पूर्ण चन्द्रमा से थोड़ा पहले; च—तथा; मास-ऋक्षाणि—नक्षत्र जो विभिन्न नामों के स्रोत हैं; युतानि—परस्पर मिल जाते हैं; अपि—भी; द्वादश्याम्—द्वादशी के दिन; अनुराधा—अनुराधा नक्षत्र; स्यात्—हो सकता है; श्रवणः—श्रावण नक्षत्र; तिस्रः—तीन (नक्षत्र); उत्तराः—उत्तरा नामक नक्षत्र (उत्तर-फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तर-भाद्रपद); तिसृषु—तीनों पर; एकादशी—एकादशी; वा—अथवा; आसु—इन पर; जन्म-ऋक्ष—अपने जन्म नक्षत्र का; श्रोण—श्रवण नक्षत्र के; योग—संयोग से; युक्—युक्त।

Footnote Starts Here:

***महालया पर्व आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को मनाया जाता है और वैदिक चान्द्र वर्ष के अन्तिम दिन का सूचक है।**

Footnote Ends Here.

मनुष्य को चाहिए कि मकर संक्रान्ति (जब सूर्य उत्तरायण की ओर जाने लगता है) के दिन या कर्कट संक्रान्ति (जब सूर्य दक्षिणायन की ओर जाने लगता है) के दिन श्राद्धकर्म करे; वह इस श्राद्धकर्म को मेष संक्रान्ति के दिन तथा तुला संक्रान्ति के दिन, जब तीनों चन्द्र तिथियाँ एकसाथ मिलती हैं, व्यतीपात नामक योग में, चन्द्र या सूर्यग्रहण के समय द्वादशी के दिन तथा श्रवण नक्षत्र में करे। मनुष्य को चाहिए कि अक्षय तृतीया को, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को, शीतऋतु में चारों अष्टकाओं के दिन, माघ मास की शुक्ला सप्तमी के दिन, मघा नक्षत्र तथा पूर्णिमा के योग के समय तथा जब चन्द्रमा पूर्ण हो या लगभग पूर्ण हो, उन दिनों में जब ये दिन उन नक्षत्रों के साथ योग करें जिनसे महीनों के नाम प्राप्त हुए हैं श्राद्धकर्म करे। श्राद्धकर्म द्वादशी को भी किया जाये जब वह अनुराधा, श्रवण, उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा या उत्तर भाद्रपद नामक नक्षत्रों में से किसी के साथ योग करे। यही नहीं, एकादशी को भी श्राद्ध किया जाये जब यह उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा या उत्तर भाद्रपद के योग में हो। अन्त में, मनुष्य को चाहिए अपने जन्म नक्षत्र या श्रवण नक्षत्र के योग वाले दिनों में श्राद्धकर्म करे।

तात्पर्य : *अयन* शब्द का अर्थ है ''पथ'' या ''गमन''। वे छ: मास जिनमें सूर्य उत्तर की ओर जाता है *उत्तरायण* अर्थात् उत्तरी पथ कहलाते हैं और वे छह मास जब सूर्य दक्षिण की ओर जाता है *दक्षिणायन* या दक्षिणी पथ कहलाते हैं। इनका उल्लेख *भगवद्गीता* (८.२४-२५) में हुआ है। जिस दिन सूर्य उत्तर की ओर जाना प्रारम्भ करता है और मकर राशि में प्रवेश करता है, वह मकर संक्रान्ति कहलाता है। जिस दिन सूर्य दक्षिण की यात्रा प्रारम्भ करके कर्क राशि में प्रवेश करता है, वह कर्कट-संक्रान्ति कहलाता है। वर्ष के इन दोनों दिनों में श्राद्ध पर्व मनाया जाना चाहिए।

विषुव या विषुव संक्रान्ति का अर्थ है मेष संक्रान्ति—वह दिन जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। तुला संक्रान्ति के दिन सूर्य तुला राशि में प्रवेश करता है। ये दोनों दिन वर्ष में एक बार पड़ते हैं। योग शब्द सूर्य तथा चन्द्र के विशेष सम्बन्ध का सूचक है जब वे आकाश में घूमते हैं। योग की सत्ताइस विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से सत्रहवीं व्यतीपात है। जिस दिन यह पड़े उस दिन श्राद्ध कर्म करना चाहिए। तिथि या चान्द्र दिवस सूर्य तथा चन्द्रमा के देशान्तरों की दूरी है। कभी-कभी तिथि चौबीस घण्टे से कम होती है। जब कोई तिथि सूर्योदय के बाद शुरू होती है और अगले दिन के

सूर्योदय के पहले अन्त होती है, तो पिछली तिथि तथा अगली तिथि सूर्योदयों के मध्य चौबीस घण्टों के दिन का स्पर्श करती है। यह *त्र्यहस्पर्श* कहलाता है अर्थात् तीन तिथियों के थोड़े-थोड़े अंश द्वारा स्पर्श हुआ दिन।

श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक शास्त्रों से उद्धरण दिये हैं जिनमें कहा गया है कि पितरों को एकादशी तिथि को श्राद्ध की आहुतियाँ नहीं दी जानी चाहिए। जब मृत्यु तिथि एकादशी को पड़े तो श्राद्ध कर्म एकादशी के दिन नहीं, अपितु अगले दिन द्वादशी को करना चाहिए। *ब्रह्मवैवर्त पुराण* में कहा गया है—

ये कुर्वन्ति महीपाल श्राद्धं चैकादशीदिने।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दाता भोक्ता च प्रेरक:॥

यदि कोई अपने पुरखों की श्राद्ध की आहुतियाँ एकादशी तिथि को देता है, तो श्राद्धकर्ता एवं वे पुरखे जिनके लिए श्राद्ध किया जाता है तथा पुरोहित तीनों नरकगामी होते हैं।

त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः ।
कुर्यात्सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते—इसलिए; एते—ये सब (ज्योतिष सम्बन्धी गणनाएँ); श्रेयसः—कल्याण के; कालाः—समय; नृणाम्—मनुष्यों का; श्रेयः—कल्याण; विवर्धनाः—बढ़ाते हैं; कुर्यात्—करे; सर्व-आत्मना—अन्य कार्यों से (केवल श्राद्ध कर्म ही नहीं); एतेषु—इन (ऋतुओं) में; श्रेयः—कल्याण (करने वाले); अमोघम्—तथा सफलता; तत्—मनुष्य की; आयुषः—आयु का।

ऋतुओं के सारे अवसर मानवता के लिए अत्यन्त शुभ माने जाते हैं। ऐसे अवसरों पर सारे कल्याण (शुभ) कार्य किये जाने चाहिए, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अपने छोटे से जीवनकाल में सफलता प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जब किसी को प्राकृतिक विकास के द्वारा मनुष्य रूप प्राप्त होता है, तो उसे अगली प्रगति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना चाहिए। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे उनके लोकों को जाते हैं। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—और यदि कोई भगवान् की भक्ति करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जाता है। अतएव मनुष्य जीवन में उसे कल्याणकार्य करने होते हैं जिससे वह भगवद्धाम लौट सके। किन्तु भक्ति

भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं है। *अहैतुक्यप्रतिहता।* जो लोग सकाम कर्म में लगे हैं उनके लिए उपर्युक्त काल तथा वस्तुएँ अत्यन्त अनुकूल हैं।

एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम् ।
पितृदेवनृभूतेभ्यो यद्दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

एषु—इन सारी (ऋतुओं) में; स्नानम्—गंगा, यमुना में स्नान या किसी अन्य पुण्य स्थल में स्नान; जपः—कीर्तन; होमः—अग्नि यज्ञ; व्रतम्—व्रत रखना; देव—भगवान्; द्विज-अर्चनम्—ब्राह्मणों या वैष्णवों की पूजा करना; पितृ—पितर; देव—देवता; नृ—मनुष्य; भूतेभ्यः—तथा अन्य सारे जीवों को; यत्—जो भी; दत्तम्—प्रदान किया हुआ; तत्—वह; हि—निस्सन्देह; अनश्वरम्—स्थायी रूप से लाभप्रद।

ऋतु-परिवर्तन के इन अवसरों पर यदि कोई गंगा या यमुना में या किसी तीर्थस्थान में स्नान करता है, यदि कोई कीर्तन करता है, अग्नि यज्ञ करता है, व्रत रखता है या यदि कोई भगवान् की, ब्राह्मणों की, पितरों की, देवताओं की तथा सामान्य जीवों की पूजा करता है या जो कुछ दान देता है, तो उसका स्थायी लाभप्रद फल मिलता है।

संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा ।
प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥ २६॥

शब्दार्थ

संस्कार-कालः—वैदिक संस्कारों को संम्पन्न करने के लिए बताये गये उचित समय पर; जायायाः—पत्नी के लिए; अपत्यस्य—सन्तानों के लिए; आत्मनः—तथा अपने लिए; तथा—और; प्रेत-संस्था—दाह संस्कार; मृत-अहः—बरसी या वार्षिक श्राद्ध दिन; च—तथा; कर्मणि—सकाम कर्म का; अभ्युदये—बढ़ोत्तरी के लिए; नृप—हे राजा।

हे राजा युधिष्ठिर, अपने, अपनी पत्नी या अपनी सन्तान के संस्कार अनुष्ठानों के लिए नियत समय पर या अन्त्येष्टि संस्कार तथा बरसी के अवसर पर मनुष्य को सकाम कर्मों में आगे बढ़ने के लिए उपर्युक्त शुभ उत्सव सम्पन्न करने चाहिए।

तात्पर्य : वेदों में अपनी पत्नी के साथ, सन्तान के जन्म दिनों पर, या दाह-संस्कार के अवसर पर अनेक अनुष्ठानों के सम्पन्न करने का और गुरुदीक्षा जैसे निजी संस्कार करने की संस्तुति की गई है। इन्हें काल तथा परिस्थिति एवं शास्त्रों के आदेशानुसार मनाना चाहिए। *भगवद्गीता* की सबल संस्तुति है—*ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम्*—शास्त्रों में जैसा सूचित हो उसी के अनुसार हर काम किया जाये। किन्तु कलियुग के लिए शास्त्रों का आदेश है कि सदैव संकीर्तन यज्ञ सम्पन्न किया जाये—*कीर्तनीयः सदा*

हरिः । शास्त्रों में संस्तुत सारे अनुष्ठानों के पहले और बाद में संकीर्तन होना चाहिए। श्रील जीवगोस्वामी की यही संस्तुति है।

अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान् ।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥ २७॥
बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।
यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; देशान्—स्थानों का; प्रवक्ष्यामि—वर्णन करूँगा; धर्म-आदि—धार्मिक कृत्य आदि.; श्रेय—कल्याण; आवहान्—जो ला सकता है; सः—वह; वै—निस्सन्देह; पुण्य-तमः—सर्वाधिक पवित्र; देशः—स्थान; सत्-पात्रम्—वैष्णव; यत्र—जहाँ; लभ्यते—उपलब्ध होता है; बिम्बम्—अर्चाविग्रह (मन्दिर में); भगवतः—भगवान् का (जो आश्रय हैं); यत्र—जहाँ; सर्वम् एतत्—इस समग्र विराट जगत का; चर-अचरम्—सारे जड़ तथा चेतन प्राणियों सहित; यत्र—जहाँ; ह—निस्सन्देह; ब्राह्मण-कुलम्—ब्राह्मणों की संगति; तपः—तपस्या; विद्या—शिक्षा; दया—कृपा; अन्वितम्—से युक्त।

नारद मुनि ने आगे कहा : अब मैं उन स्थानों का वर्णन करूँगा जहाँ धार्मिक अनुष्ठान अच्छी तरह सम्पन्न किये जा सकते हैं। जिस किसी स्थान में वैष्णव हो वह स्थान समस्त कल्याणकारी कृत्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् समस्त चर तथा अचर प्राणियों समेत इस समग्र विराट जगत के आश्रय हैं और वह मन्दिर जहाँ भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित किया जाता है सर्वाधिक पवित्र स्थान होता है। यही नहीं, जिन स्थानों में विद्वान ब्राह्मण तपस्या, विद्या तथा दया के द्वारा वैदिक नियमों का पालन करते हैं, वे भी अत्यन्त शुभ तथा पवित्र होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सूचित किया गया है कि जिस मन्दिर में भगवान् कृष्ण की पूजा होती है और जहाँ वैष्णवजन भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं वह किसी भी धार्मिक अनुष्ठान को सम्पन्न करने का सर्वोत्तम पवित्र स्थल है। इस समय विशेष रूप से बड़े-बड़े नगरों में लोग छोटे-छोटे कक्षों में रहते हैं और अर्चाविग्रह या मन्दिर स्थापित करने में समर्थ नहीं होते। अतएव ऐसी परिस्थितियों में बढ़ते हुए इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन द्वारा स्थापित किये जा रहे केन्द्र तथा मन्दिर धार्मिक उत्सवों को सम्पन्न करने के लिए सर्वाधिक पवित्र स्थान हैं। यद्यपि सामान्य लोग धार्मिक उत्सवों या अर्चाविग्रह पूजा में रुचि नहीं रखते, तथापि कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करता है।

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्र यत्र—जहाँ कहीं; हरेः—भगवान् कृष्ण की; अर्चा—अर्चाविग्रह पूजा जाता है; सः—वह; देशः—स्थान, देश या पड़ोस; श्रेयसाम्—समस्त कल्याण का; पदम्—स्थान; यत्र—जहाँ; गङ्गा-आदयः—गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी जैसी; नद्यः—पवित्र नदियाँ; पुराणेषु—पुराणों में; च—भी; विश्रुताः—प्रसिद्ध हैं।

निस्सन्देह, वे स्थान कल्याणकारी हैं जहाँ भगवान् कृष्ण का मन्दिर हो जिसमें उनकी विधिवत् पूजा होती हो। वे स्थान भी कल्याणकारी हैं जहाँ पुराणों जैसे अनुपूरक वैदिक शास्त्रों में उल्लिखित गंगा सदृश प्रसिद्ध पवित्र नदियाँ बहती हैं। निश्चय ही वहाँ जो भी आध्यात्मिक कार्य किया जाता है, वह अत्यन्त प्रभावशाली होता है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक नास्तिक हैं, जो मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह के पूजन का विरोध करते हैं। किन्तु इस श्लोक में यह प्रमाण सहित कहा गया है कि जिस किसी स्थान में अर्चाविग्रह पूजा जाता है, वह दिव्य है; उसका सम्बन्ध इस भौतिक जगत से नहीं रह जाता। यह भी कहा गया है कि जंगल सतोगुणी होता है, अतएव जो लोग आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करना चाहते हैं, उन्हें जंगल चले जाना चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*) लेकिन मनुष्य को बन्दर की भाँति जंगल में रहने मात्र के लिए नहीं जाना चाहिए। बन्दर तथा अन्य हिंस्र पशु भी जंगल में रहते हैं, किन्तु जो मनुष्य आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाता है उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए (*वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत*)।

मनुष्य को केवल जंगल जाने से संतुष्ट नहीं होना है; उसे भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी होती है। इसीलिए इस युग में चूँकि आध्यात्मिक संस्कृति के लिए जंगल जाना असम्भव है, अतएव मनुष्य को यह संस्तुति की जाती है कि वह मन्दिर-समुदाय में भक्त के रूप में रहे, अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करे, विधि-विधानों का पालन करे तथा उस स्थान को वैकुण्ठ की भांति बना दे। जंगल सतोगुणी, शहर तथा ग्राम रजोगुणी एवं वेश्यालय, होटल तथा रेस्तरां तमोगुणी हो सकते हैं, किन्तु जब कोई मन्दिर-समुदाय में रहता है, तो वह वैकुण्ठ में रहता है। अतएव यहाँ *श्रेयसां पदम्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि यह श्रेष्ठ, सर्वाधिक शुभ स्थान है।

हम सारे विश्व में कई स्थानों पर मन्दिर-समुदायों का निर्माण करा रहे हैं जिससे भक्तों को आश्रय प्राप्त हो और वे मन्दिर में अर्चाविग्रह का पूजन कर सकें। अर्चाविग्रह का पूजन भक्तों के अतिरिक्त

अन्य कोई नहीं कर सकता। ऐसे मन्दिर–पूजक (पुजारी) जो भक्तों को महत्त्व नहीं दे पाते निम्न श्रेणी के होते हैं। वे *कनिष्ठ अधिकारी* हैं। *श्रीमद्भागवत* (११.२.४७) में कहा गया है :

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

''जो व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह के पूजन में अत्यन्त श्रद्धापूर्वक लगा रहता है किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों के प्रति व्यवहार करना नहीं जानता वह *प्राकृत भक्त* या *कनिष्ठ अधिकारी* कहलाता है।'' अतएव मन्दिर में भगवान् का अर्चाविग्रह होना चाहिए और भक्तों को भगवान् की पूजा करनी चाहिए। भक्तों एवं अर्चाविग्रह का यह मेल उच्चकोटि का दिव्य स्थान उत्पन्न करता है।

इसके अतिरिक्त यदि गृहस्थ भक्त अपने घर में *शालग्राम शिला* पूजता है, तो उसका घर भी महान् स्थल बन जाता है। अतएव तीनों उच्च वर्णों के लोग—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—*शालग्राम शिला* या राधाकृष्ण अथवा सीताराम के लघु अर्चाविग्रहों की पूजा अपने–अपने घरों में करते थे। इससे प्रत्येक वस्तु कल्याणकारी बन जाती थी। किन्तु अब उन्होंने अर्चाविग्रह पूजा बन्द कर दी है। लोग आधुनिक बन चुके हैं जिससे वे सभी तरह से पापपूर्ण कृत्यों में अपने को लगाते हैं, अतएव वे अत्यधिक दुखी हैं।

इसलिए वैदिक सभ्यता के अनुसार तीर्थस्थलों को अत्यन्त पवित्र माना जाता है और आज भी सैकड़ों–हजारों तीर्थस्थान हैं—यथा जगन्नाथपुरी, वृन्दावन, हरद्वार, रामेश्वर, प्रयाग तथा मथुरा। भारत तो पूजा करने या आध्यात्मिक जीवन का अनुशीलन करने का स्थान है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन संसार भर के प्रत्येक व्यक्ति को जातिपाँति का भेदभाव किये बिना अपने केन्द्रों में आने और आध्यात्मिक जीवन का पूर्णतया अनुशीलन करने के लिए आमंत्रित करता है।

सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।
कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ।
नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ॥ ३०॥
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ।
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ॥ ३१॥
सर्वे कुलाचला राजन्महेन्द्रमलयादयः ।

एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये ॥ ३२॥
एतान्देशान्निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

सरांसि—झीलें; पुष्कर-आदीनि—यथा पुष्कर; क्षेत्राणि—पवित्र स्थान (यथा कुरुक्षेत्र, गया क्षेत्र तथा जगन्नाथपुरी); अर्ह—पूज्य साधु पुरुषों के लिए; आश्रितानि—आश्रय; उत—विख्यात; कुरुक्षेत्रम्—विशेष पवित्र स्थान (धर्मक्षेत्र); गय-शिरः—गया नामक स्थान जहाँ गयासुर ने भगवान् विष्णु के चरणकमलों में शरण ग्रहण की; प्रयागः—गंगा तथा यमुना नामक दो पवित्र नदियों के संगम पर स्थित इलाहाबाद; पुलह-आश्रमः—पुलह मुनि का निवास स्थान; नैमिषम्—नैमिषारण्य (लखनऊ के पास); फाल्गुनम्—वह स्थान जहाँ फाल्गु नदी बहती है; सेतुः—सेतुबन्ध जहाँ भगवान् रामचन्द्र ने भारत तथा लंका के मध्य पुल बनाया था; प्रभासः—प्रभास क्षेत्र; अथ—तथा; कुश-स्थली—द्वारावती या द्वारका; वाराणसी—बनारस; मधु-पुरी—मथुरा; पम्पा—वह स्थान जहाँ पम्पा सरोवर है; बिन्दु-सरः—वह स्थान जहाँ विन्दु सरोवर है; तथा—वहाँ; नारायण-आश्रमः—बदरिकाश्रम; नन्दा—वह स्थान जहाँ नन्दा नदी बहती है; सीता-राम—भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता का; आश्रम-आदयः—शरण स्थलियाँ तथा चित्रकूट; सर्वे—सभी (स्थान); कुलाचलाः—पहाड़ी स्थल; राजन्—हे राजा; महेन्द्र—महेन्द्र; मलय-आदयः—तथा मलयाचल आदि; एते—ये सभी; पुण्य-तमाः—अत्यन्त पवित्र; देशाः—स्थान; हरेः—भगवान् के; अर्च-आश्रिताः—जहाँ राधाकृष्ण का अर्चाविग्रह पूजा जाता है (यथा अमरीका के न्यूयार्क, लास ऐंजिलिस तथा सैनफ्रांसिस्को जैसे बड़े-बड़े शहर और लन्दन, पेरिस जैसे यूरोपीय शहर या जहाँ भी कृष्णभावनामृत के केन्द्र हैं); च—भी; ये—जो; एतान् देशान्—इन देशों को; निषेवेत—पूजा करे या देखने जाए; श्रेयः-कामः—कल्याणकामी; हि—निस्सन्देह; अभीक्ष्णशः—पुनः पुनः; धर्मः—धार्मिक कार्य; हि—जिससे; अत्र—इन स्थानों में; ईहितः—सम्पन्न किया गया; पुंसाम्—पुरुषों का; सहस्र-अधि—एक हजार गुणा से अधिक; फल-उदयः—प्रभावशाली।

पुष्कर जैसे पवित्र सरोवर तथा वे स्थान जहाँ साधु पुरुष रहते हैं यथा कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फाल्गु नदी का तट, सेतुबन्ध, प्रभास, द्वारका, वाराणसी, मथुरा, पम्पा, बिन्दु सरोवर, बदरिकाश्रम (नारायणाश्रम), वे स्थान जहाँ से होकर नन्दा नदी बहती है, वे स्थल जहाँ भगवान् रामचन्द्र तथा माता सीता ने शरण ली, यथा चित्रकूट तथा महेन्द्र और मलय नामक पहाड़ी क्षेत्र भी—इन सभी स्थानों को अत्यन्त पवित्र एवं पुण्य माना जाता है। इसी प्रकार भारत के बाहर के स्थान जहाँ कृष्णभावनामृत आन्दोलन के केन्द्र हैं और जहाँ राधाकृष्ण अर्चाविग्रह पूजे जाते हैं, उन स्थानों में आध्यात्मिक रूप से बढ़ने-चढ़ने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को जाना चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए। जो आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, वह इन सारे स्थानों की यात्रा कर सकता है और अनुष्ठान कर सकता है, जिससे अन्य स्थानों में सम्पन्न किये गये उन्हीं कृत्यों से हजार गुना अच्छे फल प्राप्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : इन श्लोकों में तथा श्लोक २९ में एक ही बात बलपूर्वक कही गई है—*हरेरर्चाश्रिताश्च ये* या *हरेरर्चा*। दूसरे शब्दों में, जिस स्थान पर भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा की जाती है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर के लोगों को अपने इस्कॉन केन्द्रों के माध्यम से कृष्णभावनामृत ग्रहण करने का अवसर प्रदान कर रहा है, क्योंकि इन केन्द्रों में लोग अर्चाविग्रह की

पूजा कर सकते हैं और हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करके हजारों गुना अच्छी तरह से लाभ उठा सकते हैं। मानव समाज के लिए यह सर्वश्रेष्ठ कल्याण-कार्य है। यही श्री चैतन्य महाप्रभु का सन्देश था। उन्होंने *चैतन्य भागवत* (अन्त्य ४.१२६) में इसकी भविष्यवाणी की थी—

पृथिवीते आछे यत नगरादिग्राम

सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम

श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि हरे कृष्ण आन्दोलन अर्चाविग्रहों की स्थापना करके विश्व के प्रत्येक ग्राम तथा नगर में फैल जाये जिससे प्रत्येक व्यक्ति इस आन्दोलन का लाभ उठाए और उनका आध्यात्मिक जीवन सर्व कल्याणमय हो जाये। आध्यात्मिक जीवन के बिना कुछ भी कल्याणप्रद नहीं है। *मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः* (*भगवद्गीता* ९.१२)। कृष्णभावनाभावित हुए बिना कोई भी व्यक्ति सकाम कर्मों में अथवा ज्ञान में सफल नहीं हो सकता। जैसी कि शास्त्रों में संस्तुति की गई है, हर एक को कृष्णभावनामृत आन्दोलन में भाग लेने तथा आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझने में रुचि लेनी चाहिए।

पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः ।
हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

पात्रम्—सही व्यक्ति जिसे दान दिया जा सके; तु—लेकिन; अत्र—इस संसार में; निरुक्तम्—निश्चित; वै—निस्सन्देह; कविभिः—विद्वानों द्वारा; पात्र-वित्तमैः—दान के सुयोग्य पात्र को खोज निकालने में दक्ष; हरिः—भगवान्; एव—निस्सन्देह; एकः—एकमात्र; उर्वी-ईश—हे पृथ्वी के राजा; यत्-मयम्—जिस पर हर वस्तु टिकी है; वै—जिससे हर वस्तु उत्पन्न है; चर-अचरम्—इस ब्रह्माण्ड के जड़ या चेतन प्राणी।

हे पृथ्वीपति, पटु तथा विद्वान अध्येताओं ने यह तय किया है कि भगवान् कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं जिन्हें प्रत्येक वस्तु प्रदान की जानी चाहिए, जिन पर ब्रह्माण्ड के सारे जड़ या चेतन टिके हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : जब भी हम *धर्म, अर्थ, काम* तथा *मोक्ष* विषयक कोई धार्मिक कृत्य करें तो देश, काल तथा पात्र के अनुसार करें। नारद मुनि पहले ही देश तथा काल का वर्णन कर चुके हैं। काल का वर्णन *अयने विषवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये* से प्रारम्भ होने वाले श्लोक २० से २४ वें श्लोक तक हुआ है। दान देने या श्राद्ध करने का वर्णन *सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत* से प्रारम्भ होता है, जो श्लोक

३० से ३३ तक चलता है। अब इस श्लोक में इसका वर्णन है कि किसे सब कुछ अर्पित किया जाये। *हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वैचराचरम्।* भगवान् सबों के मूल हैं अतएव वे सर्वोत्तम *पात्र* हैं जिन्हें सब कुछ दिया जाना चाहिए। *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि कोई वास्तविक शान्ति तथा समृद्धि को भोगना चाहता है, तो उसे कृष्ण को सब कुछ अर्पित कर देना चाहिए, क्योंकि वे असली भोक्ता, मित्र तथा स्वामी हैं। इसीलिए कहा गया है (*भागवत* ४.३१.१४):

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन

तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाम्।

प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां

तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या॥

भगवान् अच्युत या कृष्ण की पूजा द्वारा या उन्हें प्रसन्न करके मनुष्य सबों को प्रसन्न कर सकता है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींच कर शाखाओं, पत्तियों तथा फूलों को पानी दिया जा सकता है या उदर को भोजन प्रदान करके शरीर की सारी इन्द्रियों को तुष्ट किया जा सकता है। इसीलिए भक्त अपनी प्रत्येक वस्तु भगवान् को अर्पित कर देता है, जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का सर्वोत्तम फल मिले।

देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु ।
राजन्यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

देव-ऋषि—देवताओं तथा महान् सन्त पुरुषों में से, जिनमें नारद मुनि आते हैं; अर्हत्सु—अत्यन्त आदरणीय तथा पूजनीय व्यक्ति; वै—निस्सन्देह; सत्सु—महान् भक्तों में से; तत्र—वहाँ (राजसूय यज्ञ में); ब्रह्म-आत्म-जादिषु—तथा ब्रह्मा के पुत्र (सनक, सनन्दन, सनत तथा सनातन); राजन्—हे राजा; यत्—जिससे; अग्र-पूजायाम्—जिसकी पूजा सबसे पहले होनी हो; मतः—निर्णय; पात्रतया—राजसूय यज्ञ की अध्यक्षता के लिए चुना गया सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति; अच्युतः—कृष्ण।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम्हारे राजसूय यज्ञ उत्सव में मेरे सहित देवता, मुनि तथा साधुओं के अतिरिक्त ब्रह्माजी के चारों पुत्र उपस्थित थे, किन्तु जब यह प्रश्न उठा कि किस व्यक्ति की सर्वप्रथम पूजा की जाये तो सबों ने परम पुरुष कृष्ण को ही चुना।

तात्पर्य : यहाँ पर महाराज युधिष्ठिर द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ का सन्दर्भ आया है। उस सभा में सर्वप्रथम पूजित होने वाले व्यक्ति के चुनाव को लेकर काफी उथल-पुथल हुई थी। सबों ने श्रीकृष्ण की पूजा करने का निश्चय किया। एकमात्र विरोध शिशुपाल की ओर से था और उसके घोर विरोध के कारण ही भगवान् ने उसको मार डाला।

जीवराशिभिराकीर्ण अण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

जीव-राशिभिः—करोड़ों जीवों द्वारा; आकीर्णः—भरा हुआ या विस्तीर्ण; अण्ड-कोश—समग्र ब्रह्माण्ड; अङ्घ्रिपः—वृक्ष के समान; महान्—अत्यन्त विशाल; तत्-मूलत्वात्—इस वृक्ष की जड़ होने से; अच्युत-इज्या—भगवान् की पूजा; सर्व—सबों की; जीव-आत्म—जीव; तर्पणम्—तुष्टि।

जीवों से भरा हुआ समग्र ब्रह्माण्ड एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ भगवान् अच्युत (कृष्ण) हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण की पूजा करने से समस्त जीवों की पूजा हो सकती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्रोत हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझसे उद्भूत है। इसे ठीक से समझने वाला बुद्धिमान मेरी भक्ति में लग जाता है और पूरे मनोयोग से मेरी पूजा करता है।" लोग अन्य जीवों की, विशेष रूप से गरीबों की, सेवा करने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते हैं किन्तु यद्यपि उन्होंने ऐसी सहायता पहुँचाने के अनेक तरीके बना रखे हैं, किन्तु वास्तव में वे बेचारे जीवों का वध करने में पटु हैं। वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार की सेवा या दया की संस्तुति नहीं की गई है। जैसाकि किसी पिछले श्लोक में बताया गया है कि दक्ष साधु पुरुषों ने तय किया है (*निरुक्तम्*) कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के मूल हैं और कृष्ण का पूजन हर एक का पूजन है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ को सींचने का अर्थ है सारी शाखाओं-टहनियों को तुष्ट करना।

दूसरी बात यह है कि यह ब्रह्माण्ड ऊपर से नीचे तक हर लोक में जीवों से परिपूर्ण है (*जीवराशिराकीर्णः।* आधुनिक विज्ञानी एवं तथाकथित विद्वानों का विचार है कि इस लोक के अतिरिक्त अन्यलोकों में जीव नहीं हैं। हाल ही में उन्होंने कहा है कि वे चाँद में गये, किन्तु वहाँ उन्हें कोई जीव नहीं मिला। किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थ इस मूर्खतापूर्ण विचारधारा से सहमत नहीं हैं। जीव तो सर्वत्र हैं—एक या दो की संख्या नहीं अपितु *जीवराशिभिः*—लाखों में जीव हैं। यहाँ तक कि सूर्य में भी जीव हैं यद्यपि यह अग्नि के तुल्य लोक है। सूर्य का प्रधान जीव विवस्वान कहलाता है (*इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्*)। विभिन्न लोकों में वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीव पाये जाते हैं। यह कहना कि केवल यही लोक जीवों से पूर्ण है और अन्य लोक शून्य हैं मूर्खतापूर्ण है। इससे असली ज्ञान का अभाव ही सिद्ध होता है।

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः ।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पुराणि—रहने के स्थान या शरीर; अनेन—उनके (भगवान्) द्वारा; सृष्टानि—इन सृष्टियों में; नृ—मनुष्य; तिर्यक्—मनुष्यों के अतिरिक्त (पशु, पक्षी आदि); ऋषि—साधु पुरुष; देवताः—तथा देवगण; शेते—लेट जाता है; जीवेन—जीवों से; रूपेण—परमात्मा के रूप में; पुरेषु—इन रहने के स्थानों या शरिरों में; पुरुषः—परमेश्वर; हि—निस्सन्देह; असौ—वह (भगवान्)।

भगवान् ने अनेक पुर अर्थात् रहने के स्थान बनाये हैं, यथा मनुष्यों के शरीर, पशु, पक्षी, ऋषि तथा देवता। इन असंख्या-शरीर रूपों में भगवान् परमात्मा रूप में जीव के साथ निवास करते हैं। इस प्रकार वे पुरुषावतार कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! भगवान् सबों के हृदय में स्थित हैं और सारे जीव मानो भौतिक शक्ति से निर्मित यंत्र पर स्थित हैं, उन सबके घूमने का वे निर्देशन करते हैं।" जीव, भगवान् का अंश होने से अपने अस्तित्व के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित रहता है, जो शरीर के किसी भी रूप में साथ-साथ सदैव रहते हैं। जीव एक विशेष प्रकार का भोग चाहता है अतएव भगवान् उसे ऐसा शरीर प्रदान करते हैं, जो

यंत्र के समान है। इस शरीर में उसे जीवित रखने के लिए भगवान् उसके साथ पुरुष रूप में (*क्षीरोदकशायी विष्णु*) रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में की गई है—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने स्वांश से प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट कर जाते हैं और इस तरह सारी भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।" जीवात्मा भगवान् का अंश होने से जीव कहलाता है। भगवान् *पुरुष* के रूप में *जीव* के साथ रहकर उसे भौतिक सुविधाओं का भोग करने देते हैं।

तेष्वेव भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते ।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—विभिन्न प्रकार के शरीरों (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी के) से.); एव—निस्सन्देह; भगवान्—परमात्मा रूप में भगवान्; राजन्—हे राजा; तारतम्येन—अपेक्षतया, कम या ज्यादा; वर्तते—स्थित है; तस्मात्—इसलिये; पात्रम्—परम पुरुष; हि—निस्सन्देह; पुरुषः—परमात्मा; यावान्—जहाँ तक; आत्मा—ज्ञान की सीमा; यथा—तपस्या का विकास; ईयते—प्रकट है।.

हे राजा युधिष्ठिर, प्रत्येक जीव में परमात्मा उसकी समझने की क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करता है। अतएव शरीर के भीतर परमात्मा प्रमुख होता है। परमात्मा जीव में उसके ज्ञान के सापेक्ष विकास, तपस्या आदि के अनुसार जीव के समक्ष प्रकट होता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा गया है—*मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—भगवान् अपने अन्तर्यामी रूप में हर एक जीव को उसकी क्षमता के अनुसार बुद्धि प्रदान करते हैं। इसीलिए जीवों को हम उच्च तथा निम्न विभिन्न पदों पर पाते हैं। कोई भी जीव, पक्षी या पशु के शरीर में स्थित परमात्मा से उसी दक्षता से आदेश ग्रहण नहीं कर सकता जितना कि प्रगत मनुष्य। इस तरह शारीरिक स्वरूपों की कोटियाँ होती हैं। मानव समाज में पूर्ण ब्राह्मण को आध्यात्मिक चेतना में सर्वाधिक प्रगत माना जाता है और ब्राह्मण से भी अधिक प्रगत वैष्णव होता है। अतएव सर्वोत्तम पुरुष वैष्णव तथा विष्णु हैं। दान देते समय *भगवद्गीता* से (१७.२०) आदेश ग्रहण करने चाहिए—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

"जो दान कर्तव्य समझकर, उचित समय तथा स्थान पर, योग्य व्यक्ति को तथा बदले की भावना के बिना दिया जाता है उसे सतोगुणी दान कहा जाता है।" मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को दान दे क्योंकि इस तरह भगवान् की पूजा हो जाती है। इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टीका है—

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु न विशेषो हरेः क्वचित्।

व्यक्तिमात्रविशेषेण तारतम्यं वदन्ति च॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सारे प्राणी परमात्मा द्वारा संचालित हैं (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*)। किन्तु आध्यात्मिक चेतना में प्रगति के कारण व्यक्ति विशेष को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अतएव ब्राह्मण वैष्णव महत्त्वपूर्ण है और परमात्मा सर्वोपरि है।

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; **तेषाम्**—ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में; **मिथः**—पारस्परिक; **नृणाम्**—मानव समाज का; **अवज्ञान-आत्मताम्**—परस्पर अनादरपूर्ण व्यवहार (अपमान); **नृप**—हे राजा; **त्रेता-आदिषु**—त्रेतायुग तथा अन्यों में; **हरेः**—भगवान् का; **अर्चा**—देवपूजा (मन्दिर में); **क्रियायै**—पूजाविधि चालू करने के लिए; **कविभिः**—विद्वान पुरुषों द्वारा; **कृता**—किया गया।

हे राजन्, जब ऋषियों-मुनियों ने देखा कि त्रेतायुग के प्रारम्भ में ही परस्पर अनादारपूर्ण व्यवहार चालू हो गया तो मन्दिर में अर्चाविग्रह की साज-सामग्री सहित पूजा का सूत्रपात हुआ।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

"सतयुग में विष्णु का ध्यान करने से, त्रेतायुग में यज्ञ करने से तथा द्वापर युग में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने से जो फल मिलता था वही कलियुग में हरे कृष्ण महामंत्र के कीर्तन करने मात्र से प्राप्त हो सकता है।" सतयुग में हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से बढ़ा-चढ़ा होता था और महापुरुषों के मध्य कोई द्वेष नहीं होता था। किन्तु धीरे-धीरे युग की प्रगति के साथ भौतिक कल्मष के

कारण ब्राह्मणों तथा वैष्णवों तक में अनादरपूर्ण व्यवहार प्रकट होने लगा। वस्तुत: प्रगत वैष्णव का आदर विष्णु से भी अधिक होना चाहिए। जैसाकि *पद्मपुराण* में कहा गया है—*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्*—समस्त प्रकार के पूजन में से विष्णु-पूजन सर्वोपरि है। *तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्*—और विष्णु-पूजन से भी बढ़कर संस्तुति की गई वैष्णव पूजा है।

पहले सारे कृत्य विष्णु के लिए सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु सतयुग के बाद वैष्णवों में अनादरपूर्ण बर्ताव के लक्षण दिखने लगे। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव वह है, जो अन्यों को वैष्णव बनाने में सहायक बनता है। नारद मुनि ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने अनेक लोगों को वैष्णव बनाया है। ऐसा शक्तिमान वैष्णव जिसने अन्यों को वैष्णव बनाया है पूज्य है, किन्तु भौतिक कल्मष के कारण कभी-कभी ऐसे सम्मान्य वैष्णव का अन्य कनिष्ठ वैष्णव अनादर करते हैं। जब ऋषियों ने यह कल्मष देखा तो उन्होंने मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा प्रारम्भ कर दी। यह पूजा त्रेतायुग में प्रारम्भ हुई और द्वापर में विशेष रूप से प्रमुख थी (*द्वापरे परिचर्यायां*)। लेकिन कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा की उपेक्षा की जाती है। अतएव हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन अर्चाविग्रह पूजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कोई मन्दिर या अर्चाविग्रह न स्थापित करके संकीर्तन आन्दोलन का व्यापक सूत्रपात किया और ऐसा करके एक व्यावहारिक उदाहरण स्थापित किया। अतएव कृष्णभावनामृत के साहित्य का अधिकाधिक वितरण करना चाहिए। इससे संकीर्तन आन्दोलन को बल मिलता है। जब भी अर्चाविग्रह पूजा की सम्भावना हो तो हम अनेक केन्द्रों की स्थापना कर सकते हैं, लेकिन हमें दिव्य साहित्य के वितरण पर अधिक बल देना चाहिए क्योंकि यह लोगों को कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख करने में अधिक प्रभावशाली होगा।

श्रीमद्भागवत (११.२.४७) में कहा गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां य: श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्त: प्राकृत: स्मृत:॥

"ऐसा व्यक्ति जो मन्दिर में अर्चाविग्रह की पूजा में निष्ठापूर्वक लगा रहता है, किन्तु भक्तों या सामान्य लोगों से व्यवहार करना नहीं जानता *प्राकृत भक्त* या कनिष्ठ *अधिकारी* कहलाता है।" प्राकृत भक्त या नवदीक्षित भक्त भौतिक पद पर ही रहता है। वह निश्चय ही अर्चाविग्रह की पूजा में लगा रहता

है किन्तु वह शुद्ध भक्त के कार्यों को पहचान नहीं पाता। वस्तुत: यह देखा गया है कि कृष्णभावनामृत के उद्देश्य का प्रचार करने वाला अधिकारी भगवद्भक्त भी कभी-कभी नवदीक्षित भक्तों की आलोचना का शिकार बनता है। ऐसे नवदीक्षित भक्तों का वर्णन विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने किया है—*सर्वप्राणि सम्माननासमर्थानाम् अवज्ञा स्पर्धादिमतां तु भगवत्प्रतिमैव पात्रमित्याह।* जो अधिकारी भक्तों के कार्यों का सही सही मूल्यांकन नहीं कर पाते उनके लिए अर्चाविग्रह पूजा ही आध्यात्मिक प्रगति का एकमात्र साधन है। *चैतन्य-चरितामृत* (अन्त्य ७.११) में स्पष्ट कहा गया है—*कृष्णशक्ति विना नहे तार प्रवर्तन*—कृष्ण द्वारा अधिकृत हुए बिना कोई समग्र संसार में भगवान् के पवित्र नाम का उपदेश नहीं दे सकता। फिर भी जो भक्त ऐसा करता है, वह कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा आलोचित होता है। उनके लिए अर्चाविग्रह की प्रबल संस्तुति की जाती है।

ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; अर्चायाम्—अर्चाविग्रह; हरिम्—जो भगवान् है; केचित्—कोई; संश्रद्धाय—श्रद्धा सहित; सपर्यया—आवश्यक साज-सामान सहित; उपासते—पूजा करता है; उपास्ता अपि—यद्यपि श्रद्धा और नियमपूर्वक पूजा करते रहने पर भी; न—नहीं; अर्थ-दा—लाभप्रद; पुरुष-द्विषाम्—भगवान् विष्णु तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करने वालों के लिए।

कभी-कभी नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूजा में सारी साज-सामग्री अर्पित करता है और वह वास्तव में भगवान् की पूजा अर्चाविग्रह के रूप में करता है लेकिन भगवान् विष्णु के अधिकृत भक्तों से ईर्ष्यालु होने के कारण भगवान् उसकी भक्ति से कभी प्रसन्न नहीं होते।

तात्पर्य : अर्चाविग्रह पूजा विशेष रूप से नवदीक्षित भक्तों की शुद्धि के लिए है। किन्तु वास्तव में उपदेश देना (प्रचार करना) अधिक महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (१८.६९) में कहा गया है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः*—यदि कोई भगवान् से मान्यता चाहता है, तो उसे भगवान् की महिमा का प्रचार करना चाहिए। अतएव जो व्यक्ति अर्चाविग्रह की पूजा करता है उसे प्रचारकों का अत्यधिक सम्मान करना चाहिए, अन्यथा केवल अर्चाविग्रह की पूजा करते रहने से वह भक्ति की निम्न अवस्था में पड़ा रहेगा।

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः ।

तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषेषु—पुरुषों में; अपि—निस्सन्देह; राज-इन्द्र—हे नृपश्रेष्ठ; सु-पात्रम्—श्रेष्ठ पुरुष; ब्राह्मणम्—योग्य ब्राह्मण को; विदुः—जानना चाहिए; तपसा—तपस्या से; विद्यया—विद्या से; तुष्ट्या—तथा तुष्टि से; धत्ते—धारण करता है; वेदम्—वेद नामक दिव्य ज्ञान; हरेः—भगवान् का; तनुम्—शरीर या अभिव्यक्ति।

हे राजन्, सभी पुरुषों में सुयोग्य ब्राह्मण को इस संसार में सर्वोत्तम मानना चाहिए क्योंकि वह तपस्या, वैदिक अध्ययन तथा संतुष्टि द्वारा भगवान् का प्रतिरूप बन जाता है।

तात्पर्य : हमें वेदों से पता चलता है कि भगवान् परम पुरुष हैं; प्रत्येक जीव व्यष्टि पुरुष है और भगवान् कृष्ण परम पुरुष हैं। वैदिक ज्ञान में पटु तथा दिव्य विषयों में पारंगत ब्राह्मण भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतएव मनुष्य को ऐसे ब्राह्मण या वैष्णव की पूजा करनी चाहिए। वैष्णव ब्राह्मण से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ब्राह्मण इतना ही जानता है कि वह ब्रह्म है, पदार्थ नहीं, किन्तु वैष्णव यह जानता है कि वह न केवल ब्रह्म है, अपितु परब्रह्म का नित्य दास भी है। अतएव वैष्णव की पूजा मन्दिर में की जाने वाली अर्चाविग्रह की पूजा से श्रेष्ठ होती है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*—सारे शास्त्रों में गुरु को भगवान् के समान माना जाता है, जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ या श्रेष्ठ वैष्णव होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वैष्णव अपने को ईश्वर मानता है, क्योंकि यह अपराध है। यद्यपि ब्राह्मण या वैष्णव को भगवान् के ही समान प्राणी माना जाता है, किन्तु ऐसा भक्त भगवान् का सदा आज्ञाकारी दास बना रहता है और कभी भी उस प्रतिष्ठा का भोग नहीं करना चाहता जो उसे भगवान् का प्रतिनिधि होने के कारण प्राप्त हो सकती है।

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन्कृष्णस्य जगदात्मनः ।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ननु—लेकिन; अस्य—उसका; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; राजन्—हे राजा; कृष्णस्य—भगवान् कृष्ण द्वारा; जगत्-आत्मनः—जो सारी सृष्टि के जीवन तथा आत्मा हैं; पुनन्तः—पवित्र करते हुए; पाद-रजसा—चरणकमलों की धूल से; त्रि-लोकीम्—तीनों लोक को; दैवतम्—पूज्य; महत्—अत्यन्त महान्।

हे राजा युधिष्ठिर, ऐसे ब्राह्मण जो विशेषतः पूरे विश्व में भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे रहते हैं, सारी सृष्टि के आत्मा भगवान् द्वारा मान्य और पूजित होते हैं। ब्राह्मण अपने प्रचार द्वारा तीनों लोकों को अपने चरणकमलों की धूलि से पवित्र बनाते हैं और इस तरह वे कृष्ण के भी पूज्य हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६९) में भगवान् कृष्ण द्वारा स्वीकार किया गया है—*न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।* ब्राह्मण सारे जगत में कृष्णचेतना सम्प्रदाय का उपदेश देते हैं और यद्यपि वे भगवान् कृष्ण की पूजा करते हैं तथा भगवान् भी उन्हें पूज्य मानते हैं। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण कृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, उसी तरह कृष्ण ब्राह्मणों की पूजा करना चाहते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् की महिमा के प्रचार में लगे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा धर्मज्ञों, दार्शनिकों तथा सामान्य लोगों को करनी चाहिए। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लाखों ब्राह्मण उपस्थित थे फिर भी उन्होंने अग्रपूजा के लिए कृष्ण को चुना। अतएव कृष्ण सदैव परम पुरुष हैं, किन्तु अपनी अहैतुकी कृपा से वे ब्राह्मणों को अपना सर्वप्रिय मानते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''आदर्श पारिवारिक जीवन' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पंद्रह

सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश

पन्द्रहवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है। पिछले अध्याय में श्रीनारद मुनि ने समाज में ब्राह्मण की महत्ता सिद्ध की। इस अध्याय में अब वे ब्राह्मण की विभिन्न कोटियों में अन्तर दिखलाएँगे। ब्राह्मणों में कुछ तो गृहस्थ होते हैं और अधिकतर सकाम कर्मों में या सामाजिक दशाओं के सुधार में आसक्त रहते हैं। किन्तु इनसे भी ऊपर वे ब्राह्मण हैं, जो तपस्या के प्रति अधिक आकृष्ट रहते हैं और पारिवारिक जीवन से विरक्त हो जाते हैं। ये वानप्रस्थ कहलाते हैं। अन्य ब्राह्मण वेदाध्ययन करने तथा अन्यों को वेदों का तात्पर्य बताने में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। कुछ अन्य ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के योगों में विशेष रूप से भक्तियोग तथा ज्ञानयोग में रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण अधिकांशतया संन्यासी होते हैं।

जहाँ तक गृहस्थों का सम्बन्ध है वे विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय कृत्यों में, विशेषतया अपने पितरों को आहुति देने तथा अन्य ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञों में लगी साज-सामग्री दान रुप में लगे रहते हैं। ऐसा

दान सामान्यतया विरक्त जीवन बिताने वाले ब्राह्मण-संन्यासियों को दिया जाता है। यदि ऐसा संन्यासी नहीं मिल पाता तो सकाम कर्मों में रत ब्राह्मण-गृहस्थों को यह दान दिया जाता है।

लोगों को चाहिए कि अपने पितरों को आहुति देने के लिए श्राद्ध उत्सव में विशद प्रबन्ध न करें। श्राद्ध उत्सव मनाने की सर्वोत्तम विधि अपने सारे पितरों तथा सम्बन्धियों को भागवत-प्रसाद का वितरण करना है। यह सर्वोत्तम *श्राद्ध कर्म* है। श्राद्ध कर्म में मांस परोसने या मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। व्यर्थ ही पशुओं का वध करने से बचना चाहिए। समाज में निम्न कोटि के लोग पशुओं का वध करके यज्ञ करना चाहते हैं किन्तु जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें ऐसी अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे भगवान् विष्णु के पूजन को नियमित करें। जो धर्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें पाँच प्रकार के अधर्मों से बचना चाहिए। ये हैं—विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म तथा छल धर्म। मनुष्य को अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुकूल धर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि सारे लोग एक ही प्रकार के धर्म में दृढ़ बने रहें। सामान्य नियम यह है कि गरीब व्यक्ति व्यर्थ ही आर्थिक विकास के लिए प्रयास न करे। जो ऐसे प्रयासों से बचता है किन्तु भक्ति में लगता है, वह अत्यन्त पुण्यात्मा होता है।

जो अपने मन से तुष्ट नहीं है उसका पतन निश्चित है। मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, मोह, त्रास, भौतिक विषयों पर व्यर्थ बातें, हिंसा, भौतिक संसार के चार क्लेश तथा तीनों भौतिक गुणों को जीतना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। जिसे श्रीकृष्ण के समरूप अपने गुरु पर श्रद्धा नहीं है, वह शास्त्रों के अध्ययन से कुछ भी लाभ नहीं पा सकता। मनुष्य को गुरु को कभी भी सामान्य पुरुष नहीं समझना चाहिए, भले ही गुरु के परिवार वाले उसे ऐसा मानते हों। ध्यान तथा तपस्या की अन्य विधियाँ तभी लाभप्रद हैं जब वे कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होने में सहायक हों, अन्यथा वे समय तथा श्रम का अपव्यय हैं। जो भक्त नहीं हैं उन्हें ऐसा ध्यान तथा तपस्या नीचे गिराने वाले हैं।

प्रत्येक गृहस्थ को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ भले ही इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास क्यों न करे वह अपने सम्बन्धियों की संगति का शिकार होकर में नीचे गिर जाता है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ या संन्यासी बनना चाहिए, अर्थात् एकान्त में रहना चाहिए और द्वार-द्वार

भिक्षा माँगने से जो भोजन मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे ओङ्कार मंत्र या हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस प्रकार उसे अपने भीतर दिव्य आनन्द की अनुभूति हो सकेगी। किन्तु यदि कोई संन्यास लेने के बाद गृहस्थ जीवन में लौट आता है, तो वह *वान्ताशी* अर्थात् ''अपनी ही कै को खाने वाला'' कहलाता है। ऐसा व्यक्ति निर्लज्ज होता है। गृहस्थ को न तो संस्कार अनुष्ठानों को छोड़ना चाहिए और न संन्यासी को समाज में रहना चाहिए। यदि संन्यासी इन्द्रियों द्वारा विचलित होता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के वश में रहने वाला ठग है। जब कोई परोपकारी कार्य करके सतोगुणी भूमिका निभाता है, तो ऐसे कार्य भक्ति के मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं।

भक्ति में प्रगति करने की सर्वोत्तम विधि गुरु के आदेशों का पालन करना है, क्योंकि गुरु के निर्देश से ही इन्द्रियों को जीता जा सकता है। जब तक कोई पूर्णत: कृष्णभावनाभावित न हो तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। निस्सन्देह, कर्मकाण्ड तथा अन्य सकाम कर्म करते हुए हर क्षण अनेक खतरे बने रहते हैं। सकाम कर्मों को बारह भागों में विभाजित किया गया है। सकाम कर्म करने कारण जिन्हें धर्म पथ कहा जाता है मनुष्य को जन्म-मृत्यु का चक्र स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु जब कोई *मोक्ष मार्ग* ग्रहण करता है, जिसे *भगवद्गीता* में *अर्चना मार्ग* कहा गया है, तो मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाता है। वेदों में इन दोनों मार्गों को *पितृ यज्ञ* तथा *देव यज्ञ* कहा गया है। जो लोग इन दोनों मार्गों का अनुसरण करते हैं, वे भौतिक शरीर में रहकर भी कभी मोहित नहीं होते। एकेश्वरवादी दार्शनिक, जो अपनी इन्द्रियों को धीर-धीरे वश में कर पाता है, समझता है कि सारे आश्रमों का उद्देश्य मोक्ष है। मनुष्य को शास्त्रों के अनुसार जीवन-यापन करना चाहिए।

यदि वैदिक कर्मकाण्डी व्यक्ति भक्त बन जाता है भले ही वह गृहस्थ क्यों न हों तो उसे कृष्ण की अहैतुकी कृपा प्राप्त होती है। भक्त का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है। ऐसा भक्त कर्मकाण्ड न करने पर भी भगवत्कृपा से आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करता है। कोई भी व्यक्ति वास्तव में भक्तों की कृपा से आध्यात्मिक चेतना में सफल हो सकता है या भक्तों से के प्रति अनादर दिखा कर वह आध्यात्मिक चेतना से नीचे गिर सकता है। इस प्रसंग में नारद मुनि ने अपनी कथा कह सुनाई कि किस प्रकार वे गन्धर्वलोक से नीचे आकर शूद्रकुल में उत्पन्न हुए और किस प्रकार उन्नत ब्राह्मणों की सेवा करके ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए और किस तरह उन्होंने अपना दिव्य पद पुन: प्राप्त किया। इन

कथाओं को सुनाने के बाद नारद मुनि ने पांडवों द्वारा भगवान् से प्राप्त कृपा की पाण्डवों की प्रशंसा की नारद मुनि से सुनने के बाद महाराज युधिष्ठिर कृष्ण के प्रेम में विह्वल हो गये और नारद भी अपने धाम के लिए रवाना हो गये। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी द्वारा दक्ष की कन्याओं की विभिन्न सन्तानों का वर्णन किये जाने के बाद *श्रीमद्भागवत* का सप्तम स्कंध समाप्त होता है।

श्रीनारद उवाच
कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपापरे ।
स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कर्म-निष्ठाः—अनुष्ठानों के प्रति आसक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने के अनुसार); द्वि-जाः—दो बार जन्म लेने वाले (विशेषतया ब्राह्मण); केचित्—कुछ; तपः-निष्ठाः—तपस्या में आसक्त; नृप—हे राजा; अपरे—अन्य; स्वाध्याये—वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने में; अन्ये—अन्य लोग; प्रवचने—वैदिक वाङ्मय पर भाषण देते हुए; केचन—कुछ; ज्ञान-योगयोः—ज्ञान का अनुशीलन करने तथा भक्तियोग का अभ्यास करने में।

नारद मुनि ने कहा : हे राजन्, कुछ ब्राह्मण सकाम कर्मों में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, कुछ तपस्या में और कुछ वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में तो कुछ (भले ही कम क्यों न हों) ज्ञान का अनुशीलन करते हैं और विभिन्न योगों का, विशेष रूप से भक्ति योग का अभ्यास करते हैं।

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता ।
दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-निष्ठाय—निर्विशेषवादी या ब्रह्म में लीन होने के इच्छुक अध्यात्मवादी को; देयानि—दान में दिया जाने वाला; कव्यानि—पितरों को तर्पण में दी गई सामग्री; आनन्त्यम्—भव बन्धन से मुक्ति; इच्छता—इच्छुक व्यक्ति को; दैवे—देवताओं को दी जाने वाली सामग्री; च—भी; तत्-अभावे—ऐसे प्रगत अध्यात्मवादियों के न रहने पर; स्यात्—किया जाय; इतरेभ्यः—अन्यों को (यथा सकाम कर्मियों को); यथा-अर्हतः—योग्यता अनुसार, विवेक से।

जो व्यक्ति अपने पितरों या स्वयं की मुक्ति का इच्छुक हो उसे चाहिए कि ऐसे ब्राह्मण को दान दे जो निर्विशेष-अद्वैतवाद में निष्ठा (ज्ञान निष्ठा) रखता हो। ऐसे उच्च ब्राह्मण के अभाव में, सकाम कर्मों (कर्मकाण्ड) में अनुरक्त ब्राह्मण को दान दिया जाय।

तात्पर्य : भवबन्धन से छूटने की दो विधियाँ हैं—पहली विधि *ज्ञान काण्ड* तथा *कर्म काण्ड* है तथा दूसरी विधि *उपासना काण्ड* है। वैष्णव कभी भी ब्रह्म में लीन नहीं होना चाहते, वे तो भगवान् के नित्य दास बनकर उनकी प्रेमाभक्ति करना चाहते हैं। इस श्लोक में *आनन्त्यम् इच्छता* शब्द उन

व्यक्तियों को बताते हैं, जो भवबन्धन से छूट कर भगवान् में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जिन भक्तों का लक्ष्य भगवान् की साक्षात् संगति करना है उन्हें कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड के कार्यों को स्वीकार करने की कोई इच्छा नहीं रहती, क्योंकि शुद्ध भक्त इन सबके ऊपर है। *अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।* शुद्ध भक्ति में ज्ञान या कर्म का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप जब वैष्णवजन दान वितरण करते हैं, तो वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मण नहीं ढूँढ़ते। इस प्रसंग में अद्वैत गोस्वामी का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है जिन्होंने अपने पिता का श्राद्धकर्म करने के बाद हरिदास ठाकुर को दान दिया, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि हरिदास ठाकुर मुसलमान परिवार में उत्पन्न हुए हैं, ब्राह्मण परिवार में नहीं, अतएव वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी नहीं थे।

अतएव दान तो उच्चकोटि के अध्यात्मवादी भक्त को ही देना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों की संस्तुति है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण:।

सुदुर्लभ: प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

"हे महमुनि! लाखों मुक्त तथा मुक्ति ज्ञान में सिद्ध व्यक्तियों में से कोई एक भगवान् नारायण या कृष्ण का भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णत: शान्त हों वे अत्यन्त दुर्लभ होते हैं।" (*भागवत* ६.१४.५)। वैष्णव का पद ज्ञानी से ऊँचा होता है अतएव अद्वैत आचार्य ने दान देने के लिए हरिदास ठाकुर को उपयुक्त पात्र समझा। परमेश्वर भी कहते हैं (*हरि भक्ति विलास* १०.१२७)—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्त: श्वपच: प्रिय:।

तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यता ह्यहम्॥

"भले ही कोई व्यक्ति संस्कृत वैदिक-साहित्य का अत्यन्त पंडित क्यों न हो उसे तब तक मेरा भक्त नहीं माना जाता जब तक वह शुद्ध भक्त न हो, किन्तु यदि श्वपच के परिवार में भी उत्पन्न होकर कोई शुद्ध भक्त है और उसे कर्म या ज्ञान का उपभोग करने की लालसा नहीं है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। निस्सन्देह उसका सभी तरह से सम्मान होना चाहिए और वह जो भी दे उसे ग्रहण करना चाहिए। ऐसे भक्त मेरे ही समान पूज्य हैं।" अतएव कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो या न हो, किन्तु भगवान् की भक्ति करने से वह कर्मकाण्डी या ज्ञानकाण्डी ब्राह्मणों से ऊपर होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वृन्दावन के कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी ब्राह्मण कभी-कभी हमारे मन्दिर के निमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि हमारा मन्दिर *अंग्रेज मन्दिर* कहलाता है। किन्तु शास्त्रों के साक्ष्य तथा अद्वैत आचार्य द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार हम भक्तों को प्रसाद देते हैं चाहे वे भारत के हों अथवा यूरप या अमरीका के। यह शास्त्र का निष्कर्ष है कि तमाम ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को खिलाने की अपेक्षा एक शुद्ध ब्राह्मण को खिलाना श्रेष्ठ है चाहे वह जहाँ का हो। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०) में हुई है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"कोई चाहे कितना ही गर्हित कर्म क्यों न करे, यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से स्थित रहता है।" अतएव इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई ब्राह्मण परिवार का है या अब्राह्मण परिवार का। यदि वह कृष्ण में पूर्णतया अनुरक्त है, तो वह *साधु* है।

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; दैवे—देवताओं को आहुति देते समय; पितृ-कार्ये—श्राद्ध कर्म करते समय, जिसमें पितरों को आहुति दी जाती है; त्रीन्—तीन; एक—एक; एकम्—एक; उभयत्र—दोनों अवसरों पर; वा—अथवा; भोजयेत्—भोजन दे; सु-समृद्धः अपि—भले ही वह अत्यन्त धनी हो; श्राद्धे—पितरों को आहुतियाँ देते समय; कुर्यात्—करे; न—नहीं; विस्तरम्—विशद व्यवस्था।

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं को आहुति देते समय केवल दो ब्राह्मणों को और पितरों को आहुति देते समय तीन ब्राह्मणों को आमंत्रित करे। अथवा इन दोनों में केवल एक-एक ब्राह्मण काफी होगा। कोई कितना ही ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे अधिक ब्राह्मण नहीं आमंत्रित करने चाहिए या इन अवसरों पर अत्यन्त खर्चीली व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, श्रील अद्वैत आचार्य ने पितरों के श्राद्ध-कर्म के समय केवल हरिदास ठाकुर को आमंत्रित किया था। इस तरह उन्होंने इस सिद्धान्त *न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः* का पालन किया। भगवान् कहते हैं, "मेरा भक्त बनने के लिए वैदिक ज्ञान में पारंगत होना आवश्यक नहीं है। भले ही कोई श्वपच (कुत्ता खाने वाला) परिवार में क्यों न उत्पन्न हो, वह ऐसे

परिवार में जन्म ले करके भी मेरा भक्त बन सकता है और वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। अतएव मेरे भक्त को भेंट दी जानी चाहिए और मेरा भक्त मुझे जो भी चढ़ाता है उसे स्वीकार करना चाहिए।" इस सिद्धान्त का पालन करते हुए मनुष्य को चाहिए कि उच्चकोटि के ब्राह्मण या वैष्णव को आमंत्रित करे और अपने पितरों का श्राद्ध-कर्म करते समय उसे ही भोजन कराए।

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च ।
सम्यग्भवन्ति नैतानि विस्तरात्स्वजनार्पणात् ॥ ४॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; उचित—उचित; श्रद्धा—आदर; द्रव्य—अवयव; पात्र—उपयुक्त व्यक्ति; अर्हणानि—पूजा सामग्री; च—तथा; सम्यक्—उचित; भवन्ति—हैं; न—नहीं; एतानि—ये सब; विस्तरात्—विस्तार के कारण; स्व-जन-अर्पणात्—अथवा सम्बन्धियों को आमंत्रित करने से।

यदि कोई श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों या सम्बन्धियों को भोजन कराने की व्यवस्था करता है, तो काल, देश, श्राद्ध, पदार्थ, पात्र और पूजन विधि में त्रुटियाँ होंगी।

तात्पर्य : नारद मुनि ने श्राद्ध कर्म के अवसर पर सम्बन्धियों या ब्राह्मणों को खिलाने के लिए व्यर्थ वृहद् आयोजन करने का निषेध किया है। जो लोग भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यवान हैं, वे इस उत्सव में दिल खोलकर खर्च करते हैं। भारतवासी विशेष रूप से तीन अवसरों पर—सन्तान के जन्म पर, विवाह पर तथा श्राद्ध कर्म पर—दिल खोलकर खर्च करते हैं, लेकिन श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों एवं सम्बन्धियों को आमंत्रित करने में अत्यधिक व्यय करने के लिए शास्त्र मना करते हैं।

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम् ।
श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

देशे—उचित स्थान पर यथा तीर्थस्थान पर; काले—शुभ समय पर; च—भी; सम्प्राप्ते—प्राप्त होने पर; मुनि-अन्नम्—घी से तैयार भोजन जो बड़े-बड़े मुनियों के खाने के योग्य हो; हरि-दैवतम्—भगवान् हरि को; श्रद्धया—प्रेम तथा स्नेह से; विधि-वत्—गुरु तथा शास्त्रों के आदेशानुसार; पात्रे—उपयुक्त व्यक्ति में; न्यस्तम्—अर्पित किया गया; कामधुक्—सम्पन्नता का साधन बन जाता है; अक्षयम्—अक्षय, अविनाशी।

जब उपयुक्त शुभ अवसर तथा स्थान प्राप्त हो तो मनुष्य को चाहिए कि अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान् के अर्चाविग्रह को घी में बना भोजन अर्पित करे और फिर उपयुक्त व्यक्ति अर्थात् वैष्णव या ब्राह्मण को प्रसाद दे। इससे अक्षय समृद्धि आएगी।

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च ।
अन्नं संविभजन्पश्येत्सर्वं तत्पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

देव—**देवता**; ऋषि—**साधु पुरुष**; पितृ—**पितरगण**; भूतेभ्यः—**सामान्य जीवों को**; आत्मने—**सम्बन्धियों**; स्व-जनाय—**पारिवारिक सदस्यों तथा मित्रों को**; च—**तथा**; अन्नम्—**भोजन (प्रसाद)**; संविभजन्—**अर्पित करते हुए**; पश्येत्—**देखे**; सर्वम्—**सबों को**; तत्—**उस**; पुरुष-आत्मकम्—**भगवान् से सम्बन्धित।**

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं, साधु पुरुषों, अपने पितरों, लोगों, अपने पारिवारिक सदस्यों, अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को भगवान् के भक्तों के रूप में देखते हुए प्रसाद प्रदान करे।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, प्रत्येक जीव को भगवान् का अंश मानते हुए प्रसाद बाँटे। यहाँ तक कि गरीबों को भी प्रसाद वितरित करे। कलियुग में प्रत्येक वर्ष अन्नाभाव रहता है और इस तरह परोपकारी लोग गरीबों को खिलाने में दिल खोल कर खर्च करते हैं। इसके लिए उन्होंने *दरिद्रनारायण सेवा* शब्द ढूँढ़ निकाला है। यह मना है। हर एक को चाहिए कि भव्य प्रसाद का वितरण हर एक को भगवान् का अंग मानते हुए करे न कि वाक्जाल द्वारा गरीब मनुष्य को नारायण बना दे। हर व्यक्ति परमेश्वर से सम्बन्धित है किन्तु उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि परमेश्वर से सम्बन्धित होने से वह भगवान् बन गया है। ऐसा मायावाद दर्शन अत्यन्त घातक है, विशेष रूप से भक्त के लिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी दार्शनिकों की संगति करने के लिए मना किया है। *मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी दर्शन से नाता जोड़ता है, तो उसके भक्तिमय जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है।

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् ।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—**कभी नहीं**; दद्यात्—**प्रदान करे**; आमिषम्—**मांस, मछली, अंडा इत्यादि**; श्राद्धे—**श्राद्ध कर्म में**; न—**न तो**; च—**भी**; अद्यात्—**स्वयं खाए**; धर्म-तत्त्व-वित्—**धार्मिक कृत्यों का वास्तविक विद्वान**; मुनि-अन्नैः—**सन्त पुरुषों के लिए घी से बनाये गये व्यंजनों से**; स्यात्—**हो**; परा—**उच्चकोटि की**; प्रीतिः—**तुष्टि**; यथा—**भगवान् तथा पितरों के लिए**; न—**न**; पशु-हिंसया—**व्यर्थ ही पशुओं की बलि द्वारा।**

धार्मिक सिद्धान्तों से भली-भाँति अवगत मनुष्य को चाहिए कि वह श्राद्ध कर्म में मांस, अंडे या मछली जैसी कोई वस्तु अर्पित न करे और न ही स्वयं भी ऐसी वस्तु खाए, चाहे वह क्षत्रिय ही क्यों न हो। जब घी से बना उपयुक्त भोजन सन्त जनों को दिया जाता है, तो यह कृत्य

पितरों तथा भगवान् को अत्यन्त प्रिय लगता है, क्योंकि वे यज्ञ के नाम पर पशुओं का वध किये जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होते।

**नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतादृशः—इस तरह का; परः—परम या श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; नृणाम्—मनुष्यों का; सत्-धर्मम्—श्रेष्ठ धर्म; इच्छताम्—के लिए इच्छुक; न्यासः—त्याग कर; दण्डस्य—ईर्ष्या के कारण कष्ट देते हुए; भूतेषु—जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय-जस्य—तथा शरीर से; यः—जो।

जो लोग श्रेष्ठ धर्म में प्रगति करना चाहते हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे अन्य जीवों से शरीर, वाणी या मन सम्बन्धी सारी ईर्ष्या छोड़ दें। इससे बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है।

**एके कर्ममयान्यज्ञाञ्ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः ।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥**

शब्दार्थ

एके—कोई-कोई, कुछ; कर्म-मयान्—कर्मफल से युक्त (यथा पशु-वध); यज्ञान्—यज्ञ; ज्ञानिनः—ज्ञान में अग्रसर लोग; यज्ञ-वित्-तमाः—यज्ञ के उद्देश्य को भलीभाँति जानने वाला; आत्म-संयमने—आत्म संयम द्वारा; अनीहाः—निष्काम; जुह्वति—यज्ञ करता है; ज्ञान-दीपिते—पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित।

आध्यात्मिक ज्ञान से जागृत होने से यज्ञ के विषय में बुद्धिमान व्यक्ति, धार्मिक नियमों के वास्तविक ज्ञाता तथा निष्काम व्यक्ति अपने को आध्यात्मिक ज्ञान की अथवा परम सत्य विषयक ज्ञान की अग्नि में संयमित बनाते हैं। वे कर्मकाण्डीय अनुष्ठान विधि को त्याग सकते हैं।

तात्पर्य : लोग स्वर्ग जाने के लिए कर्मकाण्ड अनुष्ठानों में अधिक रुचि रखते हैं किन्तु जब आध्यात्मिक ज्ञान जागृत हो जाता है, तो वे ऊपर उठने के प्रति उदासीन होकर जीवन-लक्ष्य खोजने के लिए ज्ञान यज्ञ में लग जाते हैं। जीवन का लक्ष्य जन्म तथा मृत्यु के दुखों को पूरी तरह रोक कर भगवद्धाम को वापस जाना है। जब मनुष्य इस उद्देश्य के लिए ज्ञान का अनुशीलन करता है, तो वह कर्म यज्ञ में लगे हुए लोगों की तुलना में उच्चतर पद पर स्थित समझा जाता है।

**द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृप्ध्रुवम् ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

द्रव्य-यज्ञैः—पशुओं तथा अन्य खाद्य वस्तुओं से; यक्ष्यमाणम्—ऐसे यज्ञों में व्यस्त व्यक्ति; दृष्ट्वा—देख कर; भूतानि—जीवों (पशु) को; बिभ्यति—डर जाता है; एषः—यह व्यक्ति (यज्ञकर्ता); मा—मुझको; अकरुणः—निर्दयी; हन्यात्—मार डालेगा; अ-तत्-ज्ञः—अत्यन्त अज्ञानी; हि—निस्सन्देह; असु-तृप्—अन्यों को मार कर सन्तुष्ट रहने वाला; ध्रुवम्—निश्चय ही।

यज्ञ सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को देखकर बलि दिये जाने वाले सारे पशु यह सोचकर अत्यन्त डरे रहते हैं कि "यह निर्दय यज्ञकर्ता यज्ञ के उद्देश्य से अनजान होने तथा अन्यों का वध करके परम सन्तुष्ट होने के कारण हमें निश्चित रूप से मार डालेगा।"

तात्पर्य : धर्म के नाम पर प्रायः सारे विश्व में प्रत्येक स्थापित धर्म में पशु-यज्ञ प्रचलित है। कहा जाता है कि जब जीसस क्राइस्ट केवल बारह वर्ष के थे तो यहूदियों को पूजागृह में पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाते देखकर उन्हें आघात पहुंचा था। अतएव उन्होंने यहूदी धर्म त्यागकर ईसाई धर्म चलाया जिसमें पुराने टेस्टामेंट के आदेश "तू वध नहीं करेगा" का दृढ़ता से पालन किया जाता था। किन्तु इस समय यज्ञ के नाम पर न केवल पशुओं का वध किया जाता है, अपितु कसाईघरों की संख्या बढ़ जाने से पशु-वध में प्रचुर वृद्धि हुई है। धर्म या भोजन के लिए पशुओं का वध अत्यन्त घृणित है और यहाँ पर उसकी भर्त्सना की जाती है। जब तक कोई निर्दय न हो, वह धर्म के नाम पर और भोजन के लिए पशुओं की बलि नहीं चढ़ा सकता।

तस्माद्दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।
सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; दैव-उपपन्नेन—भगवत्कृपा से सरलता से प्राप्य; मुनि-अन्नेन—(घी से तैयार तथा भगवान् को अर्पित) भोजन से; अपि—निस्सन्देह; धर्म-वित्—धर्म में बढ़ा-चढ़ा; सन्तुष्टः—अत्यन्त सुखपूर्वक; अहः अहः—दिन प्रति दिन; कुर्यात्—करे; नित्य-नैमित्तिकीः—नियमित तथा कभी-कभी; क्रियाः—कर्तव्य।

अतएव जो वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों से अभिज्ञ है और बेचारे पशुओं से अत्यधिक ईर्ष्या नहीं करता उसे दिन-प्रति-दिन प्रसन्नतापूर्वक नैत्यिक तथा किन्हीं विशेष अवसरों पर किये जाने वाले यज्ञों को भगवत्कृपा से जो भी भोजन सरलता से उपलब्ध हो जाये उसी से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : *धर्मवित्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "जो धर्म के वास्तविक प्रयोजन को जानता है।" जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.६६) में बताया गया है—*सर्व-धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—धर्म को समझने में कृष्णभावनाभावित होना सर्वोच्च अवस्था है। जो इस अवस्था तक पहुँच जाता है, वह

भक्ति की अर्चना विधि को सम्पन्न करता है। चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, वह अपने पास उचित रूप से पैक किया हुआ भगवान् का छोटा अर्चाविग्रह रख सकता है या सम्भव हो तो स्थापित कर सकता है और इस तरह राधा-कृष्ण, सीताराम, लक्ष्मी नारायण, भगवान् जगन्नाथ या श्री चैतन्य महाप्रभु के अर्चाविग्रहों की पूजा घी से बना भोजन अर्पित करके कर सकता है। फिर वह इस पवित्र किए गए प्रसाद को पितरों, देवताओं या अन्य जीवों को नैत्यिक कर्म की भाँति प्रदान कर सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे केन्द्रों में अर्चाविग्रह पूजन का कार्य अत्यन्त सुन्दर ढंग से चलता आ रहता है जहाँ अर्चाविग्रह को अर्पित करने के बाद भोजन को उच्चकोटि के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में, यहाँ तक कि सामान्य लोगों तक में, वितरित कर दिया जाता है। इस तरह से सम्पन्न किये गये यज्ञ से पूर्ण संतुष्टि मिलती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्य नित्य ऐसे दिव्य कार्य करते हैं। अतएव हमारे इस आन्दोलन में पशुओं के वध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत् ॥ १२॥

शब्दार्थ

विधर्मः—अधर्म; पर-धर्मः—अन्यों द्वारा अभ्यास किये जाने वाला धर्म; च—तथा; आभासः—दिखावटी धर्म; उपमा—सिद्धान्त जो धार्मिक लगते हैं किन्तु होते नहीं; छलः—ठगने वाला धर्म; अधर्म-शाखाः—जो अधर्म की विभिन्न शाखाएँ हैं; पञ्च—पाँच; इमाः—ये; धर्म-ज्ञः—धर्म को जानने वाला; अधर्म-वत्—उन्हें अधार्मिक के रूप में स्वीकार करते हुए; त्यजेत्—त्याग दे।

अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं, जो विधर्म, परधर्म, आभास, उपधर्म तथा छल धर्म के नाम से उचित रूप में विख्यात हैं। जो असली धार्मिक जीवन से अवगत हो उसे इन पाँचों को अधर्म मानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी धर्म जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का विरोधी हो उसे विधर्म या छल धर्म माना जाना चाहिए और जो वास्तव में धर्म में रुचि रखता हो उसे इनका परित्याग कर देना चाहिए। उसे एकमात्र कृष्ण के आदेशों का पालन करना चाहिए और उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए निस्सन्देह, उत्तम बुद्धि की आवश्यकता होती है, जो अनेक जन्मों के बाद भक्तों की सत्संगति करने तथा कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के बाद ही जागृत हो

सकती है। श्रीकृष्ण द्वारा संस्तुत धर्म—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*—के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म को अधर्म समझ कर त्याग देना चाहिए।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्परधर्मोऽन्यचोदितः ।
उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

धर्म-बाधः—अपने धर्म को लागू होने से रोकता है; विधर्मः—धर्म के विरुद्ध; स्यात्—हो; पर-धर्मः—ऐसे धर्म का अनुकरण जिसके लिए वह अनुपयुक्त हो; अन्य-चोदितः—किसी अन्य के द्वारा चालू किया गया; उपधर्मः—मनगढंत धर्म; तु—निस्सन्देह; पाखण्डः—जो वेदों के नियमों, प्रामाणिक शास्त्रों के विरुद्ध है; दम्भः—जो मिथ्या ही गर्वित है; वा—अथवा; शब्द-भित्—शब्द जाल से; छलः—ठगने वाला धर्म।

जो धार्मिक नियम किसी को अपना धर्म पालन करने से रोकते हैं विधर्म कहलाते हैं। अन्यों द्वारा चालू किये गये धार्मिक नियम पर-धर्म कहलाते हैं। जो मिथ्या गर्व करता है और वेदों के नियमों का विरोध करता है उसके द्वारा सृजित नये प्रकार का धर्म उपधर्म कहलाता है। शब्द जाल द्वारा विवेचना छल धर्म है।

तात्पर्य : नये प्रकार के धर्म को जन्म देना इस युग का फैशन बन चुका है। तथाकथित स्वामी और योगी इसका समर्थन करते हैं कि मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रकार के धर्म का पालन कर सकता है क्योंकि सारी प्रणालियाँ अन्ततोगत्वा एक हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में ऐसे फैशनपरस्त विचारों को *विधर्म* कहा गया है क्योंकि ये अपनी ही धार्मिक प्रणाली के विरुद्ध होते हैं। भगवान् ने असली धार्मिक प्रणाली का वर्णन किया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* असली धार्मिक प्रणाली भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करना है। *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के उद्धार के प्रसंग में यमराज कहते हैं—*धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*—असली धर्म वह है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है, जिस प्रकार असली विधिशास्त्र वह है, जो सरकार द्वारा प्रदत्त है। कोई अपने घर में न तो असली विधि (कानून) बना सकता है न ही वास्तविक धर्म बना सकता है। अन्यत्र कहा गया है—*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*—असली धार्मिक प्रणाली वह है, जो मनुष्य को भगवान् का भक्त बना देती है। अतएव प्रगतिशील कृष्णभावनामृत की इस धार्मिक प्रणाली से जो कुछ भी विपरीत है, वह *विधर्म, परधर्म, उपधर्म या छल धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* की गलत व्याख्या *छल-धर्म* है। जब कृष्ण कुछ कहते हैं, किन्तु मूढ़ विवेचक उसका कुछ भिन्न अर्थ लगाते हैं, तो यह

छल धर्म, ठगने का धर्म या *शब्दभित्* या शब्द जाल है। मनुष्य को धर्म की इन छलने वाली विविध प्रणालियों से बचना चाहिए।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथक् ।
स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥ १४॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; इच्छया—मनमाने ढंग से; कृतः—किया गया; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; आभासः—धुँधली छाया; हि—निस्सन्देह; आश्रमात्—जीवन के आश्रम से; पृथक्—भिन्न; स्व-भाव—अपने स्वभाव के अनुसार; विहितः—संयमित; धर्मः—धार्मिक नियम; कस्य—किस बात में; न—नहीं; इष्टः—समर्थ; प्रशान्तये—सभी प्रकार के कष्ट से छुटकारे के लिए।

ऐसी कोई भी बनावटी धार्मिक प्रणाली, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा बनाई गई हो जो जानबूझ कर अपने आश्रम के नियत कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, आभास कहलाती है। किन्तु यदि कोई अपने किसी आश्रम विशेष या वर्ण के अनुसार अपने नियत कर्तव्य करता है, तो फिर वे सारे भौतिक कष्टों को भगाने के लिए पर्याप्त क्यों नहीं हैं?

तात्पर्य : यहाँ यह इंगित किया है कि हर एक को शास्त्रों में दिये वर्ण तथा आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। *विष्णु पुराण* (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और यह है कृष्णभावनाभावित होना। यही सारे वर्णों तथा आश्रमों का लक्ष्य तथा अन्त है। किन्तु यदि विष्णु की पूजा नहीं की जाती तो वर्णाश्रम संस्था के अनुयायी कोई मनगढंगत ईश्वर बना लेते हैं। इस तरह किसी भी धूर्त या मूर्ख के द्वारा अपने को ईश्वर चुनवा लेना एक फैशन बन चुका है और ऐसे अनेक धर्मोपदेशक हैं जिन्होंने अपने-अपने ईश्वर गढ़ लिए हैं और असली ईश्वर से अपना नाता तोड़ लिया है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो देवताओं को पूजता है उसकी बुद्धि नष्ट हो गई होती है। फिर भी हम देखते हैं कि ऐसा निपट अनपढ़ व्यक्ति जिसकी बुद्धि नष्ट हो चुकी होती है ईश्वर चुन लिया जाता है। यद्यपि उसका एक मन्दिर होता है किन्तु उसके संन्यासी मांसभक्षक होते हैं और वहाँ अनेक भ्रष्ट कार्य चलते रहते हैं। ऐसी धार्मिक प्रणाली जो बेचारे अनुयायियों को दिग्भ्रमित करती है पूरी तरह वर्जित है। ऐसे बनावटी धर्मों को एकदम ठप्प कर देना चाहिए।

मूल प्रणाली यह है कि ब्राह्मण वास्तव में ब्राह्मण बने। वह न केवल ब्राह्मण परिवार में जन्म ले, अपितु योग्य भी बने। साथ ही यदि कोई ब्राह्मणकुल में जन्म न ले, किन्तु ब्राह्मण के गुणों से युक्त हो तो उसे ब्राह्मण माना जाये। इस प्रणाली का दृढ़ता से पालन करने से मनुष्य बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही सुखी बन सकता है। *स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।* जीवन का असली उद्देश्य दुख को दूर करना है और शास्त्र के नियमों का पालन करके इसे सरलता से किया जा सकता है।

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थम्—धर्म तथा आर्थिक विकास में; अपि—निस्सन्देह; न—नहीं; ईहेत—प्राप्त करने का प्रयत्न करे; यात्रा-अर्थम्—एकसाथ शरीर और आत्मा के जीवननिर्वाह के लिए; वा—अथवा; अधनः—निर्धन; धनम्—धन; अनीहा—अनिच्छा; अनीहमानस्य—ऐसे व्यक्ति का, जो अपनी जीविका कमाने के लिए प्रयास नहीं करता; महा-अहेः—अजगर; इव—सदृश; वृत्ति-दा—जो प्रयास किये बिना जीविका प्राप्त करता है।.

निर्धन होकर भी मनुष्य को अपने शरीर-निर्वाह के लिए या विख्यात धर्मज्ञ बनने के लिए अपनी आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार एक अजगर एक ही स्थान पर पड़ा रहकर तथा अपनी जीविका के लिए कोई प्रयास (चेष्टा) न करते हुए भी शरीर-निर्वाह के लिए भोजन प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार निष्काम व्यक्ति बिना किसी चेष्टा के अपनी जीविका कमा लेता है।

तात्पर्य : मनुष्य शरीर कृष्णभावनामृत विकसित करने मात्र के लिए मिला है। मनुष्य को अपने शरीर निर्वाह के लिए किसी प्रकार की जीविका अर्जित करने का प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसे अजगर का उदाहरण देकर समझाया गया है। अजगर एक ही स्थान पर लेटा रहता है और अपने उदर-पोषण के लिए जीविकोपार्जन हेतु इधर-उधर नहीं जाता है फिर भी भगवान् की कृपा से उसका पालन होता है। जैसाकि नारद मुनि ने उपदेश दिया है (*भागवत* १.५.१८)—*तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः*—मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए, यहाँ तक कि जीविकोपार्जन की भी नहीं करना चाहिए। इस मनोवृत्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ माधवेन्द्र पुरी कभी किसी से भोजन माँगने नहीं जाते थे। शुकदेव गोस्वामी ने भी कहा है—*कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।* ऐसे व्यक्ति के पास क्यों जाया जाये

जो धन से अन्धा हो गया हो? प्रत्युत मनुष्य को कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए, वे ही सब कुछ प्रदान करेंगे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्यों को, चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, दृढ़ता के साथ कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कृष्ण सारी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे। इस प्रसंग में *अजगर वृत्ति* को अत्यधिक सराहा गया है। कोई अत्यंत निर्धन क्यों न हो, उसे कृष्णभावनामृत मात्र में अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए और अपनी जीविका कमाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टस्य—कृष्णभावनामृत से संतुष्ट व्यक्ति का; निरीहस्य—अपनी जीविका के लिए चेष्टा न करने वाले का; स्व—निज; आत्म-आरामस्य—आत्मतुष्ट का; यत्—जो; सुखम्—सुख; कुतः—कहाँ; तत्—ऐसा सुख; काम-लोभेन—विषय तथा लोभ से प्रेरित; धावतः—इधर-उधर दौने वाले का; अर्थ-ईहया—धन संग्रह करने की इच्छा से; दिशः—सभी दिशाओं में।.

जो आत्मतुष्ट है और अपने कर्मों को प्रत्येक हृदय में निवास करने वाले भगवान् से जोड़ता है, वह अपनी जीविका के लिए चेष्टा किये बिना दिव्य सुख भोगता है। भला उस भौतिकतावादी के लिए ऐसा सुख कहाँ जो विषय तथा लोभ से प्रेरित रहता है और जो धन जोड़ने की इच्छा से सभी दिशाओं में भागता रहता है?

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सदा—सदैव; सन्तुष्ट-मनसः—आत्मतुष्ट व्यक्ति के लिए; सर्वाः—हर वस्तु; शिव-मयाः—शुभ; दिशः—सभी दिशाओं में; शर्करा—कंकड़ों पत्थरों; कण्टक-आदिभ्यः—तथा काँटा आदि से.; यथा—जिस तरह; उपानत्-पदः—ऐसे व्यक्ति के लिए जो पाँवों में जूते पहने हो; शिवम्—कोई भय नहीं है (शुभ)।.

जिसके पाँवों में उचित जूते हों उसे कंकड़-पत्थरों तथा काँटों पर चलने में कोई भय नहीं लगता। उसके लिए सभी कुछ कल्याणमय (शुभ) है। इसी प्रकार जो सदैव आत्मतुष्ट रहता है उसे दुख नहीं सताते; वह सर्वत्र सुख का अनुभव करता है।

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।
औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद्गृहपालायते जनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टः—सदैव आत्मतुष्ट रहने वाला व्यक्ति; केन—क्यों; वा—अथवा; राजन्—हे राजा; न—नहीं; वर्तेत—(सुखपूर्वक) रहना चाहिए; अपि—भी; वारिणा—जल पीकर; औपस्थ्य—विषयेन्द्रियों के कारण; जैह्व्य—तथा जीभ के कारण; कार्पण्यात्—बुरी दशा होने से; गृह-पालायते—घरेलू कुत्ते की तरह बन जाता है; जनः—ऐसा व्यक्ति।.

हे राजन्, आत्मतुष्ट व्यक्ति केवल जल पीकर भी सुखी रह सकता है। किन्तु जो व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा चालित है, विशेष रूप से जो जीभ और जननेन्द्रियों के वश में होता है उसे अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए घरेलू कुत्ते का पद स्वीकार करना पड़ता है।

तात्पर्य : शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण या कृष्णभावनामृत में सुसंस्कृत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए, विशेष रूप से इन्द्रियों की तुष्टि के लिए, किसी की नौकरी नहीं करेगा। असली ब्राह्मण सदा तुष्ट रहता है। यदि उसके पास खाने को कुछ भी नहीं रहता तो वह थोड़ा जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता है। यह अभ्यास की बात है। किन्तु दुर्भाग्यवश किसी को यह शिक्षा नहीं दी जाती कि आत्म-साक्षात्कार में किस तरह तुष्ट रहा जाये। जैसाकि ऊपर बाताया जा चुका है भक्त इसीलिए सदा संतुष्ट रहता है, क्योंकि उसे अपने हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति का आभास होता रहता है और वह उन्हीं के विषय में चौबीसों घंटे चिन्तन करता है। यही असली तुष्टि है। भक्त कभी भी जीभ तथा जननेन्द्रियों के आदेशों पर नहीं चलता अतएव वह कभी भी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित नहीं होता।

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥ १९॥

शब्दार्थ

असन्तुष्टस्य—आत्मतुष्ट न होने वाले; विप्रस्य—ब्राह्मण का; तेजः—बल; विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; यशः—कीर्ति; स्रवन्ति—चुक जाते हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; लौल्येन—लालच से; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; एव—निश्चय ही; अवकीर्यते—धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।.

भक्त या ब्राह्मण जो आत्म-तुष्ट नहीं होता, उसका आध्यात्मिक ज्ञान, विद्या, तपस्या तथा कीर्ति उसकी इन्द्रियलोलुपता के कारण क्षीण हो जाते हैं और उसका ज्ञान शनैः शनैः लुप्त हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥ २०॥

शब्दार्थ

कामस्य—इन्द्रियतृप्ति या शरीर की किसी अविलम्ब आवश्यकता के लिए इच्छा का; अन्तम्—अन्त; हि—निस्सन्देह; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूखे या प्यासे के द्वारा; क्रोधस्य—क्रोध का; एतत्—यह; फल-उदयात्—प्रताड़न का उदय होने तथा उसके फल

से; जनः—मनुष्य; याति—पार कर लेता है; न—नहीं; लोभस्य—लालच का; जित्वा—जीतकर; भुक्त्वा—भोगकर; दिशः—सारी दिशाएँ; भुवः—भूमण्डल की।.

भूख तथा प्यास से पीड़ित मनुष्य की प्रबल शारीरिक इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ भोजन करने के बाद निश्चित रूप से तुष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि कोई क्रोध करता है, तो प्रताड़ना तथा उसके फल द्वारा क्रोध तुष्ट हो जाता है। लेकिन जहाँ तक लालच की बात है, यदि लालची व्यक्ति संसार की सारी दिशाओं को जीत ले या संसार की प्रत्येक वस्तु का भोग कर ले तो भी वह तुष्ट नहीं होगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३७) में कहा गया है कि इस संसार में काम, क्रोध तथा लोभ बद्धजीव के बन्धन के कारण होते हैं। *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* जब इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रबल विषयवासना की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध तभी शमित होता है जब वह अपने शत्रु को ताड़ित कर लेता है, किन्तु जब लोभ बढ़ जाता है, तो भला मनुष्य कृष्णभावनामृत में किस तरह प्रगति कर सकता है क्योंकि लोभ रजोगुण से उत्पन्न सबसे बड़ा शत्रु है।

यदि कोई कृष्णभावनामृत को बढ़ाने के लिए अत्यधिक लोभ करता है, तो यह महान् वरदान है। तब *लौल्यमेकलं मूलम्।* यह सर्वश्रेष्ठ सुलभ मार्ग है।

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पण्डिताः—पण्डित; बहवः—अनेक; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); बहु-ज्ञाः—अनुभवी व्यक्ति; संशय-च्छिदः—कानूनी सलाह देने में पटु; सदसः पतयः—विद्वत् सभाओं का सभापति चुने जाने योग्य व्यक्ति; अपि—भी; एके—एक अवगुण से; असन्तोषात्—केवल असन्तोष या लालसा के कारण; पतन्ति—नीचे गिरते हैं; अधः—जीवन के नरक में।.

हे राजा युधिष्ठिर, अनेक अनुभवी व्यक्ति, अनेक विधि सलाहकार, अनेक विद्वान तथा विद्वत्सभाओं के सभापति बनने योग्य अनेक व्यक्ति अपने-अपने पदों से सन्तुष्ट न होने के कारण नारकीय जीवन में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को भौतिक दृष्टि से संतुष्ट होना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर भौतिक विकास के लालच से उसकी आध्यात्मिक प्रगति अस्त-व्यस्त हो जाएगी। ऐसी दो बातें हैं, जो सारे सद्गुणों को व्यर्थ कर देती हैं। एक है विपन्नता या दरिद्रता। *दरिद्रदोषो गुणराशिनाशी।* यदि कोई फटेहाल (दरिद्र) है, तो उसके सारे सद्गुण व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई

अत्यधिक लालची (लोभी) हो जाता है, तो उसके सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव ऐसा तालमेल होना चाहिए कि मनुष्य दरिद्र न हो, किन्तु वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट होने का प्रयत्न करे तथा लालच न करे। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए भक्त के लिए सर्वश्रेष्ठ सलाह यही है कि वह न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट रहे। फलस्वरूप भक्ति में पारंगत विद्वान सलाह देते हैं कि मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने की चेष्टा न की जाये। ऐसे कार्य केवल वे भक्त कर सकते हैं, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अग्रसर करने में अनुभवी हैं। दक्षिण भारत के सारे *आचार्यों* ने, विशेषतया श्रीरामानुजाचार्य ने, अनेक बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये और उत्तर भारत में वृन्दावन के सभी गोस्वामियों ने बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ने भी गौड़ीय मठ नाम से बड़े-बड़े केन्द्र निर्मित कराये। अतएव मन्दिर निर्माण कराना बुरा नहीं है बशर्ते कि कृष्णभावनामृत के प्रसार के लिए सतर्कता बरती जाये। भले ही ऐसे प्रयास लोभपूर्ण माने जाँय, किन्तु ये यह लोभ कृष्ण को तुष्ट करने के लिए है और सभी आध्यात्मिक कार्य हैं।

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥ २२॥

शब्दार्थ

असङ्कल्पात्—संकल्प से; जयेत्—जीते; कामम्—कामेच्छाओं को; क्रोधम्—क्रोध को; काम-विवर्जनात्—इन्द्रिय इच्छा के विषय को त्याग देने से; अर्थ—धन संग्रह; अनर्थ—दुख का कारण; ईक्षया—मानने से; लोभम्—लोभ को; भयम्—भय को; तत्त्व—सत्य; अवमर्शनात्—विचार करने से।

दृढ़ता-पूर्वक योजनाएँ बनाकर मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति की कामपूर्ण इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। इस प्रकार ईर्ष्या त्यागकर क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, धन संग्रह करने के दोषों पर विचार-विमर्श करके लोभ का परित्याग करना चाहिए और सत्य की विवेचना करके भय का त्याग करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सुझाया है कि किस तरह इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयवासनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कोई भी मनुष्य स्त्रियों के विषय में सोचना नहीं छोड़ सकता क्योंकि इस तरह सोचना स्वाभाविक है; सड़क पर चलते हुए भी उसे अनेक स्त्रियाँ दिखेंगी। किन्तु यदि कोई स्त्री के साथ न रहने का संकल्प कर ले तो वह स्त्री को देखकर भी कामुक नहीं होगा। यदि कोई मैथुन न करने का निश्चय कर ले तो वह विषयवासनाओं पर स्वत: विजय पा

लेगा। इस प्रसंग में उदाहरण दिया जाता है कि यदि कोई भूखा भी हो किन्तु यदि वह किसी दिन उपवास करने का संकल्प कर ले तो वह भूख-प्यास की बाधाओं को विजय प्राप्त कर सकेगा। यदि कोई संकल्प कर ले कि वह किसी से ईर्ष्या नहीं करेगा तो वह सहज ही क्रोध पर विजय पा लेगा। इसी प्रकार वह धन संचय करने की इच्छा को त्याग सकता है मात्र यदि वह इतना ही सोच ले कि अपने पास आये धन की रक्षा करना कितना कठिन है। यदि किसी के पास प्रचुर नकद धन रहता है, तो वह उसे ठीक से संभालने के विषय में चिन्तित रहता है। इस तरह यदि कोई धन संचय के अवगुणों की विवेचना करे तो वह स्वभावत: बिना कठिनाई के अपना व्यवसाय छोड़ सकता है।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आन्वीक्षिक्या—भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में विचार-विमर्श करके; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; दम्भम्—मिथ्या अभिमान को; महत्—वैष्णव; उपासया—सेवा द्वारा; योग-अन्तरायान्—योग के मार्ग में अवरोधों पर; मौनेन—मौन से; हिंसाम्—ईर्ष्या; काम-आदि—इन्द्रिय तृप्ति के लिए; अनीहया—बिना चेष्टा के।

आध्यात्मिक ज्ञान के विवेचन से शोक तथा मोह पर विजय प्राप्त की जा सकती है, महान् भक्त की सेवा करके अहंकाररहित बना जा सकता है, मौन रह कर योग मार्ग के अवरोधों से बचा जा सकता है और इन्द्रियतृप्ति को रोक देने से ही ईर्ष्या पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : यदि किसी का पुत्र मर गया हो तो शोक तथा मोह से प्रभावित होना और मृत पुत्र के लिए रोना स्वाभाविक है। लेकिन *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोकों पर विचार करने से वह शोक तथा मोह पर विजय पा सकता है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।

चूँकि आत्मा का देहान्तर होता है अतएव जिसने जन्म लिया है उसे अवश्यमेव यह शरीर छोड़ना और फिर दूसरा शरीर ग्रहण करना होता है। इसके लिए शोक करना व्यर्थ है। अतएव कृष्ण कहते हैं— *धीरस्तत्र न मुह्यति*—जो धीर है, जो दर्शन का विद्वान है और ज्ञानी है, वह आत्मा के देहान्तरण पर कभी दुखी नहीं हुआ करता।

कृपया भूतजं दु:खं दैवं जह्यात्समाधिना ।

आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥ २४॥

शब्दार्थ

कृपया—अन्य जीवों पर दयालु होने से; भूत-जम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—दुख; दैवम्—भाग्य द्वारा प्रदत्त दुख; जह्यात्—त्याग दे; समाधिना—समाधि या ध्यान द्वारा; आत्म-जम्—शरीर तथा मन के कारण दुख; योग-वीर्येण—हठयोग, प्राणायाम इत्यादि के अभ्यास से; निद्राम्—नींद को; सत्त्व-निषेवया—सतोगुण या ब्राह्मण-गुणों का विकास करके।

मनुष्य को चाहिए कि अन्य जीवों के कारण होने वाले दुखों का प्रतिकार अच्छे आचरण (सदाचार) तथा ईर्ष्या से रहित होकर करे, भाग्य द्वारा प्रदत्त कष्टों का सामना समाधि में ध्यान करके करे और शरीर तथा मन से उत्पन्न दुखों का प्रतिकार हठ योग, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा करे। इसी प्रकार विशेष रूप से सतोगुण का विकास करके खाने के मामले में, निद्रा पर विजय पाई जाये।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसा भोजन करने का अभ्यास करे जिससे अन्य जीवों को कष्ट न पहुँचे। चूँकि किसी द्वारा चिकोटी काटे जाने या मारे जाने पर मुझे कष्ट होता है इसलिए मुझे भी अन्य जीवों को चिकोटी काटने या उन्हें मारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। लोगों को यह पता नहीं रहता कि निर्दोष पशुओं का वध करने के कारण उन्हें प्रकृति के कठोर कर्मफलों को भोगना पड़ेगा। जिस भी देश के लोग अनावश्यक पशु-वध करते हैं उन्हें प्रकृति द्वारा लादे जाने वाले युद्ध तथा महामारी के कष्ट को भोगना पड़ेगा। अतएव अन्यों के कष्ट से अपने कष्टों की तुलना करके मनुष्य को सभी जीवों पर दयालु रहना चाहिए। कोई भाग्य द्वारा थोपे गये कष्टों से बच नहीं सकता अतएव जब कष्ट आ जाये तो मनुष्य को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र के जाप में पूर्णतया लीन हो जाये। मनुष्य हठ योग के अभ्यास से शरीर तथा मन के कष्टों से बच सकता है।

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

रजः तमः—रजो तथा तमो गुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतोगुण विकसित करने से; सत्त्वम्—सतोगुण; च—भी; उपशमेन—आसक्ति त्यागने से; च—तथा; एतत्—ये; सर्वम्—सभी; गुरौ—गुरु में; भक्त्या—भक्तिपूर्वक सेवा करने से; पुरुषः—पुरुष; हि—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; जयेत्—विजय पा सकता है।

मनुष्य को सतोगुण विकसित करके रजोगुण तथा तमोगुण को जीतना चाहिए और तब शुद्ध सत्त्व के पद तक उठ कर सतोगुण से विरक्त हो लेना चाहिए। यदि कोई श्रद्धा तथा

भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा में लगा रहे तो यह सब कुछ स्वतः हो सकता है। इस प्रकार प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : किसी रोग के मूल कारण का उपचार करके शारीरिक वेदनाओं एवं क्लेशों को जीता जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई गुरु के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति करे तो वह सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव पर सरलता से विजय पा सकता है। योगी तथा ज्ञानी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए कई प्रकार से अभ्यास करते हैं, किन्तु गुरु की कृपा से भक्त को तुरन्त ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है। *यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो।* यदि गुरु अनुकूल हों तो मनुष्य को सहज ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और भगवत्कृपा होने पर वह इस संसार में सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभावों को जीतकर तुरन्त दिव्य बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यदि कोई गुरु के आदेशों के अनुसार चलने वाला शुद्ध भक्त हो तो उसे सरलता से भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और वह तुरन्त दिव्य पद पर आरूढ़ होता है। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जो; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवति—भगवान् में; ज्ञान-दीप-प्रदे—जो ज्ञान रूपी दीप से प्रकाशित करता है; गुरौ—गुरु में; मर्त्य-असत्-धीः—गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है और ऐसी प्रतिकूल मनोवृत्ति रखता है; श्रुतम्—वैदिक ज्ञान; तस्य—उसका; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; कुञ्जर-शौच-वत्—झील में हाथी के स्नान के समान।

गुरु को साक्षात् भगवान् मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रकाश के लिए दिव्य ज्ञान प्रदान करता है। फलस्वरूप जो यह भौतिक धारणा रखता है कि गुरु सामान्य मनुष्य होता है उसके लिए हर वस्तु निराशाजनक रहती है। उसका प्रकाश, उसका वैदिक अध्ययन तथा ज्ञान झील में हाथी के स्नान के समान होता है।

तात्पर्य : यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य गुरु का भगवान् के ही समान पद पर सम्मान करे। *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः।* प्रत्येक शास्त्र का यही आदेश है। *आचार्यं मां विजानीयात्*—आचार्य को भगवान् के ही समान मानना चाहिए। इतने उपदेशों के बाद भी यदि कोई गुरु को सामान्य व्यक्ति समझता है, तो उसका विनाश निश्चित है। उसका वेदाध्ययन तथा प्रकाश के लिए उसकी तपस्या सभी व्यर्थ हैं जैसे हाथी का स्नान। हाथी झील में अच्छी तरह स्नान करता है, किन्तु किनारे पर आते ही

धरती से कुछ धूल उठा कर पूरे शरीर पर छिड़क लेता है। इस तरह हाथी के स्नान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब गुरु के सम्बन्धी तथा उसके पड़ोसी उसे सामान्य व्यक्ति मानते हैं, तो इसमें उस शिष्य का कौन सा दोष है, जो गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है? इसका उत्तर अगले श्लोक में मिलेगा। किन्तु आदेश यही है कि गुरु को कभी भी सामान्य व्यक्ति न माना जाए। मनुष्य को गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, क्योंकि यदि गुरु प्रसन्न हो गये तो भगवान् भी प्रसन्न हो गए। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।*

एष वै भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान—प्रकृति के मुख्य कारण; पुरुष—पुरुषावतार भगवान् विष्णु का या समस्त जीवों का; ईश्वरः—परम नियन्ता; योग-ईश्वरैः—बड़े-बड़े साधु पुरुषों या योगियों द्वारा; विमृग्य-अङ्घ्रिः—भगवान् कृष्ण के चरणकमल, जिनकी खोज की जाती है; लोकः—सामान्य जन; यम्—उसको; मन्यते—मानते हैं; नरम्—मनुष्य।

भगवान् कृष्ण अन्य समस्त जीवों के तथा भौतिक प्रकृति के स्वामी हैं। व्यास जैसे महर्षि उनके चरणकमलों की तलाश करते और उन्हें पूजते हैं। तो भी कुछ ऐसे मूर्ख हैं, जो कृष्ण को सामान्य मनुष्य मानते हैं।

तात्पर्य : गुरु को समझने के प्रसंग में भगवान् कृष्ण के परमेश्वर होने का उदाहरण उपयुक्त है। गुरु *सेवक-भगवान्* कहलाता है और कृष्ण *सेव्य-भगवान्* कहलाते हैं जिनकी सेवाकी जानी चाहिए। गुरु पूजक ईश है और भगवान् कृष्ण पूज्य ईश हैं। गुरु और भगवान् में यही अन्तर है।

दूसरी बात—जिस *भगवद्गीता* में भगवान् का उपदेश है, वह बिना किसी हेर-फेर के यथार्थ रूप में गुरु द्वारा प्रस्तुत की जाती है। अतएव परम सत्य गुरु में विद्यमान रहते हैं। श्लोक २६ में *ज्ञानदीपप्रदे* कहा गया है। भगवान् समूचे विश्व को असली ज्ञान देते हैं और उनके प्रतिनिधि रूप में गुरु इस सन्देश को सारे विश्व में ले जाता है। अतएव चरम पद पर गुरु तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं होता। यदि कोई भगवान् कृष्ण या रामचन्द्र को सामान्य व्यक्ति मानता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि भगवान् सामान्य व्यक्ति बन गये हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु को यदि उसके परिवार के लोग सामान्य मनुष्य मानते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सामान्य मनुष्य बन

गया है। गुरु भगवान् के तुल्य है अतएव जो आध्यात्मिक प्रगति करने के गम्भीरता पूर्वक इच्छुक हों उन्हें गुरु को इसी तरह मानना चाहिए। इस समझ में थोड़ा भी हेर-फेर होने से शिष्य के वैदिक अध्ययन तथा तप में विनाश हो सकता है।

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

षट्-वर्ग—**छः तत्त्व, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा छठा मन**; संयम-एकान्ताः—**इन्द्रिय-दमन का चरम लक्ष्य**; सर्वाः—**ऐसे सारे कार्यकलाप**; नियम-चोदनाः—**इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए अन्य विधान**; तत्-अन्ताः—**ऐसे कार्यकलापों का चरमलक्ष्य**; यदि—**यदि**; नो—**नहीं**; योगान्—**ब्रह्म के साथ जुड़ने की कड़ी**; आवहेयुः—**ले जाती है**; श्रम-आवहाः—**समय तथा श्रम का अपव्यय**।

अनुष्ठान (कर्मकाण्ड), विधि-विधान, तपस्या तथा योगाभ्यास—ये सभी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए हैं, किन्तु इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लेने के बाद भी यदि वह भगवान् का ध्यान नहीं करता तो ये सारे कार्यकलाप श्रम के अपव्यय मात्र हैं।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि योगाभ्यास से तथा वैदिक नियमों के अनुसार कर्मकाण्ड करने से गुरु की एकान्त भक्ति किये बिना ही मनुष्य को जीवन के चरम लक्ष्य—परमात्मा—की अनुभूति प्राप्त हो सकती है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि योगाभ्यास से मनुष्य को भगवान् के चिन्तन पद तक पहुँचना चाहिए। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—ध्यान में लीन मनुष्य योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त करता है तब उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार के अभ्यासों से इन्द्रियों को वश में करने की स्थिति में पहुंच सकता है किन्तु इन्द्रियों को वश में करने मात्र से ही कोई ठोस निष्कर्ष को प्राप्त नहीं होता। किन्तु गुरु तथा भगवान् में एकान्त श्रद्धा होने से मनुष्य न केवल इन्द्रियों को वश में करता है, अपितु भगवान् की अनुभूति भी कर लेता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

"जो लोग भगवान् तथा गुरु दोनों पर निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं उन्हीं महात्माओं को वैदिक ज्ञान का आशय स्वतः प्रकट होता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.२३) आगे भी कहा गया है—*तुष्येयं*

सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया तथा *तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्।* गुरु की सेवा करने मात्र से ही अज्ञान के सागर को पार करके भगवद्धाम को लौटा जा सकता है। तब उसे क्रमश: भगवान् के साक्षात् दर्शन होते हैं और वह भगवान् की संगति में जीवन का भोग कर सकता है। योग का चरम लक्ष्य भगवान् के सम्पर्क में आना है। जब तक इसकी प्राप्ति न हो तब तक तथाकथित योगाभ्यास व्यर्थ का श्रम है।

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।
अनर्थाय भवेयु: स्म पूर्तमिष्टं तथासत: ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; **वार्ता-आदय:**—वृत्तिपरक कर्तव्य आदि कार्यकलाप; **हि**—निश्चय ही; **अर्था:**—आय (ऐसे वृत्तिपरक कार्यों से); **योगस्य**—आत्म-साक्षात्कार के लिए योग का; **अर्थम्**—लाभ; **न**—नहीं; **बिभ्रति**—सहायता करते हैं; **अनर्थाय**—अर्थहीन (जन्म-मरण के चक्र में बाँधते हुए); **भवेयु:**—वे हैं; **स्म**—सभी काल में; **पूर्तम् इष्टम्**—वैदिक कर्मकाण्ड; **तथा**—उसी तरह; **असत:**—अभक्त का।

जिस तरह वृत्तिपरक कार्यकलाप या व्यापार के लाभ किसी की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं बन सकते, अपितु वे भौतिक बन्धन के कारण बन जाते हैं उसी तरह वैदिक कर्मकाण्ड ऐसे किसी व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकते जो भगवान् का भक्त नहीं है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने वृत्तिपरक कार्यकलापों से, व्यापार से या कृषि के द्वारा अत्यन्त धनी बन जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा है। आध्यात्मिक उन्नत होना भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने से भिन्न है। यद्यपि जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न होना है, तो भी पथभ्रष्ट होने के कारण अभागे लोग सदैव भौतिक दृष्टि से धनी बनने के प्रयास में लगे रहते हैं, किन्तु ऐसे भौतिक व्यापारों से मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। उलटे, भौतिक व्यापारों से मनुष्य व्यर्थ की आवश्यकताओं के प्रति आकृष्ट होता रहता है, जिसके साथ यह खतरा लगा रहता है कि उसे कहीं निम्न योनि में जन्म न लेना पड़े। जैसी कि *भगवद्गीता* (१४.१८) में में पुष्टि हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा: ॥

"जो सतोगुणी होते हैं, वे धीरे धीरे उच्च लोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक में रह जाते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।" विशेष रूप से इस कलियुग में भौतिक

उन्नति का अर्थ है पतन और निम्न प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली अनावश्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण। अतएव *जघन्यगुणवृत्तिस्था*—चूँकि लोग निम्न गुणों से कुलषित रहते हैं, अतएव वे अगले जन्मों में या तो पशु या अन्य कोई निम्न योनि में जीवन बिताएँगे। कृष्णभावनामृत के बिना धर्म का दिखावा भले ही अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में किसी को लोकप्रिय बना दे, किन्तु वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति का ऐसा स्वाँग किसी को लाभ नहीं पहुँचाता; यह किसी को जीवन लक्ष्य को चूकने से नहीं रोकेगा।

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।
एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भैक्ष्यमिताशनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; चित्त-विजये—मन को जीतकर; यत्तः—लगा रहता है; स्यात्—हो; निःसङ्गः—दूषित संगति से रहित; अपरिग्रहः—आश्रित न रहकर (परिवार पर); एकः—अकेले; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान की शरण लेकर; भिक्षुः—संन्यासी; भैक्ष्य—केवल शरीर पालन के लिए भीख माँग कर; मित-अशनः—कम खाने वाला।

जो मन पर विजय पाने का इच्छुक हो उसे अपने परिवार का साथ छोड़ते हुए दूषित संगित से मुक्त एकान्त स्थान में रहना चाहिए। अपने शरीर-पोषण के लिए उसे उतना ही माँगना चाहिए जितने से जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ।

तात्पर्य : मन की चंचलता को जीतने की यही विधि है। मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह अपना परिवार त्याग कर अकेले रहे और भीख माँग कर जीवन निर्वाह करे तथा उतना ही भोजन करे जितने से वह जीवित रहा जा सके। ऐसी विधि के बिना कामेच्छाओं पर विजय नहीं पाई जा सकती। संन्यास का अर्थ है भिक्षा वृत्ति स्वीकार करना जिससे मनुष्य स्वतः विनम्र तथा कामेच्छा से मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग में *स्मृति* का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

द्वन्द्वाहतस्य गार्हस्थ्यं ध्यानभङ्गादिकारणम्।

लक्षयित्वा गृही स्पष्टं संन्यसेद् अविचारयन्॥

द्वन्द्वयुक्त इस जगत में पारिवारिक जीवन ही वह कारण है, जिससे मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन या ध्यान नष्ट होता है। इस तथ्य को विशेष तौर पर समझते हुए मनुष्य को निःसंकोच संन्यास आश्रम स्वीकार करना चाहिए।

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः ।

स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

देशे—स्थान पर; शुचौ—अत्यन्त पवित्र; समे—समतल; राजन्—हे राजा; संस्थाप्य—रखकर; आसनम्—आसन पर; आत्मनः—स्वयं को; स्थिरम्—अत्यन्त स्थिर; सुखम्—सुखपूर्वक; समम्—समतल; तस्मिन्—उस आसन पर; आसीत—बैठ जाये; ऋजु-अङ्गः—शरीर को सीधा करके; ॐ—वैदिक मंत्र प्रणव; इति—इस प्रकार।

हे राजा, योग सम्पन्न करने के लिए पवित्र तथा पुण्य तीर्थस्थल में किसी एक स्थान को चुने। यह स्थान समतल हो—न तो अधिक ऊँचा और न नीचा। तब वहाँ सुखपूर्वक स्थिर तथा समभाव से बैठकर शरीर को सीधा रखकर वैदिक प्रणव का उच्चारण प्रारम्भ करे।

तात्पर्य : सामान्यतया ॐ जप की संस्तुति की जाती है, क्योंकि प्रारम्भ में भगवान् को समझना कठिन होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते॥

"जो विद्वान अध्यात्मवादी परम सत्य को जानते हैं, वे इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।" जब तक कोई भगवान् के विषय में पूर्णतः आश्वस्त नहीं हो जाता, उसके अपने हृदय के भीतर परमात्मा को ढूँढ़ते हुए निर्विशेष योगी बननेकी सम्भावना होती है (*ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*)। यहाँ पर ओङ्कार जप की संस्तुति की गई है, क्योंकि दिव्य अनुभूति के प्रारम्भ में हरे कृष्ण महामंत्र का जाप न करके मनुष्य ओङ्कार (प्रणव) का जाप कर सकता है। हरे कृष्ण महामंत्र तथा ओङ्कार में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्तियाँ हैं। *प्रणवः सर्ववेदेषु।* समस्त वैदिक वाङ्मय में ओङ्कार ध्वनि ही शुभारम्भ है (*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*)। ओङ्कार के जप तथा हरे कृष्ण मंत्र के जप में यही अन्तर है कि हरे कृष्ण मंत्र का जप स्थान या आसन का विचार किये बिना किया जा सकता है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (६.११) में की गई है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

"योगाभ्यास के लिए मनुष्य को एकान्त स्थान में जाना चाहिए और भूमि पर कुश बिछाकर उसके ऊपर मृगचर्म तथा मुलायम कपड़ा डाल देना चाहिए। आसन न तो अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा।

इसे पवित्र स्थान में होना चाहिए।" हरे कृष्ण मंत्र को कोई भी व्यक्ति स्थान या आसन का विचार किये बिना जप सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट कहा है—*नियमित: स्मरणे न काल: ।* हरे कृष्ण महामंत्र के जप करने के लिए आसन के विषय में कोई विशिष्ट आदेश नहीं है। *नियमत: स्मरणे न काल:* नामक आदेश में देश, काल तथा पात्र सभी समाविष्ट हैं। अतएव कोई भी व्यक्ति देश तथा काल का ध्यान रखे बिना हरे कृष्ण मंत्र का जप कर सकता है। विशेषतया इस कलियुग में *भगवद्गीता* द्वारा संस्तुत उपयुक्त स्थान खोज पाना कठिन है। किन्तु हरे कृष्ण महमंत्र का जप किसी भी स्थान में और किसी भी समय किया जा सकता है और इससे तुरन्त ही फल मिलता है। फिर भी हरे कृष्ण मंत्र का जप करते हुए विधि-विधानों का पालन किया जा सकता है। अत: जप के समय शरीर को सीधा रखा जाये। इससे जापक को सहायता मिलेगी अन्यथा उसे नींद आ सकती है।

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात्पूरकुम्भकरेचकैः ।
यावन्मनस्त्यजेत्कामान्स्वनासाग्रनिरीक्षणः ॥ ३२ ॥
यतो यतो नि:सरति मनः कामहतं भ्रमत् ।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्राण—भीतर जाने वाली श्वास; अपानौ—बाहर निकलने वाली श्वास; सन्निरुन्ध्यात्—रोके रहे; पूर-कुम्भक-रेचकैः—श्वास भीतर खींचना, बाहर निकालना तथा रोकना, इन तीनों को क्रमशः पूरक, कुम्भक तथा रेचक कहा जाता है; यावत्—जब तक; मनः—मन; त्यजेत्—छोड़ दे; कामान्—सारी भौतिक इच्छाएँ; स्व—अपनी; नास-अग्र—नाक का अग्रभाग; निरीक्षणः—देखना; यतः यतः—जहाँ कहीं से जे कुछ; निःसरति—निकलती है; मनः—मन; काम-हतम्—कामेच्छाओं से पराजित होकर; भ्रमत्—घूमते हुए; ततः ततः—यहाँ-वहाँ से; उपाहृत्य—वापस लाकर; हृदि—हृदय के भीतर; रुन्ध्यात्—रोके (मन को); शनैः—अभ्यास से, धीरे-धीरे; बुधः—विद्वान योगी।

विद्वान योगी अपनी नाक के अग्रभाग पर निरन्तर दृष्टि लगाकर पूरक, कुम्भक तथा रेचक नामक श्वास लेने के आसन का—अर्थात् वह श्वास भीतर ले जाने, बाहर निकालने और फिर दोनों को रोक देने का—अभ्यास करता है। इस प्रकार योगी अपने मन को भौतिक आसक्तियों से रोकता है और सारी मानसिक इच्छाएँ त्याग देता है। ज्योंही मन कामेच्छाओं के वशीभूत होकर इन्द्रियतृप्ति की भावनाओं की ओर हटे त्योंही योगी को उसे तुरन्त वापस लाकर हृदय के भीतर बाँध लेना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर योगाभ्यास का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। जब यह योगाभ्यास परिपूर्ण होता है, तो योगी को अपने हृदय के भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* (६.४७) में भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

''योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मुझमें सदैव वास करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक बँध जाता है और वह सर्वश्रेष्ठ है।'' भक्त तुरन्त ही सिद्ध योगी बन सकता है क्योंकि वह अपने हृदय में सदैव कृष्ण को धारण करते हुए अभ्यास करता है। योगाभ्यास की यह अन्य विधि है। भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बन जाओ। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो।'' (*भगवद्गीता* १८.६५) यदि कोई कृष्ण को सदा अपने हृदय में धारण करके (*मद्भक्तः*) भक्ति करता है, तो वह तुरन्त उच्चकोटि का योगी बन जाता है। दूसरे, कृष्ण को मन के भीतर रखना भक्त के लिए कोई कठिन कार्य नहीं। देहात्मबुद्धि के सामान्य मनुष्य के लिए तो योगाभ्यास सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु जो तुरन्त ही भक्ति करने लगता है, वह बिना किसी कठिनाई के तुरन्त पूर्ण योगी बन जाता है।

एवमभ्यस्यतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; अभ्यस्यतः—इस योग पद्धति का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का; चित्तम्—हृदय; कालेन—कालान्तर में; अल्पीयसा—तुरन्त ही; यतेः—योगाभ्यासी व्यक्ति का; अनिशम्—बिना रुके, निरन्तर; तस्य—उसका; निर्वाणम्—समस्त कल्मष से शुद्धि; याति—प्राप्त करता है; अनिन्धन—बिना लपट या धुँआ के; वह्निवत्—आग के समान।

जब योगी इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करता है, तो अल्प काल में उसका हृदय स्थिर हो जाता है और विचलित नहीं होता जिस प्रकार लपट या धूम से रहित अग्नि स्थिर हो जाती है।

तात्पर्य : *निर्वाण* का अर्थ है समस्त भौतिक इच्छाओं का अन्त। कभी-कभी इच्छारहित होना मन की क्रियाशीलता की समाप्ति का द्योतक होता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीव के इन्द्रियाँ होती हैं

और यदि ये इन्द्रियाँ कार्य करना बन्द कर दें तो जीव जीव न रहे, वह जड़ हो जाये—पत्थर या काठ की तरह। ऐसा सम्भव नहीं है। जीवित रहने के कारण जीव *नित्य* तथा *चेतन* है। जो लोग बहुत बढ़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें भौतिक इच्छाओं द्वारा मन को विचलित होने से रोकने के लिए योगाभ्यास करने के लिए कहा जाता है, किन्तु यदि कोई अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों पर स्थिर कर लेता है, तो उसका मन सहज ही शान्त हो जाता है। इस शान्ति का वर्णन *भगवद्गीता* (५.२९) में हुआ है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

यदि कोई यह समझ सके कि कृष्ण परम भोक्ता, हर वस्तु के परम स्वामी तथा सबों के परम मित्र हैं, तो उसे शान्ति प्राप्त होती है और वह भौतिक क्षोभ से मुक्त हो जाता है। किन्तु जो भगवान् को नहीं समझ सकता है उसके लिए योगाभ्यास करने की संस्तुति की जाती है।

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

काम-आदिभिः—विभिन्न कामेच्छाओं से; अनाविद्धम्—अप्रभावित; प्रशान्त—शान्त; अखिल-वृत्ति—हर तरह से अथवा सारे कार्यों में; यत्—जो; चित्तम्—चेतना; ब्रह्म-सुख-स्पृष्टम्—शाश्वत आनन्द के दिव्य पद पर स्थित; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उत्तिष्ठेत—बाहर आ सकता है; कर्हिचित्—किसी समय।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक कामेच्छाओं से अदूषित होती है, तो वह सभी कार्यों में शान्त हो जाती है, क्योंकि मनुष्य नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त होता है। एक बार इस पद पर स्थित हो जाने पर मनुष्य फिर भौतिक कार्यकलापों की ओर वापस नहीं जाता।

तात्पर्य : ब्रह्मसुखस्पृष्टम् का वर्णन *भगवद्गीता* में भी (१८.५४) हुआ है—

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो दिव्य पद पर स्थिर है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूरी तरह प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोच करता है व कभी किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव के प्रति समभाव रखता है। इस स्थिति में वह दिव्य कार्यकलाप या भगवद्भक्ति प्रारम्भ करता है।" सामान्यतया एक बार *ब्रह्मसुख* को प्राप्त मनुष्य फिर कभी नीचे नहीं आता। किन्तु यदि कोई भक्ति नहीं करता तो

भौतिक जगत में वापस आने की सम्भावना बनी रहती है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः*—मनुष्य *ब्रह्मसुख* पद तक ऊपर जा सकता है, किन्तु वह वहाँ से भी भौतिक जगत में गिर सकता है यदि वह अपने को भक्ति में नहीं लगाता।

यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात्पुनः ।
यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्रव्रज्य—वन जाकर (दिव्य सुख में स्थिर होकर); गृहात्—घर से; पूर्वम्—सर्वप्रथम; त्रि-वर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम, ये तीन सिद्धान्त; आवपनात्—बोये गये खेत में से; पुनः—फिर; यदि—यदि; सेवेत—स्वीकार करना चाहिए; तान्—भौतिकतावादी कार्यकलापों को; भिक्षुः—संन्यासी; सः—वह पुरुष; वै—निस्सन्देह; वान्त-आशी—वमन करके खाने वाला; अपत्रपः—लज्जारहित, निर्लज्ज।

जो संन्यास आश्रम स्वीकार करता है, वह धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन भौतिकतावादी कार्यकलापों के सिद्धान्तों को छोड़ देता है, जिनमें मनुष्य गृहस्थ जीवन में लिप्त रहता है। जो व्यक्ति पहले संन्यास स्वीकार करता है, किन्तु बाद में ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं में लौट आता है, वह वान्ताशी अर्थात् अपनी ही वमन को खाने वाला कहलाता है। निस्सन्देह, वह निर्लज्ज व्यक्ति है।

तात्पर्य : सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों का नियमन वर्णाश्रम धर्म संस्थान द्वारा होता है। वर्णाश्रम धर्म के बिना सारे भौतिकतावादी कार्यकलाप पशु-जीवन की सृष्टि करते हैं। मनुष्य-जीवन में वर्ण तथा आश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के नियमों का पालन करते हुए मनुष्य को अन्ततोगत्वा संन्यास स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि संन्यास आश्रम में ही मनुष्य *ब्रह्मसुख* में स्थित हो सकता है। ब्रह्मसुख में मनुष्य कामेच्छाओं से आकृष्ट नहीं होता। जब कोई मैथुन की कामेच्छा से विचलित नहीं होता तो वह संन्यासी बनने के लिए उपयुक्त है, अन्यथा संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई *अपरिपक्व* अवस्था में संन्यास ग्रहण करे तो सम्भावना रहती है कि वह स्त्रियों से तथा कामेच्छाओं से आकर्षित हो जाए और पुनः तथाकथित गृहस्थ बन जाये। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त निर्लज्ज होता है और *वान्ताशी* कहलाता है—ऐसा व्यक्ति जो उगले हुए को खाता है। वह निश्चय ही निन्दनीय जीवन बिताता है। अतएव हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह सलाह दी

जाती है कि संन्यासी तथा ब्रह्मचारी स्त्री-संगति से दूर रहें जिससे कामेच्छाओं का शिकार होकर पतित होने की सम्भावना न रह जाये।

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मवत् ।
त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यैः—जिन संन्यासियों द्वारा; स्व-देहः—अपना शरीर; स्मृतः—मानते हैं; अनात्मा—आत्मा से भिन्न; मर्त्यः—मृत्यु से प्रभावित; विट्—मल या विष्ठा बन कर; कृमि—कीड़े-मकोड़े; भस्म-वत्—या राख के सदृश; ते—ऐसे लोग; एनम्—इस शरीर को; आत्मसात् कृत्वा—फिर से अपने साथ पहचान करके; श्लाघयन्ति—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह कर महिमा गाते हैं; हि—निस्सन्देह; असत्-तमाः—सबसे बड़े धूर्त।

जो संन्यासी पहले यह समझते हैं कि शरीर मर्त्य है और यह विष्ठा, कृमि या राख में परिणत हो जाएगा किन्तु जो पुनः शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं तथा आत्मा कहकर उसका गुणगान करते हैं उन्हें सबसे बड़ा धूर्त मानना चाहिए।

तात्पर्य : संन्यासी वह होता है, जो ज्ञान में उन्नति करके यह भलीभाँति समझ चुका है कि ब्रह्म स्वयं आत्मा है, शरीर नहीं। जिसे यह समझ है, वह संन्यास ग्रहण कर सकता है, क्योंकि वह *अहं ब्रह्मास्मि* पद पर स्थित होता है। *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।* जो व्यक्ति न तो शोच करता है न अपने शरीर के पालन करने की लालसा करता है, किन्तु सभी जीवों को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकता है, वह भगवान् की भक्ति कर सकता है। यदि वह भगवद्भक्ति में प्रवेश नहीं करता, अपितु यह समझे बिना कि आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं बनावटी तौर पर अपने को ब्रह्म या नारायण मानता है, तो वह निश्चित रूप से नीचे गिरता है (*पतन्त्यधः*)। ऐसा व्यक्ति फिर से शरीर को महत्त्व प्रदान करता है। भारत में ऐसे अनेक संन्यासी हैं, जो शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं और उन में से कुछ निर्धन मनुष्य के शरीर को विशेष महत्त्व देते हुए उसे *दरिद्र नारायण* के रूप में स्वीकार करते हैं मानो नारायण के भौतिक शरीर होता हो। अन्य अनेक संन्यासी शरीर की सामाजिक स्थिति के महत्त्व पर बल देते हैं—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। ऐसे संन्यासी सबसे बड़े धूर्त (*असत्तमाः*) समझे जाते हैं। वे निर्लज्ज हैं, क्योंकि उन्हें अभी तक शरीर तथा आत्मा का अन्तर ज्ञात नहीं हो पाया है और उल्टे वे ब्राह्मण के शरीर को ही ब्राह्मण मानते हैं। ब्राह्मणत्व ब्रह्म के ज्ञान में निहित है। ब्राह्मण का शरीर ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार शरीर न तो धनी होता है न दरिद्र। यदि दरिद्र का शरीर *दरिद्र नारायण*

होता तो फिर धनाढ्य व्यक्ति का शरीर *धनी नारायण* कहलाता। अतएव जो संन्यासी नारायण का अर्थ नहीं जानते, जो शरीर को ब्रह्म या नारायण मानते हैं, वे यहाँ पर अत्यन्त घृणित धूर्तों के रूप में (*असत्तमाः*) वर्णित किए गये हैं। देहात्मबुद्धि के वशीभूत हुए ऐसे संन्यासी शरीर की सेवा करने के विविध कार्यक्रम बनाते हैं। वे तथाकथित धार्मिक कृत्यों की हास्यास्पद संस्थाओं का संचालन करके जनता को गुमराह करते हैं। यहाँ पर ऐसे संन्यासियों को *अपत्रपः* तथा *असत्तमाः* अर्थात् निर्लज्ज तथा आध्यात्मिक जीवन से पतित कहा गया है।

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥ ३८ ॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बनाः ।
देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृहस्थस्य—गृहस्थ जीवन में स्थित व्यक्ति का; क्रिया-त्यागः—गृहस्थ के कर्तव्य को छोड़ना; व्रत-त्यागः—व्रतों तथा तपस्या का त्याग; वटोः—ब्रह्मचारी के लिए; अपि—भी; तपस्विनः—वानप्रस्थ के लिए, वह जिसने तप युक्त जीवन स्वीकार किया है; ग्राम-सेवा—गाँव में रहकर लोगों की सेवा करना; भिक्षोः—भीख माँग कर रहने वाले संन्यासी के लिए; इन्द्रिय-लोलता—इन्द्रियभोग में अनुरक्ति; आश्रम—आश्रम का; अपसदाः—अत्यन्त गर्हित; हि—निस्सन्देह; एते—ये सब; खलु—निस्सन्देह; आश्रम-विडम्बनाः—विभिन्न आश्रमों का अनुसरण करते और धोखा देते; देव-माया-विमूढान्—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्तों को; तान्—उन; उपेक्षेत—उपेक्षा करे और प्रमाणित न माने; अनुकम्पया—अथवा दया द्वारा (उन्हें असली जीवन की शिक्षा दे)।

गृहस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति के लिए विधि-विधानों का परित्याग करना, गुरु के संरक्षण में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, वानप्रस्थ के लिए गाँव में रहना और तथाकथित सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहना अथवा संन्यासी के लिए इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहना निन्दनीय हैं। जो ऐसा करता है, वह अत्यन्त निम्न श्रेणी का माना जाता है। ऐसा दिखावटी व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को किसी भी पद से निकाल दे या हो सके तो उस पर दया करके उसे शिक्षा दे जिससे वह अपने मूल पद पर वापस चला जाए।

तात्पर्य : हमने बारम्बार जोर देकर यह बात कही है कि मानव संस्कृति तब तक प्रारम्भ नहीं होगी जब तक मनुष्य *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों को ग्रहण नहीं करता। यद्यपि गृहस्थ जीवन में विषय-भोग के लिए छूट है, किन्तु कोई भी व्यक्ति गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों का पालन किये बिना यौन

सुख नहीं उठा सकता। इसी तरह ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए—*ब्रह्मचारी* गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्। यदि ब्रह्मचारी अपने गुरु के संरक्षण में नहीं रहता यदि वानप्रस्थी सामान्य कार्यों में लगता है या संन्यासी लालची होता है और जीभ के स्वाद के लिए मांस, अण्डा तथा व्यर्थ की सभी वस्तुएँ खाता है, तो वह वञ्चक है और तुरन्त ही उसे महत्त्वहीन समझ कर त्याग देना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों पर अनुकम्पा की जानी चाहिए और यदि किसी में पर्याप्त बल हो तो ऐसे व्यक्तियों को जीवन के गलत मार्ग पर चलने से रोकना चाहिए। अन्यथा उनका बहिष्कार करके और उन पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।

आत्मानं चेद्विजानीयात्परं ज्ञानधुताशयः ।
किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा को; चेत्—यदि; विजानीयात्—समझ सकता है; परम्—दिव्य, इस जगत से परे; ज्ञान—ज्ञान से; धुत-आशयः—जिसने अपनी चेतना विमल कर ली है; किम्—क्या; इच्छन्—भौतिक सुविधाओं की इच्छा करते हुए; कस्य—किसके लिए; वा—अथवा; हेतोः—किस कारण से; देहम्—भौतिक शरीर को; पुष्णाति—पालन-पोषण करता है; लम्पटः—अवैध रूप से इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहकर।

मनुष्य का शरीर आत्मा तथा परमात्मा को जानने के निमित्त होता है और ये दोनों आध्यात्मिक पद पर स्थित हैं। यदि उच्च ज्ञान से परिष्कृत हुए व्यक्ति द्वारा इन दोनों को जाना जा सकता है, तो फिर मूर्ख तथा लालची व्यक्ति किसके लिए और किस कारण से इस शरीर का पालन इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है?

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का पालनपोषण करने में रुचि रखता है, किन्तु ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य धीरे-धीरे यह जान लेना चाहिए कि शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक जगत से परे हैं। इसे मनुष्य जीवन में, विशेष रूप से जब कोई संन्यास ग्रहण करता है, समझ लेना चाहिए। जिस संन्यासी ने आत्मा को समझ लिया है उसे आत्मा को ऊपर उठाने तथा परमात्मा की संगति करने में लगना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीव को ऊपर उठाकर भगवद्धाम वापस ले जाने के निमित्त है। ऐसे उत्थान के लिए प्रयास करना मनुष्य जीवन का कर्तव्य है। जब कोई अपना यह कर्तव्य पूरा नहीं करता, तो वह शरीर का पालन क्यों करे? विशेष रूप से जब संन्यासी न केवल साधारण उपायों द्वारा शरीर पालन की चेष्टा

करता है, अपितु मांसाहार तथा अन्य गर्हित वस्तुओं के द्वारा शरीर का पालन करता है, तो वह *लम्पट* होता है—ऐसा लालची व्यक्ति जो इन्द्रियतृप्ति मात्र में लगा रहता है। *संन्यासी* को जीभ, पेट तथा प्रजनन इन्द्रियों की सारी प्रेरणाओं से विलग हो जाना चाहिए, क्योंकि ये तब तक विचलित करती हैं जब तक वह यह नहीं जान लेता कि शरीर आत्मा से भिन्न है।

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं
सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आहुः—कहा गया है; शरीरम्—शरीर को; रथम्—रथ; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; हयान्—घोड़े; अभीषून्—लगाम; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशम्—स्वामी; वर्त्मानि—लक्ष्य; मात्राः—इन्द्रियविषय; धिषणाम्—बुद्धि को; च—तथा; सूतम्—सारथी, रथ हाँकने वाला; सत्त्वम्—चेतना को; बृहत्—महान; बन्धुरम्—बन्धन; ईश—परमेश्वर द्वारा; सृष्टम्—रचा गया।

ज्ञान में बढ़े-चढ़े अध्यात्मवादी भगवान् के आदेश से बने शरीर की तुलना रथ से करते हैं; इन्द्रियाँ घोड़ों के तुल्य हैं; इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम सदृश है, इन्द्रियविषय गन्तव्य हैं, बुद्धि सारथी है और सारे शरीर में व्याप्त चेतना इस भौतिक जगत के बन्धन का कारण है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन में मोहग्रस्त व्यक्ति के लिए इन्द्रियतृप्ति में लगे शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन के कारण हैं। किन्तु जो अध्यात्मज्ञानी हैं, उनके लिए वही शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन मुक्ति के कारण हैं। इसकी पुष्टि *कठोपनिषद्* (१.३.३-४, ९) में की गई है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है, जिसका सारथी बुद्धि है। मन गंतव्य तक पहुँचने का संकल्प है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और इन्द्रियविषय इसी कार्य में सम्मिलित हैं। इस प्रकार मनुष्य गन्तव्य विष्णु तक पहुँच सकता है, जो जीवन के परम लक्ष्य हैं (*परमं पदम्*)। बद्ध जीवन में शरीर की चेतना बन्धन का

कारण है, किन्तु यही चेतना जब कृष्णभावनामृत में रूपान्तरित होती है, तो यह सबों के भगवद्धाम लौटने का कारण बनती है।

इसलिए मनुष्य-शरीर का उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है—अज्ञान के गहनतम भागों में जाने या भगवद्धाम वापस जाने के लिए। भगवद्धाम जाने का मार्ग *महत्-सेवा* अर्थात् स्वरूपसिद्ध गुरु स्वीकार करना है। *महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते:।* मुक्ति के लिए प्रामाणिक भक्तों के निर्देश मानने चाहिए क्योंकि वे ही पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाले हैं। दूसरी ओर, *तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*—यदि संसार के गहनतम भागों में जाना हो तो स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की संगति करता रहे (*योषितां सङ्गिसङ्गम्*)। *योषित्* शब्द का अर्थ है ''स्त्री''। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी होते हैं, वे स्त्रियों पर आसक्त रहते हैं।

इसीलिए कहा गया है—*आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।* यह शरीर रथ के समान है, जिससे कहीं भी जाया जा सकता है। चाहे इसे कुशलता से चलाए या फिर मनमाने ढंग से—तब वह किसी खड्डे में गिर सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अनुभवी गुरु से आदेश ग्रहण करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। अतएव कृष्ण उपदेश देते हैं—

अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

''जो लोग भक्ति के मार्ग पर श्रद्धालु नहीं हैं, हे शत्रुओं के विजेता! वे मुझे नहीं पा सकते, अपितु इस संसार में जन्म-मरण में लौट आते हैं।'' (*भगवद्गीता* ९.३) साक्षात् भगवान् उपदेश देते हैं कि कोई किस प्रकार भगवद्धाम लौट सकता है, किन्तु यदि कोई उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता तो वह भगवद्धाम वापस न जाकर इसी संसार में जन्म-मृत्यु के दुखमय चक्र में जीवन बिताता है (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)।

अतएव अनुभवी अध्यात्मवादियों की सलाह है कि शरीर को जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने में लगाए रखा जाए (*स्वार्थगतिम्*)। जीवन का वास्तविक लक्ष्य तो भगवद्धाम वापस जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक वैदिक ग्रंथ हैं यथा *वेदान्त सूत्र, उपनिषद, भगवद्गीता, महाभारत* तथा

रामायण। मनुष्य को इन वैदिक ग्रंथों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और *निवृत्ति* मार्ग का अभ्यास करना चाहिए। तभी उसका जीवन सफल हो सकेगा। शरीर तभी तक महत्त्वपूर्ण है जब तक उसमें चेतना है। चेतनाहीन शरीर पदार्थ का पिंड है। अतएव भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य की चेतना ही उसके भवबन्धन का कारण है किन्तु यदि इस चेतना को भक्तियोग से शुद्ध कर दिया जाय तो उसे अपनी *उपाधि* की—कि वह भारतीय, अमरीकी, मुसलमान, क्रिस्तानी है—*असत्यता* का बोध हो सकेगा। *सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।* मनुष्य को सारी उपाधियाँ भूलकर अपनी चेतना का उपयोग कृष्ण की सेवा में करना चाहिए। अतएव यदि कोई कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठाए तो उसका जीवन निश्चित रूप से सफल हो जाए।

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ
चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अक्षम्—अरा (रथ के पहिये के); दश—दस; प्राणम्—शरीर के भीतर प्रवाहित होने वाली दस प्रकार की वायु; अधर्म—अधर्म; धर्मौ—तथा धर्म (पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग); चक्रे—पहिए में; अभिमानम्—मिथ्या पहचान; रथिनम्—रथ का स्वामी या शरीर का स्वामी; च—भी; जीवम्—जीव; धनुः—धनुष; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; प्रणवम्—वैदिक ओङ्कार मंत्र; पठन्ति—कहा जाता है; शरम्—तीर; तु—लेकिन; जीवम्—जीव; परम्—परमेश्वर; एव—निस्सन्देह; लक्ष्यम्—लक्ष्य।

शरीर के भीतर कार्यशील दस प्रकार की वायुओं की तुलना रथ के पहिए के अरों (तीलियों) से की गई है और इस पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग धर्म तथा अधर्म कहलाते हैं। देहात्मबुद्धि में रहने वाला जीव रथ का स्वामी है। वैदिक प्रणव मंत्र ही धनुष है, साक्षात् शुद्ध जीव तीर है और परम पुरुष उसका लक्ष्य है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर दस प्रकार की वायुओं का संचार सदा होता रहता है। इनके नाम हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय। इनकी तुलना यहाँ रथ के पहिए के अरों से की गई है। प्राणवायु जीवों के समस्त कार्यकलापों की शक्ति है और ये कार्यकलाप कभी धार्मिक होते हैं, तो कभी अधार्मिक। इस प्रकार धर्म तथा अधर्म रथ के पहियों के ऊपरी तथा निचले भाग कहे जाते हैं। जब जीव भगवद्धाम जाने का निश्चय करता है, तो उसका लक्ष्य भगवान् विष्णु रहता है। बद्धावस्था में मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि उसका जीवन-लक्ष्य परमेश्वर है। *न ते*

विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुः दुराशया ये बहिरर्थमानिनः। जीव इस भौतिक जगत में सुखी रहने का प्रयास करता है किन्तु अपने जीवन-लक्ष्य को नहीं जान पाता। किन्तु जब वह जीवात्मा शुद्ध हो जाता है, तो वह देहात्मबुद्धि की धारणा को त्याग देता है और वह अपने को किसी जाति, राष्ट्र, समाज, परिवार इत्यादि से सम्बन्धित होने की झूठी पहचान को त्याग देता है (*सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्*)। तब वह अपने विमल जीवन का तीर लेकर *प्रणव* या हरे कृष्ण मंत्र के दिव्य कीर्तन रूपी धनुष की सहायता से अपने आपको भगवान् की ओर फेंकता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है कि चूँकि इस श्लोक में धनुष और बाण शब्द आये हैं अतएव कोई यह तर्क कर सकता है कि भगवान् तथा जीव परस्पर शत्रु हो गए हैं। यद्यपि भगवान् जीव का तथाकथित शत्रु बन सकता है किन्तु यह भगवान् का वीररस से युक्त विनोद है। उदाहरणार्थ भगवान् ने भीष्म से युद्ध किया और जब भीष्म ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् के शरीर को तीरों से बेध डाला तो यह बारह प्रकार के भावों में से एक प्रकार का विनोद-भाव या सम्बन्ध था। जब बद्धजीव भगवान् पर तीर चला कर उन तक पहुँचना चाहता है, तो भगवान् को आनन्द मिलता है और जीव को भगवद्धाम जाने का लाभ मिलता है। इस सम्बन्ध में दिया गया दूसरा उदाहरण अर्जुन का है, जिसने *आधार मीन* या *चक्र* के भीतर लगी मछली को वेध कर द्रौपदी की संगति प्राप्त की। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन रूपी बाण से भगवान् विष्णु के चरणकमलों को वेध देता है, तो उसे भक्ति के इस शौर्यपूर्ण कार्य के लिए भगवद्धाम वापस जाने का लाभ मिलता है।

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥ ४३ ॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

रागः—आसक्ति; द्वेषः—शत्रुता; च—भी; लोभः—लालच; च—भी; शोक—सन्ताप; मोहौ—मोह; भयम्—भय; मदः—पागलपन; मानः—प्रतिष्ठा; अवमानः—अपमान; असूया—छिद्रान्वेषण, दूसरों के कार्यों में से दोष ढूँढ़ना; च—भी; माया—छलावा; हिंसा—ईर्ष्या; च—भी; मत्सरः—असहिष्णुता; रजः—रजोगुण (कामेच्छा); प्रमादः—मोह; क्षुत्—भूख; निद्रा—नींद; शत्रवः—शत्रु; तु—निस्सन्देह; एवम् आदयः—जीव की अन्य ऐसी ही धारणाएँ तक; रजः-तमः—रजो तथा तमोगुण; प्रकृतयः—कारण; सत्त्व—सतो गुण से; प्रकृतयः—कारण; क्वचित्—कभी-कभी।

बद्ध-अवस्था में मनुष्य की जीवन सम्बन्धी धारणाएँ कभी कभी कामेच्छा तथा अज्ञान (रजो तथा तमो गुण) के कारण दूषित हो जाती हैं, जो आसक्ति, शत्रुता, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, झूठी प्रतिष्ठा, अपमान, छिद्रान्वेषण, छलावा, ईर्ष्या, असहिष्णुता, कामेच्छा, मोह, भूख तथा निद्रा के रूप में प्रकट होती हैं। ये सभी शत्रु हैं। कभी-कभी सतोगुण के द्वारा भी मनुष्य की धारणाएँ दूषित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवन का असली उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है किन्तु प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा—कभी रजोगुण तथा तमोगुण के मेल से तो कभी सतो गुण के द्वारा अनेक व्यवधान आते रहते हैं। इस भौतिक जगत में यदि कोई भौतिकतावादी दृष्टि से परोपकारी, राष्ट्रवादी तथा अच्छा व्यक्ति भी हो तो जीवन की ये सारी धारणाएँ आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हो जाती हैं। तो फिर शत्रुता, लालच, मोह, शोक तथा भोग के प्रति अत्यधिक आसक्ति न जाने कितनी बड़ी बाधक होंगी? विष्णु-रूपी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए जो हमारा असली लक्ष्य है इन विभिन्न अवरोधों या शत्रुओं को जीतने में मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिए, दूसरे शब्दों में, मनुष्य को इस संसार में न तो अच्छा बनने में, न बुरा बनने में रुचि रखनी चाहिए।

इस भौतिक जगत में तथाकथित अच्छाई और बुराई एक-सी हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को प्रकृति के पार जाना होता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठान भी प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होते हैं। अतएव कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

"वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबों के परे होओ। समस्त द्वन्द्वों से, लाभ-हानि की चिन्ताओं से मुक्त होओ तथा आत्मा में स्थित होओ।" (*भगवद्गीता* २.४५) भगवान् ने *भगवद्गीता* में अन्यत्र भी कहा है—*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—यदि कोई बहुत अच्छा व्यक्ति बन जाता है, अर्थात् यदि वह सतोगुणी होता है, तो वह स्वर्ग को जा सकता है। इसी प्रकार यदि वह रजो तथा तमो गुणों से दूषित होता है, तो वह इसी जगत में बना रह सकता है

या फिर पशु जगत में गिर सकता है। किन्तु ये सारे पद आध्यात्मिक मोक्ष के पथ में अवरोध हैं। अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज॥

यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि इस तथाकथित अच्छाई तथा बुराई को पार कर जाये और कृष्ण तथा गुरु की कृपा से भक्ति के पद पर पहुँच जाये तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त साहसी होना चाहिए जिससे वह कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को पराजित कर सके। इस जगत में अच्छे तथा बुरे की परवाह न करते हुए डट कर कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वानन्दतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नृ-काय—यह मनुष्य शरीर; रथम्—रथ रूप; आत्म-वश—अपने नियंत्रण पर आश्रित; उपकल्पम्—जिसमें अनेक अधीन अंग हैं; धत्ते—धारण करता है; गरिष्ठ-चरण—श्रेष्ठ गुरुजनों के चरणकमल; अर्चनया—सेवा करके; निशातम्—तेज की हुई; ज्ञान-असिम्—ज्ञान रूपी तलवार या हथियार; अच्युत-बलः—कृष्ण की दिव्य शक्ति से; दधत्—पकड़ कर; अस्त-शत्रुः—जब तक शत्रु पराजित न हो जाये; स्व-आनन्द-तुष्टः—दिव्य आनन्द से पूर्णतया सन्तुष्ट; उपशान्तः—समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध चेतना; इदम्—इस शरीर को; विजह्यात्—त्याग दे।

जब तक मनुष्य को इस शरीर को इसके विभिन्न अंगों तथा साज-सामान सहित जो पूर्णतया अपने वश में नहीं हैं स्वीकार करना है, तब तक उसे अपने श्रेष्ठ जनों—अपने गुरु तथा गुरु के पूर्ववर्तियों व्यक्तियों के चरणकमलों को धारण करना चाहिए। उनकी कृपा से वह ज्ञान की तलवार को तेज कर सकता है और भगवत् कृपा के बल पर तब वह उपर्युक्त शत्रुओं को पराजित कर सकता है। इस प्रकार भक्त को अपने ही दिव्य आनन्द में लीन रहने में समर्थ होना चाहिए और तब वह अपना शरीर त्याग कर अपनी आध्यात्मिक पहचान फिर से पा सकता है।

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।'' यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और मानव शरीर इसी उद्देश्य के लिए है। *श्रीमद्भागवत* (११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

यह मनुष्य शरीर अत्यन्त मूल्यवान नाव है, गुरु इसका कर्णधार है—*गुरुकर्णधारम्*—जो अज्ञान सागर के पार ले जाने में नाव का मार्गदर्शन करने के लिए है। कृष्ण का उपदेश अनुकूल हवा है। मनुष्य को अज्ञान-सागर पार करने के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए। चूँकि गुरु ही कर्णधार है, अतएव गुरु की सेवा निष्ठापूर्वक की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से परमेश्वर की कृपा प्राप्त हो सके।

यहाँ पर *अच्युतबल:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। गुरु निश्चय ही अपने शिष्यों पर अत्यन्त कृपालु रहता है, अतएव उसे प्रसन्न कर लेने पर शिष्य को भगवान् से बल मिलता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—*गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—पहले गुरु को प्रसन्न करना चाहिए तब कृष्ण स्वत: प्रसन्न हो जाएँगे और उनसे वह बल प्राप्त हो जाता है सकेगा जिससे अज्ञान के सागर को पार किया जा सके। यदि कोई सचमुच भगवद्धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो उसे गुरु को प्रसन्न करके काफी बलशाली हो जाना चाहिए, क्योंकि तभी उसे शत्रु को जीतने के लिए हथियार मिल सकेगा और साथ ही मिलेगी कृष्ण की कृपा। केवल ज्ञान रूपी हथियार पा लेना पर्याप्त नहीं है। उसे अपने गुरु की सेवा करके तथा उसके आदेशों का पालन करके इस हथियार को तेज करना है। तभी उसे भगवान् की कृपा मिल सकेगी। सामान्य युद्ध में अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने रथ तथा घोड़ों की सहायता लेनी होती है और शत्रु को जीत लेने पर यह रथ तथा सारा साज-सामान छोड़ा जा

सकता है। इसी प्रकार जब तक यह मनुष्य देह है तब तक इसका पूरा-पूरा उपयोग जीवन की परम सिद्धि को पाने—भगवद्धाम वापस जाने—के लिए करना चाहिए।

ज्ञान की सिद्धि ब्रह्मभूत होने में है। जैसाकि भगवान् भगवद्गीता (१८.५४) में कहते हैं—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''जो दिव्य पद पर स्थित है उसे तुरन्त परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह परम प्रसन्न हो जाता है। वह किसी चीज के लिए न तो शोक करता है, न इच्छा करता है; वह समस्त जीवों पर समभाव रखता है। ऐसी दशा में उसे शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।'' निर्विशेषवादियों के समान ज्ञान के अनुशीलन मात्र से माया के चंगुल से नहीं निकला जा सकता। उसे भक्ति का पद प्राप्त करना होता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

''केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यर्थाथ रूप में समझा जा सकता है और जब ऐसी भक्ति से कोई परमेश्वर की पूर्ण चेतना में रहता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।'' *(भगवद्गीता* १८.५५)। जब तक भक्ति की अवस्था और गुरु तथा कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं हो जाती तब तक नीचे गिरने तथा फिर से भौतिक शरीर धारण करने की सम्भावना बनी रहती है। अतएव कृष्ण *भगवद्गीता* (४.९) में बल देकर कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

''हे अर्जुन! जो मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुन: जन्म धारण नहीं करता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।''

यहाँ पर *तत्त्वत:* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इसका अर्थ है ''वास्तव में''। *ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा।* जब तक कोई गुरु की कृपा से कृष्ण को वास्तव में समझ नहीं लेता तब तक वह अपने भौतिक शरीर को त्यागने के लिए स्वतंत्र नहीं रहता। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं*

ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः—यदि मनुष्य कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करने में लापरवाही करता है, तो केवल ज्ञान के बल पर भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। यदि उसे *ब्रह्मपदम्*—ब्रह्म में तादात्म्य की अवस्था—भी प्राप्त हो जाए तो भी भक्ति के बिना वह नीचे गिर सकता है। उसे फिर से भवबन्धन में गिरने के खतरे से सतर्क रहना चाहिए। यदि कोई गारंटी है, तो यही है कि भक्ति अवस्था को प्राप्त हुआ जाये जहाँ से कभी भी गिरना नहीं पड़ता। तब वह भौतिक जगत के कार्यकलापों से मुक्त हो जाता है। संक्षेप में, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत की परम्परा में चले आ रहे प्रामाणिक गुरु से सम्पर्क करे, क्योंकि उसी की कृपा तथा उसी के उपदेशों से कृष्ण से बल प्राप्त हो सकेगा। इस तरह भक्ति करने से जीवन का चरम लक्ष्य—विष्णु के चरणकमल—प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक में *ज्ञानासिम् अच्युतबलः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *ज्ञानासिम्* अर्थात् ज्ञान रूपी तलवार कृष्ण द्वारा दी जाती है और जब कोई कृष्ण के उपदेश रूपी तलवार को पकड़ने के लिए गुरु और कृष्ण की सेवा करता है, तो बलराम उसे बल देते हैं। बलराम नित्यानन्द हैं। *व्रजेन्द्रनन्दन येइ, शची-सुत हैल सेइ, बलराम ह-इल निताइ।* यह *बल* अर्थात् बलराम श्री चैतन्य महाप्रभु के साथ आता है और ये दोनों इतने कृपालु हैं कि इस कलियुग में कोई भी सुगमता से उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सकता है। वे विशेषतर इस युग की पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए आते हैं। पापी तापी यत छिल, हरि नामे उद्धारिल। उनका हथियार *सङ्कीर्तन* या *हरिनाम* है। इस तरह मनुष्य को कृष्ण से ज्ञान रूपी तलवार ग्रहण करके बलराम की कृपा से बलिष्ठ बनना चाहिए। इसीलिए हम वृन्दावन में कृष्ण-बलराम की पूजा कर रहे हैं। *मुण्डक* उपनिषद् (३.२.४) में कहा गया है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

बलराम की कृपा के बिना जीवन-लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव श्री नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—*निताइयेर करुणा हबे, व्रजे राधा-कृष्ण पाबे*—जब नित्यानन्द अर्थात् बलराम की कृपा प्राप्त होती है, तो राधाकृष्ण के चरणकमल आसानी से मिल जाते हैं।

से सम्बन्ध नाहि यार, वृथा जन्म गेल तार।

विद्या-कुले कि करिबे तार॥

यदि किसी का निताई अर्थात् बलराम से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो वह भले ही ज्ञानी हो अथवा सम्मानित परिवार में जन्मा हो, उसकी यह सम्पदाएं काम नहीं आती। अतएव हमें बलराम से प्राप्त हुए बल द्वारा कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को जीतना चाहिए।

नोचेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

नोचेत्—यदि हम अच्युत कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते तथा बलराम की शरण नहीं ग्रहण करते; प्रमत्तम्—लापरवाह; असत्—जो सदैव भौतिक चेतना की ओर उन्मुख रहती हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; वाजि—घोड़े की तरह कार्य करते हुए; सूताः—रथ हाँकने वाला (बुद्धि); नीत्वा—लाकर; उत्पथम्—भौतिक इच्छा रूपी पथ पर; विषय—इन्द्रिय विषय; दस्युषु—लुटेरों के हाथों में; निक्षिपन्ति—फेंकते हैं; ते—वे; दस्यवः—लुटेरों; स—सहित; हय-सूतम्—घोड़े तथा सारथी को; अमुम्—वे सब; तमः—अंधकार; अन्धे—अंधा; संसार-कूपे—संसार रूपी कुएँ में; उरु—विशाल; मृत्यु-भये—मृत्यु का डर; क्षिपन्ति—फेंकते हैं।

अन्यथा यदि मनुष्य अच्युत कृष्ण तथा बलदेव की शरण ग्रहण नहीं कर लेता तो इन्द्रियाँ रूपी घोड़े तथा बुद्धि रूपी सारथी दोनों ही भौतिक कल्मष के प्रति उन्मुख होने से अनजाने ही शरीर रूपी रथ को इन्द्रियतृप्ति के मार्ग पर ला खड़ा करते हैं। इस प्रकार जब विषय के धूर्तों—खाना, सोना तथा मैथुन—के द्वारा वह आकृष्ट होता है, तो घोड़े तथा सारथी संसार के अन्धकूप में गिरा दिए जाते हैं और मनुष्य पुनः जन्म-मृत्यु की घातक तथा अत्यन्त भयावह स्थिति में आ पड़ता है।

तात्पर्य : गौर-निताइ—कृष्ण-बलराम—की रक्षा के बिना मनुष्य संसार के अज्ञान-रूपी अंधकूप से बाहर नहीं निकल सकता। इसका संकेत यहाँ *नोचेत्* शब्द से मिलता है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य सदा भौतिक संसार के अंधकूप में रहता रहेगा। जीव को *निताइ-गौर* अर्थात् कृष्ण तथा बलराम से बल

प्राप्त करना चाहिए। निताई-गौर की कृपा के बिना अज्ञान के इस अंधकूप से निकलने का कोई रास्ता नहीं है। जैसाकि चैतन्य-चरितामृत (आदि १.२) में कहा गया है—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दो सहोदितौ।

गौडोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥

"मैं श्रीकृष्ण चैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द को सादर नमस्कार करता हूँ जो सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं। वे एकसाथ गौड़ के क्षितिज में अज्ञान का अंधकार दूर करने के लिए उदित हुए हैं और इस प्रकार आश्चर्यजनक रीति से सबों को वर दे रहे हैं।" यह भौतिक जगत अज्ञान का अंधकूप है। इस अंधकूप में पतित आत्मा को गौर-निताइ के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि तब वह इस जगत से सरलता से उबर सकता है। उनके बल के बिना मीमांसात्मक ज्ञान के बल पर पदार्थ भौतिकता के बन्धन से निकलने का प्रयास अपर्याप्त होगा।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।
आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—भौतिक भोग के लिए झुकाव; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक भोग का अन्त; च—तथा; द्वि-विधम्—इन दो प्रकारों; कर्म—कर्मों का; वैदिकम्—वेदों द्वारा संस्तुत; आवर्तते—संसार के चक्र में ऊपर-नीचे घूमता है; प्रवृत्तेन—भौतिक कार्यकलापों के भोग की प्रवृत्ति द्वारा; निवृत्तेन—ऐसे कार्यों को बन्द करने से; अश्नुते—भोग करता है; अमृतम्—शाश्वत जीवन।.

वेदों के अनुसार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दो प्रकार के कार्यकलाप होते हैं—प्रवृत्ति कार्यों का अर्थ है अपने को भौतिकतावादी जीवन की निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था तक उठाना जबकि निवृत्ति का अर्थ है भौतिक इच्छा का अन्त। प्रवृत्ति कार्यों से मनुष्य भौतिक बन्धन में कष्ट उठाता है, किन्तु निवृत्ति कार्यों से वह शुद्ध हो जाता है और नित्य आनन्दमय जीवन को भोगने के योग्य बनता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (१६.७) में पुष्टि की गई है—*प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा:*—असुर या अभक्त *प्रवृत्ति* तथा *निवृत्ति* के अन्तर को नहीं जान सकते। वे जो चाहते हैं करते हैं। ऐसे लोग अपने को प्रबल प्रकृति से स्वतंत्र मानते हैं; अतएव वे अनुत्तरदायी होते हैं और पुण्य कर्म

करने की परवाह नहीं करते। निस्सन्देह, वे पाप तथा पुण्य कर्म में अन्तर नहीं कर पाते। भक्ति कभी पुण्य या पाप कर्म पर निर्भर नहीं करती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

"सारी मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति आत्मा को पूरी तरह तुष्ट करने के लिए अहैतुकी तथा अप्रतिहत होनी चाहिए।" फिर भी जो लोग पुण्यकर्म करते हैं उनके भक्त बनने की सम्भावना अधिक है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कृष्ण कहते हैं—*चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन*—हे अर्जुन! चार प्रकार के पुणात्मा लोग मेरी भक्ति करते हैं। यदि कोई किसी भौतिक उद्देश्य से भी भक्ति करता है, तो भी वह पुण्यात्मा समझा जाता है और चूँकि वह कृष्ण के पास आया है, अतएव वह क्रमशः भक्ति की अवस्था तक पहुँच जाएगा। तब वह ध्रुव महाराज की भाँति भगवान् से कोई भौतिक वरदान स्वीकार करने से इनकार कर देगा (*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*)। अतएव भौतिक प्रवृत्ति होने पर भी मनुष्य कृष्ण-बलराम या गौर-निताइ के चरणकमलों की शरणग्रहण कर सकता है, जिससे वह सारी भौतिक इच्छाओं से तुरन्त शुद्ध हो सके (*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति*)। जब मनुष्य पाप तथा पुण्य कर्मों की प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है, तो वह वापस भगवद्धाम जाने का पूर्ण सुपात्र बन जाता है।

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् ।
दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥ ४८ ॥
एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च ।
पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

हिंस्रम्—पशुओं की बलि की पद्धति; द्रव्य-मयम्—जिसमें तमाम साज-सामग्री की आवश्यकता हो; काम्यम्—असीम इच्छाओं से पूरित; अग्नि-होत्र-आदि—अग्नि होम यज्ञ जैसे अनुष्ठान; अशान्ति-दम्—चिन्ता उत्पन्न करने वाले; दर्शः—दर्श नामक अनुष्ठान; च—तथा; पूर्णमासः—पूर्णमास अनुष्ठान; च—भी; चातुर्मास्यम्—चार मास पर होने वाला विधान; पशुः—पशु यज्ञ; सुतः—सोम यज्ञ; एतत्—ये सारे; इष्टम्—लक्ष्य; प्रवृत्त-आख्यम्—भौतिक आसक्ति नाम से ज्ञात; हुतम्—वैश्व देव, जो भगवान् के अवतार हैं; प्रहुतम्—बलिहरण नाम का उत्सव; एव—निस्सन्देह; च—भी; पूर्तम्—जनता के लाभ के हेतु; सुर-आलय—देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना; आराम—विश्रामालय तथा बगीचे; कूप—कुँआ खुदवाना; आजीव्य-आदि—भोजन तथा जल वितरण जैसे कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

अग्निहोत्र-यज्ञ, दर्श-यज्ञ, पूर्णमास-यज्ञ, चातुर्मास्य-यज्ञ, पशु-यज्ञ तथा सोम-यज्ञ नामक सारे अनुष्ठानों तथा यज्ञों की विशेषता पशुओं का वध करना तथा अनेक अमूल्य पदार्थों को, विशेष रूप से अन्नों को, जलाना है। ये सब भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं तथा ये चिन्ता (अशान्ति) उत्पन्न करते हैं। ऐसे यज्ञ करना, वैश्वदेव का पूजन तथा बलिहरण उत्सव सम्पन्न करना जो सभी सम्भवतः जीवन लक्ष्य माने जाते हैं तथा देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना, विश्रमागृह तथा बगीचे बनवाना, जल वितरण के लिए कुएँ खुदवाना, भोजन वितरण के लिए केन्द्रों की स्थापना करना तथा जन-कल्याण के कार्य करना—ये सब लक्षण भौतिक इच्छाओं के प्रति आसक्ति से अभिव्यक्त होते है।

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः ।
अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥ ५० ॥
अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः ।
एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य-सूक्ष्म-विपाकः—अग्नि की आहुति दी जाने वाली सामग्री यथा अन्न तथा घी; च—तथा; धूमः—धुएँ में परिणत या धुएँ का अधिष्ठाता देवता; रात्रिः—रात्रि का अधिष्ठाता; अपक्षयः—अंधेरे पाख में; अयनम्—सूर्य के पार करने का अधिष्ठाता देवता; दक्षिणम्—दक्षिणी मंडल में; सोमः—चन्द्रमा; दर्शः—लौटते हुए; ओषधि—पौधे (पृथ्वी पर); वीरुधः—सामान्य वनस्पति (शोक का जन्म); अन्नम्—अन्न; रेतः—वीर्य; इति—इस प्रकार से; क्ष्म-ईश—हे पृथ्वी के राजा, युधिष्ठिर; पितृ-यानम्—पिता के वीर्य से जन्म ग्रहण करने का मार्ग; पुनः-भवः—फिर-फिर; एक-एकश्येन—एक के बाद एक, क्रमशः; अनुपूर्वम्—क्रमवार, क्रमानुसार; भूत्वा—जन्म लेकर; भूत्वा—पुनः जन्म लेकर; इह—इस भौतिक जगत में; जायते—भौतिक जीवन बिताता है।.

हे राजा युधिष्ठिर, जब यज्ञ में घी, अन्न (यथा जौ एवं तिल) की आहुतियाँ दी जाती हैं, तो वे दिव्य धुएँ में परिणत हो जाती हैं, जो मनुष्य को क्रमशः उच्च से उच्चतर लोकों को या धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणम् तथा अन्त में चन्द्र लोक को ले जाता हैं। किन्तु यज्ञकर्ता फिर पृथ्वी पर उतर कर औषधियाँ, लताएँ, वनस्पतियाँ तथा अन्न बन जाते हैं। तब वे विभिन्न जीवों द्वारा खाये जाते हैं और वीर्य में परिणत होते हैं जिसे मादा शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य पुनः-पुनः जन्म लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते॥

''जब प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी स्वर्गिक इन्द्रियसुख भोग चुकते हैं, तो वे पुन: इस मर्त्य लोक में वापस लौट आते हैं। इस प्रकार वैदिक नियमों के द्वारा वे केवल क्षणिक सुख प्राप्त करते हैं।'' *प्रवृत्ति मार्ग* का अनुकरण करते हुए स्वर्ग जाने का इच्छुक जीव नियमित रूप से यज्ञ करता है। वह जिस तरह ऊपर-नीचे आता-जाता है इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* में (यहाँ पर) तथा *भगवद्गीता* में हुआ है। यह भी कहा गया है—*त्रैगुण्यविषया वेदा:*—वेदों में मुख्यतया भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की चर्चा है। वेदों में से तीन वेद—साम, यजु: तथा ऋक् उच्चलोकों तक जाने और वापस आने का विशद वर्णन करते हैं। लेकिन कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—*त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन*—प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर लेने पर ही जन्म-मृत्यु के चक्र से विमुक्त हुआ जा सकता है। अन्यथा भले ही कोई चन्द्रलोक जैसे उच्च लोक को चला जाये, किन्तु उसे पुन: नीचे आना पड़ता है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*)। जब पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य का सुख समाप्त हो जाता है, तो वह वर्षा के रूप में इस लोक में लौट आता है और सर्वप्रथम वृक्ष या लता के रूप में जन्म लेता है, जिसे मनुष्य समेत विविध पशु खाते हैं और वह वीर्य में बदल जाता है। यही वीर्य मादा के शरीर में जाकर जीव को जन्म देता है। जो लोग पृथ्वी पर इस प्रकार लौटते हैं, वे विशेषत: ब्राह्मण जैसे उच्च परिवारों में जन्म लेते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि तथाकथित आधुनिक विज्ञानी भी, जो चन्द्रमा तक जा रहे हैं, वहाँ ठहर नहीं सकते, अपितु अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में लौट आते हैं। अतएव कोई चाहे आधुनिक यांत्रिक विधि से चन्द्रमा तक जाए या पुण्यकर्म करके जाए, अन्तत: उसे पृथ्वी पर लौटना होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख इस श्लोक में तथा इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। यदि कोई उच्चतर लोकों को जाता भी है (*यान्ति देवव्रता देवान्*), तो वहाँ उसका स्थान सुरक्षित नहीं होता, उसे *मर्त्यलोक* लौटना ही पड़ता है। *आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—यदि चन्द्रमा को छोड़ दें और यदि कोई ब्रह्मलोक

को भी जाए तो भी उसे लौटना होता है। *यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—किन्तु यदि कोई मेरे धाम को वापस जाता है, तो उसे इस भौतिक लोक में लौटने की आवश्यकता नहीं है।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः ।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान्ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

निषेक-आदि—जीवन का प्रारम्भ (गर्भाधान संस्कार); श्मशान-अन्तैः—तथा मृत्यु के समय, जब शरीर को श्मशान घाट पर जला कर राख कर दिया जाता है; संस्कारैः—संस्कार द्वारा; संस्कृतः—शुद्ध किया गया; द्विजः—दो बार जन्म लेने वाला ब्राह्मण; इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; क्रिया-यज्ञान्—कर्म तथा यज्ञ (जिनसे उच्च लोक में जाया जाता है); ज्ञान-दीपेषु—असली ज्ञान के प्रकाश से; जुह्वति—अर्पित करता है।.

द्विज (द्वि-जन्मा ब्राह्मण) को गर्भाधान संस्कार के द्वारा अपने माता-पिता की अनुकम्पा से अपना जीवत्व प्राप्त होता है। जीवन के अन्त में अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती है। और तब तक अन्य संस्कार भी संपन्न किए जाते हैं। इस तरह योग्य ब्राह्मण को कुछ समय के बाद भौतिकतावादी कार्यों तथा यज्ञों में अरुचि हो जाती है, किन्तु वह ऐन्द्रिय यज्ञों को पूर्ण ज्ञान के साथ कर्मेन्द्रियों को अर्पित कर देता है, जो ज्ञान की अग्नि से प्रकाशित रहती हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिकतावादी कार्यों में रुचि लेते हैं, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं। पिछले श्लोक में प्रवृत्ति मार्ग की व्याख्या की जा चुकी है। अब इस श्लोक में बताया जा रहा है कि जिसे पूर्ण ब्रह्मज्ञान होता है, वह उच्च लोकों तक उठने की विधि त्याग कर *निवृत्ति मार्ग* ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, वह भगवद्धाम जाने की तैयारी करता है। जो लोग ब्राह्मण न होकर नास्तिक होते हैं, वे *प्रवृत्ति* या *निवृत्ति* मार्ग के विषय में कुछ नहीं जानते। वे हर हालत में आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्तों को *प्रवृत्ति मार्ग* छोड़ने और *निवृत्ति मार्ग* को स्वीकार करने का प्रशिक्षण देता है, जिससे भगवद्धाम वापस जाया जा सके। यद्यपि इसे समझ पाना कुछ कठिन है किन्तु यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अपना ले और कृष्ण को समझने का प्रयास करे तो यह अत्यन्त सरल है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ सकता है कि *कर्मकाण्ड* पद्धति के अनुसार यज्ञ करना समय का अपव्यय है और मात्र कर्मकाण्ड को त्याग कर ज्ञानकाण्ड को स्वीकार करना भी व्यर्थ है। अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने *प्रेम भक्ति चन्द्रिका* में लिखा है—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड,—केवल विषेर भाण्ड,

अमृत' बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अध:पाते याय॥

कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड का जीवन विष-पात्र के तुल्य है और जो ऐसा जीवन पाता है उसके मानो भाग्य फूटे हों। *कर्मकाण्ड* पद्धति में मनुष्य को पुन:-पुन: जन्म-मृत्यु स्वीकार करना होता है। इसी प्रकार *ज्ञानकाण्ड* में मनुष्य को पुन: इसी जगत में आना होता है। एकमात्र परम पुरुष की पूजा ही भगवद्धाम जाने की सुरक्षा प्रदान करता है।

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मन: ।
वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् ।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ (कर्म तथा ज्ञान सम्बन्धी); मनसि—मन में; ऊर्मौ—स्वीकृति-अस्वीकृति की तरंगों में; वाचि—शब्दों में; वैकारिकम्—परिवर्तनों से दूषित; मन:—मन को; वाचम्—शब्द को; वर्ण-समाम्नाये—सभीअक्षरों का समूह; तम्—उस; ओङ्कारे—ओङ्कार के संक्षिप्त रूप में; स्वरे—कम्पन में; न्यसेत्—छोड़ दे; ओङ्कारम्—संक्षिप्त शब्द ध्वनि को; बिन्दौ—ओङ्कार बिन्दु में; नादे—ध्वनि स्पन्दन में; तम्—उसको; तम्—उस (नाद); तु—निस्सन्देह; प्राणे—प्राणवायु में; महति—परम में; अमुम्—जीव।

मन स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों से सदैव विक्षुब्ध होता रहता है। अतएव इन्द्रियों के सारे कार्यकलाप मन को अर्पित कर देना चाहिए और मन को अपने शब्दों में अर्पित कर देना चाहिए; फिर इन शब्दों को समस्त वर्णों के समूह में अर्पित करना चाहिए जिसे ओङ्कार के संक्षिप्त रूप को अर्पित कर दिया जाना चाहिए। ओङ्कार को बिन्दु में, बिन्दु को नाद में और उस नाद को प्राणवायु में समर्पित करना चाहिए। जो शेष रूप में जीव बचे उसे परम ब्रह्म में स्थापित करे। यही यज्ञ की विधि है।

तात्पर्य : मन सदैव स्वीकृति-अस्वीकृति द्वारा विक्षुब्ध होता है, जिसकी तुलना निरन्तर ऊपर-नीचे उठने वाली मानसिक तरंगों से की गई है। जीव अपनी विस्मरणशीलता के कारण भवसागर की तरंगों में तैरता रहता है। अतएव श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने *गीतावली* में लिखा है—*मिछे मायार वशे याच्छा भेसे', खाच्छा हाबुडुबु, भाइ*—हे मेरे मन! तुम माया के वश में होकर स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों द्वारा दूर ले जाये जा रहे हो। केवल श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करो *जीव कृष्णदास एइ विश्वास,*

कर्लें त' आर दुःख नाइ—यदि हम कृष्ण के चरणकमलों को ही अपना चरम आश्रय मान लें तो हम माया की इन सभी लहरों से बचे रह सकते हैं, जो मानसिक तथा ऐन्द्रिय गतिविधियों एवं स्वीकृति-अस्वीकृति के विक्षोभ के रूप में तरह-तरह से प्रकट होती हैं। *भगवद्गीता* (१८.६६) में कृष्ण उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"तुम सारे धर्मों को त्यागकर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से उबार लूँगा। तुम डरो मत।" अतएव यदि हम कृष्णभावनामृत ग्रहण करके तथा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण के सम्पर्क में सदा रहकर उनके चरणकमलों में अपने को प्रस्तुत कर दें तो हमें वैकुण्ठ लोक वापस जाने के लिए प्रबन्ध करने का अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़े। श्री चैतन्य महाप्रभु की कृपा से यह अत्यन्त सरल है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; सूर्यः—सूर्य; दिवा—दिन; प्राह्णः—संध्या; शुक्लः—शुक्ल पक्ष; राक—पूर्णमासी; उत्तरम्—वह अवधि जब सूर्य उत्तर दिशा से होकर जाता है; स्व-राट्—परम् ब्रह्म या ब्रह्माजी; विश्वः—स्थूल उपाधि; अथ—ब्रह्मलोक, सर्वोच्च भौतिक आनन्द; तैजसः—सूक्ष्म उपाधि; प्राज्ञः—कारण रूप उपाधि का साक्षी; तुर्यः—दिव्य; आत्मा—आत्मा; समन्वयात्—प्राकृतिक परिणाम के रूप में।.

ऊपर जाते हुए जीव अग्नि, सूर्य, दिन, सायं, शुक्ल पक्ष, पूर्ण चन्द्रमा तथा सूर्य के उत्तर दिशा जाने की अवधि (उत्तरम्) एवं इनके अधिष्ठाता देवताओं के विभिन्न लोकों में प्रवेश करता है। जब वह ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होता है, तो वहाँ लाखों वर्षों तक जीवन भोग करने के बाद अन्त में उसकी भौतिक उपाधि समाप्त हो जाती है। तब वह सूक्ष्म उपाधि प्राप्त करता है, जिससे उसे कारण रूप उपाधि प्राप्त होती है, जो समस्त पूर्ववर्ती अवस्थाओं की साक्षी होती है।

इस अवस्था के विनष्ट होने पर उसे शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें वह परमात्मा के साथ अपनी पहचान करता है। इस प्रकार से जीव दिव्य बन जाता है।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

देव-यानम्—देवयान नाम ऊपर उठने की विधि को; इदम्—इस; प्राहुः—कहा गया है; भूत्वा भूत्वा—बारम्बार जन्म लेकर; अनुपूर्वशः—लगातार; आत्म-याजी—आत्म-साक्षात्कार का इच्छुक; उपशान्त-आत्मा—समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त; हि—निस्सन्देह; आत्म-स्थः—अपने में स्थित; न—नहीं; निवर्तते—लौटता है।

आत्म-साक्षात्कार तक उठने की यह क्रमिक विधि उन लोगों के लिए है, जो सचमुच परम सत्य से अवगत हैं। इस देवयान नामक मार्ग पर बारम्बार जन्म लेने से ये क्रमिक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। जो आत्मा में स्थित है और समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त है उसे इस बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग से गुजरने की आवश्यकता नहीं होती।

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।
शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एते—इस मार्ग पर (जो ऊपर बताया गया है); पितृ-देवानाम्—पितृयान तथा देवयान नामक; अयने—इस मार्ग पर; वेद-निर्मिते—वेदों में बताये गये; शास्त्रेण—शास्त्रों के नियमित अध्ययन से; चक्षुषा—जाग्रत आँखों से; वेद—पूर्णतया अवगत है; जन-स्थः—शरीर में स्थित व्यक्ति; अपि—यद्यपि; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

इस भौतिक शरीर में स्थित रहते हुए भी जो पितृयान तथा देवयान मार्गों से पूर्णतया अवगत रहता है और जिसकी आँखें वैदिक ज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार खुली रहती हैं वह भौतिक जगत में कभी मोहग्रस्त नहीं होता।

तात्पर्य : *आचार्यवान् पुरुषो वेद*—जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु द्वारा मार्गदर्शित होता है, वह वेदों में वर्णित प्रत्येक वस्तु को जानता है क्योंकि वेद ही अच्युत ज्ञान का मानदण्ड स्थापित करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में संस्तुत किया गया है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि आचार्य के पास जाए, तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। गुरु द्वारा मार्गदर्शन होने पर मनुष्य को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥५७॥

शब्दार्थ

आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; जनानाम्—सभी जीवों का; सत्—सदैव विद्यमान; बहिः—बाहर; अन्तः—भीतर से; पर—दिव्य; अवरम्—पदार्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; ज्ञेयम्—लक्ष्य; वचः—वाणी, अभिव्यक्ति; वाच्यम्—चरम लक्ष्य; तमः—अँधेरा; ज्योतिः—प्रकाश; तु—निस्सन्देह; अयम्—यह (भगवान्); स्वयम्—स्वयं।

जो भीतर बाहर, सभी वस्तुओं तथा जीवों के प्रारम्भ तथा अन्त में, भोग्य तथा भोक्ता के रूप में, उच्च तथा नीच के रूप में विद्यमान है, वह परम सत्य है। वह सदैव ज्ञान तथा ज्ञेय, अभिव्यक्ति तथा अभिज्ञेय, अंधकार तथा प्रकाश के रूप में रहता है। इस तरह वे परमेश्वर सर्वस्व हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों की इस सूक्ति की व्याख्या की गई है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म। चतुः श्लोकी भागवत* में भी इसकी व्याख्या है। *अहं एवासम् एवाग्रे।* परमेश्वर प्रारम्भ में था, वह सृष्टि के बाद भी रहता है और हर एक का पालन करता है और प्रलय के बाद सब कुछ उसी में लीन हो जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*)। इस प्रकार परमेश्वर वास्तव में सर्वस्व है। बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि मोहग्रस्त रहती है किन्तु मुक्ति की पूर्णावस्था में हम यह समझ सकते हैं कि कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक हैं। वे सबों के उद्गम हैं, किन्तु उनका कोई उद्गम नहीं है क्योंकि वे सभी कारणों के कारण हैं।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.१) यह ज्ञान की पूर्णता है।

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।
दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥

शब्दार्थ

आबाधितः—अस्वीकृति; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस तरह; वस्तुतया—वास्तविकता के रूप में; स्मृतः—स्वीकृत; दुर्घटत्वात्—वास्तविकता को सिद्ध करना कठिन होने के कारण; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान; तद्वत्—उसी तरह; अर्थ—वास्तविकता; विकल्पितम्—कल्पित या संदेहास्पद।

दर्पण से प्राप्त सूर्य के प्रतिबिम्ब को मिथ्या माना जा सकता है, किन्तु इसका वास्तविक अस्तित्व तो होता ही है। उसी तरह कल्पना (ज्ञान) द्वारा यह सिद्ध करना कि तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं होता अत्यन्त कठिन होगा।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी यह सिद्ध करने के प्रयास में रहता है कि मीमांसक का दृष्टि-भेद गलत होता है। निर्विशेषवादी दर्शन, *विवर्तवाद,* सामान्यत: साँप को रस्सी स्वीकार करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस उदाहरण के अनुसार हमारी दृष्टि के भेद मिथ्या हैं जिस प्रकार देखी गई रस्सी का सर्प होना मिथ्या है। किन्तु वैष्णव का कहना है कि यद्यपि यह विचार कि रस्सी सर्प है मिथ्या है, किन्तु सर्प मिथ्या नहीं है। मनुष्य को वास्तविक सर्प का अनुभव रहता है, अतएव वह जानता है कि यद्यपि रस्सी को साँप मानना मिथ्या या भ्रामक है, किन्तु साँप वास्तविकता है। इसी प्रकार विविधता से पूर्ण यह जगत मिथ्या नहीं है, यह वैकुण्ठ लोक की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है।

दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार में प्रकाश ही तो होता है, यद्यपि यह यथार्थत: सूर्य प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य प्रकाश के बिना प्रतिबिम्ब असम्भव है। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक जगत में वास्तविक मूलाकृति न हो तो इस जगत की नाना विविधताएं असम्भव हो जाँय। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते, किन्तु असली विचारक को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि सूर्य प्रकाश की पृष्ठभूमि के बिना प्रकाश सम्भव नहीं है। इस प्रकार मायावादी चिन्तक द्वारा यह सिद्ध करने का वाग्जाल कि यह भौतिक जगत मिथ्या है अननुभवी बालकों को चकीत कराने वाला लग सकता है, लेकिन पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति सही-सही जानता है कि कृष्ण के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव एक वैष्णव कृष्ण को किसी न किसी स्तर पर स्वीकार करने पर बल देता है (*तस्मात् केनाप्युपायेन मन: कृष्णे निवेशयेत्*)।

जब हम कृष्ण के चरणकमलों पर अमिश्रित श्रद्धा रखते हैं, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। कृष्ण ने भी भगवद्गीता (७.१) में कहा है—

मय्यासक्तमना: पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रय:।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

''हे पृथापुत्र अर्जुन! अब तुम सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना से योगाभ्यास करके और मन को मुझमें आसक्त करके तुम मुझे पूरी तरह संशय रहित होकर समझ सकते हो।'' कृष्ण तथा उनके उपदेशों में अटल विश्वास करने मात्र पर ही वास्तविकता समझ में आ सकती है (*असंशयं समग्रं माम्*)। मनुष्य यह भी जान सकता है कि कृष्ण की भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ किस तरह कार्य कर रही हैं। वे सर्वत्र किस प्रकार उपस्थित रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक वस्तु उनमें नहीं है। यह *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन वैष्णवों का पूर्ण दर्शन है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण से उद्भूत है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वस्तु की पूजा की जाय। मानसिक चिन्तन (ज्ञान) हमें वास्तविकता को उसी रूप में नहीं बताता, वह अपूर्ण बनी रहती है। तथाकथित विज्ञानी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईश्वर नहीं है और हर घटना प्रकृति के नियमों के कारण घटती है, किन्तु यह अपूर्ण ज्ञान है, क्योंकि जब तक भगवान् का निर्देशन न हो, कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में स्वयं भगवान् ने की है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥

''हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। यह सृष्टि उसी के नियमानुसार बार बार उत्पन्न होती और विनष्ट होती है।'' इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—*दुर्घटत्वाद् अर्थत्वेन परमेश्वरेणैव कल्पितम्।* प्रत्येक वस्तु का आधार भगवान् वासुदेव हैं। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः।* इसे वही *महात्मा* समझ सकता है, जो पूर्ण ज्ञानी होता है। ऐसा महात्मा विरले ही दिखता है।

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।
न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिति-आदीनाम्—पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों का; **इह**—इस संसार में; **अर्थानाम्**—उन पाँचों तत्त्वों का; **छाया**—प्रतिबिम्ब; **न**—न तो; **कतमा**—इनमें से कौन; **अपि**—निस्सन्देह; **हि**—निश्चय ही; **न**—न तो; **सङ्घातः**—संयोग; **विकारः**—रूपान्तर; **अपि**—यद्यपि; **न पृथक्**—भिन्न नहीं; **न अन्वितः**—न तो निहित; **मृषा**—ये सब सिद्धान्त निरर्थक हैं।.

इस जगत में पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। किन्तु शरीर न तो उनका प्रतिबिम्ब है, न उनका संयोग या उनका रूपान्तर। चूँकि शरीर तथा इसके अवयव न तो पृथक्-पृथक् हैं, न मिश्रित अतएव ऐसे सारे सिद्धान्त निराधार हैं।

तात्पर्य : जंगल पृथ्वी का विकार अवश्य है, किन्तु एक वृक्ष दूसरे वृक्ष पर आश्रित नहीं होता। यदि उनमें से एक काट दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरा वृक्ष भी कट गया। अतएव जंगल न तो वृक्षों का संयोग है, न विकार। इसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या स्वयं कृष्ण ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

''यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ।'' (*भगवद्गीता* ९.४) हर वस्तु कृष्ण की शक्ति का विस्तार है। जैसाकि कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की विविध शक्तियाँ होती हैं, जो विभिन्न प्रकारों से व्यक्त होती हैं। शक्तियों का अस्तित्व है और भगवान् भी साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। चूँकि हर वस्तु उनकी शक्ति है अतएव वे एकसाथ हर वस्तु से अभिन्न हैं और हर वस्तु से भिन्न भी हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा कल्पित यह सिद्धान्त कि आत्मा पदार्थ का संयोग है और पदार्थ आत्मा का रूपान्तर (विकार) है या यह कि शरीर आत्मा का अंश है निराधार है।

चूँकि भगवान् की सभी शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान रहती हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को समझे। यद्यपि वे हर वस्तु हैं, किन्तु वे हर वस्तु में उपस्थित नहीं रहते। ईश्वर की पूजा उनके मूल कृष्ण रूप में की जानी चाहिए। वे अपनी विभिन्न विस्तृत शक्तियों के अंश रूप में भी विद्यमान रह सकते हैं। जब हम मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, तो यह अर्चाविग्रह पत्थर या लकड़ी लगता है। लेकिन चूँकि भगवान् का शरीर भौतिक नहीं होता, अतएव वे न तो पत्थर हैं न लकड़ी; फिर भी पत्थर तथा लकड़ी उनसे भिन्न नहीं होते। इस तरह पत्थर या लकड़ी की पूजा करने से हमें कोई फल नहीं प्राप्त होता, किन्तु जब पत्थर या लकड़ी को भगवान् के मूल रूप का प्रतिनिधित्व मान लिया जाता है, तो उस अर्चाविग्रह की पूजा करने से हमें वांछित फल प्राप्त होता है।

इसकी पुष्टि श्री चैतन्य महाप्रभु के *अचिन्त्यभेदाभेद* दर्शन द्वारा होती है, जो यह बताता है कि भगवान् अपने को अपनी शक्ति के रूप में भक्त की सेवा ग्रहण करने के लिए कहीं भी उपस्थित कर सकते हैं।

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।
न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

धातवः—पाँचों तत्त्व; अवयवित्वात्—देहात्मबुद्धि का कारण होने से; च—तथा; तत्-मात्र—इन्द्रियविषय (ध्वनि, स्वाद, स्पर्श आदि); अवयवैः—अंगों से; विना—रहित; न—नहीं; स्युः—विद्यमान रह सकता है; हि—निस्सन्देह; असति—मिथ्या, झूठा; अवयविनि—शरीर के निर्माण में; असन्—न रहते हुए; अवयवः—शरीर का अंग; अन्ततः—अन्त में।

चूँकि शरीर पाँच तत्त्वों से बना है अतएव यह सूक्ष्म इन्द्रियविषयों के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। चूँकि शरीर मिथ्या है, अतएव इन्द्रियविषय भी स्वभावतः मिथ्या या क्षणिक हैं।

स्यात्सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।
जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्यात्—हो; सादृश्य—समानता; भ्रमः—भूल, त्रुटि; तावत्—तब तक; विकल्पे—अलग से; सति—अंश; वस्तुनः—वस्तु से; जाग्रत्—जगा हुआ; स्वापौ—सोता हुआ; यथा—जिस तरह; स्वप्ने—स्वप्न में; तथा—उसी तरह; विधि-निषेधता—आदेशों तथा निषेधों से युक्त विधान।

जब किसी वस्तु को उसके अंशों से पृथक् कर दिया जाता है, तो उनमें समानता (सादृश्य) मानना भ्रम (मोह) कहलाता है। स्वप्न देखते समय मनुष्य जागने तथा सोने की स्थितिओं में अन्तर उत्पन्न कर देता है। ऐसी मानसिक अवस्था में शास्त्रों के विधानों की, जो आदेशों तथा निषेधों के रूप में होते हैं, संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : इस जगत में अनेक विधान तथा शिष्टाचार हैं। यदि यह जगत नश्वर या मिथ्या है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि आध्यात्मिक जगत समान होते हुए भी मिथ्या है। यदि किसी का भौतिक शरीर मिथ्या या नश्वर है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् का शरीर भी मिथ्या या नश्वर है। आध्यात्मिक जगत सत्य (सही) है और भौतिक जगत इसी के समान है। उदाहरणार्थ, रेगिस्तान में मृग-मरीचिका पाई जाती है और चूंकि इसका जल मिथ्या है, चूंकी इसका यह अर्थ नहीं है कि जल वास्तविकता नहीं है। जल का अस्तित्व है, किन्तु रेगिस्तान में नहीं। इसी प्रकार इस भौतिक जगत में

कुछ भी सत्य नहीं है, किन्तु सत्यता (वास्तविकता) तो आध्यात्मिक जगत में होती है। भगवान् का स्वरूप तथा उनका धाम—गोलोक वृन्दावन—शाश्वत वास्तविकताएँ हैं।

भगवद्गीता से हम जानते हैं कि एक अन्य *प्रकृति* है, जो वास्तविक (सत्य) है। इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* के आठवें अध्याय (८.१९-२१) में की है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।

यःस सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तम् आहुः परमां गतिं।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"ब्रह्मा का दिन पुनः-पुनः आता है और सारे जीव चैतन्य हो उठते हैं। तब फिर से रात हो जाती है और वे निस्सहाय होकर विनष्ट हो जाते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त एक प्रकृति और भी है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ के परे है। यह परम है और कभी विनष्ट नहीं होती। जब इस जगत का सब कुछ विनष्ट हो जाता है, तो यह अंश उसी तरह बना रहता है। यह परम धाम अव्यक्त तथा अच्युत कहलाता है और यही चरम गन्तव्य है। जब कोई वहाँ जाता है, तो लौट कर नहीं आता। यही मेरा परम धाम है।" यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का प्रतिबिम्ब है। भौतिक जगत नाशवान या मिथ्या है, किन्तु आध्यात्मिक जगत शाश्वत सत्य है।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

भाव-अद्वैतम्—देहात्म-बुद्धि में एकत्व; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म में एकत्व; द्रव्य-अद्वैतम्—विभिन्न सामग्री में एकत्व; तथा—और; आत्मनः—आत्मा का; वर्तयन्—विचार करते हुए; स्व—अपना; अनुभूत्या—अनुभूति के अनुसार; इह—इस भौतिक जगत में; त्रीन्—तीन; स्वप्नान्—जीवित दशाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति); धुनुते—त्याग देता है; मुनिः—दार्शनिक या चिन्तक।

भाव, क्रिया तथा द्रव्य की अद्वैतता (एकत्व) पर विचार करने के बाद तथा आत्मा को समस्त कार्य-कारणों से पृथक् मानते हुए मुनि अपनी ही अनुभूति से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को त्याग देता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में *भावाद्वैत, क्रियाद्वैत* तथा *द्रव्याद्वैत* की व्याख्या दी गई है। किन्तु मनुष्य को भौतिक जगत में दार्शनिक जीवन की सारी अद्वैतताएँ छोड़नी पड़ती हैं और सिद्धि प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक जगत के वास्तविक जीवन को प्राप्त करना होता है।

कार्यकारणवस्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

कार्य—फल या प्रभाव; कारण—कारण; वस्तु—वस्तु; ऐक्य—एकत्व; दर्शनम्—देखना; पट—वस्त्र; तन्तु—डोरा, सूत; वत्—सदृश; अवस्तुत्वात्—अवास्तविक होने से; विकल्पस्य—विकल्प का; भाव-अद्वैतम्—एकत्व का भाव; तत् उच्यते—वह कहलाता है।

जब मनुष्य यह समझता है कि फल तथा कारण एक हैं और द्वैत अन्ततः इस विचार की भाँति अवास्तविक है कि वस्त्र के धागे वस्त्र से भिन्न हैं, तो वह एकत्व के मान को प्राप्त होता है, जिसे भावाद्वैत कहते हैं।

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; परे—दिव्य; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व—समस्त; कर्म—कर्म; समर्पणम्—निवेदन, समर्पण; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; तनुभिः—तथा शरीर से; पार्थ—हे महाराज युधिष्ठिर; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म का एकत्व; तत् उच्यते—वह कहलाता है।

हे युधिष्ठिर (पार्थ), जब मनुष्य के मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये गये सारे कार्य साक्षात् भगवान् की सेवा में समर्पित किये जाते हैं, तो उसे क्रियाद्वैत नामक कर्मों का एकत्व प्राप्त होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को सिखाता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में समर्पित कर देने के स्तर तर पहुँचा जाये। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.२७) में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी आहुति दो तथा दान में दो तथा जो भी तपस्या करो वह सब मुझे भेंट रूप में समर्पित होनी चाहिए।" हम जो भी करते हैं, जो भी खाते हैं, जो भी सोचते तथा जो भी योजना बनाते हैं, यदि वह सब कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए हो तो यह अद्वैत है। कृष्ण के नाम-कीर्तन तथा कृष्णभावनामृत के लिए कार्य करने में कोई अन्तर नहीं है। दिव्य पद पर ये एक हैं। किन्तु इस अद्वैत के विषय में हमें अपने गुरु से मार्ग-दर्शन प्राप्त करना चाहिए; हमें अपनी अद्वैतता नहीं बनानी चाहिए।

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

आत्म—अपनी; **जाया**—पत्नी; **सुत-आदीनाम्**—तथा सन्तानों का; **अन्येषाम्**—अपने सम्बन्धियों का.; **सर्व-देहिनाम्**—समस्त जीवों का; **यत्**—जो भी; **स्व-अर्थ-कामयोः**—अपने चरम लक्ष्य तथा लाभ का; **ऐक्यम्**—एकत्व, अद्वैत; **द्रव्य-अद्वैतम्**—स्वार्थ का एकत्व; **तत् उच्यते**—कहा जाता है।.

जब किसी मनुष्य का चरम लक्ष्य अपना तथा अपनी पत्नी का, अपनी सन्तानों का, अपने सम्बन्धियों का तथा अन्य समस्त देहधारियों का स्वार्थ एक ही हो तो यह द्रव्याद्वैत कहलाता है।

तात्पर्य : सारे जीवों की वास्तविक रुचि—जीवन-लक्ष्य—भगवद्धाम जाने में होती है। यही अपनी, अपनी पत्नी की, अपने बच्चों की, अपने शिष्यों की तथा अपने मित्रों, सम्बन्धियों, देशवासियों तथा सारी मानवता की रुचि होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन व्यवस्था के ऐसे आदेश दे सकता है, जिससे प्रत्येक मनुष्य कृष्णभावनाभावित कार्यों में भाग ले सके और चरम लक्ष्य तक पहुँच सके जो *स्वार्थगतिम्* कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि का लक्ष्य विष्णु है, लेकिन चूँकि लोग इसे नहीं जानते (*न ते विदुः स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्*), अतएव वे जीवन के अनेक कल्पित स्वार्थों को पूरा करने की विविध योजनाएँ बनाते रहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को चरम स्वार्थ तक लाने का प्रयास कर रहा है। इस विधि का नाम भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु यदि लक्ष्य एक ही हो तो लोगों को चाहिए कि जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इसका पालन करें। दुर्भाग्यवश लोग विभिन्न स्वार्थों के विषय में सोचते हैं और अंधे नेता उन्हें दिग्भ्रमित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण भौतिक

सुख के लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु लोग पूर्ण सुख को न जानने के कारण विभिन्न भौतिक स्वार्थों की ओर मुड़ जाते हैं।

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद्येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; यस्य—मनुष्य का; वा—या तो; अनिषिद्धम्—जिसकी मनाही न हो; स्यात्—ऐसा हो; येन—जिससे; यत्र—स्थान तथा समय में; यतः—जिससे; नृप—हे राजा; सः—ऐसा व्यक्ति; तेन—ऐसी विधि से; ईहेत—सम्पन्न करे; कार्याणि—नियत कार्यकलाप; नरः—मनुष्य; न—नहीं; अन्यैः—दूसरी विधियों से; अनापदि—संकट की अनुपस्थिति में।

हे राजा युधिष्ठिर, संकट न रहने पर सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन-स्तर के अनुसार नियत कार्यकलापों को ऐसी वस्तुओं, प्रयासों तथा विधियों से सम्पन्न करे तथा ऐसे स्थानों पर निवास करे जो उसके लिए निषिद्ध न हों । वह अन्य विधियों का उपयोग न करे।

तात्पर्य : यह उपदेश सभी जीवन स्तरों वाले पुरुषों के लिए दिया गया है। सामान्य तया समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा गृहस्थ में विभाजित है। हर एक को अपने पद के अनुसार कर्म करना चाहिए और भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि इससे जीवन सफल बनेगा। इसका उपदेश नैमिषारण्य में दिया गया था—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

"हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य द्वारा अपने नियत कर्तव्यों (धर्म) का निर्वाह जाति तथा आश्रम के अनुसार करने से जो उच्चतम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह भगवान् हरि को प्रसन्न करना है।" (*भागवत* १.२.१३) प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों के अनुसार कर्म करे। तभी प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो सकेगा।

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्नरः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन विधियों से; अन्यैः—अन्य विधियों से; च—तथा; वेद-उक्तैः—जैसा वैदिक वाङ्मय में निर्देश है; वर्तमानः—पालन करते हुए; स्व-कर्मभिः—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; गृहे अपि—घर पर भी; अस्य—भगवान् कृष्ण के; गतिम्—गन्तव्य; यायात्—पहुँच सकता है; राजन्—हे राजा; तत्-भक्ति-भाक्—भगवान् की भक्ति करने वाला; नरः—व्यक्ति।

हे राजा, मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कर्तव्य इन निर्देशों तथा वैदिक ग्रन्थों में दिए गये अन्य निर्देशों के अनुसार सम्पन्न करने चाहिए जिससे वह भगवान् कृष्ण का भक्त बना रहे। इस प्रकार घर पर रहकर भी मनुष्य अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है।

तात्पर्य : जीवन का परम लक्ष्य विष्णु या कृष्ण हैं। अतएव यदि कोई वैदिक अनुष्ठानों या भौतिकतावादी कार्यकलापों के द्वारा कृष्ण रूपी गन्तव्य तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो यह जीवनसिद्धि है। उसे कृष्ण को लक्ष्य बनाना चाहिए और जीवन के किसी भी स्तर से कृष्ण के पास पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कृष्ण को सभी की सेवा स्वीकार है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि च यान्ति परां गतिम्॥

"हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्न जन्म वाले हों—स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र हों—वे परम धाम तक पहुँच सकते हैं।" चाहे किसी कोई भी पद क्यों न हो, यदि कोई गुरु के आदेशानुसार अपना वृत्तिपरक कर्तव्य करता हुआ कृष्ण तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो उसका जीवन सफल है। ऐसा नहीं है कि संन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी ही कृष्ण के पास तक जा सकते हैं। गृहस्थ भी कृष्ण के पास पहुँच सकता है बशर्ते कि वह निष्काम भाव से शुद्ध भक्त बने। इसका एक उदाहरण अगले श्लोक में उद्धृत है।

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-
दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-
नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥ ६८॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; यूयम्—तुम सभी (पाण्डव); नृप-देव—हे राजाओं, मनुष्यों तथा देवताओं के स्वामी; दुस्त्यजात्—अजेय; आपत्—सङ्कटपूर्ण स्थितियाँ; गणात्—सबों से; उत्तरत—बच निकले; आत्मनः—अपना; प्रभोः—भगवान् का; यत्-पाद-पङ्केरुह—जिनके चरणकमल; सेवया—सेवा करने से; भवान्—आपने; अहारषीत्—सम्पन्न किया; निर्जित—हराकर; दिक्-गजः—हाथियों जैसे अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु; क्रतून्—अनुष्ठान।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डवों ने परमेश्वर की सेवा के कारण अनेक राजाओं तथा देवताओं द्वारा उत्पन्न बड़े से बड़े संकटों पर विजय प्राप्त कर ली। तुमने कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करके हाथियों के समान बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया है और अपने यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र की है। भगवत्कृपा से तुम भव-बन्धन से छूट जाओगे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने अपने को सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए नारद मुनि से पूछा कि *गृहमूढधी*—गृहस्थ जीवन में फँस कर मूर्ख बना रहने वाले व्यक्ति—का उद्धार किस तरह हो सकता है। नारद मुनि ने यह कहते हुए महाराज युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया, ''तुम सुरक्षित हो, क्योंकि तुम अपने सारे परिवार सहित कृष्ण के शुद्ध भक्त बन चुके हो।'' कृष्ण की कृपा से पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र का युद्ध जीत लिया था और बड़े-बड़े राजाओं तथा कभी कभी देवताओं के द्वारा भी उत्पन्न किये गये संकटों से अपने को बचा लिया था। इस प्रकार वे इसके जीते-जागते उदाहरण हैं कि कृष्ण की कृपा से किस प्रकार सुरक्षित रहा जा सकता है। हर व्यक्ति को पाण्डवों के उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए जिन्होंने यह दिखलाया कि किस प्रकार कृष्ण की कृपा से बचा जा सकता है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य यह शिक्षा देना है कि हर व्यक्ति किस तरह इस जगत में शान्तिपूर्वक रह सकता है और अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकता है। भौतिक जगत में पद-पद पर विपत्तियाँ हैं (*पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्*) फिर भी यदि कोई नि:संकोच भाव से कृष्ण की शरण ग्रहण करके उसी में रहता जाता है, तो वह सरलता से अज्ञान-सागर को पार कर सकता है। *समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुरारेः।* भक्त के लिए यह विशाल अज्ञान-सागर गोखुर में लगे कीचड़ की तरह है। शुद्ध भक्त तरह-तरह से ऊपर उठने के प्रयास की चिन्ता न करता हुआ कृष्ण के दास के सुरक्षित पद पर बना रहता है और इस प्रकार उसका जीवन शाश्वत रूप से निस्सन्देह, सुरक्षित रहता है।

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः ।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—पूर्वजन्म में; अभवम्—था; कश्चित् गन्धर्वः—गन्र्धलोक के निवासी के रूप में; उपबर्हणः—उपबर्हण; नाम्ना—नाम से; अतीते—बहुत काल पूर्व; महा-कल्पे—ब्रह्मा के जीवन में जो महाकल्प कहलाता है; गन्धर्वाणाम्—गन्धर्वों में; सु-सम्मतः—अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति।

बहुत समय पूर्व, एक अन्य महाकल्प (ब्रह्मा का युग) में मैं उपबर्हण नामक गन्धर्व के रूप में था। अन्य गन्धर्वों में मेरा अत्यधिक सम्मान था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने विगत जीवन से व्यावहारिक उदाहरण दे रहे हैं। ब्रह्मा के पूर्वजीवन काल में नारदमुनि गन्धर्व लोक के वासी थे, किन्तु दुर्भाग्य से वे गन्धर्व लोक जहां के निवासी अत्यन्त सुन्दर तथा कुशल गायक होते हैं, के इस उच्च स्थान से गिर गये और शूद्र बने, जैसाकि आगे बताया जाएगा। फिर भी भक्तों की संगति करने से वे गन्धर्व लोक से भी अधिक भाग्यवान् निकले। यद्यपि प्रजापतियों ने उन्हें शूद्र बनने का श्राप दिया था, किन्तु अगले जन्म में वे ब्रह्माजी के पुत्र बने।

श्रील मध्वाचार्य ने *महाकल्पे* शब्द को *अतीत ब्रह्मकल्पे* के रूप में ग्रहण किया है। ब्रह्मा की मृत्यु कई लाख वर्षों बाद होती है। ब्रह्मा के एक दिन का वर्णन *भगवद्गीता* (८.१७) में हुआ है—

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

''मनुष्य की गणना से ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों के योग के बराबर होता है। और इतनी ही लम्बी उनकी रात्रि भी होती है।'' भगवान् श्रीकृष्ण लाखों वर्ष पूर्व की घटनाओं को स्मरण रख सकते हैं। इसी प्रकार नारद मुनि जैसे उनके शुद्ध भक्त भी लाखों वर्ष पुराना जीवन याद रख सकते हैं।

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।
स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तः स्वपुरलम्पटः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

रूप—सौन्दर्य; पेशल—शरीर की बनावट; माधुर्य—आकर्षण; सौगन्ध्य—फूलों की मालाओं तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से अत्यन्त सुगन्धित; प्रिय-दर्शनः—देखने में अत्यन्त सुन्दर; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; प्रिय-तमः—सहज भाव से आकृष्ट; नित्यम्—प्रतिदिन; मत्तः—पागल की तरह गर्वित; स्व-पुर—अपने शहर में; लम्पटः—कामेच्छा के कारण स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त।

मेरा मुखमण्डल सुन्दर था और मेरी शारीरिक रचना आकर्षक तथा सुहावनी थी। फूल के हारों से तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से मैं अपने नगर की स्त्रियों को अत्यन्त मोहक लगता था। इस तरह मैं मोहग्रस्त था और विषय-वासनाओं से सदैव पूर्ण रहता था।

तात्पर्य : जब नारद गन्धर्व लोक के निवासी थे उस समय की उनकी सुन्दरता के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस लोक का प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुन्दर तथा फूलों और चन्दन से अलंकृत रहता था। नारद मुनि का पहले का नाम उपबर्हण था। उपबर्हण अपने आपको अलंकृत करके स्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करने में पटु था, फलत: जैसे अगले श्लोक में वर्णित है, वह एक रसिक हो गया। इस जीवन में रसिक होना दुर्भाग्यपूर्ण हैं क्योंकि स्त्रियों की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने से वह शूद्र की संगति में जा गिरता है, जिसे स्त्रियों से बिना रोक-टोक मिलने का लाभ लिया जाता है। इस कलियुग में, जब सारे लोग *मन्दा: सुमन्दमतय:* हैं—शूद्र प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त बुरे हैं—ऐसा स्वतंत्र मिलना-जुलना प्रधान रहता है। उच्चतर जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में स्त्रियों के साथ पुरुषों का मुक्त मिलना-जुलना सम्भव नहीं है, किन्तु शूद्रों में इसकी छूट है। चूँकि इस कलियुग में कोई सांस्कृतिक शिक्षा नहीं दी जाती, अतएव हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से प्रशिक्षित नहीं है और इसीलिए वह शूद्र माना जाता है (*अशुद्धा: शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणा: कलिसम्भवा:*)। जब सारे लोग शूद्र हो जाते हैं, तो यह बहुत बुरे हो जाते हैं। (*मन्दा: सुमन्दमतय:*) इस प्रकार वे अपनी जीवन-शैली बनाते हैं और इसका परिणाम यह निकलता है कि वे क्रमश: अभागे बन जाते हैं (*मन्दभाग्या:*) और विभिन्न परिस्थितियों द्वारा विचलित होते रहते हैं।

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; देव-सत्रे—देवताओं की सभा में; तु—निस्सन्देह; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सरसाम्—तथा अप्सरलोक के वासियों के; गणा:—सभी; उपहूता:—बुलाये गये थे; विश्व-सृग्भि:—प्रजापति नामक बड़े-बड़े देवताओं द्वारा; हरि-गाथ-उपगायने—भगवान् की महिमा गायन के कीर्तन के समय।

एक बार देवताओं की सभा में भगवान् की महिमा के गायन के लिए एक संकीर्तन किया गया जिसमें गन्धर्वों तथा अप्सराओं को भाग लेने के लिए प्रजापतियों ने आमंत्रित किया।

तात्पर्य : *सङ्कीर्तन* का अर्थ है भगवान् के पवित्र नाम का जाप करना। हरे कृष्ण आन्दोलन कोई नवीन आन्दोलन नहीं जैसाकि लोग कभी-कभी भ्रमवश सोचते हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन ब्रह्माजी के जीवन के प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है और पवित्र नाम का कीर्तन ब्रह्मलोक तथा चन्द्रलोक समेत सभी उच्च लोकों में किया जाता है, गन्धर्व लोक तथा अप्सरालोक की बात का तो कहना ही क्या?

अतएव आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व इस संसार में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा शुरू किया गया संकीर्तन आन्दोलन कोई नया आन्दोलन नहीं है। कभी-कभी हमारे दुर्भाग्यवश यह आन्दोलन रोक दिया जाता है, लेकिन श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके सेवकों ने समग्र विश्व के या यूं कहें, समग्र ब्रह्माण्ड के लाभ के लिए इस आन्दोलन को फिर से चालू किया।

अहं च गायंस्तद्विद्वान्स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; गायन्—भगवान् की महिमा का गायन न करके अन्य देवताओं का गायन करते हुए; तत्-विद्वान्—गाने की कला में निपुण; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; परिवृतः—घिरा हुआ; गतः—वहाँ गया; ज्ञात्वा—अच्छी तरह जानते हुए; विश्व-सृजः—प्रजापति, जिन्हें ब्रह्माण्ड की व्यवस्था सौंपी गई है; तत्—मेरे गायन की प्रवृत्ति; मे—मेरी; हेलनम्—उपेक्षा; शेपुः—शाप दे दिया; ओजसा—बड़े वेग से; याहि—बन जाओ; त्वम्—तुम; शूद्रताम्—शूद्र; आशु—शीघ्र; नष्ट—रहित; श्रीः—सौन्दर्य; कृत-हेलनः—शिष्टाचार भंग करने के कारण।

नारद मुनि ने आगे कहा : उत्सव में बुलाये जाने पर मैं भी वहां गया। स्त्रियों से घिर कर मैंने देवताओं की महिमा का संगीतात्मक गायन प्रारम्भ किया। इसके कारण प्रजापतियों ने मुझे इन शब्दों में बलात् शाप दे डाला ''चूँकि तुमने अपराध किया है अतएव तुम तुरन्त सौन्दर्य से विहीन शूद्र बन जाओ।''

तात्पर्य : *कीर्तन* के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—मनुष्य को भगवान् का यश तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए। स्पष्ट कहा गया है—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*—मनुष्य को विष्णु का गुणगान करना चाहिए, अन्य किसी देवता का नहीं। दुर्भाग्यवश कुछ ऐसे मूर्ख लोग होते हैं, जो किसी देवता के नाम पर कीर्तन की कोई विधि निकाल लेते हैं। यह अपराध है। कीर्तन का अर्थ है भगवान् का यशोगान, न कि अन्य किसी देवता का। कभी-कभी लोग *काली कीर्तन* तथा *शिव कीर्तन* का निर्माण करते हैं और बड़े-बड़े मायावादी संन्यासियों तक का कहना है कि कोई चाहे किसी नाम का कीर्तन करे, उसे वही फल मिलेगा। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि लाखों-लाखों वर्ष पूर्व जब नारद मुनि एक गन्धर्व थे तो उन्होंने भगवान् के यशोगान के आदेश की उपेक्षा की थी और वे स्त्रियों की संगति में प्रमत्त होकर कुछ उल्टा गाने लगे थे जिससे उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया। उनका प्रथम अपराध था कि वे कामुक स्त्रियों के साथ संकीर्तन मंडली में गये और दूसरा

अपराध था कि उन्होंने सामान्य गीतों को, जैसे कि सिनेमा गीतों को, या ऐसे ही अन्य गीतों को संकीर्तन के बराबर मान्यता दी। इस अपराध के लिए उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया।

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—शाप दिये जाने के समय से; दास्याम्—दासी के गर्भ में; अहम्—मैंने; जज्ञे—जन्म लिया; तत्रापि—यद्यपि (शूद्र होकर); ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक ज्ञान में पारंगत लोगों की; शुश्रूषया—सेवा करके; अनुषङ्गेण—एक ही समय; प्राप्तः—प्राप्त किया; अहम्—मैंने; ब्रह्म-पुत्रताम्—ब्रह्मा के पुत्र के रूप में जन्म (इस जन्म में)।

यद्यपि मैंने एक दासी के गर्भ से शूद्र के रूप में जन्म लिया किन्तु मैं वैदिक ज्ञान में पारंगत वैष्णवों की सेवा में लग गया। फलस्वरूप इस जीवन में मुझे ब्रह्माजी के पुत्र रूप में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिं॥

"हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण में आते हैं भले ही वे निम्नजन्मा—स्त्रियाँ, वैश्य या शूद्र हों, वे परम गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं।" कोई चाहे शूद्र के रूप में उत्पन्न हो अथवा स्त्री या वैश्य रूप में, यदि वह बारम्बार अथवा निरन्तर भक्तों की संगति करता है (*साधुसङ्गेन*) तो वह चरम सिद्धि तक पहुँच सकता है। नारद मुनि अपना उदाहरण देकर इसे समझा रहे हैं। *सङ्कीर्तन* आन्दोलन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, म्लेच्छ, यवन या अन्य कुछ, यदि वह शुद्ध भक्त की संगति करता है, उसके उपदेशों का पालन करता है और उनकी सेवा करता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। यह भक्ति है। *आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्।* भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण तथा उनके भक्तों की अनुकूल सेवा सम्मिलित है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्।* यदि कोई कृष्ण तथा उनके भक्त की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा न करे तो उसका जीवन सफल हो जाता है। नारद मुनि अपने जीवन का व्यावहारिक उदाहरण देकर इसे समझाते हैं।

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।

गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥ ७४॥

शब्दार्थ

धर्मः—वह धार्मिक विधि; ते—तुम्हें; गृह-मेधीयः—गृहस्थ जीवन में अनुरक्त रहकर; वर्णितः—(जैसा मैंने) बताया; पाप-नाशनः—पापकर्मों का विनाश; गृहस्थः—गृहस्थ जीवन बिताने वाला; येन—जिससे; पदवीम्—पद; अञ्जसा—सरलता से; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; इयात्—प्राप्त कर सकता है।.

भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन इतना शक्तिशाली है कि इससे गृहस्थ भी उसी चरम फल को सरलता से प्राप्त कर लेते हैं, जो संन्यासियों को प्राप्त होता है। हे महाराज युधिष्ठिर, मैंने तुम्हें धर्म की वह विधि बतला दी है।

तात्पर्य : यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन की पुष्टि ही है। जो भी इस आन्दोलन में भाग लेता है, चाहे वह किसी भी जाती का हो उस सर्वोच्च फल को प्राप्त कर सकता है, जो एक पूर्ण संन्यासी को प्राप्त होता है—अर्थात् *ब्रह्मज्ञान।* इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि वह भक्ति में प्रगति कर सकता है। महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि वे गृहस्थ हैं, अतएव उन्हें अपना मोक्ष प्राप्त करने की कोई आशा नहीं थी। इसीलिए उन्होंने नारद मुनि से पूछा था कि वे भवबन्धन से किस प्रकार छूट सके। लेकिन नारद मुनि ने अपना निजी उदाहरण देते हुए यह बतलाया कि भक्तों की संगति करने तथा हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में बिना किसी संदेह के चरम सिद्धि (परम पद) प्राप्त कर सकता है।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ७५॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी पाण्डव; नृ-लोके—इस जगत में; बत—निस्सन्देह; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; लोकम्—ब्रह्माण्ड के सारे लोक; पुनानाः—शुद्ध कर सकते हो; मुनयः—बड़े-बड़े साधु पुरुष; अभियन्ति—(सामान्य पुरुष की भाँति) देखने आते हैं; येषाम्—जिसके; गृहान्—पाण्डवों के घर को; आवसति—रहता है; इति—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; गूढम्—अत्यन्त गोपनीय; परम्—दिव्य; ब्रह्म—परब्रह्म, कृष्ण; मनुष्य-लिङ्गम्—मानो सामान्य व्यक्ति हों।.

हे महाराज युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डव इस संसार में इतने भाग्यशाली हो कि ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को पवित्र करने वाले अनेकानेक सन्तजन तुम्हारे घर में सामान्य दर्शक के रूप में आते हैं। साथ ही, भगवान् कृष्ण तुम्हारे घर में गोपनीय ढंग से तुम्हारे भाई के समान रह रहे हैं।

तात्पर्य : यह वैष्णव की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला कथन है। मानव समाज में ब्राह्मण ही सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति है। ब्राह्मण वह है, जो निर्विशेष ब्रह्म को समझ सके लेकिन शायद ही कोई उन भगवान् को समझ पाता हो, जिन्हें *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा *परं ब्रह्म* कहा गया है। *ब्रह्मज्ञान* प्राप्त ब्राह्मण भले ही अत्यन्त भाग्यशाली माना जाये, किन्तु पाण्डव तो इतने भाग्यशाली थे कि परब्रह्म भगवान् उनके घर में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते थे। *भूरिभागा:* शब्द बताता है कि पाण्डवगण ब्रह्मचारीयों तथा ब्राह्मणों से भी उच्चतर पद पर थे। अगले श्लोक में नारद मुनि पाण्डवों के पद की महिमा का बारम्बार वर्णन करते हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; वा—या तो; अयम्—कृष्ण; ब्रह्म—परब्रह्म; महत्-विमृग्य—बड़े-बड़े सन्त पुरुष (कृष्ण भक्त) द्वारा खोजे जाने वाले; कैवल्य-निर्वाण-सुख—मोक्ष तथा दिव्य आनन्द के; अनुभूतिः—साक्षात्कार के लिए; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—शुभ चिन्तक; वः—तुम सारे पाण्डवों; खलु—के रूप में प्रसिद्ध; मातुलेयः—मामा का पुत्र, ममेरा भाई; आत्मा—हृदय तथा आत्मा; अर्हणीयः—अत्यन्त पूजनीय; विधि-कृत्—निर्देश देते; गुरुः—तुम्हारा गुरु; च—और।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे परब्रह्म कृष्ण जिन्हें बड़े-बड़े मुनि अपनी मुक्ति तथा शाश्वत आनन्द प्राप्ति के लिए ढूँढते रहते हैं तुम्हारे श्रेष्ठ शुभचिन्तक, मित्र, ममेरे भाई, आत्मा, पूज्य निर्देशक तथा गुरु की भाँति कार्य कर रहे हैं।

तात्पर्य : कृष्ण ऐसे किसी भी व्यक्ति के निर्देशक तथा गुरु बन सकते हैं, जो उनकी कृपा पाने का इच्छुक रहता है। भगवान् गुरु को इसलिए भेजते हैं कि वह भक्त को प्रशिक्षित करे और जब भक्त प्रगत हो जाये तो भगवान् उसके हृदय में रहकर गुरु की भाँति कार्य करें।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।'' जब तक कोई भगवान् के प्रतिनिधि गुरु द्वारा पूरी तरह प्रशिक्षित नहीं हो जाता तब तक कृष्ण किसी के साक्षात् गुरु नहीं बनते। अतएव जैसाकि हम पहले कह चुके हैं

भगवान् के प्रतिनिधि गुरु को कभी भी सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिए। प्रतिनिधि गुरु कभी अपने शिष्य को असत्य ज्ञान नहीं देता, वह केवल पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। इस तरह वह कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। कृष्ण भीतर तथा बाहर से गुरु की भाँति सहायता करते हैं। बाहर से वे प्रतिनिधि बनकर और भीतर से साक्षात् रूप में शुद्ध भक्त से बातें करते हैं और उसे उपदेश देते हैं जिससे वह भगवद्धाम वापस जा सकता है।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका (श्रीकृष्ण का); साक्षात्—प्रत्यक्ष; भव—शिवजी; पद्म-ज-आदिभिः—ब्रह्मा आदि के द्वारा; रूपम्—रूप को; धिया—ध्यान से; वस्तुतया—वस्तुतः; उपवर्णितम्—बताया जा सकता है; मौनेन—मौन से; भक्त्या—भक्ति से; उपशमेन—सारे भौतिक कार्यकलापों को पूरा करके; पूजितः—जिनकी इस तरह पूजा की जाती है; प्रसीदताम्—हम पर प्रसन्न हों; एषः—यह; सः—वही भगवान्; सात्वताम्—भक्तों का; पतिः—पालक, स्वामी तथा मार्गदर्शक।

यहाँ अब वही भगवान् उपस्थित हैं जिनका असली रूप ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुषों की भी समझ में नहीं आता। उनके भक्त अपने निष्ठापूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा उनका साक्षात्कार करते हैं। ऐसे भगवान् जो अपने भक्तों के पालनकर्ता हैं और जिनकी पूजा मौन, भक्ति तथा उपशम द्वारा की जाती है हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण शिव तथा ब्रह्माजी जैसे महापुरुषों की समझ में नहीं आते तो सामान्य व्यक्तियों के लिए क्या कहा जाये? लेकिन वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपने भक्तों को भक्ति का वरदान देते हैं जिससे वे कृष्ण को यथारूप में समझ सकते हैं। *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।* इस ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा नहीं जो कृष्ण को सचमुच जान सके किन्तु यदि कोई भक्ति करता है, तो वह उन्हें पूरी तरह समझ सकता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने भी *भगवद्गीता* (७.१) में की है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

"हे पृथापुत्र (अर्जुन)! अब सुनो कि किस तरह मेरी चेतना से पूरित होकर और अपने मन को मुझमें अनुरक्त करके योगाभ्यास करने से तुम बिना संशय मुझे पूरी तरह समझ सकते हो।" भगवान् स्वयं शिक्षा दे रहे हैं कि कोई उन्हें पूर्णतया किस तरह जान सकता है। न केवल पाण्डव अपितु कोई भी व्यक्ति जो कृष्ण के आदेशों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है, वह भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। युधिष्ठिर महाराज को उपदेश देने के बाद नारद मुनि भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सबों पर प्रसन्न हों और सभी लोग ईश्वर-चेतना में पूर्ण बनकर भगवद्धाम वापस जा सकें।

श्रीशुक उवाच
इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।
पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; प्रोक्तम्—वर्णित; निशम्य—सुनकर; भरत-ऋषभः—भरत महाराज के श्रेष्ठ वंशज, महाराज युधिष्ठिर; पूजयाम् आस—पूजा की; सु-प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; कृष्णम्—कृष्ण की; च—भी; प्रेम-विह्वलः—कृष्ण के प्रेम में विभोर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ने नारद मुनि के वर्णन से सब कुछ जान लिया। इन उपदेशों को सुनने के बाद उन्हें अपने हृदय में अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ और उन्होंने अत्यन्त प्रेमविह्वल होकर भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि जब किसी को पता चल जाता है कि उसके परिवार का कोई व्यक्ति इतना महान् है, तो यह सोचकर कि "ओह! ऐसा महापुरुष हमारा सम्बन्धी है" प्रेमविह्वल हो जाता है। यद्यपि पाण्डव पहले से श्रीकृष्ण को जानते थे, किन्तु जब उन्होंने नारद मुनि से यह सुना कि वे भगवान् हैं, तो पाण्डवों को यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि "अरे! भगवान् तो हमारे ममेरे भाई के रूप में हमारे साथ हैं।" निश्चय ही उनको अपार हर्ष हुआ।

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।
श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण; पार्थौ—तथा महाराज युधिष्ठिर; उपामन्त्र्य—विदा होकर; पूजितः—उनके द्वारा पूजित होकर; प्रययौ—चले गये; मुनिः—नारद मुनि; श्रुत्वा—सुनकर; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; परम् ब्रह्म—भगवान् के रूप में; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर; परम-विस्मितः—अत्यधिक चकित।

कृष्ण तथा महाराज युधिष्ठिर द्वारा पूजे जाकर नारद मुनि उनसे विदा लेकर चले गये। युधिष्ठिर महाराज अपने ममेरे भाई कृष्ण को भगवान् के रूप में सुनकर अत्यधिक चकित हुए।

तात्पर्य : यदि नारद तथा युधिष्ठिर के बीच हुए इस संवाद को सुनने के बाद भी किसी के मन में कृष्ण के भगवान् होने में कोई सन्देह रह जाता है, तो उसे चाहिए कि वह तुरन्त ही अपने सन्देह को त्याग कर दे। *असंशयं समग्रम्*—बिना किसी सन्देह तथा बिना किसी दोष के मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को भगवान् समझे तथा उनके ही चरमकमलों की शरण ले। सामान्य पुरुष वेदों का श्रवण करके भी ऐसा नहीं करते किन्तु यदि कोई भाग्यशाली हुआ तो जन्म-जन्मांतरों के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है (*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते*)।

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।
देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; दाक्षायणीनाम्—महाराज दक्ष की कन्याओं के, जैसे अदिति तथा दिति; ते—तुम्हारा; पृथक्—अलग; वंशाः—वंश; प्रकीर्तिताः—(मेरे द्वारा) वर्णित किये गये; देव—देवता; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्य; आद्याः—इत्यादि; लोकाः—इस ब्रह्माण्ड के सारे लोक; यत्र—जिसमें; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन प्राणी।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त लोकों में सारे जड़ तथा चेतन प्राणी जिनमें देवता, असुर तथा मनुष्य सम्मिलित हैं महाराज दक्ष की पुत्रियों से उत्पन्न हुए। इस तरह मैंने उन सबों का तथा उनके विभिन्न वंशों का वर्णन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत ''सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

वैशाखी शुक्ल एकादशी, तदनुसार १० मई १९७६ की रात में पञ्चतत्व मन्दिर नव नवद्वीप (होनोलुलू) में श्रीकृष्ण चैतन्यप्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत गदाधर, श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द की कृपा से पूर्ण हुआ। अत: हम आनन्द से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—किर्तन करें।

॥सप्तम स्कन्ध पूर्ण॥

Preliminary pages of 7th canto starts from here

Preliminary page 1

श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

श्रीमद्भागवतम्

श्रीप्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥२३॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।

क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥२४॥

(*श्रीमद्भागवत* ७.५.२३-२४)

विषय-सूची